संस्कृत नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

संस्कृत नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

डा. मूलचन्द पाठक

देवनागर प्रकाशन

250, चौड़ा रास्ता, जयपुर

कृति : संस्कृत नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व
कृतिकार : डा. मूलचन्द पाठक
मूल्य : 250.00
प्रकाशक : देवनागर प्रकाशन,
चौडा रास्ता, जयपुर
मुद्रक : एलोरा प्रिण्टर्स, जयपुर

SUPERNATURAL ELEMENTS IN SANSKRIT DRAMAS

आमुखम्

विविधागमशाखाभिर्विद्यास्थानैश्च कल्पितम् ।
इतिहासपुराणाभ्यां शिल्पादिभिरनावृतम् ॥

दिव्य लोकोत्तरं दिष्टमदृष्टमिति कीर्तितम् ।
विस्मयाधायकं तत्त्वं तर्कप्रत्यक्षदुर्लभम् ॥

शापादिकथारूढ नवकल्पविधायकम् ।
सर्वत्राद्भुतरूपेण काव्ये नाट्ये प्रतिष्ठितम् ॥

रहस्यदृष्टिप्रत्येतं लोके शास्त्रे च संभृतम् ।
अप्राकृतमिति ज्ञेयं विज्ञानेन निराकृतम् ॥

कालिदासादिभिर्जुष्टं विश्ववाङ्मयविलसितम् ।
प्रकीर्णैर्विविधैर्मृष्टं निबन्धैर्न प्रबन्धतः ॥

तदेव तत्त्वं प्रथमं प्राच्यपाश्चात्यशास्त्रतः ।
प्रबन्धेऽत्र समाम्नातं नाट्यशास्त्रदृशा तथा ॥

अप्राकृतप्रयोगाणां वस्तुशिल्पविभेदिका ।
रूपके चित्रतां प्राप्ता शतधा भिद्यते गतिः ॥

रसनेत्रानुकूल्येन स्थापिता सा कवीश्वरैः ।
गतानुगतिकैश्चान्यैराश्रिता कविपद्धतिः ॥

न केवलं पुराकाले सम्प्रत्यपि प्रयुज्यते ।
किन्तु द्वित्रा विदग्धा स्युः कालिदासो निदर्शनम् ॥

रहस्यं सकलं सम्यग् ध्यात्वा संस्कृतरूपकम् ।
आमूलचूलमामृष्टं मूलचन्द्रेण धीमता ॥

तदुपज्ञः प्रबन्धोऽयं कीर्तिप्रीतिकरो भवेत् ।
सदसद्व्यक्तिहेतूनां पण्डितानां प्रसादतः ॥

संस्कृतविभाग :
उदयपुर.विश्वविद्यालयः, उदयपुरम्

—रामचन्द्रद्विवेदी

प्राक्कथन

संस्कृत के अधिकांश नाटकों मे अलौकिक व अतिमानवीय तत्त्वों की विविध योजना मिलती है जिन्हें हमने आधुनिक विचारधारा के आलोक में 'अतिप्राकृत तत्त्व' कहा है। संक्षेप मे, प्राकृतिक जगत् के तथ्यों व अनुभवों को अतिक्रांत करने वाले सभी तत्त्व 'अतिप्राकृत' कहे जा सकते हैं। अलौकिक, दिव्य, अतिमानवीय एवं अद्भुत आदि शब्दो से अभिहित विभिन्न तत्त्व इसमें अन्तर्भूत हैं।

संस्कृत नाटक अपने जन्म से ही धार्मिक भावना एवं पौराणिक चेतना से अनुप्राणित रहा है। अधिकतर नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व इसी धार्मिक व पौराणिक मनोभूमि की देन है। कुछ नाटकों में लोककथाओं एवं उनमें व्यक्त लोकविश्वासों के क्षेत्र से भी ये तत्त्व ग्रहण किये गये हैं। इस प्रकार अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व प्राचीन भारतीय समाज की उस सांस्कृतिक परिदृष्टि एव जीवन-विश्वासों के अविभाज्य अङ्ग तथा उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्तियां हैं जिनका उस समाज के एक सवेदनशील घटक के रूप मे संस्कृत नाटककार स्वयं भी भागीदार है।

अतिप्राकृत तत्त्व-विषयक परिकल्पनाएं वस्तुत. किसी जनसमुदाय की विश्व-सम्बन्धी सामान्य अवधारणाओं की अंग होती हैं। सृष्टि की शक्तियों के स्वरूप, कार्य एवं उनके साथ अपने सम्बन्ध के विषय में मनुष्य की सदा से ही कुछ मान्यताएं रही है। इनके प्रकाश में ही वह भौतिक व मानवीय जगत् की घटनाओं व तथ्यों की व्याख्या करता है। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व भी प्राचीन भारत में विकसित इन सांस्कृतिक मान्यताओं की ही कलात्मक अभिव्यक्तियां है। प्राचीन साहित्य की सम्यक् अवगति, रसास्वादन एवं मूल्यांकन के लिए उनकी अभिज्ञता हमारे लिए नितान्त आवश्यक है।

(घ) : संस्कृत नाटक मे अतिप्राकृत तत्त्व

हमारी मान्यता रही है कि मनुष्य सृष्टि में स्वतःपूर्ण, स्वतन्त्र और अकेला नहीं है। मानव-लोक और दृश्यमान जगत् के परे भी अनेक दैवी व आसुरी शक्तियो, अतीन्द्रिय लोकों एव आश्चर्यकारी तत्त्वो की सत्ता है। मनुष्य इस विराट् सृष्टि का ही एक अङ्ग है। इस सृष्टि में देवता, असुर, राक्षस, पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति—संक्षेप मे, दिव्य-मर्त्य, चेतन-अचेतन सभी का सह-अस्तित्व है तथा इन सबके साथ मनुष्य विभिन्न सम्बन्ध-सूत्रो मे बधा है। हमारा प्राचीन साहित्य मनुष्य को इस विराट् विश्व के मध्य मे रखकर उसके राग-विरागों का चित्रण करते हुए समस्त सृष्टि के साथ उसके जीवन के सामजस्य का दर्शन कराता है। उसके मत मे मनुष्य की नियति शेष सृष्टि से पृथक् नही है, प्रत्युत सबके साथ अभिन्न रूप से जुडी हुई है। इस मूलभूत जीवन-दर्शन का ही यह तार्किक परिणाम है कि हमारे पुराने साहित्य मे प्राकृत व अतिप्राकृत के बीच आत्यन्तिक विभेद या पार्थक्य नहीं किया जा सकता। वे दो स्वतन्त्र व निरपेक्ष कोटिया नही है, अपितु, अधिक से अधिक एक ही सृष्टि के दो निम्नोच्च स्तर है जिनमे केवल गुणात्मक अन्तर है, प्रकारात्मक नही। उसमे प्राकृत का प्राय. अतिप्राकृत में और अतिप्राकृत का प्राकृत में विलय हो जाता है; दोनो की सीमाये एक-दूसरे मे अदृश्य हो जाती हैं। उनका सम्बन्ध न आकस्मिक है और न कादाचित्क ही, अपितु उनका परस्पर आदान-प्रदान एव अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव सृष्टि की नियमित प्रक्रिया एव व्यवस्था का ही एक सहज अग है।

सस्कृत नाटक मे दैवी शक्तिया मनुष्य के प्रति प्रकृत्या-उदार, सहानुभूतिशील एव उनके सहयोगी व सहायक के रूप मे परिकल्पित है जिन पर हमारे धार्मिक व पौराणिक विश्वासो की छाप है। यूनानी देवताओं के समान वे मानव-द्वेषी, नीतिहीन व स्वेच्छाचारी नही हैं, अपितु धर्म और नैतिकता की सरक्षक एव संवर्धक है। संस्कृत नाटको मे मानव पात्रो के प्रति दिव्य शक्तियो के अनुग्रह, उपकारित्व, साहाय्य या हस्तक्षेप के अनेक प्रसग आये है। भास, कालिदास, हर्ष, भवभूति, दिङ्नाग, क्षेमीश्वर आदि की कृतियो मे दैवी शक्तियो की यह भूमिका देखी जा सकती है।

भारतीय विचारधारा भौतिक जगत् मे अनेक रहस्यमय व अद्भुत घटनाओं की संभाव्यता स्वीकार करती है। वह प्रकृति को केवल जड़-तत्त्व नहीं मानती अपितु उसमे ऐसी सचेतन शक्तियो की सत्ता अगीकार करती है जो समय-समय पर अनेक चामत्कारिक घटनाओं व तथ्यो के रूप मे स्वयं को प्रकट करती रहती है। वह अनेक प्राकृत वस्तु-व्यापारो को दैवी आकाक्षाओ के सकेत के रूप मे ग्रहण करती है। हमारी धार्मिक परम्परा भी ऐसे सिद्ध पुरुषो के वृत्तान्तों से पूर्ण है जो अपनी विभूतियों व सिद्धियों के लोकोत्तर प्रभाव मे सामान्य धरातल से उच्चतर पीठिका पर स्थित दिखाई देते है। इसी प्रकार हमारी दार्शनिक विचारधारा मनुष्य के कार्य-

कलापों के सचालन एवं उसके जीवन-क्रम व नियति के निर्धारण मे प्राक्तन कर्म तथा भाग्य, दैव या विधि जैसी अलक्ष्य शक्तियों की सर्वशक्तिमत्ता व नियन्तृत्व को स्वीकार करती है। संस्कृत साहित्य में और विशेषतः नाटक में अतिप्राकृत तत्त्वों का स्वरूप व प्रयोग भारतीय विचारधारा की उक्त सामान्य प्रवृत्तियों व दिशाओं से दूर तक प्रभावित व निर्देशित है।

यद्यपि संस्कृत परंपरा में अतिप्राकृत तत्त्वों के लिए अलौकिक, लोकातिक्रान्त, लोकातिग, अतिमानुष, दिव्य आदि कितने ही शब्द मिलते हैं पर अतिप्राकृत का अर्थक्षेत्र इन सबसे विस्तृत है तथा इन सभी शब्दों के अर्थ इसमें अन्तर्भूत हैं। वस्तुतः यहां अतिप्राकृत शब्द का अंग्रेजी के 'सुपरनेचुरल' के पर्याय के रूप में प्रयोग किया गया है। 'नेचुरल' (प्राकृत) व 'सुपरनेचुरल' (अतिप्राकृत) का विभाजन निश्चय ही आधुनिक युग की प्रकृतिवादी वैज्ञानिक विचारधारा पर आधारित है और प्रस्तुत अध्ययन में इसी विचार-सरणि को 'प्राकृत' व 'अतिप्राकृत' के विभाजन का आधार माना गया है। इसी दृष्टि से विषय के नामकरण मे भारतीय परंपरा के अलौकिक आदि शब्दों की तुलना मे एक विदेशी शब्द के अर्थ को प्रतिध्वनित करने वाले शब्द को ग्रहण किया गया है। साथ ही यह शब्द भारतीय परंपरा के लिए सर्वथा अज्ञात भी नही है। हमारे प्राचीन साहित्य में 'अतिप्राकृत' का तो नहीं पर 'अप्राकृत' शब्द का 'असाधारण' 'अलौकिक' आदि अर्थों मे अनेक स्थानो पर प्रयोग हुआ है। यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि हमने प्रस्तुत अध्ययन मे 'नाटक' शब्द का लोक-प्रचलित व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है, रूपक के प्रधान भेद 'नाटक' के शास्त्रीय अर्थ में नहीं।

संस्कृत नाटक मे प्रारंभ से ही विभिन्न कारणों व उद्देश्यों से अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग होता रहा है। वस्तु, नेता एवं रस—नाटक के इन तीनों ही अंगों को चमत्कारपूर्ण व प्रभावशाली बनाने में इनकी विशिष्ट भूमिका रहती है। कुशल नाटककार के हाथों ये तत्त्व कृति के आन्तरिक एव अविभाज्य अंगों में परिणत हो जाते हैं। नाटकीय वस्तु के उत्थान, विकास, परिवर्तन एव परिसमापन—इन सभी अवस्थाओं को इनका उल्लेख्य योग रहता है। संस्कृत नाटक की सुखान्तता का भी इन तत्त्वों से निकट का संबंध है। नाटक की कथा में जटिलता, संघर्ष अन्तर्द्वन्द्व आदि की सृष्टि तथा उनके अंतिम सुखमय समाधान में इनकी साभिप्राय भूमिका रहती है। वस्तुतः नाटक विशेष के सौन्दर्यास्वादन एवं साहित्यिक मूल्य के सम्यक् आकलन के लिए उसमें समाविष्ट अतिप्राकृत तत्त्वों के स्वरूप, कार्य एवं भूमिका का अध्ययन अपेक्षित ही नहीं, अपरिहार्य भी कहा जा सकता है। अतिप्राकृत तत्त्व अधिकतर संस्कृत नाटकों के नाटकीय वैशिष्ट्य व मूल्यवत्ता से घनिष्ठतया संबंधित हैं, अतः

उनका अध्ययन निश्चय ही संस्कृत नाटक की एक नयी अवगति में सहायक हो सकता है। संस्कृत नाटक के अध्येताओं व अनुसंधाताओं की दृष्टि इसके अन्यान्य पक्षों की ओर तो गयी है, पर उसमे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों के विस्तृत व व्यवस्थित विवरण तथा उनके नाटकीय वैशिष्ट्य के अध्ययन व मूल्यांकन का इससे पूर्व कोई विशिष्ट एव सर्वग्राही प्रयत्न नही किया गया। प्रस्तुत ग्रथ इसी अभाव की पूर्ति की दिशा मे एक विनम्र प्रयास है।

यह ग्रंथ लगभग दो वर्ष पूर्व उदयपुर विश्वविद्यालय द्वारा पी. एच डी उपाधि के लिए स्वीकृत मेरे शोध प्रबन्ध 'संस्कृत के प्रमुख नाटको मे अतिप्राकृत तत्त्व' पर आधारित है। मूल प्रबन्ध को प्राय: अविकल रूप में ही प्रकाशित किया जा रहा है। यों तो इस ग्रंथ मे अतिप्राकृत तत्त्वों की विशिष्ट दृष्टि से सस्कृत के प्रमुख नाटकों का ही अध्ययन अभीष्ट है, पर अंतिम अध्याय में अनेक अप्रमुख एवं अप्रसिद्ध नाटकों का भी विहंगावलोकन किया गया है जिससे संस्कृत नाटक की प्राय: समग्र परंपरा मे अतिप्राकृत तत्त्वो के प्रयोग का, कहीं विस्तार से और कही सक्षिप्त, परिचय प्राप्त हो जाता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए मूल प्रवन्ध के नाम में परिवर्तन किया गया है। किंतु लेखक का यह दावा कदापि नहीं है कि इस ग्रथ में संस्कृत के प्रत्येक नाटक का अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से अध्ययन कर लिया गया है। वस्तुतः संस्कृत का समग्र नाट्य-साहित्य इतना विपुल एवं विविध है कि किसी भी एक ग्रथ के कलेवर मे उसका सपूर्ण अध्ययन-आकलन सभव नही हो सकता। इस कार्य मे एक बडी बाधा यह भी है कि अनेक संस्कृत नाटक अभी तक अमुद्रित अवस्था मे है या मुद्रित हो जाने पर भी वे अध्येताओं के लिए दुर्लभ रहते है। प्रस्तुत अध्ययन मे यथासभव सस्कृत नाटक के प्रारभ काल से लेकर लगभग १२वी शताब्दी तक के सभी प्रमुख नाटको को सम्मिलित किया गया है। कृतियों के चुनाव मे नाटकों की प्राचीनता, प्रसिद्धि, लोकप्रियता, साहित्यिक श्रेष्ठता और विशेष रूप से अतिप्राकृत तत्त्वो की सुलभता आदि आधारों को स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत ग्रथ में विवेचित नाटको मे प्राय: वे सभी प्रधान कृतिया आ गयी है जिनका कीथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सस्कृत ड्रामा' मे अधिक विस्तार से परिचय दिया है। कुछ ऐसे नाटकों को भी जो कीथ के समय मे उपलब्ध नही थे इस अध्ययन के परिवेश मे समाविष्ट किया गया है। लगभग १२वी शती तक के प्रमुख नाटको के विवेचन के पश्चात् हमने अतिप्राकृत तत्त्वो के नाटकीय प्रयोग की परवर्ती परम्परा के दिग्दर्शन का भी प्रयास किया है जिससे यह स्पष्ट हो सकेगा कि संस्कृत नाटक अपने ह्रासकाल में किस प्रकार अन्य तत्त्वों के ही समान अतिप्राकृत तत्त्वों के विषय में भी प्राय: परंपरा का ही पालन व पिष्टपेषण करता रहा।

प्रस्तुत अध्ययन में नाटकों का विवेचन प्रायः उनके कालक्रम के अनुसार किया गया है, किन्तु अनेक नाटकों का रचना-काल अनिश्चित व विवादास्पद होने के कारण इस बारे में मतभेद की पर्याप्त सम्भावना है। अन्तिम अध्याय में, जहाँ परवर्ती काल के बहुत से नाटकों के अतिप्राकृत तत्त्वों के सन्दर्भ मात्र दिये गये हैं, कालक्रम के साथ साथ विषयवस्तु एवं रूपक के प्रकार-भेद का भी विवेचन में अनुसरण किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में लेखक का ध्येय अतिप्राकृत तत्त्वों का विवरण मात्र देना नहीं है अपितु उनके नाटकीय विनियोग के वैशिष्ट्य का निरूपण करना भी है। यद्यपि विभिन्न कृतियों में अनेक तत्त्व समान हैं, फिर भी उनके विनियोग में प्रत्येक नाटक की अपनी कुछ विशेषता है। यही कारण है कि यह अध्ययन प्रत्येक नाटक को अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से एक स्वतन्त्र इकाई मान कर किया गया है। लेखक का उद्देश्य वस्तुतः अतिप्राकृत तत्त्वों के आलोक में विशेष-विशेष नाटक का अध्ययन करना है, न कि अतिप्राकृत तत्त्वों का ही स्वतन्त्र या सामान्य रूप से। उदाहरणार्थ संस्कृत के अनेक नाटकों में शाप के प्रसंग आये हैं पर प्रकृति व उद्देश्य की दृष्टि से प्रत्येक कृति के सन्दर्भ में उसकी अपनी विशिष्ट भूमिका एवं संरचनागत महत्त्व है। प्रस्तुत अध्ययन प्रधानतः अतिप्राकृत तत्त्वों के नाटकगत विनियोग का साहित्यिक अनुशीलन है। इसीलिए इसमें नाटक विशेष की संरचना में इन तत्त्वों की भूमिका का सविस्तार विचार किया गया है। यहाँ इसका एक उदाहरण देना उचित होगा। कालिदास के मालविकाग्निमित्र में पादाघात-रूप दोहद द्वारा अशोक में पुष्पोद्गम की बात कही गयी है जो सम्भवतः तत्कालीन लोकविश्वास पर आधारित है। नाटककार ने यों तो इस घटना की सूचना और वह भी नेपथ्य से चतुर्थ अंक के अन्त में दी है पर विचार करने पर यह स्पष्ट है कि इस घटना के पूर्व-प्रसर सूत्र तृतीय अंक से लेकर पंचम अंक तक की वस्तु-योजना में अनुस्यूत हैं। दोहद-सम्बन्धी लोकविश्वास का यह नाटकीय विनियोग कालिदास की उस काव्य-दृष्टि का एक और साक्ष्य है जिसमें मानव और प्रकृति की अवधारणा एक ही सत्ता के दो समानशील घटकों के रूप में की गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रत्येक प्रमुख नाटक के सन्दर्भ में अतिप्राकृत तत्त्वों का अध्ययन साधारणतया निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है—(१) कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व (२) अतिप्राकृत पात्र (३) अतिप्राकृत लोकविश्वास एवं ४) अतिप्राकृत तत्त्व और रस। प्रथम शीर्षक के अन्तर्गत नाटकीय कथावस्तु में प्रयुक्त अतिप्राकृत घटनाओं, प्रसंगों, स्थितियों व वस्तुओं आदि का अध्ययन किया गया है। द्वितीय शीर्षक के अन्तर्गत दिव्य या मानव पात्रों के व्यक्तित्व की अतिप्राकृत विशेषताओं का परिचय दिया गया है।

तृतीय शीर्षक में अतिप्राकृत तत्त्वों की मान्यता पर आधारित अथवा उनका स्फुट या अस्फुट संकेत देने वाले कतिपय लोकप्रचलित विश्वासों—जैसे शकुनों द्वारा शुभ-अशुभ का सूचन, दैव या भाग्य की सर्वनियामकता, कर्मविपाक की अपरिहार्यता, भविष्यज्ञान पर आधारित सिद्धादेश, वृक्षों मे अप्राकृत रीति से पुष्पोद्‌गम की कल्पना पर आधारित दोहद आदि का विवरण दिया गया है। चतुर्थ शीर्षक के अन्तर्गत नाटक विशेष मे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व किन-किन रसो व भावों की अभिव्यंजना मे सहायक होते है, यह स्पष्ट किया गया है। रस-सिद्धान्त की शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी इस विवेचन को शास्त्रीयता की रूढ़ जटिलताओ से बचाने का प्रयास किया गया है। जिन नाटकों मे घटना या पात्रो के रूप में अतिप्राकृत तत्त्व नही मिलते, उनमे केवल लोकविश्वासो के रूप मे पाये जाने वाले ऐसे तत्त्वो का परिचय दिया गया है। जिन नाटको मे अतिप्राकृत तत्त्व बहुत कम आये है या विशेष महत्त्व नही रखते, उनमे उक्त सभी शीर्षको के अनुसार अध्ययन का आग्रह नहीं रखा गया है। अंतिम अध्याय मे परवर्ती व अप्रमुख नाटकों के विवेचन में अतिप्राकृत तत्त्वो का दिग्दर्शन-मात्र अभीष्ट होने से उक्त शीर्षको का प्रयोग नही किया गया है। प्रत्येक प्रमुख नाटक के अध्ययन के आरभ मे रचयिता व कृति का सामान्य परिचय दिया गया है तथा उसमे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों की पृष्ठभूमि या संभावित स्रोतों पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार प्रत्येक नाटक या नाटककार के अध्ययन को कुछ निष्कर्षो के साथ समाप्त किया गया है।

अपने सपूर्ण अध्ययन को हमने दस अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम दो अध्याय अध्येय विषय की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं। प्रथम अध्याय में अतिप्राकृत तत्त्व के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसकी आधारभूत अवधारणाओं व आस्थाओं का परिचय दिया गया है। सृष्टि व उसकी शक्तियो के विषय में प्राकृत-वादी व अतिप्राकृतवादी दृष्टियो का विवेचन करते हुए हमने दिखाया है कि अतिप्राकृत-तत्त्व-सबधी विश्वास प्राचीन मनुष्य की अतिप्राकृतवादी विश्व-दृष्टि के अविभाज्य अग है और हमारा अधिकाश प्राचीन साहित्य इन विश्वासों की विविध अभिव्यक्तियो से युक्त है। यद्यपि प्राचीन काल मे प्राकृतवादी चिन्तन की भी एक परपरा थी, पर वह अधिक से अधिक एक अन्तर्धारा ही रही। आधुनिक युग मे वस्तुवादी वैज्ञानिक चिन्तन तथा बुद्धिवाद के आविर्भाव व विकास के पहले तक मानव-चिन्तन मे अतिप्राकृत धारणाओं का ही प्राधान्य रहा और साहित्य में प्रयुक्त अतिप्राकृतिक तत्त्व उन्ही की सहज, स्वाभाविक एवं कलात्मक अभिव्यक्तियां हैं।

इसी अध्याय मे अतिप्राकृत तत्त्व-विषयक विश्वासों के उद्‌भव, मानव-जीवन मे उनकी भूमिका तथा आधुनिक युग मे इनके प्रति पाये जाने वाले विविध

दृष्टिकोणों का उल्लेख करते हुए इस सम्बन्ध में प्रस्तुत लेखक ने अपना मत स्पष्ट किया है। इसके पश्चात् धर्म, पुराकथा, दर्शन, लोककथा व साहित्य के साथ अतिप्राकृत तत्त्वों के सम्बन्ध का अनुसंधान करते हुए यह दिखाया गया है कि संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त ये तत्त्व धार्मिक विश्वासों पौराणिक साहित्य की कल्पनाओं, दार्शनिक विचारणाओं, लोककथा की कथानक-रूढियों एवं इन सबको अपने कलेवर में अभिव्यक्ति देने वाले साहित्य की पूर्ववर्ती परंपरा के प्रभावों की देन है। किन्तु नाटकों में इनका प्रयोग उक्त प्रभावों की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, अपितु नाटककारों ने उनका विशिष्ट कलात्मक उद्देश्यों के लिए सचेतन विनियोग भी किया है।

द्वितीय अध्याय में संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों की नाट्य-शास्त्रीय पृष्ठभूमि का अनुसंधान किया गया है। प्रारंभ में नाट्य के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय देकर उसकी दिव्य उत्पत्ति की नाट्यशास्त्रीय कथा की चर्चा करते हुए हमने दिखाया है कि संस्कृत नाटक का धर्म व पौराणिक कथाओं के साथ प्रारम्भ से ही नाता रहा है और अधिकतर संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व प्रायः इन्हीं स्रोतों से आये हैं। इस सम्बन्ध में कतिपय आधुनिक विद्वानों के मतों का भी उल्लेख किया गया है। अनन्तर रूपक के भेदों, कथावस्तु व पात्रों की योजना तथा रस-संबन्धी नाट्यशास्त्रीय विवेचन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकृत विभिन्न अतिप्राकृत तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय के अंतिम परिच्छेद में हमने बताया है कि अतिप्राकृत तत्त्वों का यों तो शृंगार, करुण भयानक, रौद्र आदि विभिन्न रसों से सम्बन्ध है, पर इनका सबसे घनिष्ठ सबन्ध अद्भुत रस से है। संस्कृत का अब तक उपलब्ध नाट्यसाहित्य नाट्यशास्त्र के बाद का है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि उसमें नाट्यशास्त्र के अतिप्राकृत-संबन्धी निर्देशों का भी अनुगमन हो।

तृतीय अध्याय से प्रस्तुत अध्ययन के व्यावहारिक पक्ष का आरंभ होता है। इस अध्याय में मुख्यत भास के नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का विवेचन किया गया है। भास के पूर्ववर्ती अश्वघोष के नाटक इतने खंडित रूप में मिले हैं कि उनमे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी इस विषय मे जितनी-सी जानकारी मिली है उसके आधार पर हमने उनका संक्षिप्त परिचय देकर विषय को सर्वांगीण बनाने की चेष्टा की है। यों तो चारुदत्त के अलावा भास के सभी नाटकों का अध्ययन किया गया है पर अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिमा, अभिषेक, मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, बालचरित व अविमारक का हमने विस्तार से अध्ययन किया है - विशेष रूप से अंतिम दो का।

चतुर्थ अध्याय में कालिदास के नाटकों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उनके 'विक्रमोर्वशीय' व 'शाकुन्तल' अतिप्राकृत तत्त्वों के कलात्मक विन्यास की दृष्टि से अप्रतिम हैं, अतः हमने इन नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का विशिष्ट व विस्तृत अध्ययन किया है। यद्यपि मालविकाग्निमित्र में इन तत्त्वों का लगभग अभाव है, पर उसमें भी दोहद के रूप में एक विशिष्ट अतिप्राकृत लोकविश्वास का रमणीय विनियोग हुआ है, अतः हमने इस तत्त्व का भी विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया है।

पंचम अध्याय में मृच्छकटिक व मुद्राराक्षस इन दोनों सामाजिक रूपकों में प्रयुक्त कतिपय अतिप्राकृत लोकविश्वासों का परिचय दिया गया है। षष्ठ अध्याय में हर्ष की दो नाटिकाओं व 'नागानन्द' नाटक का तथा सप्तम में भट्टनारायण के 'वेणी-संहार' का अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से विवेचन किया गया है। अष्टम अध्याय भवभूति के नाटकों से सम्बन्धित है। कालिदास के बाद संस्कृत नाटक के क्षेत्र में भवभूति सबसे प्रतिभाशाली नाटककार माने जाते हैं, अतः उनके नाटकों का भी अध्ययन विस्तार से किया गया है।

नवम अध्याय में ह्रासकाल के प्रतिनिधि नाटककार मुरारि व राजशेखर के नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का विवरण देते हुए उनके विनियोग का मूल्यांकन किया गया है। राजशेखर का कर्पूरमंजरी नामक सट्टक प्राकृत भाषा में प्रणीत है, फिर भी इसकी प्रसिद्धि व महत्त्व को देखते हुए हमने इसके अतिप्राकृत तत्त्वों का भी परिचय दिया है जिसके बिना राजशेखर की कृतियों का अध्ययन अधूरा रहता। दशम अध्याय में शक्तिभद्र, दिङ्नाग, क्षेमीश्वर, कुलशेखर, जयदेव, रामभद्र दीक्षित व महादेव आदि के नाटकों का विवेचन किया गया है। साथ ही इस अध्याय में हमने रामकथा-सम्बन्धी कुछ प्राचीन व लुप्त, किन्तु नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उद्धृत या उल्लिखित नाटकों को भी अपने अध्ययन में सम्मिलित किया है। अतिप्राकृत तत्त्वों के नाटकीय विनियोग की परवर्ती परम्परा के दिग्दर्शन के लिए हमने इसी अध्याय में अनेक नाटकों के अतिप्राकृत तत्त्व सम्बन्धी सदर्भ दिये हैं जिनमें से कुछ बीसवीं शताब्दी की कृतियाँ भी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की योजना के मस्तिष्क में आने से लेकर इसके प्रकाशन के क्षण तक अनेकानेक व्यक्तियों ने इस कार्य में मुझे विभिन्न रूपों में सहयोग व साहाय्य प्रदान किया है जिनके प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य मानता हूँ। सर्वप्रथम तो मैं अपने गुरुजनों—पूज्यपाद श्री सुरजनदास जी स्वामी, डॉ॰ फतहसिंह,

डॉ० दनुशेखर, डॉ० रामानन्द तिवारी एवं श्री द्विजेन्द्रलाल शर्मा पुरकायस्थ के प्रति अपने हृदय की कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हू जिनके चरणों मे बैठकर मैंने संस्कृत के दो अक्षर सीखे तथा जिनके आशीर्वादों एव शुभ कामनाओं ने मुझे निरन्तर प्रोत्साहित व प्रेरित किया।

मैं अपने शोधकार्य के निर्देशक डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, आचार्य, संस्कृत विभाग एव अध्यक्ष, मानविकी सकाय, उदयपुर विश्वविद्यालय के प्रति अपने अन्तस्तल का गहन आदर एव आभार प्रकट करना चाहता हू जिनकी सतत प्रेरणा, स्नेहमय मगल कामना एव वैदुष्यपूर्ण परामर्श व मार्गदर्शन से इस ग्रन्थ का प्रणयन सभव हो सका। डॉ० द्विवेदी के सम्पर्क मे रहते हुए पिछले कुछ वर्षों मे जो कुछ सीखने को मिला है उसे कदापि भूला नही जा सकता। वस्तुत उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द नही हैं।

यहा मैं अपने स्नेही मित्रों—डॉ० नवलकिशोर डॉ० नागरकाश जोशी, श्री विष्णुचन्द्र, डा० प्रतापकरण माथुर एव श्री नरेन्द्र पड्या के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हू जिन्होंने समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव व परामर्श देकर मुझे अनुगृहीत किया। अपने शोध कार्य मे जिन विद्वान् मनीषियों के ग्रथों का मैंने उपयोग किया है उनके प्रति भी मैं श्रद्धावनत हू। विशेष रूप से मैं श्रीमती उषा सत्यव्रत का अत्यन्त आभारी हू जिनके ग्रथ 'सस्कृत ड्रामाज् आव् ट्वेन्टिएथ सेंचरी' से प्रस्तुत प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय के कुछ अशो को लिखने मे मुझे विशेष सहायता मिली है।

अपनी जीवन सगिनी पद्मा को मात्र धन्यवाद देकर मैं कदापि उऋण नही हो सकता, क्योंकि उनके सहयोग के बिना मैं इस कार्य को शायद ही पूरा कर पाता। मेरे बच्चे–वसुधा, सुधीर व नीरजा ने अबोध होते हुए भी मेरे कार्य मे समय-समय पर जो मदद की उसके लिए मैं उन्हे केवल आशीर्वाद ही दे सकता हू।

श्री दूल्हेसिंह मेहता ने शोध-प्रबन्ध को सुचारु रूप मे टकित कर मेरे कार्य मे जो हाथ बँटाया इसके लिए व धन्यवाद के पात्र हैं। देवनागर प्रकाशन के सचालक श्री पवनचदजी सिघवी एव श्री मनमोहनराजजी ने प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रकाशन का दायित्व सहर्ष स्वीकार कर इसे जिस सुचारु व सुरुचिपूर्ण रीति मे सम्पन्न किया है इसके लिए मैं उनके प्रति आभारी हू।

डॉ० द्विवेदी ने ग्रथ का आमुख लिखकर मुझ पर जो अनुकम्पा की है उनके लिए मैं एक बार पुन उनके प्रति आभार प्रकट करता हू।

(ठ) सस्कृत नाटक मे अतिप्राकृत तत्त्व

अत मे ग्रथ को सहृदय व सुधी पाठको के हाथो मे सौंपते हुए यही निवेदन है कि इसमे प्रमाद या अज्ञान वश मुझ से जो भी त्रुटिया हुई हो उन्हे वे उदारतापूर्वक क्षमा करेंगे। सस्कृत नाटक की अवगति एव रसास्वादन म यदि इस ग्रन्थ से प्रबुद्ध पाठको को कुछ भी लाभ होगा तो अपने श्रम को सार्थक मानू गा।

सस्कृत विभाग
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

—मूलचन्द्र पाठक

———

संकेताक्षर सूची

संकेत	पूर्ण रूप
अनु० प०	अनुशासन पर्व
अ० भा०	अभिनव भारती
अभि०	अभिषेक
अभि० शाकु०	अभिज्ञानशाकुन्तल
अवि०	अविमारक
आ० चू०	आश्चर्यचूडामणि
आ० प०	आदिपर्व
ई० उ०	ईश उपनिषद्
उ० रा०	उन्मत्तराघव
उ० रा० च०	उत्तररामचरित
क० उ०	कठ उपनिषद्
कर्पूर०	कर्पूरमंजरी
क० स० सा०	कथासरित्सागर
काव्या० सू० वृ०	काव्यालंकारसूत्र वृत्ति
कु० स०	कुमारसम्भव
च० कौ०	चण्डकौशिक
छांदो० उ०	छांदोग्य उपनिषद्
तप० स०	तपतीसंवरण
द० रू०	दशरूपक
दू० वा०	दूतवाक्य
दे०	देखिए
ध्वन्या०	ध्वन्यालोक

ना० द०	नाट्यदर्पण
ना० द० वि०	नाट्यदर्पणविवृत्ति
ना० ल० र० को०	नाटकलक्षणरत्नकोश
नि० सा० प्रे०	निर्णयसागर प्रेस
प० पु०	पद्मपुराण
पृ०	पृष्ठ
प्र० यौ०	प्रतिज्ञायौगन्धरायण
प्रि० द०	प्रियदर्शिका
बा० च०	बालचरित
बा० रा०	बालरामायण
बृहदा० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
भा० ना० च०	भासनाटकचक्र
भा० पु०	भागवत पुराण
भा० प्र०	भावप्रकाशन
म० च०	महावीरचरित
म० पु०	मत्स्यपुराण
महा० भा०	महाभारत
म० व्या०	मध्यमव्यायोग
माल०	मालविकाग्निमित्र
मा० मा०	मालतीमाधव
मु० उ०	मुण्डक उपनिषद्
मृच्छ०	मृच्छकटिक
योग०	योगसूत्र
रत्ना०	रत्नावली
र० सु०	रसार्णवसुधाकर
राज्त०	राजतरंगिणी
व० जी०	वक्रोक्तिजीवित
वा० पु०	वायुपुराण
विक्रमो०	विक्रमोर्वशीय
वि० पु०	विष्णुपुराण
शा० प०	शान्तिपर्व

विषयानुक्रम

विषय	पृष्ठ स०

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

———

१ | अतिप्राकृत तत्त्व : वैचारिक आधार

विषय-प्रवेश

विश्व के सभी प्राचीन साहित्यो म अतिप्राकृत तत्त्वो का समावेश मिलता है। साहित्य मे ही नही, प्राचीन मानव की अन्यान्य सास्कृतिक सर्जनाग्रो मे भी ये तत्त्व अनुस्यूत हैं। धम, दर्शन, पुराकथा, लोककथा, साहित्य, कला आदि मानव जाति के सास्कृतिक जीवन के प्राय सभी क्षेत्र अतिप्राकृत विश्वासो से अनुप्राणित हैं। वस्तुत ये विश्वास उसके सृष्टि-बोध, विराट् सृष्टि मे अपने स्थान तथा उसकी शक्तियो के साथ स्वय के सम्बन्ध की अवधारणा के अविभाज्य अग हैं। सृष्टि के विषय मे जैसे-जैसे उसके बोध व अवधारणा मे विकास या परिवर्तन होता गया वैसे-वैसे अतिप्राकृत तत्त्वों की परिकल्पनाए भी परिवर्तित होती गई। आज हम विज्ञान और बुद्धिवाद के उस युग मे पहुच गये हैं जहा हमारे सृष्टिविषयक परम्परागत बोध मे क्रातिकारी परिवतन हो चुका है। इसके फलस्वरूप आज के साहित्य मे अतिप्राकृतिक तत्त्वो का विनियोग लगभग समाप्त हो गया है या उनके स्वरूप व उद्देश्य मे परिवतन हो गया है। किन्तु जहा तक प्राचीन साहित्य का प्रश्न है, उसमे प्राकृत व अतिप्राकृत इस प्रकार सग्रथित व समिश्रित हैं कि उन्हे सहज ही एक दूसरे से विलग नहीं किया जा सकता। उसमे जो विश्व-दृष्टि अभिव्यक्त हुई है, प्राकृत व अतिप्राकृत दोनो उसके सहज व स्वाभाविक अग हैं। उनमे कुछ तारतम्य या कोटिक्रम हो सकता है, पर एक ही सृष्टि मे उनके सह-अस्तित्व मे किसी प्रकार का सशय नहीं किया जा सकता। जब हम प्राचीन साहित्य के सदर्भ मे प्राकृत और अतिप्राकृत जैसी प्रतियोगी सज्ञाओं का प्रयोग करते हैं तो आधुनिक युग की तर्क-प्रधान, वास्तवनिष्ठ व बुद्धिवादी विचारधारा की कसौटी पर ही। इस कसौटी के आधार पर हम यह निर्णय कर सकते हैं कि प्राचीन साहित्य मे प्रयुक्त कौन से तत्त्व प्राकृतिक हैं और कौन से अतिप्राकृतिक ? सच तो यह है कि इस वैचारिक पृष्ठभूमि मे ही हमार

वर्तमान अध्ययन का उन्मेष सम्भव हुआ है। इसके अभाव में शायद हम प्राकृत व अतिप्राकृत के विवेक में ही भ्रममय रहते। प्राचीनकाल में ऐसे किसी अध्ययन का प्रवर्तन नहीं हो सकता, इसी से यह सिद्ध है कि इसके लिए जो दृष्टि अपेक्षित है उसका वैचारिक सदर्भ अधिकाशतया आधुनिक है।

अतिप्राकृत तत्त्व का स्वरूप

अतिप्राकृत का शाब्दिक अर्थ है प्राकृत वस्तुओं को अतिक्रान्त करने वाला, उत्तम उत्कृष्टतर, श्रेष्ठतर तथा विलक्षण। व्याकरण की दृष्टि से अतिप्राकृत शब्द विशेषण है तथा इसमें प्रादितत्पुरुष[1] या बहुव्रीहि समास[2] हुआ है। अतिप्राकृत व प्राकृत दोनों सापेक्ष सज्ञायें हैं, अत 'प्राकृत' की व्युत्पत्ति व अर्थ के सदर्भ में ही अतिप्राकृत' का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है। प्राकृत शब्द 'प्रकृति' में 'तत्र भव' (४ ३ ५३) 'तत आगत' (४ ३ ७४) 'तस्येदम्' (४ ३ १२०) 'तेन निवृत्तम्' (४ २ ६८) आदि सूत्रों से विभिन्न अर्थों में 'अण्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। अत इसका अर्थ है—'प्रकृति से उत्पन्न,' 'प्रकृति से प्राप्त', 'प्रकृति से सम्बद्ध' अथवा 'प्रकृति से सिद्ध,' आदि। इनमें से 'निर्वृत्त' अर्थ में प्रकृति शब्द से ठञ् प्रत्यय[3] भी होता है जिससे 'प्राकृतिक' शब्द बनता है। इस प्रकार प्राकृत और प्राकृतिक शब्द समानार्थी-से हैं इसी दृष्टि से हमने 'अतिप्राकृत' के लिए अनेक स्थलों पर 'अतिप्राकृतिक' शब्द का भी प्रयोग किया है। उक्त व्युत्पत्तियों के आधार पर हम कह सकते हैं कि जिन तत्त्वों का प्रकृति से सम्बन्ध होता है तथा जिनकी उत्पत्ति, रचना या निष्पत्ति प्राकृतिक उपादानों से होती है वे सब प्राकृत या प्राकृतिक हैं तथा ऐसे सभी तत्त्वों का अतिक्रमण करने वाले तत्त्व अतिप्राकृत या अतिप्राकृतिक कहे जा सकते हैं। सस्कृत म 'तत्त्व' शब्द वास्तविक दशा या परिस्थिति, तथ्य, मूलस्वभाव मानव आत्मा या भौतिक विश्व का वास्तविक स्वरूप, आद्य सिद्धान्त, घटक मूल वस्तु आदि विभिन्न अर्थों का वाचक है।[4] हमने प्रस्तुत अध्ययन में इसका वस्तु, घटना, तथ्य व्यक्ति या व्यक्तित्व के गुण, विश्वास, विचार आदि विभिन्न अर्थों म प्रयोग किया है।

प्राकृत वस्तुएं हमारे लौकिक ज्ञान की कसौटी पर खरी उतरती हैं, वे मनुष्य मात्र के सामान्य अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करती। वास्तविक जगत्

---

1 दक्षिण-अष्टाध्यायी का सूत्र 'कुगतिप्रादय' (2 2 18) व उस पर कात्यायन का वार्तिक–'अत्यादय क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया।'

2 द०-कात्यायन का वार्तिक– प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोप।

3 द० 'तेन निवृत्तम्' (अष्टाध्यायी 5 1 79)

4 दे० वामन शिवराम आप्टे दि स्टूडेन्ट्स सस्कृत इगलिश डिक्शनरी, पृ० 228

में जो कुछ होता आया है या प्रकृति में जिसके घटित होने की सम्भावनाएं निहित हैं वह सब प्राकृत कहलाने का अधिकारी है। इसके विपरीत जिन वस्तुओं, घटनाओं, स्थितियों आदि की प्राकृतिक कारणों या नियमों द्वारा समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती तथा जो बातें हमारे तार्किक ज्ञान की सीमा में नहीं आती, उन्हें हम अतिप्राकृतिक तत्त्व कह सकते हैं। प्राकृत तत्त्व सर्वथा बुद्धिगम्य और विश्लेषणसह होते हैं। उनके अस्तित्व का आधार स्वयं प्रकृति में निहित रहता है। उनके स्वरूप कार्य व प्रयोजन को समझने के लिए हमें प्राकृतिक विधानों का अतिक्रमण नहीं करना पड़ता। किन्तु अतिप्राकृतिक तत्त्व स्वरूप से ही रहस्यमय, अतीन्द्रिय और तर्कातीत होते हैं। अतः मानवबुद्धि उनकी अवगति में असमर्थता का अनुभव करती है। उनके अस्तित्व का आधार प्राकृतिक जगत् में नहीं पाया जाता। यही कारण है कि उनके स्वरूप व प्रयोजन को जानने के लिए प्रकृति से भिन्न शक्तियों की कल्पना की जाती है। जहाँ प्राकृतिक तथ्य सर्वसाधारण और सुपरिचित होते हैं वहाँ अतिप्राकृतिक विलक्षण, रहस्यावृत और अद्भुत हुआ करते हैं। इस प्रकार अतिप्राकृतिक तत्त्व की अवधारणा में अलौकिक, लोकोत्तर, दिव्य, अतिमानवीय, अद्भुत व आध्यात्मिक कहे जाने वाले विभिन्न तत्त्व अन्तर्भूत हैं। अलौकिक का अर्थ है अनुभव-जगत् से भिन्न, अतीत या विलक्षण। लोकोत्तर, लोकातिक्रान्त, लोकातिग आदि शब्द भी इसी अर्थ के वाचक हैं। दिव्य शब्द पार्थिव व मर्त्य जगत् से भिन्न किसी दैवीलोक से सम्बद्ध तत्त्वों की संज्ञा है। अतिमानवीय, अतिमानुषिक आदि शब्द मानवीय शक्ति सम्भावना से अतीत तत्त्वों के द्योतक हैं। जो तत्त्व अपनी आकस्मिकता, विलक्षणता तथा अविश्वसनीयता द्वारा मानव-मन को चकित व चमत्कृत कर देते हैं उन्हें अद्भुत कहते हैं। मानव आत्मा की अतिभौतिक प्रकृति व विभूतियों से सम्बन्धित तत्त्व आध्यात्मिक कहे जाते हैं। ऊपर हमने अतिप्राकृत तत्त्वों का जो स्वरूप बताया है उसमें ये सभी तत्त्व समाहित हैं। साथ ही 'अतिप्राकृत' शब्द अर्थ की दृष्टि से इनमें से प्रत्येक से अधिक व्यापक है। इसीलिए हमने इनकी तुलना में इस शब्द को चुना है, यद्यपि यह पाश्चात्य परंपरा से गृहीत है। वस्तुतः हमने इसका प्रयोग अंग्रेजी के सुपरनेचुरल के अनुवाद के रूप में किया है।[1] इस शब्द को ग्रहण करने का एक उद्देश्य आधुनिक युग की उस बुद्धिवादी विचारधारा की ओर संकेत करना भी है जिसके निकष

---

1 सुपर—अति नेचुरल प्राकृतिक। अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध शब्दकोश में सुपरनेचुरल का इस प्रकार परिभाषित किया गया है—

Of belonging or having reference to or proceeding from an order of existence beyond nature or the visible and observable universe, divine as opposed to human or spiritual as opposed to material Websters New International Dictionary of the English Language

पर हमने संस्कृत नाटकों मे प्रयुक्त किन्ही तत्त्वों को अतिप्राकृत माना है। साहित्य के सदर्भ मे इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात पश्चिम मे ही हुआ और उसकी आधारभूत दृष्टि भी पश्चिम से ही प्राप्त हुई, इसीलिए हमने 'सुपरनचुरल' के अर्थ को प्रतिध्वनित करने वाले इस शब्द को अपनाया है। किन्तु उक्त रूप मे अभिप्रेत होने पर भी यह शब्द भारतीय परपरा के लिए सर्वथा अपरिचित नही है। हमारे साहित्य मे इससे मिलता-जुलता 'अप्राकृत' शब्द असामान्य, अलौकिक आदि अर्थों मे अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।[1]

सृष्टि के प्रति मनुष्य का द्विविध दृष्टिकोण

मानव-चिन्तन के इतिहास पर एक विहगम दृष्टि डालने से विदित होता है कि सृष्टि के विषय मे मनुष्य के मुख्यत दो दृष्टिकोण रहे हैं। एक दृष्टिकोण ने धर्म, अध्यात्मवाद और पौराणिक विश्वासो को जन्म दिया और दूसरे ने विज्ञान और बुद्धिवाद को। प्रथम ने अतिप्राकृत शक्तियो व सत्ताओ के सदर्भ मे विश्व के घटना-क्रमो की व्याख्या की और दूसरे ने प्राकृतिक कार्यकारणभाव के आधार पर। इसीलिए पाश्चात्य परपरा मे प्रथम दृष्टिकोण को अतिप्राकृतवाद और द्वितीय को प्राकृतवाद भी कहते है। प्राकृतवाद के मूल मे मनुष्य की वस्तु-निष्ठा तथा तर्कप्रधान व ऐहिक प्रवृत्ति का दर्शन होता है जबकि अतिप्राकृतवाद भौतिक सृष्टि के प्रति मनुष्य के अपूर्णता-बोध तथा उसमे भी श्रेष्ठतर, उच्चतर व विलक्षण वास्तविकता मे उसकी आस्था की अभिव्यक्ति है। उसमे मनुष्य की आदर्शवादी व श्रद्धा-मूलक प्रवृत्ति प्रतिफलित हुई है।

प्राकृतवाद यों तो प्राकृतवादी विचारधारा का पूर्ण विकास आधुनिक बुद्धिवाद व विज्ञान की देन है, पर उसका जन्म प्राचीन काल मे ही हो गया था। प्राचीन युग मे जब-जब मनुष्य मे वैज्ञानिक प्रवृत्ति प्रबल हुई तब-तब उसने सृष्टि के तथ्यो को वस्तुदृष्टि से देखने-परखने का प्रयत्न किया। इसीलिए कहा गया है कि प्राकृतवाद विज्ञान से पुराना है पर वैज्ञानिक प्रवृत्ति से पुराना नही।[2] प्राचीन यूनान मे जब वस्तुजगत् की लोकप्रचलित पौराणिक व धर्ममीमासापरक व्याख्याओ के विरुद्ध वैज्ञानिक चेतना का उदय हुआ तब तथ्यो और घटनाओ का सरल व बुद्धिगम्य समाधान प्रस्तुत किया गया। आयोनिक दार्शनिकों-थेलीज, एनेक्जीमेडर तथा एनेक्जीमिनीज ने क्रमश जल, अरूप द्रव्य व वायु को एव ल्युसिपस, डेमोक्रीटस व एपीक्युरस

---

1 दे० भवभूतिकृत 'महावीरचरित' 1 3, 2 39, 4 12

2 दे० जेम्स हेस्टिग्स द्वारा सपादित 'एन्साईक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एड एथिक्स' भाग 9 मे 'नेचुरेलिज्म' पर डब्ल्यू० डी० नाइवेन का निबन्ध, पृ० 196

ने भौतिक परमाणुओं को सृष्टि का मूल कारण माना, जबकि ज्ञानवादी चिन्तकों (Sophists) ने अधिकतर अनुभववादी व सन्देहवादी दृष्टिकोण अपनाया।[1] पश्चिम में यही विचारधारा आधुनिक काल में डेविड ह्यूम के प्रबल सदेहवाद (Scepticism) व डार्विन के जैविक विकासवाद के रूप में विकसित हुई।

दूसरी ओर भारतीय चिन्तन-परपरा में भी प्रारभ में ही प्राकृतवादी विचारों की एक अन्तर्धारा रही है जिसकी सैद्धान्तिक परिणति आगे चल कर चार्वाकों के जडवाद में हुई। वेदों के कर्मकाडीय रहस्यवाद व अलौकिकवाद के विरुद्ध परवर्ती काल में नास्तिक कही जाने वाली अनेक विचारधाराओं का उदय हुआ। इनकी सर्वप्रथम सैद्धान्तिक चर्चा श्वेताश्वतर उपनिषद् में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद व भूतवाद आदि के रूप में हुई है।[2] इनमे से कालवाद काल (शकराचार्य के अनुसार स्वभाव या प्रकृति) को, स्वभाववाद स्वभाव (वस्तुओं की प्रतिनियत शक्ति, जैसे अग्नि मे औष्ण्य) को, नियतिवाद नियति (भवितव्यता जिसमें कर्म और पुरुषकार के लिए कोई अवकाश नही) को, यदृच्छावाद यदृच्छा (आकस्मिकता या नियमहीनता) को तथा भूतवाद भूत द्रव्यों को सृष्टि का कारण मानता है। यद्यपि इन सिद्धान्तों में पर्याप्त अन्तर है तथापि वैदिक धर्म के अलौकिकवाद का विरोध करने में ये परस्पर एकमत प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार महाभारत के शान्तिपर्व में स्वभाववाद, दैववाद तथा पुरुषकारवाद जैसी भौतिकवादी विचारधाराओं का विवरण मिलता है। इनमें से स्वभाववाद भूतचिन्तकों का सिद्धान्त कहा गया है तथा किन्हीं विचारकों की दृष्टि में दैव, कर्म व पौरुष की अभिन्नता बतायी गयी है।[3] श्री हिरियन्ना ने स्वभाववाद को 'भारतीय प्राकृतवाद' की सज्ञा दी है और महाभारत शा० प० के विभिन्न स्थलों का सदर्भ देते हुए उसकी प्रमुख मान्यताओं पर विशद प्रकाश डाला है।[4] उनके विचार में स्वभाववाद न तो यदृच्छावाद या अनिमित्तवाद के समान इस जगत् को व्यवस्थाहीन मानता है और न अध्यात्मवाद के समान किसी अनतिप्राकृतिक शक्ति

---

1 द० डब्ल्यू० टी० स्टेसकृत ए 'क्रिटिकल हिस्ट्री आव् ग्रीक फिलासफी' पृ० 20–29, 86–89 356–357, 106–126

2 1 2

3 केचित्पुरुषकार तु प्राहु कर्मसु मानवा ।
दैवमित्यपरे विप्रा स्वभाव भूतचिन्तका ॥
पौरुष कर्म दैव च फलवृत्ति स्वभावत ।
त्रय एतेऽपृथग्भूता न विवेक तु केचन ॥
महाभारत, शा० प० 232 19–20

4 दे० श्री हिरियन्नाकृत 'इडियन फिलॉसोफीकल स्टडीज' मे 'स्वभाववाद आर इडियन नेचुरलिज्म' शीर्षक निबन्ध।

द्वारा निर्धारित। स्वभाववाद के अनुसार जगत् की वस्तुएं एकमात्र अपने स्वभाव द्वारा नियमित होती हैं।[1] यह सिद्धान्त केवल प्रत्यक्ष व उस पर आधारित अनुमान प्रमाण को स्वीकार करता है। श्री हिरियन्ना के अनुसार ज्ञानस्रोतों की इस परिमिति में ही स्वभाववाद का एक ओर मंत्र व ब्राह्मणों के अतिप्राकृतवाद से और दूसरी ओर उपनिषदों के अध्यात्मवाद से विरोध निहित है।[2] स्वभाववादी दार्शनिक अपने जगत्-विश्लेषण में संभवतः भौतिक तत्त्वों पर जाकर रुक गये थे, इसीलिए वे भूतचिन्तक कहे गये हैं। स्वभाववाद ने आत्मा के देहान्तरग्रहण का भी निषेध किया है। महाभारत के अनुसार "जीवित (जीव) और शरीर जन्म से ही साथ उत्पन्न होते हैं, साथ बढ़ते हैं और साथ-साथ नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार सागर में स्रोतों का पर्यवसान है उसी प्रकार निधन भूतों (प्राणियों) का अन्त है।"[3] श्री हिरियन्ना के विचार में नित्य आत्मा जैसी अनुभवातीत सत्ताओं का प्रतिषेध ही इस सिद्धांत का मुख्य लक्ष्य है।[4]

इससे पहले कि हम चार्वाकदर्शन के भौतिकवाद की चर्चा करें, यहां आजीवक संप्रदाय के कतिपय नास्तिक दार्शनिकों के मतों का उल्लेख कर लेना उचित होगा। इन दार्शनिकों में मक्खलि गोसाल, पूरण कस्सप, अजित केसकंबली, पकुध कच्चायन व संजय बेलट्ठिपुत्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें मक्खलिगोसाल सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। वे महावीर व बुद्ध के समकालीन थे। उन्होंने कर्मों को सर्वथा निष्फल माना है। उनके अनुसार सुख-दुःख, पाप-पुण्य, पुनर्जन्म आदि का कोई हेतु नहीं है, मनुष्य का प्रयत्न और पुरुषार्थ सर्वथा निरर्थक है। गोसाल घोर नियतिवादी थे।[5] उनके अनुसार सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि सब पूर्वनियत हैं, मनुष्य कुछ कर सकता है तो यही कि वह चुपचाप अपनी नियति की प्रतीक्षा करे। वे पुनर्जन्म को मानते थे, जिसका अर्थ है कि आत्मा की देहोत्तर सत्ता में उनका विश्वास था। पर उनके विचार में पुनर्जन्म का कारण नियति है, न कि कर्म। वे कर्म को अस्वीकार नहीं

---

1 द्र० श्री हिरियन्नाकृत 'इंडियन फिलासॉफीकल स्टडीज' में 'स्वभाववाद और इन्डियन नेचुरलिज्म' शीर्षक निबंध। पृ० 73

2 वही

3 जीवितं च शरीरं च जात्यैव सह जायते।
उभे सह विवर्धेते उभे सह विनश्यतः॥
भूतानां निधनं निष्ठा स्रोतसामिव सागरः।
नैतत् सम्यग्विजानन्तो नरा मुह्यन्ति वञ्चकः॥
म० भा० शा० प० 224 7, 9

4 इंडियन फिलॉसाफिकल स्टडीज, पृ० 75

5 दे० डेल रीप कृत 'दि नेचुरलिस्टिक ट्रेडीशन इन इंडियन थॉट,' पृ० 38-41

करते, पर उसकी नैतिक शक्ति या प्रभावशीलता मे उनकी आस्था नही है।[1]

पूरण कस्सप भी मक्खलि गोसाल के समान अक्रियावादी थे। उन्होने भी अच्छे-बुरे सब प्रकार के कर्मों की निष्फलता का प्रतिपादन किया है।[2] अजित केसकम्बली उग्र भौतिकवादी थे जिन्होंने यज्ञ, दान, सुकर्म, दुष्कर्म, परलोक और तत्त्वज्ञान का निषेध किया है।[3] पकुध कच्चायन ने वैशेषिकों के समान सात नित्यपदार्थ मान हैं तथा प्रकारान्तर से कर्मों की निष्फलता स्वीकार की है।[4] संजय वेलट्ठिपुत्त संशयवादी थे, उन्होंने आत्मज्ञान को अप्राप्य माना है।[5]

आजीवकों के उक्त विचारो को हम पूर्णतया प्राकृतवादी तो नही कह सकते पर उनमे हमें प्राकृतवाद की ओर एक असंदिग्ध झुकाव अवश्य दिखाई देता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जगत् व मानव नियति की व्याख्या मे वे किसी अतिप्राकृत शक्ति या तत्त्व का सहारा नही लेते।

भारतीय प्राकृतवादी चिन्तन का सबसे विकसित व व्यवस्थित रूप हमे चार्वाक दर्शन मे मिलता है। केवल अनुभव-जगत् तक सीमित और सामान्य जनो मे प्रचलित होने के कारण यह लोकायत सिद्धान्त भी कहा गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसे हम शताब्दियो से चले आ रहे भौतिकवादी चिन्तन का एक सङ्गठित व व्यवस्थित रूप कह सकते हैं।[6] चार्वाकों के अनुसार यह सृष्टि एक पूर्णतया भौतिक सृष्टि है जिसका निर्माण पृथ्वी, जल तेज और वायु इन चार भूतों से हुआ है। आत्मा या चैतन्य इन भूतो के विशिष्ट संघटन का ही एक आकस्मिक परिणाम है। मृत्यु ही प्राणी के अस्तित्व का अन्त है। ईश्वर, देवता, अमर आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म आदि वाले स्वार्थी व पाखण्डी धूर्तों की कल्पनायें है। उनके अनुसार एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, जिन वस्तुओ का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता वे मिथ्या हैं। ईश्वर आत्मा, देवता, परलोक आदि ऐसी ही वस्तुए हैं। उनके विचार मे देह से भिन्न कोई

---

1 दे0 डेल रीप कृत दि नेचुरलिस्टिक ट्रेडीशन इन इण्डियन थाट पृ0 43–44

2 वही पृ0 35–36

3 वही पृ0 36

4 वही, पृ0 36–37

5 वही पृ0 37–38

6 सर्वप्रथम भगवान बृहस्पति ने सूत्रो व श्लोको के रूप मे इस विचारधारा को शास्त्रीय रूप दिया था, परन्तु अब बृहस्पति का ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। केवल उनके कुछ सूत्र व श्लोक परवर्ती दर्शनग्रन्थो मे उद्धरणो के रूप मे मिलते हैं। चार्वाक दर्शन का हमारा ज्ञान माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह व विभिन्न दर्शनो मे पूर्वपक्ष के रूप मे दिये गये चार्वाकों या लोकायतिकों के विचारो पर आधारित है। इस विषय मे देखिए –डा सदानन्द पाठक-कृत 'चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा पृ0 135–136

आत्मा नही है। इसलिए भौतिक सुखो का उपभोग ही मनुष्य का ध्येय होना चाहिए।

इस विवरण मे स्पष्ट है कि चार्वाक की ज्ञानमीमासा अनुभवमूलक, तत्त्व-मीमासा भौतिकवादी और आचारमीमासा सुखवादी है। "चार्वाक (१) केवल अनुभवात्मक पद्धति को मान्यता देता है, किसी और को नहीं (२) वह अप्राकृतिक का सर्वथा प्रतिषेध करता है तथा (३) मानता है कि जहा तक प्राकृतिक जगत् के नियमन का प्रश्न है वह स्पष्टतया जड साधनों से ही सभव है। इस प्रकार यह मत एक उच्चकोटि का प्राकृतवादी सिद्धान्त कहलाने की सभी शर्तो को पूरा करता है।"[1]

यह ध्यातव्य है कि भारतीय दर्शन के भावी विकास मे चार्वाको की उक्त विचारधारा का विशुद्ध रूप अक्षुण्ण नही रह सका। नास्तिक और आस्तिक दोनो ही दर्शन सम्प्रदायो ने उसके विभिन्न पक्षो का खण्डन करते हुए उसमे अपनी-अपनी दृष्टि से परिष्कार किया। वेद-विरोधी जैनो व बौद्धो ने नास्तिक होते हुए भी चार्वाको के अतिभौतिकवाद को अनेक अतिप्राकृत तत्त्वो की स्वीकृति द्वारा एकागी होने से बचाया। उदाहरणार्थ, जैनो ने पुद्गल-विषयक सिद्धात के रूप मे भौतिकवाद को ग्रहण करते हुए भी जीव, कर्म, पुनर्जन्म एव प्रमाण-सम्बन्धी मान्यताओ[2] द्वारा परम्परागत अतिप्राकृतवादी चिन्तनधारा के साथ उसका समन्वय स्थापित किया। इसी प्रकार बौद्धो ने अनात्मवादी व अनीश्वरवादी होते हुए भी परलोक, कर्म व पुनर्जन्म के रूप म अतिप्राकृतिक तत्त्वो का अपने दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। दूसरी ओर साख्य, वैशेषिक व मीमासा दर्शनो ने प्रकृतिवाद के कतिपय तत्त्वों का अपने मे प्रकारान्तर से अन्तर्भाव करते हुए भी अपने सैद्धान्तिक चिन्तन मे अतिप्राकृतवादी धारणाओ को ही सर्वोपरि रखा। उदाहरण के लिए साख्य ने प्रकृति को तथा न्याय-वैशेषिक व मीमासा ने भौतिक परमाणुओ को सृष्टि का उपादान कारण मानते हुए भी क्रमश पुरुष व आत्मा को उनकी तुलना मे प्रधानता दी है।[3] वेदान्त दर्शन मे यह प्रधानता चरम कोटि पर पहुँच गई है। जिस प्रकार चार्वाक दर्शन भौतिकवाद का चरम रूप है उसी प्रकार वेदान्त-विशेषत शाकर वेदान्त-अध्यात्मवादी दृष्टिकोण की पराकाष्ठा है, क्योकि वह सच्चिदानद ब्रह्म के अलावा किसी भी सत्ता को स्वीकार नही करता। वह 'प्रकृति' को अधिक से अधिक ब्रह्म की मायाविनी शक्ति के रूप मे मान्यता देता है। शकर ने भौतिक जगत् की केवल प्रातिभासिक व व्यावहारिक सत्ता मानी है तथा उसे ब्रह्म का विवर्तमात्र कहा है।

---

1 डेल रीप दि नेचुरलिस्टिक ट्रेडीशन इन इडियन थॉट, पृ० 78

2 जैनो ने केवल, अवधि व मन पर्याय के रूप मे पारमार्थिक या अतीन्द्रिय ज्ञान के तीन रूप स्वीकार किये हैं। दे० डा उमेश मिश्र कृत 'भारतीयदर्शन', पृ० 123

3 साख्य के अनुसार पुरुष-सयोग के विना प्रकृति से सृष्टि का विकास सभव नहीं है और न्याय-वैशेषिक नित्य परमाणुओ से जगत् की सृष्टि म ईश्वर के कर्तृत्व को अनिवार्य मानता है।

उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि भारतीय चिन्तन-परंपरा में प्राकृतवादी विचारधारा अतिप्राचीन होते हुए भी चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी दार्शनिक मत में अपने विशुद्ध व स्वतंत्र रूप में ग्राह्य नहीं हो पाई। अन्य दर्शन सम्प्रदायों ने उसका खंडन करने के उद्देश्य से पूर्वपक्ष के रूप में ही उल्लेख किया है और यदि उसे अपनाया भी है तो इतने परिष्कृत, परिवर्तित व सूक्ष्म रूप में कि उसका मूल जड़वादी रूप प्राय तिरोहित हो गया है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तन में प्राकृतवाद अधिक से अधिक एक अन्तर्धारा के रूप में रहा है, उसमें प्रधानता सदैव अतिप्राकृतवादी विश्व-दृष्टि को ही मिली है, जिसका स्वरूप है दैवी व आध्यात्मिक शक्तियों के संदर्भ में भौतिक सृष्टि की व्याख्या तथा ईश्वर, आत्मा परलोक, कर्म व पुनर्जन्म जैसे अनुभवातीत तत्त्वों की मान्यता। भारतीय धर्मपरंपरा और उससे अनुप्राणित पौराणिक कथाएं चिरकाल से अतिप्राकृत तत्त्वों को प्रश्रय देती रही हैं यह हम आगे बतायेंगे। भारत के समान पश्चिम की विचारधारा में भी मध्यकाल तक अतिप्राकृतवादी जीवन-दृष्टि का ही प्राबल्य रहा। इन दोनों के प्राचीन व मध्यकालीन साहित्य में, जो मुख्यत धार्मिक व पौराणिक विश्वासों के प्रभाव में रचा गया, प्राकृत और अतिप्राकृत तत्त्वों की सहस्थिति, सम्मिश्रण तथा 'प्राकृत' की नियामक के रूप में अतिप्राकृत शक्तियों की कल्पना इसी विश्व-दृष्टि और जीवन-दर्शन की तार्किक परिणति है। उसमें मानव-जीवन व परिवेश की वस्तुस्थितियों के चित्रण की कमी तथा आदर्शवाद के प्रति उत्कट आग्रह भी इस विचारधारा का ही स्वाभाविक परिणाम कहा जा सकता है।

आधुनिक युग में वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि व बुद्धिवाद के उदय के साथ मानव-चिन्तन के क्षेत्र में एक नयी क्रांति का सूत्रपात हुआ। इस क्रांति ने मनुष्य की विचारधारा को, जो अब तक अतिप्राकृत जगत् में केन्द्रित थी, प्राकृत जगत् की ओर उन्मुख किया। भौतिक जगत् के अध्ययन–विश्लेषण व उस पर आधारित विज्ञान की आश्चर्यकारी सफलताओं ने आधुनिक चिन्तकों को इस सृष्टि की पूर्णतया प्राकृतिक शक्तियों के संदर्भ में व्याख्या के लिए प्रोत्साहित किया। बुद्धिवाद व वैज्ञानिक चिन्तन के इस नवोन्मेष ने सृष्टि के सम्बन्ध में जिस नयी विचारधारा को जन्म दिया उसकी परिणति आधुनिक प्राकृतवाद में हुई। यह विचारधारा प्रकृति अर्थात् भौतिक जगत् को ही एकमात्र सत्य स्वीकार करती है। उसके अनुसार देश और काल के अनन्त विस्तारों में व्याप्त प्रकृति से परे, उसके पीछे या उससे भिन्न कोई सत्ता नहीं है।[1] प्रकृति स्वयं पूर्ण है, वह स्वयमेव अपनी समग्र व्याख्या है। उसका कोई कारण नहीं

1 दे० विलियम अर्नेस्ट हाकिंग कृत 'टाइप्स ऑव् फिलासफी', पृ० ४१

है, प्रत्युत वह स्वय कारणो की एक समग्र व्यवस्था है। सृष्टि की प्रत्येक पूर्व अवस्था उत्तर अवस्था का आधार है और उसकी पूर्ण व्याख्या है। प्रकृति के समस्त क्रिया-कलाप उसके अपने नियमों से अधिशासित है। आन्तरिक या बाह्य जगत् के किसी भी तथ्य या घटना की व्याख्या के लिए हमे प्रकृति के बाहर किसी अलौकिक तत्त्व की शरण मे जाने की आवश्यकता नही है, क्योकि प्रकृति के अतिरिक्त ऐसी कोई सत्ता है ही नहीं। प्राकृतवाद के अनुसार प्रकृति ही सपूर्ण वास्तविकता है, उसे अपने बाहर न किसी हेतु की अपेक्षा है और न प्रयोजन की। अत हम जिस विश्व मे रहते है वह एक प्राकृतिक विश्व है, उसके समस्त पदार्थ प्राकृतिक पदार्थ हैं तथा स्वय प्रकृति मे उनके आविर्भाव और तिरोभाव का रहस्य निहित है।[1]

प्राकृतवाद के अनुसार मनुष्य और उसके समस्त क्रियाकलाप भी प्राकृतिक सृष्टि के ही अग है। जिन नियमो से वस्तु-जगत् नियत्रित है उन्ही से मनुष्य भी। मनुष्य मे मन और बुद्धि का जो वैशिष्ट्य है, वह भी प्राकृतिक उपादानो का परिणाम है। उसकी विचार शक्ति उसके ऐन्द्रिय सवेदनो का ही परवर्ती विकास है और सवेदन बाह्य प्रेरकों पर आधारित है। अत मनुष्य का मानस-जगत् भी भौतिक वास्तविकता की ही प्रतिच्छवि है। "जिस प्रकार प्रतिबिम्ब बिम्ब मे होने वाले परिवर्तनों को प्रतिफलित करता है, उसी प्रकार मानस-प्रक्रिया भौतिक प्रक्रिया की छाया है।"[2]

प्राकृतवाद के अनुसार प्रकृति मे निरन्तर विकास होता आया है जिससे वह आज की स्थिति मे पहुँची है। इस विकासक्रम की किसी विशिष्ट अवस्था में जडता से चैतन्य का आविर्भाव हुआ। विकास की यह प्रक्रिया सरलता से जटिलता और विशेषीकरण की दिशा म गतिशील रहती है।[3]

प्राकृतवाद वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अनुगामी है। उसके अनुसार "हमारा समस्त ज्ञान तथ्य-जगत् से सम्बन्धित है। जो तथ्य नही है उससे हमारा कोई सरोकार नहीं। तथ्यो की खोज भी उन पद्धतियों से होनी चाहिए जिन्हे विज्ञान ने परिपूर्णता प्रदान की है। प्राकृतिक विज्ञानो ने हमे जो ज्ञान दिया है उसके अलावा सही अर्थ मे कोई ज्ञान सभव नही है।"[4]

प्राकृतवाद ने विश्व के तथ्यो को जानने और उनके कारणों को खोजने में मानव-बुद्धि के स्वातन्त्र्य को स्वीकार किया है। उसकी अतिप्राकृतवाद के विरुद्ध

---

1 दे० एन्साईक्लोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज भाग 11 मे 'नेचुरलिज्म' शीर्षक निबन्ध।

2 दे० एन्साईक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एड एथिक्स, भाग ९ म 'नेचुरलिज्म' पर डब्ल्यू० डी० लाइटेन का निबध, पृ० 196

3 वही

4 वही

यही आपत्ति है कि वह मानव की विचारशक्ति पर अकुश लगाकर प्रत्येक तथ्य का कारण किसी अतिप्राकृत जगत् मे खोजने का प्रयास करता है।[1] धर्म ने जगत् के तथ्यो की व्याख्या अधिकतर अतिप्राकृत शक्तियो के सदर्भ मे की है। वह प्राकृतिक घटनाक्रमो के पीछे किसी दैवी शक्ति की प्रेरणा स्वीकार करता है तथा दिव्य हस्तक्षेप, अनुग्रह, प्रभाव व चमत्कारो को सभव ही नही स्वाभाविक भी मानता है। प्राकृतवाद ने धर्म की इन मान्यताओ को अस्वीकार कर प्रकृति को ही एकमात्र व अन्तिम सत्य स्वीकार किया। उसने मनुष्य को अतिप्राकृत के रहस्यलोक से निकाल कर वास्तविकता की ठोस व प्रत्यक्ष भूमि पर लाकर खडा करने का दावा किया।

प्राकृतवाद ने 'सकल्प की स्वतत्रता' का भी निषेध किया है, यदि इसका यह आशय हो कि प्रकृति की कारण-प्रक्रियाओ का अतिक्रमण कर मनुष्य अपनी इच्छानुसार कुछ कर सकता है। इस प्रकार प्राकृतवाद, जैसा कि हमने पहले भी कहा एक प्रकार के यत्रवाद व नियतिवाद को प्रश्रय देता है। इसकी मान्यता है कि मनुष्य का व्यवहार उन्ही नियमो के अधीन है जो नक्षत्रो और परमाणुओ की गतियो को निर्धारित करते है।[2]

अतिप्राकृतवाद ऊपर हमने सृष्टि व मनुष्य के विषय मे आधुनिक प्राकृतवाद के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय दिया जिसमे अतिप्राकृत तत्त्वो के लिए कोई स्थान नही है। इस दृष्टिकोण मे नवीन वैज्ञानिक अनुसन्धान व चिन्तन ने जो परिष्कार किया है उसका हम आगे उल्लेख करेंगे। उसके पहले हमे उस दूसरी विश्वदृष्टि को भी जान लेना चाहिए जिसमे सृष्टि के तथ्यो व मानवनियति की व्याख्या अधिकतर अतिप्राकृत तत्त्वो के सदर्भ मे की गई है। इन तत्त्वो की वैचारिक पृष्ठभूमि 'अतिप्राकृतवाद' मे मिलती है जो कोई नियमित व विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त नही है अपितु अनेकविध धार्मिक, आध्यात्मिक, पौराणिक व दार्शनिक विश्वासो का सकलन कहा जा सकता है। यद्यपि इन विश्वासो मे अतिशय विविधता व स्तरभेद पाया जाता है तथापि हमने भारतीय सदर्भ को ध्यान मे रखते हुए इन विश्वासो के सामान्य तत्त्वो के आधार पर अतिप्राकृतवाद की एक समन्वित रूपरेखा देने का प्रयत्न किया है।

जहा प्राकृतवाद प्रकृति को ही एकमात्र व अन्तिम तत्त्व स्वीकार कर उसी के माध्यम से समस्त तथ्यो व अनुभवो का विवेचन व मूल्याकन करता है वहा

---

1 दे० एन्साइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एड एथिक्स, भाग 9 मे 'नेचुरलिज्म' पर डब्ल्यू० डी० नाईवेन का निबध, पृ० 196

2 द० हॉकिंग टाइप्स आव् फिलॉसफी, पृ० 43

अतिप्राकृतवाद किन्हीं दैवी शक्तियों या आध्यात्मिक तत्त्वों को सृष्टि का नियामक, सचालक या मूलतत्त्व मान कर उन्हीं के सदर्भ म सत्य-असत्य व शुभ-अशुभ की समीक्षा करता है। वह हमारे अनुभव जगत् से परे एक ऐसी अदृश्य सत्ता को मानता है जो जड प्रकृति व मनुष्य दोनों के जीवन को नियन्त्रित व सचालित करती है। वह सृष्टि की घटनाओं म प्राकृतिक कार्य-कारणभाव को पर्याप्त नहीं मानता, अपितु दवी योजना, इच्छा, हस्तक्षेप, माहात्म्य आदि द्वारा उनकी व्याख्या करता है। वह विश्व को भौतिक वस्तुसमष्टि मात्र स्वीकार नही करता प्रत्युत उसे एक या अनेक दैवी अथवा आध्यात्मिक शक्तियों से अधिष्ठित, उत्प्रेरित व अधिशासित समझता है। उसके अनुसार जो दृष्टिगत हो रहा है वह सत्य नही है, अपितु सत्य का एक सुन्दर आवरण मात्र है।[1] यह दृश्य-जगत् न भौतिक पिंड मात्र है और न प्रकृति की अध अहेतुक क्रीडा ही, अपितु वह ईश्वर व अन्य दिव्य शक्तियों के लोकोत्तर प्रयोजनों की पूर्ति का साधन है।[2] बाह्य जगत् के समान मानव भी केवल पचभूतो का पुतला नही है, अपितु मूलत एक आध्यात्मिक तत्त्व है। व्यष्टि और समष्टि दोनों का आधारभूत यह तत्त्व परमार्थत एक ही है।[3]

अतिप्राकृतवाद ऐन्द्रियज्ञान व तार्किक चिन्तन को विश्व की वास्तविकताओं को बूझने मे असमर्थ मानता है।[4] उसके अनुसार कुछ बिरले लोग ही जिन्हे मानव-जाति ऋषि, योगी, तत्त्वज्ञानी, सिद्धपुरुष, ईश्वरीय दूत आदि के नाम से जानती हैं, दैवी अनुग्रह या आध्यात्मिक साधना से प्राप्त अन्तर्दृष्टि द्वारा उन्हे जान सकते है।

अतिप्राकृतवाद के अनुसार प्राणी की ऐहिक व पारलौकिक गति उसके कर्मों से निर्धारित होती है। सारी सृष्टि मे एक ईश्वरीय न्याय व दैवी व्यवस्था स्थापित है जिसे तोडने की सामर्थ्य किसी भी प्राणी मे नहीं है। केवल दैवी अनुग्रह, हस्तक्षेप, आशीर्वाद या वरदान द्वारा उसकी नियति के पूर्व निर्धारित क्रम म कुछ सशोधन, परिवतन या शिथिलता सभव है।

---

1 हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम।
तत्त्व पूषनपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ ई० उ० 15

2 श्वेता० उ० 4 1

3 मत्त परतर नान्यत्किचिदस्ति धनजय।
मयि सर्वमिद प्रोत सूत्रे मणिगणा इव ॥ गीता, 7 7
आत्मा एव इद सवम्। छांदो० उ० 7 25 2
सर्व खलु इद ब्रह्म। मु० उ० 2 2 11
अयम आत्मा ब्रह्म। बृहदा० उ० 2 5 19

4 नैषा तर्केण मतिरापनेया (क० उ० 1 2 9), नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन (मु० उ० 3 2. 3)

अतिप्राकृतवाद देहनाश को ही अस्तित्व का अन्त नही मानता। उसकी दृष्टि मे देह का अन्त आत्मा की अगली जीवन-यात्रा का एक आवश्यक सोपान मात्र है।[1] मरणोत्तर जीवन की कल्पनाए मनुष्य की अतिप्राकृतवादी विश्व-दृष्टि का महत्त्वपूर्ण अग रही हैं। स्वर्ग-नरक, पितृलोक व अन्य दिव्य लोक, भूत-प्रेत, कर्मफल, अदृष्ट, अपूर्व, पुनर्जन्म, सूक्ष्म शरीर आदि नाना प्रकार के धार्मिक व दार्शनिक विश्वास प्राणी की मरणोत्तर गति से सबद्ध है।

अतिप्राकृतवादी जीवन-दृष्टि चमत्कारो, सिद्धियो व विभूतियो को सृष्टि की दैवी व्यवस्था का एक स्वाभाविक अग मानती है। तत्र, मत्र, योग, तपस्या, सत्य, जादू आदि की लोकोत्तर शक्ति व प्रभविष्णुता मे उसकी आस्था है। पौराणिक कथाओ मे वर्णित दैवी पात्रो के लोकोत्तर क्रियाकलापो को वह श्रद्धा और विश्वास की दृष्टि से देखती है।

विश्व के विभिन्न समाजो व सस्कृतियो मे अतिप्राकृत तत्त्वो की विविध कल्पनाए प्राप्त होती हैं। धर्म, पुराणकथा, दर्शन, लोककथा, साहित्य आदि उनकी अभिव्यक्ति के चिरन्तन माध्यम रहे हैं। कही बहुदेवो मे विश्वास मिलता है तो कही एक ही परम सत्ता और ईश्वर मे। कही अद्वैतवाद व ब्रह्मवाद जैसी समुन्नत धारणाये मिलती हैं तो कही माना (Mana), टाबू (Taboo निषेध), जीववाद (Animism), जादू, टोना-टोटका आदि प्रारभिक धर्म-कल्पानाए। कही मानव-सहयोगी दैवी शक्तियो मे आस्था प्रकट हुई है तो कही देवद्रोही व मानव-अपकारी असुर, दानव, दैत्य, राक्षस, भूत, पिशाच आदि की भयावह कल्पनाए प्राप्त होती है। ये दैवी व आसुरी शक्तियाँ जो किसी अदृश्य जगत् मे रहती हैं, मानव के भाग्य व भवितव्य के सूत्र अपने हाथो मे थामे हुए है। सृष्टि के घटनाचक्र इन्ही शक्तियो की इच्छा के अनुसार परिचालित होते है। सर्वशक्तिशाली, उदार व दयालु देवता मर्त्यलोक से दूर होते हुए भी उसके साथ अनेकविध रागात्मक सबन्धो मे बधे है। दोनो के बीच सदैव आदान-प्रदान का क्रम चलता रहता है।[2] एक ओर यदि देवगण मर्त्यों के बीच अवतीर्ण होकर[3] उनके जीवन मे मनुष्यवत् भाग लेते हैं तो दूसरी ओर मर्त्य प्राणी भी दिव्य लोको मे जाकर देवो के कार्यो मे हाथ बटाते है या वहाँ दैवी सुखो का उपभोग करते हैं,[4] किन्तु पुण्य क्षीण होने पर पुन मर्त्यलोक मे

---

1 गीता, 2 20 22

2 देवाभावयतानेन ते देवा भावयन्तु व ।
परस्पर भावयन्त श्रेय परमवाप्स्यथ ॥ गीता 3 11

3 वही, 4 6–8

4 त्रैविद्या मा सोमपा पूतपापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गति प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान ॥ गीता 9 20

आ जाते हैं।[1] पृथ्वी पर देवताओ के अनेक विहारस्थल हैं जहाँ वे प्राय आते रहते हैं। अनेक दिव्य प्राणी शापित होकर मर्त्यलोक मे पतित होते हैं तथा मनुष्यो के बीच उन्ही के समान जीवन बिताते हैं। यदि मनुष्य देवताओ के अनुग्रह व साहाय्य के आकाक्षी हैं तो देवो को भी अपनी शक्ति व पुष्टि के लिए मनुष्यो की श्रद्धा, भक्ति और सहयोग की अपेक्षा रहती है। व्यक्तित्व व चरित्र के अनेक पक्षो मे अलौकिक होते हुए भी वे अनत मानववृत्तियो से ही परिचालित होते हैं। मनुष्यो के समान उनके भी परिवार और समाज हैं, वे भी आपस मे लडते-झगडते और प्रेम करते हैं। मनुष्य की मानस-सृष्टि होने के कारण वे उसी के रूप-रग और आन्तरिक चरित्र मे ढले हुए हैं। तथापि वे मनुष्यो से अधिक शक्तिशाली और श्रेष्ठ माने गये हैं, उनमे अनुग्रह और निग्रह की सामर्थ्य है। यही कारण है कि मर्त्य मानव सदा उनकी कृपा का प्रार्थी होकर उनकी प्रसन्नता के लिए अनेक उपायो मे लगा रहता है। इस प्रकार दिव्य और मर्त्य, लौकिक और अलौकिक परस्पर स्नेह, सख्य और बन्धुत्व के दृढ सूत्र मे आबद्ध हैं, वे परस्पर प्रतियोगी नही, पूरक और सहयोगी हैं। हमारा धर्म, पुराण कथाए, दर्शन, लोककथाए और इन सबसे प्रभावित साहित्य इस कथन के निदर्शन हैं।

प्राकृत व अतिप्राकृत तत्त्वो के परस्पर सम्बन्ध के विषय मे अनेक प्रकार की परपरागत धारणायें मिलती हैं। एक धारणा के अनुसार ये दोनो एक ही सृष्टि के अग हैं, उनमे केवल गुणात्मक अन्तर है, प्रकारात्मक नही। भारतीय विचार-धारा मे विशेषत हमारे धर्म व दर्शन मे प्राकृत व अतिप्राकृत के सम्बन्ध के विषय मे यही धारणा प्रधानतया व्यक्त हुई है। विष्णुपुराण मे चौदह लोको का वर्णन आया है जिनमे से अनेक दिव्य प्राणियो के निवासस्थान हैं।[2] ये सभी लोक एक ही प्राकृत सृष्टि के निम्नोच्च स्तर हैं। साख्यदर्शन ने समस्त सृष्टि को प्रकृति का विकार या प्राकृत माना है तथा अष्टविध दैव सर्ग का उसी मे अन्तर्भाव किया है।[3] उसके अनुसार 'भुव लोक' से लेकर 'सत्यलोक' तक के ऊर्ध्व लोक सत्त्वप्रधान हैं, पशु आदि से लेकर स्थावर-पर्यन्त निम्न सर्ग तम प्रधान है तथा मध्यस्थित भूलोक मे

---

1 ते त भुक्त्वा स्वर्गलोक विशाल क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति।
एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागत कामकामा लभन्ते ॥ वही, 9 21
तद्यथेह कर्मचितो लोक क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोक क्षीयते।
(छान्दो0 उ0 8 1 6)

2 विष्णु पुराण 2 5 2 4, 2 7 3-21 1 5 3-26

3 अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पचधा भवति।
मानुषश्चैकविध समासतो भौतिक सर्ग ॥ साख्य कारिका, 53

रजोगुण की प्रधानता है ।[1] इस प्रकार मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति तथा देवता, असुर, राक्षस आदि विभिन्न-स्तरों के प्राणी एक ही प्राकृतिक विश्व के निवासी हैं,[2] उनमें केवल गुणात्मक भेद है । इस भेद के कारण उनके पारस्परिक आदान-प्रदान में कोई बाधा नहीं पडती । मनुष्य लोक का प्राणी यदि विशेष साधना या तपस्या के द्वारा अपने में सत्त्व गुण का विकास कर लेता है तो वह भी मृत्यु के उपरान्त या कदाचित् इसी जीवन में सत्त्वप्रधान उर्ध्व लोकों में जा सकता है ।[3] इसी प्रकार कुछ स्थितियों में दिव्य प्राणियों को भी मर्त्यलोक में आना पड सकता है । संस्कृत नाटकों में प्राकृत व अतिप्राकृत लोकों व प्राणियों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में प्राय यही धारणा प्रकट हुई है जिस पर पौराणिक कल्पनाओं का प्रभाव है ।

इस विषय में दूसरा दृष्टिकोण अतिप्राकृत को प्राकृत से सर्वथा पृथक् व अतीत मानने का है । इसके अनुसार अतिप्राकृत गुणों की दृष्टि में ही नहीं, प्रकार की दृष्टि से भी प्राकृत से भिन्न है । यह विचारधारा मुख्यत ईश्वर व देवों की विश्वातीत सत्ता मानने वाले धर्म-दर्शनों की है । इसका विशुद्ध रूप भारतीय धर्म व दर्शन में देखने को नहीं मिलता । योग-दर्शन व न्याय-दर्शन के ईश्वर को हम सीमित अर्थ में इस कोटि में रख सकते हैं ।[4] किन्तु भारतीय परपरा में प्राप्त होने वाले अन्य अतिप्राकृतिक तत्त्वों पर यह दृष्टिकोण सामान्यतया लागू नहीं होता । हमारे साहित्य में तो ये तत्त्व प्राकृतिक सृष्टि व मानव-जीवन में स्वय को अभिव्यक्त कर उन्हें नाना रूपों में प्रभावित करने वाले बताये गये है ।

तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार अतिप्राकृत प्राकृत से परे नहीं, उसी में समाया हुआ[5] या उससे अभिन्न[6] है । दार्शनिक दृष्टि से इसे हम विश्वात्मवाद का नाम दे सकते है । इस दृष्टिकोण के भी दो रूप सभव हैं । प्रथम के अनुसार प्राकृत सृष्टि व अतिप्राकृत दैवी तत्त्व अद्वैत हैं, जिसका आशय यह हुआ कि प्राकृतिक घटनाए व

---

1 ऊर्ध्व सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलत सग ।
मध्ये रजोविशाला ब्राह्मादिस्तम्बपर्यन्त ॥ वही 54

2 न तदस्ति पृथिव्या वा दिवि देवेषु वा पुन ।
सत्त्व प्रकृतिजै मु क्त यदेभि स्यात्त्रिभिगु णै ॥ गीता, 18 40

3 ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा ॥ वही, 14 18, और भी देखिए—वि० पु० 1 6 10, मु० उ० 3 1 10

4 योग का ईश्वर विश्वातीत होते हुए भी प्रकृति व पुरुष का सयोग व वियोग कराता है तथा न्याय का ईश्वर जगत का निमित्त कारण एव पालक, सहारक आदि माना गया है ।

5 ई० उ० 2 क० उ० 5 9 गीता 15 12–15 17

6 गीता, 7 4

तथ्य वस्तुत दिव्य या अतिप्राकृत तत्त्व ही हैं।[1] द्वितीय दृष्टिकोण के अनुसार अतिप्राकृत तत्त्व इस प्राकृत सृष्टि मे ही अदृश्य रूप मे विद्यमान है और वह समय-समय पर अलौकिक घटनाओ या चमत्कारो के रूप मे स्वय को व्यक्त करता रहता है। उदाहरण के लिए प्राकृत सृष्टि व देह मे स्थित आत्मतत्त्व अनन्त ऐश्वर्य से युक्त है तथा अलौकिक घटनाए, विभूतिया, सिद्धिया, चमत्कार आदि उसी ऐश्वर्य की अभिव्यक्तिया हैं।[2]

अतिप्राकृत विश्वास उद्भव व भूमिका आधुनिक विद्वानो ने धर्म, पुराकथा, जादू आदि की उत्पत्ति के प्रसग मे अतिप्राकृत तत्त्व सम्बन्धी विश्वासो के उद्भव तथा मानव जीवन मे उनकी भूमिका के विषय मे अनेक प्रकार के मत व्यक्त किये हैं। नृतत्त्वशास्त्रियो के अनुसार ये विश्वास आदिम समाज मे उत्पन्न हुए तथा सभ्यता की परवर्ती उन्नत अवस्थाओ मे भी पुरावशेषो के रूप मे बने रहे।[3] उनके विचार मे ये विश्वास आदिम मानव की अतार्किक बुद्धि व अविकसित मनोवृत्ति की देन हैं।[4] इनमे सृष्टि की शक्तियो व उनके साथ अपने सम्बन्ध के विषय मे उसकी प्रारम्भिक

---

1 यद्यद् विभूतिमत्सत्त्व श्रीमदूर्जितमेव च।
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोऽशसम्भवम् ॥ गीता, 10 41
पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ गीता, 11 5, और भी देखिए—गीता 7 14

2 'सत्त्व गुण की उच्च अवस्था प्राप्त होने पर योगी को नाना प्रकार की विभूतिया प्राप्त होती हैं। आत्मा वास्तव मे ईश्वर स्वरूप है अविद्या के आवरण के कारण उसका ईश्वरत्व प्रकट नही हो पाता जीव जब अपने विशुद्ध परमात्मभाव की उपलब्धि करता है तब अपने आप ही उसके स्वभावभूत इन अलौकिक ऐश्वर्यों की अभिव्यक्ति होती है।' म० म० गोपीनाथ कविराज कृत 'भारतीय सस्कृति और साधना', द्वितीय खड, पृ० 398

3 टायलर ने विकसित धर्मविश्वासो को आदिम मानव के 'जीववादी' विश्वास का परवर्ती विकास या अवशेष (Survival) कहा है। टायलर की परिभाषा के अनुसार 'अवशेष' उन सांस्कृतिक वृत्तियो का वहन हैं जिनका मूल अर्थ व प्रयोजन लुप्त हो चुका है, लेकिन जो केवल अभ्यास की शक्ति से स्थिर रखे जाते हैं। दे० एनी मेरी डाल मालफिट कृत 'रिलीजन एड कल्चर' पृ० 49

4 फ्रेजर के अनुसार मनुष्य मानसिक विकास की तीन क्रमिक अवस्थाओ मे होकर गुजरा है—जादू धर्म और विज्ञान। उनके विचार मे जादू के युग में मनुष्य मे तर्कबुद्धि का अभाव था, विचार शक्ति के उदय ने धर्म को जन्म दिया, और धर्म ने विज्ञान को। लेवी ब्रूह्ल (Levy-Bruhl) ने आदिम मानव की मनोवृत्ति को मात्रा की दृष्टि से ही नहीं, गुण की दृष्टि से भी सभ्य मनुष्य की मनोवृत्ति से सर्वथा भिन्न 'पूर्वतर्कात्मक' माना है। दे० वही, पृ० 54, 63

बौद्धिक व भावात्मक प्रतिक्रियाएं व्यक्त हुई है ।[1] आदिम मनुष्य को सृष्टि एक विराट् व दुर्बोध रहस्य के रूप मे प्रतीत हुई होगी और वास्तविक ज्ञान के अभाव मे उसकी काल्पनिक व्याख्या के प्रयत्न मे ये विश्वास उद्भूत हुए होगें । एक अन्य मत के अनुसार इन विश्वासो का जन्म एक अज्ञात व अपरिचित सृष्टि के घटनाक्रमो के प्रति आदिम मानव मे उत्पन्न भय, सम्भ्रम, आश्चर्य, विस्मय, श्रद्धा, हर्ष, असहायता, रहस्य आदि विविध भावो से हुआ ।[2] आर० आर० मैरेट ने भी इसी दृष्टि से धर्म की उत्पत्ति का विवेचन किया है । उनका विचार है कि आदिम मनुष्य को प्राकृतिक व मानवीय जगत् मे जहा भी कोई असामान्यता, वैलक्षण्य या आशातीतता का तत्त्व दृष्टिगोचर हुआ वहा उसने किसी लोकोत्तर शक्ति का अनुभव किया होगा तथा उसके प्रति मानस मे भय, विस्मय, आदर, प्रेम, प्रशसा आदि अनेक भावो का एक समिश्र रूप सम्भ्रम (Awe) जाग्रत हुआ होगा ।[3] जेवन्स ने फ्रेजर के इस विचार का खडन किया कि असभ्य मनुष्य प्राकृत व अतिप्राकृत के अन्तर को समझने मे असमर्थ था । ऐसा मानने का अर्थ होगा कि आदिम मनुष्य के लिए या तो कुछ भी अतिप्राकृत न था या सब कुछ अतिप्राकृत था । जेवन्स के विचार मे "आदिम मनुष्य ने प्रकृति की प्रक्रिया को अपने लाभार्थ काम मे लेने के सफल प्रयास के लिए स्वय को श्रेय दिया । किन्तु जब वह प्रक्रिया कारगर न हुई तो उसने किसी सर्वनियामक शक्ति पर उसका दोष मढ दिया ।"[4]

मैलिनाव्स्की के अनुसार "रोग या महामारी तथा अनावृष्टि, भूकप, झझावात आदि आकस्मिक विपत्तिया मनुष्य के ज्ञान के परिचित व सामान्य ताने-बाने को छिन्न-भिन्न कर देती हैं एव एक नई व्याख्या, सदर्भ की नई पद्धति व नये मार्ग-दर्शन की माग करती है ।"[5] उनके अनुसार जादू और धर्म से सम्बन्धित अतिप्राकृत विश्वासो का उद्भव इसी स्थिति मे निहित है । इन विपत्तियो मे मृत्यु से बढकर कोई विपत्ति नही हो सकती, उससे उत्पन्न नैराश्य व विफलता की खाई को पाटने के लिए मनुष्य ने आत्मा की अमरता की कल्पना की होगी ।[6] तब उसने अनुभव किया होगा कि

---

1 आधुनिक नतत्त्वशास्त्रियो मे टायलर स्पन्सर लैंग, फ्रेजर आदि ने धर्म व जादू की उत्पत्ति के विषय मे बौद्धिक उपपत्तिया प्रस्तुत की हैं जब कि मेक्समूलर व मैरेट की उपपत्तिया मे सृष्टि के प्रति आदि मानव की भाव प्रतिक्रियाओ पर बल दिया गया है ।

2 दे0 मेक्समूलर फिजीकल रिलीजन, पृ0 119–120

3 दे0 दि थ्रेशहोल्ड ऑव रिलीजन प0 12–13

4 दे0 एफ0 बी0 जेवन्स इन्ट्रोडक्शन टू दि हिस्ट्री ऑव रिलीजन, प0 18

5 दे0 ब्रोनिसला मैलिनोव्स्की कृत 'फ्रीडम एड सिविलाइजेशन', प0 207

6 दे0 एन्साईक्लोपीडिया ऑव् सोशल साइसेज, खण्ड 3 4 मे मैलिनोव्स्की का 'कल्चर' शीर्षक निबन्ध, पृ0 641

यह दृश्य जगत् ही सब कुछ नही है, देह का अन्त ही अस्तित्व का अंत नही है। इस दृश्य जगत् से परे एक अदृश्य जगत् भी है जहा इस जीवन की समस्त अपूर्णताए एक पूरा जीवन मे पर्यवसित होती हैं।[1]

अतिप्राकृत विश्वासो का प्रथम उद्‌भव चाहे आदिम युग मे हुआ हो पर सभ्यता की परवर्ती विकसित अवस्थाओ मे भी इनके नये-नये रूप विभिन्न प्रयोजनो से अस्तित्व मे आते रहे इसमे संदेह नही। यह इसी से सिद्ध है कि अतिप्राकृत तत्त्व केवल आदिम समाजो तक सीमित नही हैं अपितु सभ्य समाजो के धर्म, दर्शन और पुराकथाओ मे भी अभिव्याप्त हैं। यहा तक कि आज के वैज्ञानिक युग मे भी ये विश्वास अविच्छिन्न रूप मे बने हुए है, केवल अशिक्षितो मे ही नही, शिक्षित व सभ्य माने जाने वाले लोगो मे भी।[2] इसके कई कारण हैं, जीवन के अनेक ऐसे रहस्यमय पहलू व असमाधेय समस्याए हैं जिनके कारण विज्ञान की चुनौतियो के बावजूद आज भी ये विश्वास जीवित है। जीवन की अनिश्चितताए तथा आकस्मिक अप्रिय घटनाए मनुष्य को इन तत्त्वो के प्रति विश्वास के लिए प्रेरित करती है। घटनाओ के परिचित व प्रत्याशित क्रम मे कुछ भी उलटफेर होने पर मनुष्य अतिप्राकृत तत्त्वो मे उसकी व्याख्या ढूढता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये विश्वास उक्त स्थितियो से उत्पन्न निराशा के निराकरण व जीवन के प्रति आस्थापूर्ण सतुलित दृष्टिकोण बनाने मे सहायक होते हैं।[3] इन विश्वासो मे मनुष्य की इच्छापूर्ति तथा कल्पना-विलास की प्रवृत्ति भी प्रकट हुई ह।[4] यथार्थ जीवन मे इच्छाओ और आशाओ का विघात होने पर मनुष्य एक काल्पनिक ससार मे उनकी क्षतिपूर्ति का यत्न करता है। ये विश्वास उसे प्राकृतिक बधनो से उन्मुक्ति प्रदान कर उसकी कल्पना को निर्बाध विचरण का अवसर देते है। लोककथाओ मे अतिप्राकृतिक तत्त्वो का यह रूप नितान्त स्पष्ट है।

अनेक अतिप्राकृत तत्त्वो के उद्‌भव और स्थायित्व मे मानव समाज की नैतिक व आध्यात्मिक विचारणाओ व आदर्शो का भी हाथ रहा है जिनका सम्बन्ध प्राय सभ्यता व संस्कृति की विकसित अवस्थाओ से है। ये तत्त्व सामाजिक संस्थाओ

---

1 दे० हाकिंग टाइप्स ऑव फिलासफी, पृ० 31

2 दे० अर्नेस्ट हेकल दि रिडिल आव दि यूनिवर्स, पृ० 247

3 दे० जे० मिल्टन यिंगर द्वारा सम्पादित 'रिलीजन सोसाइटी एड इंडिविजुअल' म सकलित टालकॉट पार्सन का निब ध 'मोटिवेशन ऑव् रिलीजियस बिहेवियर एण्ड बिहेवियर', पृ० 380 385, ब्रानिसला मैलिनोस्की मैजिक साइंस एण्ड रिलीजन, पृ० 208-209

4 दे० 'एनसाईक्लोपीडिया ऑव् दि सोशल साइन्सज' मे 'फॉकलोर' पर रूथ बेनेडिक्ट का निबन्ध, पृ० 292

के नियम-विधानो एव व्यक्ति के नैतिक आचरण के अलौकिक प्रवतक या नियामक के रूप मे मामाजिक सगठन के सरक्षण का कार्य करते है।[1]

अतिप्राकृत तत्त्व विभिन्न दृष्टिकोण ऊपर हमने प्राकृतवाद व अतिप्राकृत-वाद की प्रधान आस्थाओ का परिचय दिया तथा अतिप्राकृत विश्वासा के उद्भव व मानव जीवन मे उनकी भूमिका के बारे मे कुछ आधुनिक मतो का उल्लेख किया। इस विवेचन मे स्पष्ट हो गया होगा कि ये दोनो वाद किन्ही दशन-सप्रदायो के नियमित सिद्धान्त नही हैं, अपितु सृष्टि की अवगति व उसके सदभ मे मानव नियति के मूल्याकन की दो स्वतत्र दृष्टिया हैं। इन दृष्टियो का परस्पर वैषम्य व विरोध नितान्त स्पष्ट है। ये दोनो बहुत-कुछ एक-दूसरे के अस्वीकार पर आधारित हैं। यो तो इनका न्यूनाधिक सघष मानव-इतिहास के सभी कालो मे रहा होगा, पर आज के वैज्ञानिक युग मे यह सघष चरम स्थिति पर पहुच गया है। एक छोर पर वे श्रद्धालु आस्तिक लोग हैं जो सब प्रकार के अतिप्राकृत तत्त्वो—तत्र, मत्र, जादू, चमत्का, ईश्वर, परलोक, पुनजन्म, परकाय-प्रवेश, रूप-परिवतन, शाप-वरदान, देवी-देवता, भूत-प्रेत, यौगिक सिद्धियाँ आदि के प्रति एक सहज स्वीकार का भाव रखते हैं तथा अपने जीवन को इन्ही विश्वासो की छाया मे व्यतीत करते हैं।[2] आज के वैज्ञानिक युग मे भी ऐसे लोगो की स या नगण्य नही है। विश्व के जिन क्षेत्रो मे अभी वैज्ञानिक ज्ञान का आलोक नही पहुच पाया है वहाँ इन तत्त्वो के प्रति अभी तक सहज श्रद्धा और विश्वास का यही दृष्टिकोण बना हुआ है। इसके विपरीत दूसरे छोर पर वे अत्युत्साही भौतिकवादी व वज्ञानिक विचारक हैं जो इन तत्त्वो को अधविश्वास, भ्रम और कल्पना की कोटि मे रखते हैं। ऐसे ही एक विचारक अर्नेस्ट हैकल न धार्मिक व वैज्ञानिक आस्थाओ का अन्तर बतलाते हुए कहा है—"धार्मिक आस्था का सदैव श्रय होता है चमत्कारो मे विश्वास, अत वह तार्किक बुद्धि (Reason) की स्वाभाविक आस्था का निराशाजनक रूप से विरोधी है। वह तार्किक बुद्धि के विरुद्ध अतिप्राकृत अभिकरणा (Agencies) को स्वीकार करके चलता है, अत उसे हम

---

1 हॉकिंग पूर्वोद्धृत ग्रथ, प0 31 33

2 इस प्रकार के दृष्टिकोण का एक उदाहरण यह कथन है—"इसी प्रकार प्राचीन ऐतिहासिक ग्रथो में वर्णित अदभुत शक्तियो को जो श्रद्धा की दृष्टि स नहीं देखते, तथा उनको समझने भर की योग्यता नही रखते, वे भले ही उनको मिथ्या कह तथा उनके रूपक रचें, परन्तु इसमे उन दैवी शक्तियो का अस्तित्व मिथ्या नही हो जाता।" महाभारत परिचय (गीता प्रेस, गोरखपुर) मे सकलित प0 करुणाशकर जी शास्त्री का 'महाभारत पर कुछ विचार' शीर्षक निबन्ध पृ0 95

न्यायत अन्धविश्वास कह सकते हैं।"[1] उनके विचार मे "इस अन्धविश्वास का तर्कनापरक आस्था (Rational Faith) से भेद इस बात मे निहित है कि वह ऐसी अतिप्राकृत शक्तियों व घटनाओ का मानता है जो विज्ञान के लिए अज्ञात व अस्वीकरणीय हैं और जो भ्रम व कल्पना के परिणाम हैं। इसके अलावा अन्धविश्वास प्रकृति के सुविदित नियमा का अतिक्रमण करते है, अत वे अयुक्ति-सगत होते हैं।"[2] इन विचारको की दृष्टि मे ऐसे कोई तत्त्व सभव नही हैं जो सृष्टि की प्राकृतिक व्यवस्था से अतीत हो या उसके नियमो द्वारा अव्या येय हो। तीसरी कोटि उन विचारको की है जो अतिप्राकृत तत्त्वो को एक सीमित अथ मे ही 'अतिप्राकृत' स्वीकार करते हैं। उनके विचार मे यद्यपि विज्ञान ने असाधारण उन्नति की है, फिर भी वह अभी तक सृष्टि के बहुत छोटे से अश को जान सका है। सच तो यह है कि वह जैसे-जैसे प्रकृति के रहस्यो को सुलझाने का यत्न करता है वैसे-वैसे वे और भी प्रगाढ और विस्तृत होते जाते है। एक आवरण उठता है उसके पहले ही अनेक नये आवरण पड जाते हैं, वस्तुत सृष्टि के विराट् व अनन्त रहस्यो के सम्मुख विज्ञान अब भी एक अबोध शिशु से अधिक नही है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य के लिए प्रकृति की प्रक्रियाओ और नियमो को जान लेने का दावा करना दभ मात्र है। प्रकृति मे अभी बहुत कुछ अज्ञात और रहस्यावृत है। अतिप्राकृतिक तत्त्व, सभव है, प्रकृति का यह अविज्ञात अश ही हो?[3] अत हम अपने ज्ञान की वतमान स्थिति मे अतिप्राकृत तत्त्वो की वास्तविकता या असत्यता के विषय मे कोई निणय नही दे सकते। सभव है आज जो अतिप्राकृतिक प्रतीत होता है वह कल प्राकृतिक सृष्टि का ही एक अविभाज्य अग सिद्ध हो जाये। स्वय विज्ञान का इतिहास साक्षी है कि बहुत सी बातें जो पहले अलौकिक और असभव की श्रेणी में आती थी अब विज्ञान की नयी उपलब्धियों के कारण लौकिक और प्राकृतिक जगत् की वस्तुए बन गई है। हम देखते है कि विज्ञान जैसे-जैसे प्रकृति के रहस्यो की खोज करता जा रहा है वैसे-वैसे 'अतिप्राकृत' का क्षेत्र क्रमश सकुचित होता जा रहा है, अलौकिक और अतिमानवीय तथ्य लौकिक और मानवीय तथ्यो मे परिवर्तित होते जा रहे हैं। अतीत के अनेक श्रद्धामूलक चामत्कारिक विश्वास अब वैज्ञानिक बुद्धि और तर्क की कसौटी पर भी खरे उतर रहे हैं। अत इन विचारको की दृष्टि मे अतिप्राकृत के प्रति अविश्वास और अवज्ञा का दृष्टिकोण

---

1 दे० दि रिडल आव दि यूनिवस, पृ० 246

2 वही

3 डा० बी० ए० परब दि मिराकुलस एण्ड मिस्टीरियस इन वैदिक लिट्रेचर, पृ० 42

न्यायसगत नही है । ये लोग या तो इन तत्त्वो को अज्ञेय मानते है या उन्हे सृष्टि के अद्यावधि अनवज्ञात तथ्यो के रूप मे ग्रहण करते हैं ।[1]

इस सदर्भ मे मनोविज्ञान की एक नवोदित शाखा 'परामनोविज्ञान' का उल्लेख करना उचित होगा । यह शाखा मानव-मनोजगत् के अनेक असाधारण व अव्याख्येय तथ्यों का वैज्ञानिक अध्ययन करने मे प्रवृत्त है । परामनोवैज्ञानिको ने इन तथ्यो को दो भागो मे बाटा है—(१) अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (E S P) तथा (२) वस्तुओ पर भौतिक प्रभाव का उत्सर्जन (Psychokinesis) । अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का अर्थ है इन्द्रियों के उपयोग के बिना ही बाह्य तथ्यों का बोध । इसके भी दो रूप हैं—(१) बाह्य वस्तु या घटना का ज्ञान (Clairvoyance) तथा दूसरे के विचारो या मन स्थितियो का ज्ञान (Telepathy) । अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अनागत घटनाओ का भी हो सकता है । इसी को परामनोवैज्ञानिको ने 'पूर्वज्ञान' (Precognition) का नाम दिया है । मनस्तात्त्विक घटनाओ का दूसरा रूप वह है जिसमे व्यक्ति प्रेरकतत्र (Motor System) का उपयोग किये बिना ही परिवेश की किसी वस्तु को भौतिक रूप से प्रभावित करने मे समर्थ होता है ।[2] ससार मे अनेक ऐसे मनुष्य हैं जिनमे इन शक्तियो के न्यूनाधिक अस्तित्व के प्रमाण मिले हैं । कुछ व्यक्तियो मे ये शक्तियाँ किन्ही विशेष अवसरो पर अकस्मात् प्रकट होती हैं और कुछ समय बाद लुप्त हो जाती हैं । ससार के प्राय सभी धर्मों मे इन शक्तियो की विशिष्ट मान्यता रही है । प्राचीन साहित्य और लोककथाए इनके विवरणो से भरपूर हैं । किन्तु विज्ञान, जो मात्र ऐन्द्रिय ज्ञान को प्रामाणिक मानता है, मानव-मन की इन निगूढ शक्तियों को स्वीकार नही करता । वह इनकी ओर मे या तो आखे मूँद लेता है या उन्हे अतिप्राकृत कह कर ठुकरा देता है । वह इन्हें अपने वैज्ञानिक विश्व का अग मानने को उद्यत नही है । परामनोविज्ञान इन्ही अभौतिक प्रतीत होने वाले तथ्यो को वैज्ञानिक अध्ययन के निमित्त सकलित करता है । इस अध्ययन के फलस्वरूप इनमे से कुछ प्राकृतिक और नियमबद्ध प्रमाणित हो रहे है तथा प्रयोगो द्वारा उनकी पुष्टि की जा रही है ।[3] इससे सिद्ध है कि

---

1 इस विषय मे लिमिटेशन्स आव साइन्स नामक ग्रन्थ म सुलीवा (Sullivan) का यह कथन द्रष्टव्य है—"विज्ञान वास्तविकता के केवल आशिक पक्ष से सम्बन्ध रखता है और यह मानने के लिए कोई कारण नहीं है कि विज्ञान जिन वस्तुओ की उपेक्षा करता है वे उनसे कम सत्य हैं जिन्हें वह स्वीकार करता है ।' श्री बी0 एम0 भट द्वारा रचित यौगिक पावर्स एण्ड गॉड रियलाइजेशन' म उद्धृत, पृ0 23

2 जे0 जे0 बी0 राइन ए ब्रीफ इण्ट्रोडक्शन टु पेरासाइकॉलाजी पृ0 3 स्पान (Span), नवम्बर, 1972 मे पैट टकर (Pat Tucker) का पैरासाइकॉलाजी एजिगण्ट मिस्ट्री न्यू साइन्स' शीर्षक लेख ।

3 जे0 बी0 राइन पूर्वोद्धृत ग्रन्थ पृ0 3

परामनोवैज्ञानिक प्रकृति को निरी भौतिक शक्तियों की व्यवस्था नहीं मानता जैसा कि विज्ञान का दृष्टिकोण रहा है। प्रत्युत उसके अनुसार प्रकृति में एक ऐसी भी वास्तविकता है जो भौतिक व्याख्या का अतिक्रमण करती है।[1] मानवीय अतिमानस के अतीन्द्रिय तथ्यों को परामनोवैज्ञानिक इसी दृष्टि से देखता है। योगशास्त्र में वर्णित विभूतियों को बहुत से लोग पहले कपोलकल्पना मात्र मानते थे, किन्तु अब परामनोविज्ञान ने मानवव्यक्तित्व के इस अदृष्टपूर्व आयाम का उद्घाटन कर यह दिखा दिया है कि विभूतियों और सिद्धियों की पुरातन कल्पना निराधार नहीं है, मानव की अतिभौतिक प्रकृति में उनके अस्तित्व का रहस्य निहित है जिसका अनावरण करना ही परामनोविज्ञान का लक्ष्य है।[2]

धार्मिक व अध्यात्मवादी विचारकों ने अतिप्राकृतिक को प्राकृतिक का ही आन्तरिक सत्य स्वीकार किया है। डा० राधाकृष्णन् के विचार में प्राकृतिक और अतिप्राकृतिक ये दो भिन्न वास्तविकताएं नहीं हैं अपितु एक ही वास्तविकता में अन्तर्भूत भेद है। उनके अनुसार 'प्रकृति की अपनी एक व्यवस्था है। अतिप्राकृत उसकी वास्तविक गहराई व अनन्तता में प्राकृत ही है। वह प्रकृति से भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं।"[3] डा० राधाकृष्णन् ने अतिप्राकृत के उस रूप को अस्वीकार किया है जिसमें वह प्राकृतिक नियमों की अव्यवस्था तथा आकस्मिक नवीनताओं व अकल्पित घटनाओं के रूप में प्रकट होता है। आधुनिक भारत के महान् आध्यात्मिक चिंतक श्री अरविंद घोष के विचार में "अतिप्राकृत वास्तव में इतर-प्रकृति के तथ्यों का भौतिक प्रकृति में स्वतः स्फूर्त अन्तःप्रवेश है।"[4] उनके अनुसार "मन व जीवन (प्राण)-जल की कुछ ऐसी शक्तियां है जो भूत द्रव्य में स्थित तद्विषयक प्रकृति के वर्तमान व्यवस्थापन में सम्मिलित नहीं हैं। किन्तु वे उसमें बीज रूप में विद्यमान हैं तथा भौतिक वस्तुओं व घटनाओं को प्रभावित करने के लिए उन्हें विकसित किया जा सकता है। उन्हें प्रकृति के वर्तमान व्यवस्थापन में जोड़ा भी जा सकता है जिससे कि हमारे अपने जीवन व शरीर पर उनका नियन्त्रण बढ़ाया जा सके अथवा दूसरों

---

1 जे० बी० राइन पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 4

2 इस विषय में कुमारी काल्टर का यह कथन द्रष्टव्य है—"मुझे विश्वास है कि जिसे लोग जीवन का पर्यवसान समझ लेते हैं उससे परे भी एक प्रदेश है, जो और सङ्कल्प लेकर चलें वे वहां तक पहुच कर उसका पता भी पा सकते हैं।" श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय व श्री धीरेन्द्रमोहन दत्त द्वारा रचित 'भारतीय दर्शन' (हिन्दी रूपान्तर) में 'योग एण्ड वेस्टन साइकॉलॉजी' से उद्धृत, पृ० 322

3 एन आइडिएलिस्ट व्यू ऑव लाइफ, पृ० 59

4 दि लाइफ डिवाइन, पृ० 778

के जीवन व शरीरों पर या दैवत शक्तियों की गतियों पर प्रभाव डाला जा सके।"[1]

उक्त अध्यात्मवादी विचारकों के दृष्टिकोण का बीसवीं शती के कुछ प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के विचारों से भी समर्थन होता है। भौतिक जगत् के बारे में जो नई शोध हुई है उससे सिद्ध हुआ है कि वस्तुओं की यथार्थ प्रकृति मानसिक या आध्यात्मिक है। इस विषय में प्रोफेसर प्लैंक का यह कथन द्रष्टव्य है—"मैं चेतना को मूलभूत मानता हूँ। मैं भौतिक द्रव्य को चेतना से निष्पन्न मानता हूँ। हम चेतना के परे नहीं जा सकते। किसी भी वस्तु के विषय में बात करने या उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिए चेतना अपेक्षित है।"[2] सी० ई० एम० जोड के अनुसार आइन्स्टीन, श्राडिंगर, प्लैंक एडिंगटन, जेम्स जीन्स प्रभृति भौतिकशास्त्री प्राकृतिक विश्व की उक्त आदर्शवादी व्याख्या के समर्थक हैं।[3] अतः आधुनिक प्राकृतवाद 'अनिप्राकृत' के प्रति उतना असहिष्णु नहीं रहा है, जितना कि पहले (१९वीं शती) का प्राकृतवाद था। आध्यात्मिक तत्त्वों को अस्वीकार करने और भूत द्रव्य को ही एकमात्र सत्ता मानने में वह अब उतना कट्टर नहीं है। आधुनिक प्राकृतवाद ने अज्ञेयतावाद (Agnosticism) के साथ अपना नाता जोड लिया है, वह अनिप्राकृत को न स्वीकार करता है और न अस्वीकार। इस विषय में उसका दृष्टिकोण मात्र उदासीनता का है।[4]

उक्त विवेचन में हमने अनिप्राकृत तत्त्वों के विषय में कतिपय आधुनिक दृष्टिकोणों का परिचय देने का प्रयास किया। इन सभी दृष्टिकोणों में आंशिक सत्य है। हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन तत्त्वों को अतिप्राकृतिक माना है वे एक विशिष्ट विश्व-दृष्टि के अंग हैं। इस विश्वदृष्टि की विशेषताओं पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। प्राचीन मानव का धर्म, दर्शन, अध्यात्म और पुराकथाएं इस विश्व-दृष्टि का प्रतिबिम्ब करती हैं। आज विज्ञान ने हमें एक नई विश्व-दृष्टि दी है जिसने अतीत की विश्व-दृष्टि का बहुत कुछ असंगत तथा अबुद्धिगम्य करार दे दिया है। सम्भव है उस विश्व-दृष्टि के कुछ तत्त्व विज्ञान को भी ग्राह्य हों। यह भी शक्य है कि बहुत से ऐसे तत्त्व जिन्हें हम आज अनिप्राकृत कह रहे हैं वे आगे जाकर प्राकृत ही सिद्ध हो जायें। हमने जो कतिपय तत्त्वों को अनिप्राकृत माना है वह ज्ञान-विज्ञान की वर्तमान सीमाओं में ही। हमारा वर्तमान ज्ञान जिन घटनाओं व तथ्यों को समझने-समझाने में स्वयं को असमर्थ पाता है, उन्हीं को हमने अनिप्राकृत की संज्ञा दी है। इस शब्द

---

1. दि लाइफ डिवाइन पृ० 778
2. दे० सी० ई० एम० जोड : गाइड टु मॉडर्न थॉट पृ० 102
3. वहीं
4. दे० एनसाइक्लोपीडिया आव रिलीजन एण्ड एथिक्स खण्ड 9 में नेचुरलिज्म पर उल्लु० डॉ० गार्डनर का निबन्ध, पृ० 195

के प्रयोग द्वारा किन्ही तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा प्रकट करना हमारा उद्देश्य नही है। आज हम जिस तर्कप्रधान वैज्ञानिक युग मे रह रहे है उसकी मान्यताओ को स्वीकार करना और उसी के आलोक मे अतीत के दाय का अध्ययन करना हमारी स्वाभाविक सीमा है।

हम पहले बता चुके है कि अतिप्राकृत तत्त्वो का धर्म, पुराकथा, दर्शन, लोककथा साहित्य आदि के साथ निकट सबध रहा है। वस्तुत ये उस विश्वदृष्टि की अभिव्यक्ति के सनातन माध्यम रहे हैं जिसमे सृष्टि के तथ्यो की अवगति व व्याख्या अतिप्राकृतिक तत्त्वो के सदर्भ मे की जाती है। अत आगे हम धर्म, पुराकथा, दर्शन आदि के साथ अतिप्राकृत तत्त्वो के सम्बन्ध का विचार करेंगे।

धर्म और अतिप्राकृत तत्त्व

धर्म अतिप्राकृतिकवाद का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यो तो संस्कृति के प्राय सभी क्षेत्रो को अतिप्राकृतिक विश्वासो ने अनुप्राणित किया है, परतु धर्म की उर्वरा भूमि मे उनका जैसा सर्वतोमुख पल्लवन हुआ है वैसा अन्यत्र नही। सच तो यह है कि अतिप्राकृतिक विश्वास ही धर्म का मूल और मुख्य आधार रहे है।

विभिन्न देशो और कालो के विद्वानो ने भिन्न-भिन्न दृष्टियो से धर्म के स्वरूप, उसकी मूल प्रेरणा और उद्देश्यो की व्याख्या की है। कुछ ने अपने विवेचन मे उसके आस्था पक्ष को प्रधानता दी है, तो कुछ ने अनुभूति या अनुष्ठान पक्ष को। वस्तुत इन तीनो पक्षो के समन्वय से ही धर्म के समग्र स्वरूप का निर्माण होता है। आधुनिक युग मे सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक एव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी धर्म तत्त्व का निरूपण किया गया है। उक्त समस्त दृष्टिकोणो और विवेचन-सरणियो मे यो चाहे कितनी ही विभिन्नता हो, पर इस बात पर प्राय सभी सहमत है कि किसी न किसी प्रकार की एक या अनेक अतिप्राकृतिक शक्तियो के प्रति विश्वास धर्ममात्र का सामान्य लक्षण है। विश्व के प्राय सभी आदिम या विकसित धर्मो मे अतिप्राकृतिक विश्वासों का अस्तित्व पाया जाता है। यहा तक कि निरीश्वरवादी बौद्ध व जैन धर्मो मे भी कर्म व पुनर्जन्म के रूप मे अतिप्राकृत तत्त्वो को स्वीकार किया गया है।

धर्म की परिभाषाओ पर दृष्टिपात करने से उक्त मन्तव्य की पुष्टि होती है। मैक्डानल के अनुसार "धर्म के विस्तृततम अर्थ मे एक ओर तो दिव्य या अति-प्राकृत शक्तियो के विषय मे मनुष्य की धारणा सम्मिलित है और दूसरी ओर उन शक्तियो पर मानव-कल्याण की निर्भरता की वह भावना जो उपासना

के विविध रूपों में अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त करती है।' [1] इस परिभाषा में धर्म के तीनों पक्षों—विश्वास, भावना, और अनुष्ठान—का समन्वय किया गया है।

उन्नीसवीं सदी के सुप्रसिद्ध नृतत्त्वशास्त्री टायलर ने 'सचेतन सत्ताओं में विश्वास' (Belief in Spiritual Beings) को धर्म का न्यूनतम लक्षण कहा है। उनके अनुसार प्रेतात्माओं से लेकर विश्वव्यापी महान् देवताओं तक की विभिन्न धार्मिक कल्पनाओं में इसी मूल विश्वास की अभिव्यक्ति हुई है। टायलर ने जीववाद (Animism) को धर्म का प्राथमिक रूप माना है और समस्त धर्म-विश्वासों को उसी का परवर्ती विकास बताया है।[2]

विख्यात नृतत्त्वशास्त्री जे० जी० फ्रेजर ने धर्म की निम्न परिभाषा दी है—"धर्म मेरे मन में उन अतिमानवीय शक्तियों के प्रसादन या परितुष्टि का नाम है जिनके बारे में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव-जीवन की गति-विधियों का निर्देशन या नियन्त्रण करती हैं।[3] पी० एच० बेंमन ने धर्म-सम्बन्धी विभिन्न मतों की समीक्षा कर निष्कर्ष के रूप में अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है—"उच्चतर शक्ति की एक अदृष्ट व्यवस्था के प्रति आस्थाओं मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त उस शक्ति को मनोवैज्ञानिक रीति से प्रभावित करने के लिए अनुष्ठित कृत्यों तथा तत्सहचारी अनुभूतियों की पद्धति को धर्म कहते हैं।'[4]

धर्म की भारतीय परिभाषाओं में भी अतिप्राकृत तत्त्वों की स्वीकृति किसी न किसी रूप में निहित है। महाभारतकार व्यास ने धर्म की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृता प्रजा।
य स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चितः॥
म० भा०, शा० प० १०९ ११

इस परिभाषा में प्रजा (समाज) का धारण करने वाले सामाजिक विधानों या नियमों को धर्म कहा गया है। इस दृष्टि से वर्णाश्रम धर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, देशधर्म कालधर्म, राजधर्म, व्यवहार-धर्म आदि सामाजिक संगठन के विधि-विधानों का ही दूसरा नाम धर्म है। यहाँ तक तो धर्म का स्वरूप नितान्त लौकिक प्रतीत होता है, किन्तु सामाजिक व्यवस्था के उक्त नियमों या विधान लोकोत्तर शक्तियों द्वारा उद्भावित व संचालित

---

1 वैदिक माइथालाजी पृ0 1
2 दे0 प्रिमिटिव कल्चर, खण्ड 1 अध्याय 2
3 दि गोल्डन बाउ, पृ0 57–58
4 रिलीजन इन दि कन्टेम्परेरी कल्चर, पृ0 162

दृष्टि से परिच्छिन्न वस्तुओ, की उपासना की जाती थी। आदिम धर्म की इस स्थानीयता ने राष्ट्रीय धर्म मे सर्वदेशीयता का रूप ग्रहण किया। सूर्य, चन्द्रमा, उपस्, वायु आदि सार्वभौम प्राकृतिक तत्त्वो की देवताओ के रूप मे आराधना प्रारभ हुई। आदिम धम के उपास्य देवो मे नाम और व्यक्तित्व का अभाव था, पर राष्ट्रीय धर्म के देवताओ म नाम, रूप व विविध गुणो की प्रतिष्ठा की गई। इसी स्तर पर आराधक और आराध्य के व्यक्तिगत सम्बन्ध के रूप मे धम के वास्तविक स्वरूप का सूत्रपात हुआ। साथ ही देवताओ मे नैतिक गुणो की कल्पना भी की गई। उन्हे आराधको ने उदात्त मानवीय गुणो मे विभूपित किया। वे पराक्रम, दया, दाक्षिण्य, क्षमा, ज्ञान और विवेक की प्रतिमूर्तियो के रूप मे पूजे जाने लगे। एक प्रकार समकालीन जातीय मूल्यो और आदर्शों को ही इन देवताओ के व्यक्तित्व के रूप मे प्रतिष्ठा दी गई। देवो के इसी आदर्शीकरण का फल यह हुआ कि वे धीरे-धीरे मानव-जगत् से दूर होने लगे। अब वे आदिम समाज के देवो के समान परिचित और निकटवर्ती नही रहे, वरन उनका निवास मर्त्यलोक स दूर दिव्य लोको मे माना जाने लगा। वे मर्त्यलोक के दैनन्दिन प्रपचो से तटस्थ प्रतीत होने लगे तथा मात्र श्रद्धा और उपासना के पात्र रह गये। विभिन्न देशो मे इसी राष्ट्रीय धम के विकासकाल मे सामूहिक पूजा, यज्ञ-याग के विस्तृत विधान, देवालय-निर्माण, मूर्तिपूजन आदि उपासना-रूपो का प्रवतन हुआ। भारतवष का वैदिक धम इसी राष्ट्रीय धर्म का प्रतिनिधित्व करता है। इस युग मे वरुण, इन्द्र, अग्नि, उषस्, विष्णु, सूय आदि सावदेशिक प्राकृतिक दवो की उपासना होती थी तथा उनम मानवीय गुणो का आरोप किया जाता था।

राष्ट्रीय धम आगे चलकर विश्वधम म विकसित हुए। यह धर्म के विकास की पराकाष्ठा कही जा सकती है।[1] जहा राष्ट्रीय धर्म मे बाह्य आचारो का प्राधान्य था वहा विश्व धर्म मे आराधक की अनुभूति को सर्वोपरि स्थान मिला। राष्ट्रीय धम जहा बहिर्मुखी व ऐहिकता-प्रधान था, वहा विश्व धर्म मे अन्तर्मुखी प्रवृत्ति तथा आध्यात्मिक व नैतिक ध्येयो पर बल दिया गया। राष्ट्रीय धम मे प्राय बहुदेवो की उपासना होती थी, पर विश्व धम म एक ही सर्वोच्च परमात्मा की भावना दृढ हुई। अन्य देवता या तो लुप्त हो गये या उस सर्वोच्च के विभिन्न अग या शक्तियो के रूप मे मान लिये गये।[2] विश्वधम मे मानवमात्र को बिना किसी भेदभाव के ईश्वर की आराधना, मोक्ष या निर्वाण का अधिकार दिया गया। स्मार्त पौराणिक धर्म के

---

1 द० दि फिलासफी आव रिलीजन जार्ज गेलोवे, पृ० 138–147

2 महाभाग्याद देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यगानि भवन्ति (निरुक्त 7 4 8-9) महद्देवानामसुरत्वमेकम् (ऋ० वे० 3 55), तथा एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (1 164 46)

ण्वेश्वरवाद व भक्तिसिद्धान्त, जैन व बौद्धो के अहिंसा धर्म तथा उपनिषदों व वेदान्त के अध्यात्मवाद को विश्वधर्म मे परिगणित किया जा सकता है, क्योंकि उनमे बाह्याचारों की अपेक्षा स्वानुभूति, सामान्य सदाचार एव विशिष्ट नैतिक गुणो को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। यो तो पौराणिक धर्म मे भी बहुदेवोपासना स्वीकृत है, पर उसके साथ-साथ एक सर्वोच्च देवता या परमेश्वर की भावना भी नितान्त स्पष्ट है। उस सर्वोच्च देव की कल्पना ब्रह्मा, विष्णु या शिव के रूप मे की गयी या इन्हे उसकी विविध शक्तियों—सृजन, पालन व सहार—के रूप मे माना गया।[1] यह ससार उसी मे उद्भूत होकर अत मे उसी मे विलीन हो जाता है। जब जब ससार मे अधम व अनाचार की वृद्धि होती है तब तब वह पृथ्वी के भार को उतारने के लिए अवतार लेता है। अवतारवाद पौराणिक हिन्दू धम की सबम महत्त्वपूर्ण मान्यता है। गीता मे इस सिद्धान्त का बडा सुन्दर वर्णन हुआ है—

यदा यदा हि धमस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधमस्य तदात्मान सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे ॥—गीता ४ ७, ८

पुराणो मे विष्णु के दस अवतार प्रसिद्ध हैं।[2] इनमे से कुछ मानवेतर रूप वाले हैं और कुछ मानवदेहधारी, जिनमे राम व कृष्ण सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। अवतारवाद, भक्तिसिद्धान्त, मोक्ष, कर्म और पुनर्जन्म मे विश्वास पौराणिक धर्म की विशेषताए है। कुछ पौराणिक देवता परम्परागत वैदिक देवता हैं और कुछ नये। प्रथम श्रेणी म इन्द्र, यम, अग्नि, वरुण, सूर्य, वायु व सोम आदि उल्लेखनीय है। जहा वैदिक युग मे इनका प्राकृतिक आधार काफी स्पष्ट था वहा महाकाव्यो व पुराणों के युग तक आते-आते वह प्राय लुप्त हो गया और वे पूर्णतया मानवीकृत हो गये। देवमडल मे उनके आपेक्षिक महत्त्व मे भी काफी परिवतन हुआ। वैदिक वरुण व इन्द्र पौराणिक त्रिदेवो के समक्ष निस्तेज हो गये। पौराणिक युग म कुछ नये देवता भी अस्तित्व मे आये जिनमे कुबेर, कार्तिकेय, धमराज, गणेश, कामदव, गरुड आदि उल्लेख्य हैं। स्त्री देवताओ म लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, दुर्गा, काली, रति आदि मुख्य हैं। पौराणिक कल्पना के अनुसार विष्णु के साथ-साथ लक्ष्मी भी अवतार लेती हैं।[3] कुछ

---

1 दे० विष्णुपुराण 1 2 66 1 19 66

2 इनके नाम इस प्रकार हैं—मत्स्य, कूर्म वराह, नृसिंह वामन परशुराम राम कृष्ण बुद्ध और कल्कि। कुछ पुराणो मे बाईस या चौबीस अवतार वर्णित हैं। दे० भा० पु० 1 3

3 राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि।
अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी॥
देवत्वे देवदेहेय मनुष्यत्वे च मानुषी।
विष्णोर्देहानुरूपा वै करोत्येषात्मनस्तनुम्॥ वि० पु० 1 9 144–145

देवता विशेष कार्यों व प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि हैं, जैसे ब्रह्मा सृष्टि के, विष्णु पालन के, रुद्र या शिव संहार के, सरस्वती ज्ञान और विद्या की तथा लक्ष्मी सुख, सौभाग्य व सम्पत्ति की। इसी प्रकार प्रकृति के कतिपय पक्षों के भी देवता माने गये हैं जैसे समुद्र-देवता, नदीदेवता, वनदेवता, पर्वतदेवता आदि। कुलदेवता, नगरदेवता, सौभाग्यदेवता आदि की गणना अधिष्ठाता देवताओं में की जा सकती है। पौराणिक धर्म का विकास मुख्यत शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर व गाणपत्य आदि सम्प्रदायों के रूप में हुआ जिनमें नाना प्रकार की देव-कल्पनाओं व उपासना-पद्धतियों को स्थान मिला। भारतीय धर्म की अवैदिक धारा के प्रतिनिधि जैन और बौद्ध धर्मों के मूल रूप में ईश्वर या देवताओं की कल्पना का अभाव है, ये दोनों ही निरीश्वरवादी एव आचार-प्रधान है।

वैदिक व पौराणिक धर्मों में अवर देवताओं तथा आसुरी व पैशाचिक शक्तियों की भी मान्यता रही है जिनकी चर्चा हम पुराकथा के प्रकरण में करेंगे।

आत्मा के मरणोत्तर अस्तित्व, स्वर्ग, नरक, पितृलोक तथा विभिन्न दिव्य प्राणियों के निवास स्थानों की बहुविध कल्पनाए सभी धर्मों की अविभाज्य अंग रही है। कोई भी धर्म दैहिक अस्तित्व को अंतिम नहीं मानता। मृत्यु के अनन्तर जीवात्मा की गति के विषय में अलग-अलग प्रकार के विश्वास पाये जाते हैं। भारतीय धर्मों के अनुसार मनुष्य के इस जीवन के कर्मों के अनुसार उसकी मरणोत्तर गति निर्धारित होती है जो स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म व मोक्ष की प्राप्ति में से कुछ भी हो सकती है।

प्राय सभी धर्मों में परमात्मा, ईश्वर या देवताओं से साक्षात् सम्पर्क या निकट परिचय रखने वाले तथा उनकी निगूढ इच्छाओं व योजनाओं को जानने वाले धर्म-विशेषज्ञों की भी मान्यता मिलती है। ये विशेषज्ञ अपनी साधना, तपस्या व योग-शक्ति द्वारा अतिप्राकृत शक्तियाँ प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। भारतीय धर्म-परम्परा में वे ऋषि, मुनि, सिद्ध पुरुष या योगी के रूप में प्रसिद्ध हैं। वे त्रिकालदर्शी होते हैं तथा उनमें शाप व वरदान देने की विशेष शक्ति मानी गयी है।

यौगिक विभूतियाँ व तान्त्रिक सिद्धियाँ भारतीय धर्मपरम्परा में योग व तन्त्र-मन्त्र की साधना तथा उससे प्राप्त होने वाली अलौकिक सिद्धियों में सामान्य जनता का दृढ विश्वास रहा है। आत्मज्ञान की प्राप्ति या स्वरूपोपलब्धि के लिए पतञ्जलि ने योगसूत्र में योगमार्ग का उपदेश दिया है। इस मार्ग की आठ क्रमिक अवस्थाएं हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि। यद्यपि योगदर्शन एक स्वतन्त्र दर्शन है पर उसकी साधना-पद्धति को प्राय सभी दर्शनों

ने स्वीकार किया है। योग-साधना में चित्तवृत्तियों के निरोध से आत्मा का स्वरूप में अवस्थान होता है।[1] पतंजलि ने योगदर्शन के विभूतिपाद में योगसाधना से योगी को प्राप्त होने वाली अनेक सिद्धियों या विभूतियों का वर्णन किया है। उनके अनुसार ये सिद्धियां उसे विभिन्न वस्तुओं में संयम करने से प्राप्त होती हैं। संयम से पतंजलि का आशय है धारणा, ध्यान और समाधि तीनों का एक ही ध्येय विषय में लगना।[2] विभिन्न प्रकार के संयमों से योगी को निम्नलिखित सिद्धियां प्राप्त होती हैं—

अतीत व अनागत का ज्ञान (३ १६), समस्त प्राणियों की भाषा का ज्ञान (३ १७), पूर्वजन्म का ज्ञान (३ १८), परचित्तज्ञान (३ १९), अदृश्य होने की शक्ति (३ २१), मृत्यु का ज्ञान (३ २२), असाधारण बल की प्राप्ति (३ २४), सूक्ष्म, व्यवहित व विप्रकृष्ट वस्तुओं का ज्ञान (३ २५), भुवनज्ञान (३ २६), ताराओं के व्यूह का ज्ञान (३ २७), ताराओं की गति का ज्ञान (३ २८), कायव्यूह-ज्ञान (३ २९), क्षुत्-पिपासा की निवृत्ति (३ ३०), सिद्ध पुरुषों का दर्शन (३ ३२), सर्वज्ञता (३ ३३), दिव्य रूप, रस, स्पर्श गन्ध व शब्द के ज्ञान की शक्ति (३ ३६), परकायप्रवेश (३ ३८), दीप्तिमत्ता की प्राप्ति (३ ४०), दिव्यश्रवण (३ ४१), आकाशगमन (३ ४२), भूतजय (३ ४४), अष्ट सिद्धियां—अणिमा (अणु के समान सूक्ष्म रूप धारण करना) लघिमा (रूई से भी हल्का हो जाना), महिमा (शरीर पर्वत के समान बड़ा करना), गरिमा (शरीर को अतिभारयुक्त बनाना), प्राप्ति (इच्छित वस्तु को संकल्प मात्र से प्राप्त करना), प्राकाम्य (निर्बाध इच्छा-पूर्ति), वशित्व (समस्त भौतिक पदार्थों का स्वामित्व), यत्रकामावसायित्व (संकल्प मात्र से सिद्धि होना) (३ ४५), इन्द्रिय-जय, मन के समान गति तथा शरीर के बिना भी विषयों का ज्ञान (३ ४७), प्रधानजय (३ ४८), सर्वज्ञातृत्व (३ ४९)।

सिद्धियों के पतंजलि ने पांच हेतु बताये हैं—जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि।[3] इनसे प्राप्त होने वाली सिद्धियां क्रमश जन्मजा, औषधिजा, मंत्रजा, तपोजा और समाधिजा कही जा सकती हैं। पतंजलि ने इनमें से अंतिम को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है तथा विभूतिपाद में इसी के विभिन्न रूपों का वर्णन किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि पतंजलि ने इन सिद्धियों को समाधि में विघ्नरूप ही माना है।[4] योगी का अन्तिम लक्ष्य विभूतियों का प्राप्त करना नहीं, अपितु स्वरूप की उपलब्धि करना है।[5]

---

1 योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (योगसूत्र 1 2) तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (यो॰सू॰ 1 3)

2 योगसूत्र 3 1–4

3 जन्मौषधिमंत्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः (यो॰सू॰ 4 1)

4 ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः (यो॰सू॰ 3 37)

5 दे॰ म॰ म॰ गोपीनाथ कविराज-कृत 'भारतीय संस्कृति और साधना' पृ॰ 413

योगसाधना के ही समान तान्त्रिक साधना का भी हमारे देश मे व्यापक प्रचार हुआ। लगभग ५०० ई० के पश्चात् इस साधना ने एक प्रबल प्रवृत्ति का रूप धारण किया तथा अनेक शताब्दियों तक जन-मानस पर इसका प्रभाव छाया रहा। हिन्दुओ मे शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत आदि विभिन्न सम्प्रदायो ने तथा बौद्धों ने भी इसे अपनाया एव अपनी-अपनी धार्मिक व दार्शनिक मान्यताओ के आधार पर प्रतिष्ठित कर इसे नाना रूपो मे पल्लवित किया। यद्यपि तान्त्रिक धर्म अनेक सम्प्रदायो मे बटा हुआ मिलता है, पर उनमे कुछ समान विशेषताए भी हैं। सबसे महत्त्व की बात तो यह है कि वे सभी तत्त्वचिन्तन की अपेक्षा साधना-पद्धति पर अधिक बल देते हैं। किसी देवता या शक्ति को सृष्टि का मूल तत्त्व मानना, उपासना की विस्तृत पद्धति का निरूपण करने, यन्त्र-मन्त्र, बीजाक्षर व मातृकाओ को महत्त्व देने, भूत, प्रेत, वेताल आदि की सिद्धि, कुडलिनीयोग, अनेक प्रकार की रहस्यमयी साधनाओ तथा बाह्यत मर्यादा विरुद्ध दीखने वाले गुह्य वामाचारो को प्रश्रय देने तथा दीक्षा व गुरु के महत्त्व पर बल देने मे इनका परस्पर ऐकमत्य दृष्टिगत होता है।[1]

तान्त्रिक साधना एक गुह्य व रहस्यमयी साधना-पद्धति है जिसका अतिम ध्येय साधक द्वारा अपने ही व्यक्तित्व मे परम तत्त्व का साक्षात्कार माना गया है। श्री शशिभूषण दासगुप्त के अनुसार सभी प्रकार की गुह्य साधनाओ का सार समस्त द्वैत को नष्ट कर अद्वैत की परमावस्था प्राप्त करना है। इस अवस्था को विभिन्न तान्त्रिक सम्प्रदायो मे अद्वय, मैथुन, यामल, समरस, युगल, सहजसमाधि आदि शब्दो से अभिहित किया गया है।[2] हिन्दू तत्र-साधना म परमसत्ता के दो पक्ष—शिव और शक्ति माने गये है। श्री दासगुप्त के अनुसार सभी गुह्य साधना-पद्धतियो का एक मूलभूत सिद्धान्त यह है कि पिण्ड ब्रह्माण्ड का ही लघु प्रतिरूप है तथा उसमे सभी ब्रह्माण्डीय तत्त्व निहित है। इस दृष्टिकोण के अनुसार यह माना गया कि मानव शरीर मे शिव, विशुद्ध चैतन्य के रूप मे, ऊर्ध्वतम सहस्रारचक्र मे स्थित है तथा शक्ति, जो सृष्टि का मूल तत्त्व है, मूलाधार नामक निम्नतम चक्र मे कुडलिनी के रूप मे निवास करती है। तन्त्र-साधना का स्वरूप यही है कि मानवदेह मे एक छोर पर स्थित इस कुडलिनी शक्ति को जागरित कर क्रमिक आरोहण द्वारा दूसरे छोर पर पहुचाया जाये और वहा शिव के साथ उसका मिलन कराया जाये। शिव व शक्ति के इस मिलन से पूर्वोक्त परमावस्था की प्राप्ति होती है जो तान्त्रिक साधना का लक्ष्य है।[3]

---

1 दे० हिन्दी साहित्यकाश म 'तान्त्रिक मत', पृ० 321

2 ऑब्सक्योर रिलीजस कल्टस, भूमिका, पृ० 34

3 वही पृ० 34-35

परवर्ती काल में इस साधना का यह उदात्त व पवित्र रूप सुरक्षित नहीं रह सका। वह अपने उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य से भ्रष्ट होकर मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तंभन, जारण, कृत्या आदि निम्नस्तरीय जादू, टोना-टोटका या आभिचारिक कृत्यों से सम्बद्ध हो गई। यहां तक कि प्रत्येक कार्य के लिए तन्त्र-मन्त्र, मणि, औषधि आदि के प्रयोगों का विधान किया गया। तान्त्रिक लोग अनेक प्रकार की अलौकिक सिद्धियों का दावा करने लगे। इन सिद्धियों में योगदर्शन में प्रतिपादित अष्टसिद्धियों के अतिरिक्त वेतालसिद्धि, वज्रसिद्धि, गुटिकासिद्धि, रसायनसिद्धि, धातुसिद्धि आदि परिगणनीय हैं। तान्त्रिक साधना का यह रूप सम्भवत साधारण जनता में व्याप्त जादू-टोना, अभिचार आदि से सबधित लोक-विश्वासों की अभिव्यक्ति माना जा सकता है। भारत में लोकधर्म के अन्तर्गत ऐसे विश्वास प्राचीन काल से ही रहे हैं। इनकी सर्वप्रथम अभिव्यक्ति अथर्ववेद के भैषज्यानि, आयुष्याणि, पौष्टिकानि, स्त्रीकर्माणि, आभिचारिकाणि, राजकर्माणि आदि सूक्तों में मिलते हैं। वैदिक कर्मकाण्ड में भी ऐसे अनेक तत्त्व विद्यमान थे जिन्हें जादू का नाम दिया जा सकता है। सामविधान ब्राह्मण, अद्भुताध्याय ब्राह्मण (षड्विंश ब्राह्मण का एक भाग) तथा अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र में अनेक जादुई कृत्यों का विवरण मिलता है। श्री बागची के विचार में "यह सभव है कि उक्त कृत्यों में से अनेक उस आदिम समाज की धार्मिक क्रियाओं से लिये गये हों जो वैदिक (आर्य) समाज में आत्मसात् कर लिये गये थे पर यदि तर्कपूर्वक कहा जाय तो वे वैदिक कर्मकाण्ड के एक ऐसे पक्ष का भी प्रतिनिधित्व करते हैं जो आध्यात्मिक लक्ष्यों के लिए नहीं, अपितु उन निम्न उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त होते थे जिनमें किसी जन-समुदाय की सदैव रुचि हुआ करती है।"[1]

यहां जादू और धर्म का अन्तर समझ लेना उचित होगा। फ्रेजर ने धर्म की उत्पत्ति जादू से मानी है तथा उसे विज्ञानाभास (Pseudo Science) कहा है।[2] जादू और धर्म दोनों अतिप्राकृत शक्तियों के विश्वास पर आधारित हैं, पर उनमें सूक्ष्म भेद है। धर्म में मनुष्य अतिप्राकृत शक्तियों के समक्ष असहायता, दैन्य व विनम्रता का अनुभव करता है,[3] पर जादूगर स्वय को उन शक्तियों का नियन्ता समझता है। यही कारण है कि जादूगर के व्यवहार में अविनय व आत्मविश्वास का अतिरेक देखने को मिलता है।

धर्म और संस्कृत नाटक हमारा अधिकांश प्राचीन साहित्य धार्मिक भावना से प्रेरित व अनुप्राणित है। संस्कृत नाटक भी इसका अपवाद नहीं। हम आगे

1 दे० कल्चरल हेरिटेज आव् इंडिया, खंड 4 में श्री पी० सी० बागची का निबंध 'इवोल्यूशन आव दि तंत्राज्' पृ० 214

2 दि गोल्डन बाउ, पृ० 13

3 ई० एडमसन होबेल पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 532.

व पदार्थों की वास्तविक प्रकृति और कारणों को समझने में असमर्थ थी। अत मनुष्य के सृष्टि-विषयक प्रथम बोध में कल्पनाओं या मानसिक तरंगों का प्राधान्य रहा। यही कारण है कि मानव-जाति की सभी प्रारम्भिक चिन्तनाएं पुराकथाएं बन गयीं। ये पुराकथाएं आदिम मानव का धर्म, दर्शन, विज्ञान व इतिहास सब कुछ कही जा सकती हैं। इनमें उसके अविकसित मानस ने सृष्टि-विषयक अपनी जिज्ञासाओं व प्रश्नों का काल्पनिक समाधान पाने का प्रयत्न किया। "आदि मानव ने समस्त प्राकृतिक पदार्थों में किन्हीं शक्तिशाली, बुद्धिमान् व इच्छा-सम्पन्न सत्ताओं का अनुभव किया। अपनी कल्पना के इन प्राणियों के विषय में उसने पारंपरिक वार्ताओं का निर्माण किया जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सावधानी के साथ हस्तांतरित होती रही। इन वार्ताओं में उसने अतिप्राकृतिक प्राणियों के समूह बनाये, उनका विभाजन किया, तथा उनके गुण-धर्म, शक्तियों, कार्यों व भावनाओं के विवरण के लिए उनमें से प्रत्येक के साथ कुछ कथाएं जोड़ दीं।"[1]

मैक्समूलर ने प्रकृति के मानवीकरण की प्रवृत्ति को जिस पर पुराकथाएं आधारित हैं, आदिम मानव की भाषा का दोष बताया है।[2] मेक्डानल के मत में पुराकथाओं का जन्म उस समय होता है जब कल्पना किसी प्राकृतिक घटना के अर्थ को मानव-सदृश किसी शरीरी सत्ता के कार्य के रूप में अवधारित करती है। उदाहरण के लिए चन्द्रमा सदैव सूर्य का अनुगमन करता है, फिर भी वह उसके निकट नहीं पहुंच पाता। इस दृश्य के निरीक्षण से प्रेमी द्वारा प्रेमिका के प्रत्याख्यान की पुराकथा का जन्म हुआ। ऐसी कथायें जब कल्पनाशील कवियों के हाथ में पहुंच गयीं तो काव्यात्मक अलंकृति के द्वारा उनमें अनेक नूतन विशेषताओं का आधान हुआ। कालान्तर में इन पुराकथाओं का प्राकृतिक आधार शनैः-शनैः लुप्त हो गया और एक स्थिति ऐसी आयी कि उनमें मानव-भावों की ही प्रधानता हो गयी। प्राकृतिक आधार के सर्वथा आच्छादित हो जाने से उनमें अन्य पुराकथाओं के तत्त्व भी जुड़ गये। यदि ऐसी पुराकथाओं को विकास की अन्तिम अवस्था में देखें तो उनके मूल रूप को पहचानना भी सम्भव नहीं है।[3]

फ्रायड ने पुराकथा को स्वप्न की कोटि में रखा है। स्वप्न के समान उनमें भी अवचेतन मन की दमित इच्छायें विभिन्न प्रतीकों में अभिव्यक्त होती हैं।[4] उनके

---

1 दि एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खण्ड 19 पृ० 672

2 दे० एमिल दुर्खीम दि एलीमेंट्री फार्म्स ऑव् दि रिलीजस लाइफ, पृ० 95-96

3 दे० वैदिक माइथालॉजी पृ० 1

4 दे० दि बेसिक राइटिंग्ज ऑव् सिगमंड फ्रायड डा० ए० ए० ब्रिल द्वारा अनूदित व सम्पादित, पृ० 954

मन में ये इच्छायें मुख्यत यौन इच्छाये होती हैं ।[1] युग ने भी पुराकथा को इसी श्रेणी में रखा है, पर वे उसे मनुष्य के 'सामूहिक अवचेतन' की अभिव्यक्ति मानते हैं ।[2] रुथ बेनेडिक्ट के अनुसार "मिथ मनुष्य के सकल्प और अभिप्राय के जगत् का अभिलाषामय प्रक्षेपण है । अपनी सभी पुराकथाओं मे मनुष्य ने एक यात्रिक विश्व के प्रति अपनी व्यथा और उसके स्थान पर मानवभावों से अभिप्रेरित व निर्देशित एक अन्य जगत् की स्थापना मे मिलने वाले सुख को व्यक्त किया है ।'[3] मालिनोव्स्की के विचार मे पुराकथा का प्रमुख कार्य "परम्परा को सशक्त बनाना तथा प्राचीन घटनाओं के उच्चतर और श्रेष्ठतर अतिप्राकृतिक सत्य मे उनका उद्गम खोजकर उन्हे महत्तर मूल्य और गौरव से मडित करना है ।"[4]

पुराकथाओं के अनेक भेद-प्रभेद किये गय हैं । उनमे से कुछ प्रकारों का सम्बन्ध निम्नलिखित विषयो से माना गया है—

१ प्राकृतिक परिवर्तन व ऋतुए
२ ग्रह-नक्षत्र
३ अन्य प्राकृतिक पदार्थ, जैसे वृक्ष, लता, नदी, जलाशय, पवन, वन आदि । पुराकथाओं मे प्राय इनकी सजीव सत्ता मानी जाती है ।
४ असाधारण व आकस्मिक प्राकृतिक घटनाए, जैसे भूकप, झझावात, सूर्य व चन्द्र का ग्रहण ।
५ विश्व की उत्पत्ति
६ देवो की उत्पत्ति, परिवार, वश, शक्ति आदि
७ पशुओं व मनुष्यो की उत्पत्ति
८ रूप-परिवतन
९ जातीय वीरो की दिव्य उत्पत्ति, उनके चरित्र, परिवार व वशपरपरा
१० सामाजिक सस्थाओं व प्रथाओं की उत्पत्ति व आविष्कार
११ आसुरी व पशाचिक शक्तिया
१२ मरणोत्तर अस्तित्व व पितृलोक
१३ इतिहास

---

1 दे० दि बेसिक राईटिंग्स आव् सिग्मड फ्रायड डा० ए० ए० ब्रिल द्वारा अनूदित व सपादित पृ0 970

2 साइकॉलॉजी एण्ड रिलीजन, पृ0 33

3 एनसाईक्लोपीडिया ऑव् सोशल साइन्सेज, खण्ड 11-12, पृ0 181

4 एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग 16 मे 'मिथ एड रिचुअल' शीर्षक के अन्तर्गत उद्धृत

लेते हैं तथा आवश्यकता होने पर उनमे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप भी करते हैं। इनके अतिरिक्त नारद, मारीच व वसिष्ठ आदि दिव्य ऋषि तथा विश्वामित्र, वाल्मीकि आदि मानव ऋषि अनेक नाटकों के पात्र हैं। इनके वर्णन मे नाटककारो ने सम्बन्धित पौराणिक कल्पनाओ का यथेच्छ उपयोग किया है। कुछ अर्धदिव्य या मानव पात्र दिव्य गुणो से सम्पन्न हैं। अनेक नाटकों मे देव-द्रोही व मानव विरोधी असुर व राक्षस आदि पात्रों के भयावह व वीभत्स व्यक्तित्व का चित्रण हुआ है। उनके रूप-परिवर्तन या मायाविता का नाटकीय घटनाचक्र के विकास मे विशेष योगदान रहता है। कुछ नाटको मे वनदेवता, नगरदेवता, नदीदेवता, समुद्रदेवता, पृथ्वी देवता आदि साक्षात् या असाक्षात् रूप मे अंकित हैं। अनेक नाटको मे पौराणिक पशु-पक्षी, जैसे जटायु, गरुड आदि पात्रों के रूप मे आये हैं। भास व भवभूति के नाटकों मे क्रमश भगवान् विष्णु के आयुध व राम के जृम्भकास्त्र दिव्य पात्रों के रूप मे उपस्थित हुए हैं। दिव्य पात्रो के सदर्भ मे उनके दिव्य लोको—स्वर्गलोक, सिद्ध-लोक, विद्याधरलोक, पाताललोक आदि का उल्लेख या वर्णन मिलता है। कतिपय नाटकों के कुछ दृश्यो का स्थान दिव्य प्रदेश है।

जैसा कि हम बता चुके हैं संस्कृत नाटककारो ने कथावस्तु व पात्रो के लिए पौराणिक साहित्य की कथाओ का उपयोग किया है, जिनमे देवता अत्यधिक मानवीकृत रूप मे चित्रित हैं। साथ ही वे उदार, दयालु व मानव-हितैषी माने गये हैं। यूनानी देवताओं के समान वे मनुष्यो के प्रति विद्वेष व प्रतिशोध की भावना से युक्त नही हैं। वे दिव्य होते हुए भी मानवो के अतिनिकट, परिचित, आत्मीय, स्नेही व मगलकारी हैं। नाटक के नायको की फलप्राप्ति मे उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। यह भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार मानवो को दैवी अनुग्रह अपेक्षित है उसी प्रकार देवों का भी अपने कार्य मे विशिष्ट मनुष्यो के सहयोग की आवश्यकता रहती है।

दर्शन और अतिप्राकृत तत्त्व

'दर्शन' का अर्थ है सत्य का साक्षात्कार या तात्त्विक ज्ञान। पाश्चात्य परपरा मे 'फिलॉसफी', जिसका मूल अर्थ 'ज्ञान-प्रेम' है,[1] मुख्यत बौद्धिक चिंतन और तार्किक ज्ञान की वाचक रही है, जबकि भारत मे 'दर्शन' चिन्तन, स्वानुभूति और साधना तीनो का समन्वय माना गया है। विज्ञान और दर्शन दोनो ही जगत् और जीवन का अध्ययन करते हैं, पर उनके दृष्टिकोणो मे मौलिक अन्तर है। विज्ञान सत्य के विभिन्न पक्षो का पृथक्-पृथक् अध्ययन करता है, पर दर्शन जगत् और जीवन को

1 फिलो-प्रेम, सोफिया-ज्ञान

समष्टि रूप मे ग्रहण कर उसके मूल तत्त्व या अन्तिम सत्य के अन्वेषण का प्रयत्न करना है।[1]

दर्शन की मुख्यत तीन समस्याए रही हैं—(१) व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप (२) भौतिक जगत् का मूल सत्य और (३) ब्रह्माण्ड का अन्तिम तत्त्व और इन सबका पारस्परिक सम्बन्ध। इन्ही का दर्शन के इतिहास मे क्रमश आत्म-विचार, विश्व-विचार और ईश्वर-विचार के रूप मे निरूपण किया गया है।

भारत मे दर्शन का धर्म से बडा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।[2] जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, अलौकिक सत्ताओ मे आस्था धर्म का मूल आधार है और दर्शन उस आस्था की समीक्षा और साधना है। अत दर्शन को हम धर्म का वैचारिक पक्ष कह सकते हैं।

भारतीय दर्शन का इतिहास वेदो से प्रारम्भ होता है। वेदो मे विभिन्न प्राकृतिक तत्त्वो—अग्नि, सूर्य, वायु, पर्जन्य, मरुत्, आपस्, उषा आदि की पुरुषाकार कल्पना की गयी है तथा उन्हे देवरूप माना गया है, यद्यपि इन्द्र, वरुण, अश्विनौ आदि कुछ देवताओ का प्राकृतिक मूल अस्पष्ट है। यही वेदो का बहुदेववाद है जिसकी चर्चा हम धर्म के अन्तर्गत कर चुके हैं। धीरे-धीरे विचार के विकास व मानव-बुद्धि की सामान्यीकरण की प्रवृत्ति के कारण बहुदेववाद एकदेववाद मे परिणत हुआ। ऋग्वेद की वरुण, विश्वकर्मा, विश्वेदेवा, पुरुष व प्रजापति की कल्पनाओ मे तथा 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[3] व 'महद् देवानामसुरत्वमेकम्'[4] जैसे कथनो मे एव नासदीय सूक्त[5] मे एकदेववादी व एकत्ववादी विचारो की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। ऋग्वेद की यही बीजरूप विचारधारा उपनिषदो मे एक ही ईश्वर या सृष्टि के एकमात्र तत्त्व ब्रह्म की धारणा मे विकसित हुई। उपनिषदो के बाद दर्शनशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायो मे ईश्वर, सृष्टि, आत्मा व मोक्ष के विषय मे अनेक अतिप्राकृतिक धारणाये प्रतिपादित की गयी हैं।

---

1 हाकिंग पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 2

2 श्री हिरियन्ना के विचार मे धर्म और दर्शन प्रारम्भ मे सर्वत्र एक होते हैं, क्योंकि दोनो का लक्ष्य–सत्य की खोज–एक ही है। किन्तु शीघ्र ही ये एक-दूसरे मे पृथक हो जाते हैं। भारत मे भी ऐसा हुआ है, पर यहा इनका पूर्ण विच्छेद नही हुआ।

द० भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी रूपान्तर) पृ० 13

3 ऋग्वेद 1 164 46

4 वही, 3 55

5 वही, 10 129

ईश्वर अधिकतर दर्शनो ने ईश्वर को नित्य, सर्वव्यापी, चैतन्यरूप, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व सहार का कारण तथा कर्मफल का दाता माना है। ईश्वर की यह कल्पना सवथा अतिप्राकृतिक है। अद्वैत वेदान्त मे सगुण ईश्वर के अतिरिक्त निर्गुण ब्रह्म का भी सृष्टि के एकमात्र आधारभूत तत्त्व के रूप मे निरूपण मिलता है। पुराणो मे शिव या विष्णु को ईश्वर के रूप मे माना गया है तथा सगुण व निर्गुण दोनो रूपो मे उनकी कल्पना की गई है। भगवद्गीता मे कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिखाये गये विराट् रूप मे उनके परमेश्वरत्व व विश्वरूपता का दर्शन होता है।[1]

जगत अद्वैत वेदान्त व महायानी बौद्ध के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शन वस्तु-जगत् की सत्ता को यथार्थ स्वीकार करते है, किन्तु उनमे से अधिकतर उसी को अतिम नही मानते। उनके अनुसार उसका अपने मे भिन्न कोई आधार अवश्य है। किसी ने यह आधार प्रकृति को माना है, किसी ने परमाणुओ व ईश्वर को तो किसी ने ब्रह्म को। कुछ ने उसे परिणाम या तात्त्विक विकार, कुछ ने आरभ या नवीन काय और कुछ ने विवर्त या अतात्त्विक विकार कहा है।[2] यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय दशनो की सृष्टि-विषयक धारणा पौराणिक कल्पनाओ से प्रभावित है। उदाहरणाथ साख्य ने भौतिक सर्ग को तीन प्रकार का माना है—दैव, तैयग्योन और मानुष। उसके अनुसार दैव सर्ग के आठ प्रकार हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच।[3] उपनिषदो की सृष्टि-कल्पना मे भी विविध लोको का उल्लेख मिलता है,[4] जिस पर स्पष्टत पुराकथाओ का प्रभाव है।

आत्मा सभी भारतीय दर्शन, कुछेक अपवादो को छोडकर,[5] आत्मा के देहातीत अस्तित्व व उसकी अमरता मे विश्वास करते है। उनके अनुसार आत्मा नित्य, सवव्यापी, चैतन्यस्वरूप या चैतन्य-धम से युक्त[6] है। सभी दशन आत्मा को

---

1 अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्र
  पश्यामि त्वा सवतोऽनन्तरूपम।
नान्त न मध्य न पुनस्तवादि
  पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ गीता, 11 16

2 साख्य ने सृष्टि का मूल आधार प्रकृति को, न्याय वैशेषिक ने परमाणुओ व ईश्वर को तथा अद्वैत वेदान्त ने ब्रह्म को स्वीकार किया है। साख्य को परिणामवादी, न्याय को आरम्भवादी तथा वेदान्त को हम विवर्तवादी कह सकते हैं।

3 साख्य कारिका, 53 तथा उस पर वाचस्पतिमिश्र-कृत तत्त्वकौमुदी।

4 दे० बृहदारण्यक उपनिषद, 1 5 16, 3 6 1

5 चार्वाको ने 'देह' को तथा बौद्धो ने पच स्कधो (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान) को ही आत्मा माना है। इनमे भिन्न किसी देहातीत आत्मा मे उनकी आस्था नही है।

6 न्याय ने चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक धर्म या गुण माना है, जबकि साख्य, योग, वेदान्त आदि ने चैतन्य को उसका स्वरूप स्वीकार किया है।

बद्ध दशा मे कर्ता व भोक्ता मानते है, किन्तु मुक्ति दशा मे वह कर्तृत्व व भोक्तृत्व से छूटकर अपने शुद्ध स्वरूप मे अवस्थित होता है।

मोक्ष आत्मा की अमरता के सिद्धान्त से मोक्ष, कर्म व पुनर्जन्म की धारणाये घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। सभी भारतीय दर्शनो ने सासारिक जीवन को दु खमय[1] और उससे मुक्ति को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना है, यद्यपि मुक्ति के स्वरूप के विषय मे उनमे मतभेद है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा की स्वरूपोपलब्धि, रामानुज के अनुसार आत्मा की वैकुठ-प्राप्ति, साख्ययोग के अनुसार पुरुष का अनात्म प्रकृति से विवेक-ज्ञान, न्याय-वैशेषिक व मीमासा के अनुसार आत्मा की सुख-दु ख से रहित चेतनातीत अवस्था, जैनो के अनुसार जीव की स्वरूप-प्राप्ति व बौद्धो के अनुसार वासनाओ की आत्यन्तिक शान्ति मोक्ष का स्वरूप है। इस प्रकार सभी ने मोक्ष को एक लोकातीत अवस्था स्वीकार किया है जिसमे दु खो की आत्यन्तिक हानि होती है।

कर्म व पुनर्जन्म का सिद्धान्त यह भारतीय विचारधारा का महत्त्वपूर्ण अग है। इस सिद्धान्त ने जीवन और जगत् के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को बडी गहराई से प्रभावित किया है। यह हमारी नैतिक व आध्यात्मिक मान्यताओं का मुख्य आधार रहा है। इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद की ऋत-सम्बन्धी धारणा मे मिलता है जहा यह विश्व की भौतिक व नैतिक व्यवस्थाओ का पर्यायवाची है। उपनिषदो मे कर्म व पुनर्जन्म की धारणा पूर्ण विकसित रूप मे प्रकट हुई है।[3]

कर्म सिद्धान्त बताता है कि मनुष्य जो भी कर्म करेगा, उसका फल अवश्य भोगना होगा, चाहे इस जीवन मे या अगले जीवन मे। जब तक कर्मफल नि शेष नहीं होता तब तक प्राणी जन्म-मरण के चक्र से मुक्त नही हो सकता। हमारा वर्तमान जीवन अतीत जीवन के कर्मों का परिणाम है और इस जीवन मे हम जो कर्म कर रहे है वह भावी जीवन के स्वरूप को निर्धारित करेगा। कर्म तीन प्रकार के माने गये है—सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। पिछले सभी जीवनो मे किये गये कर्मो

---

1 दे० साख्यकारिका 1 न्यायसूत्र, 1 2
बौद्धो के चार आर्यसत्यो मे सर्वप्रथम 'दु ख' की गणना की गयी है।

2 दे० एम० हिरियन्ना भारतीय दर्शन की रूपरेखा, (हिन्दी रूपान्तर) पृ० 31–32, राधाकृष्णन दि हिन्दू व्यू ऑव लाइफ, पृ० 52

3 यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्य पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेन। अथो खल्वाहु काममय एवाय पुरुष इति स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। बृ० उ० 4 4 5, एवमेवाय-मात्मेद शरीर निहत्याविद्या गमयित्वा यन्नवतर कल्याणतर रूप कुरुते पित्र्य वा गान्धर्व वा दैव वा प्राजापत्य वा ब्राह्म वान्येषा वा भूतानाम। वही, 4 4 4, 3 2 13, 6 2 2, क० उ० 5 5 7 छा० उ० 4 1

के सचय को संचित कर्म कहते हैं। संचित कर्मों का वह अंश जो वर्तमान जीवन का हेतु है 'प्रारब्ध' कहा जाता है तथा इस जीवन मे जो नये कर्म किये जा रहे हैं वे "क्रियमाण" हैं। कर्मों के सम्पादन से उत्पन्न शक्ति या फल को अदृष्ट, अपूर्व,[1] पाप-पुण्य या धर्म-अधर्म कहते हैं, जो प्राणी के भवितव्य का नियामक माना जाता है। ईश्वरवादी दर्शनों के अनुसार ईश्वर प्राणी के अदृष्ट या धर्म-अधर्म के अनुसार उनके कर्मफलों का विधान करता है,[2], किन्तु निरीश्वरवादी मीमांसा आदि दर्शन स्वयं इस शक्ति को ही प्राणी के सुख-दुःख व जन्मादि का हेतु मानते हैं।[3] मनुष्य की जाति, गोत्र, आयु आदि का निर्धारण प्रारब्ध कर्मों से होता है।[4] कर्म करने से चित्त मे संस्कार उत्पन्न होते हैं जिन्हें कर्मवासना या कर्माशय कहते हैं। ये संस्कार आत्मा में अन्वित रहते हैं तथा उनके फलो को भोगने के लिए प्राणी को बारबार जन्म लेना पड़ता है।[5] जीवन की इसी अवस्था को संसार, भव-चक्र आदि कहा गया है। मोक्ष प्राप्त होने पर ही प्राणी को जन्म-मरण के इस संसार-चक्र से छुटकारा मिलता है। मोक्ष का साधन आत्म-ज्ञान है जिससे कर्म मे आसक्ति समाप्त होती है और क्रियमाण कर्मों के संस्कारों का बनना बन्द हो जाता है। अतः जैसे ही संचित व प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त होता है, प्राणी जन्म-चक्र से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार कर्म और पुनर्जन्म की धारणायें परस्पर सम्बद्ध हैं।

कर्मवाद व पुनर्जन्म का सिद्धान्त आपाततः नियतिवाद या भाग्यवाद प्रतीत होता है, क्योंकि इसके अनुसार इस जीवन का सब कुछ पूर्वजन्मो मे किये गये कर्मों पर निर्भर है, उसमे कहीं भी कोई हेरफेर या संशोधन नहीं किया जा सकता। मनुष्य के जन्म-मरण, सुख-दुःख, हानि-लाभ सब कुछ अदृष्ट या भाग्य का परिणाम है। सामान्य लोगों मे कर्म सिद्धान्त का यही रूप प्रचलित है। पर तत्त्वदृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त मे कर्म-स्वातन्त्र्य का निषेध नहीं है[6]

---

1 प्रभाकर ने धर्म व अधर्म को 'अपूर्व' नाम दिया है, व उसे यज्ञादि कर्मों का फल मानते हैं। न्याय-वैशेषिक में पाप-पुण्य के समान वह आत्मा से समवेत रहता है, अतः वह बाह्य कर्मों से भिन्न एक आन्तरिक विशेषता माना जा सकता है। दे० हिरियन्ना भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ० 326

2 दे० न्यायसूत्र, 4 19–21

3 हिरियन्ना भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० 170, डा० यदुनाथ सिन्हा भारतीय दर्शन (हिन्दी रूपान्तर) पृ० 254

4 सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा ॥ यो० सू० 2 13, पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ न्यायसूत्र 3 2 63

5 क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ यो० सू० 2 12

6 दे० राधाकृष्णन् एन आइडियलिस्ट व्यू आव् लाइफ, पृ० 276

तथा यह नैतिक जीवन को कार्यकारणभाव पर आधारित कर उसे अराजकता व अव्यवस्था से बचाता है। तथापि यह वर्तमान जीवन के तथ्यो की व्याख्या दूसरे जन्म और उसके कर्मों के सन्दर्भ मे करता है, इसलिए एक ऐसे विश्वास पर आधारित है जिसकी परीक्षा का अनुमान और कल्पना के सिवा हमारे पास कोई साधन नही है।

दर्शन और सस्कृत नाटक सस्कृत नाटक मे भारतीय समाज के सर्वमान्य दार्शनिक विश्वासो का भी यत्र-तत्र उल्लेख या चित्रण मिलता है। आत्मा, ईश्वर, जगत् का वास्तविक स्वरूप आदि दार्शनिक विषयो का तो नाटक की लौकिकफलोन्मुख घटनावली मे कोई सीधा सम्बन्ध नही हो सकता, पर पात्रो के जीवन मे आने वाली विपत्तियो व कष्ट-क्लेशो की व्याख्या या समाधान के रूप मे कर्म, भाग्य व पुनर्जन्म आदि से सम्बन्धित लोकप्रचलित विश्वासो की सस्कृत नाटको मे प्रचुर अभिव्यक्ति हुई है। ये विश्वास भारतीय जन साधारण मे शताब्दियो से बद्धमूल भाग्यवादी या नियतिवादी विचारधारा के द्योतक है।

सस्कृत के प्रतीकात्मक नाटको का दार्शनिक चिन्तन के साथ गहरा सम्बन्ध है। ये नाटक सम्प्रदाय-विशेष के दार्शनिक मतो की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए रचे गये थे। इनके पात्र दार्शनिक सिद्धान्तो या मनोवृत्तियो के प्रतीक होते हैं, अत उनमे सजीवता का प्राय अभाव रहता है। ऐसे नाटको मे कृष्ण मिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' सर्वश्रेष्ठ व प्रतिनिधि माना जाता है।

लोककथा और अतिप्राकृत तत्त्व

लोककथा लोकसाहित्य का एक विशिष्ट अग है। लोकसाहित्य मे उन परम्परागत आख्यानो, कथाओं, गाथाओ, गीतो, कहावतो, पहेलियो व नाट्य आदि का समावेश है जो कि आदिम जनजातियो या सभ्य समाज के अपेक्षाकृत अल्पसभ्य-जनो के मनोरजन के साधन है। लोककथा लोक-प्रचलित कहानी के रूप मे होती है और उसमे लोकमानस की सीधी, सच्ची और सहज अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। उसमे लोक-जीवन के प्राचीन विश्वासो, परम्पराओ और प्रथाओ के रूप मे लोक-सस्कृति का सन्निवेश रहता है। विंटरनित्स के अनुसार "लोककथाए सीधे लोक-हृदय से नि सृत होती है अर्थात् धार्मिक विचारो और पुराणकथाओ से, जादू-टोना-सबधी लोक-प्रचलित विश्वास से तथा साधारण जनता से निकले कहानी कहने वाले स्त्री-पुरुषो के मन की तरगो से। अधिकतर लोककथाओ का अपना या दूसरो का मनोरजन करने के सिवा कोई और उद्देश्य नही होता।"[1] ये कथाए मूलत मौखिक

---

1 एम विंटरनित्स हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर भाग 3, खड 1, पृ० 307

होती हैं और इसी रूप मे पीढ़ी-दर-पीढ़ी समाज मे प्रवाहित होती रहती हैं, किन्तु कभी-कभी ये साहित्यिक रूप प्राप्त कर लिपिबद्ध भी हो जाती हैं।[1] आधुनिककाल मे नृतत्त्वशास्त्रीय शोधकर्ताओ ने ससार के विभिन्न भागो मे प्रचलित प्राय सभी लोककथाओ को सकलित कर लिखित रूप दे दिया है।

पुराकथाओ के समान लोककथाओ मे भी अतिप्राकृत तत्त्वो का समावेश रहता है, फिर भी दोनो मे प्रभूत अन्तर है। विन्टरनित्स के अनुसार "पुराकथाए सदैव किसी वस्तु की व्याख्या देने का प्रयत्न करती है, वे किसी विशेष जिज्ञासा या धार्मिक अपेक्षा की सन्तुष्टि करती हैं, किन्तु लोक-कथाओ का उद्देश्य शुद्ध मनोरजन होता है।"[2] वे धार्मिक चिन्तना व मताग्रह से मुक्त होती हैं, तथापि उन्हे धर्म से सर्वथा असपृक्त नही कह सकते। यह अवश्य है कि उनमे धर्म का सामान्य जनो मे प्रचलित निम्न रूप ही अधिक देखने को मिलता है। धर्म के इस रूप मे प्राय जादू-टोना और जीववादी विश्वासो का प्राधान्य रहता है।

यहा लोककथा का आख्यानो (Legends) मे भी अन्तर कर लेना उचित होगा। आख्यान किसी विशेष पुराकथाशास्त्रीय या सामाजिक परम्परा पर आधृत होते हैं, पर लोककथाए अधिक स्वतन्त्र होती हैं तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक विचरण करती रहती है, यद्यपि इस प्रक्रिया मे उनके पात्र बदल जाते हैं।[3] आख्यानो का कोई ऐतिहासिक या तथ्यात्मक आधार होता है, पर उन पर पुराणकथाओ व लोककथाओ के तत्त्वों की इतनी परतें जम जाती हैं कि उनका मूल रूप आच्छादित हो जाता है। इसी दृष्टि से आख्यानो को 'विरूपित इतिहास' भी कहते हैं।[4]

लोककथाओ की उत्पत्ति व उनके विश्वव्यापी प्रसार के बारे मे अनेक प्रकार के मत प्रस्तुत किये गये हैं। मेक्समूलर व उनके सम्प्रदाय के विद्वानो ने उन्हे पुराकथा का ही एक अश माना है।[5] एड्रू लैग, टायलर आदि समाजशास्त्रियो के मत मे लोककथाओ का जन्म आदिम असभ्य समाज मे हुआ तथा अतीत के अवशेष के रूप में वे सभ्यता की परवर्ती स्थितियो मे जीवित रही।[6] मनोविश्लेषणवादियो ने

---

1 गुणाढ्य की बृहत्कथा व उस पर आधारित कथासरित्सागर आदि लोककथाओ के ही साहित्यिक सस्करण हैं।

2 पूर्वोद्धृतग्रन्थ, पृ० 203

3 एस० ए० डागे लीजेन्ड्स इन दि महाभारत, आमुख, पृ० 37

4 दे० एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिका, खड 9 म 'फोकलोर' शीर्षक लेख

5 दे० चेम्बर्स एनसाईक्लोपीडिया, भाग 5 मे 'फॉक्लोर' शीर्षक निबन्ध

6. वही

उनमे शैशव व बाल्यकाल की मनोग्रंथियो की रूपकात्मक अभिव्यक्ति देखी है ।[1] ग्रिम भ्राताओ तथा बेन्के ने यूरोपीय लोककथाओ का मूल उत्स भारत को माना है । जर्मनी मे कोहलर, इगलैंड मे क्लाउस्टर तथा फ्रास मे कासक्विन ने उक्त मत का विभिन्न रीतियो से समर्थन किया,[2] किंतु कुछ अन्य विद्वानो ने उसका खडन करते हुए लोककथाओ की बहुजननता (Polygenesis) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया ।[3] लोककथाओ मे अभिप्रायो के सुनिश्चित रूप एव कलात्मक सयोजन के आधार पर यह माना जाता है कि उनका जन्म किसी विशेष देश-काल मे व्यक्ति विशेष के मस्तिष्क से ही होता है, किंतु फिर वे सुदूर स्थानो व कालो मे सक्रान्त होकर अमरत्व रूप ग्रहण कर लेती है । इस प्रक्रिया मे उनकी भौगोलिक विशेषताए व पात्रो के नाम आदि ही बदलते हैं, उनका मूल ढाचा प्राय वही रहता है जो अभिप्रायो से निर्मित होता है ।

लोककथाओ मे अभिप्रायो का विशेष महत्त्व है । उन्ही से कहानी की वस्तु या रूप का निर्माण होता है । प्रत्येक कथारूप मे एक सुनिश्चित क्रम मे कितने ही अभिप्राय ग्रथित रहते हैं । जे० टी० शिप्ले ने अभिप्राय (Motif) को कृति की योजना का वैशिष्ट्य माना है । यह वैशिष्ट्य किसी ऐसे शब्द या एक ही आकार मे ढले विचार के रूप मे होता है जो समान स्थिति मे या समान भाव को जाग्रत करने के लिए किसी कृति या एक ही प्रकार की विभिन्न कृतियो मे बार-बार प्रयुक्त होता है ।[4] अभिप्राय की यह परिभाषा अति विस्तृत है तथा साहित्य के अन्य रूपो व कलाओ पर भी लागू होती है । स्टिथ थामसन के मत मे "कोई कथा-प्रकार जिन घटनाओ मे विश्लेषित किया जाता है वे अभिप्राय कहे जाते हैं । अभिप्राय कथा का वह लघुतम अश है जो परम्परा मे रहने की शक्ति रखता है । इस प्रकार की शक्ति रखने के लिए उसमे कुछ असाधारणता व अपूर्वता होनी चाहिए । अभिप्राय कथानक के निर्माण-तत्त्व हैं ।"[5]

अभिप्राय को कथानक-रूढि भी कहते है । ये रूढिया वास्तविक, काल्पनिक अथवा सभावित किसी भी प्रकार की हो सकती हैं । "लोककथाओ मे कथानक को आरम्भ करने, गति देने, कोई नवीन मोड या घुमाव देने, उसे चामत्कारिक ढग से

---

1 दे0 एनसाईक्लोपीडिया आव् लिट्रेचर भाग 2 मे 'सुपरनेचरल स्टोरी' शीर्षक निबध पृ0 526

2 दे0 एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिका म 'फाकलोर' शीर्षक लेख

3 दे0 एलेक्जेंडर एच0 क्राप दि साइस आव् फाकलोर, पृ0 7

4 डिक्शनरी आव् वर्ल्ड लिट्रेरी टर्म्स

5 डा0 सत्येन्द्र लोकसाहित्यविज्ञान, पृ0 273

समाप्त करने अथवा अपने में ही सम्पूर्ण कथा का संगठन करने के लिए उनका बार-बार प्रयोग होता है।[1] विभिन्न कथाओं में समान अभिप्राय होने पर भी उनके संयोजन का ढंग अलग-अलग हो सकता है जिससे एक कथा दूसरी कथा से भिन्न हो जाती है। अभिप्राय कथा के स्थिर तत्त्व होते हैं। कथा की शैली बदल जाती है पर अभिप्राय वही रहते हैं। अपनी इस परम्परागत प्रकृति के कारण ही वे सभ्यता की प्राचीनतर स्थितियों में प्रचलित विश्वासों और विचारों के अवशेष माने जाते हैं। इस दृष्टि से आधुनिक युग में प्राचीन संस्कृति के स्रोत के रूप में उनका अध्ययन अतीव महत्त्वपूर्ण हो गया है।

लोककथाओं के अनेक अभिप्राय अतिप्राकृतिक तत्त्वों पर आधारित होते हैं। शाप, रूप-परिवर्तन, परकाय-प्रवेश, मानव व्यापारों में दैवी हस्तक्षेप, जादुई वस्तुएं, अद्भुत लोकों की यात्रा, दिव्य सुन्दरियों से भेंट, पशु-पक्षियों का मानव-सदृश व्यवहार आदि कितने ही अलौकिक अभिप्राय उनमें पद-पद पर मिलते हैं। लोककथाओं का नायक प्रायः मनुष्य होता है पर उसके सहायक कभी पशु-पक्षी और कभी अतिप्राकृत प्राणी होते हैं। ये पशु-पक्षी प्रायः किसी मनुष्य या देवता के रूपान्तर होते हैं तथा कहानी के अंत में अपने वास्तविक रूप में आ जाते हैं। किन्तु अधिकतर लोककथाओं में नायक के सहायक राक्षस, दैत्य, विद्याधर, गंधर्व यक्ष आदि अतिप्राकृत प्राणी होते हैं। ये कभी स्वेच्छा से सहायता देते हैं और कभी अनजान में। नायक पशु-पक्षियों या राक्षस आदि की बातचीत गुप्त रूप से सुन लेता है तथा उससे प्राप्त सूचना के आधार पर कार्य करता है। डा० दे के अनुसार "लोककथाओं में कल्पित वस्तुओं और जादू के प्रति सामान्य जनों के विश्वास की अभिव्यक्ति होती है। उनमें साहस-प्रेमी रोमांटिक राजकुमारों व मायालोक की राजकुमारियों की कथाओं का समावेश रहता है।"[2]

लोककथाओं में कभी-कभी नायक के सहायक अचेतन जादुई पदार्थ होते हैं, जैसे जादू की अंगूठी, घोड़ा, रथ, खड्ग, पादुका, प्याला, जलयान तथा अदृश्यता प्रदान करने वाला आवरण-वस्त्र आदि। उसमें नायक के प्रतिपक्षी के रूप में राक्षस, दैत्य, जिन, भूत-प्रेत, पिशाच, जादूगर, तांत्रिक आदि अतिप्राकृत शक्तियों से युक्त प्राणियों की योजना की जाती है। अनेक बाधाओं के होने पर भी नायक इन राक्षस आदि विरोधियों को पराभूत कर अपने उद्देश्य में सफलता पाने में समर्थ होता है। लोककथायें नियमेन सुखान्त होती हैं और उनकी सुखान्तता में अतिप्राकृत शक्तियां

1 श्री कैलाशचन्द्र शर्मा साहित्यिक कथानक अभिप्राय अथवा कथानक-रूढ़ियां (विश्वभारती पत्रिका, खंड 8, अंक 2, पृ० 175)

2 हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ० 85

का विशिष्ट योगदान रहता है। इन अतिप्राकृत सहायकों के कारण नायक के व्यक्तित्व की श्रीवृद्धि होती है। कभी-कभी नायक को किसी विशेष सकट से बचाने के लिए देवी-देवता साक्षात् उपस्थित होकर सीधा हस्तक्षेप करते हैं।

लोककथाओं में अद्भुत वस्तु-व्यापारों की योजना द्वारा कथाप्रवाह को चमत्कारपूर्ण बनाया जाता है। इस उद्देश्य के लिए आकाशगमन, रूप-परिवर्तन, लोकान्तर-गमन, माया, जादू, तंत्र-मंत्र आदि का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार उनमें मानव-कल्पना का अबाध विलास देखने को मिलता है। लोककथाओं में लोक-विश्वासों का भी अनेक रूपों में चित्रण पाया जाता है। इन विश्वासों में शकुन, भाग्य, दैव या कर्म की मान्यता तथा भूत-प्रेत, जादू-टोना, तंत्र-मंत्र आदि के प्रति जन साधारण में प्रचलित धारणायें सम्मिलित हैं। यद्यपि लोककथाओं का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है लेकिन इनके अनेक तत्त्व शिष्ट साहित्य में भी सक्रान्त हो गये हैं। उसमें पाये जाने वाले अनेक अभिप्रायों का मूल स्रोत लोककथाएं ही हैं।

लोककथा और संस्कृत नाटक भारतीय साहित्य में लोककथाओं का सबसे बड़ा संग्रह गुणाढ्यकृत बृहत्कथा थी जो पैशाची प्राकृत में लिखी गई थी। मूल बृहत्कथा तो अब लुप्त हो चुकी है पर उसके तीन संस्कृत संस्करण या रूपान्तर उपलब्ध होते हैं। इनमें से बुधस्वामी (लगभग ८०० ई०) का बृहत्कथाश्लोकसंग्रह अपूर्ण रूप में प्राप्त हुआ है। क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी (१०३७ ई०) व सोमदेव का कथासरित्सागर (१०६३–१०८१ ई०) मूल बृहत्कथा के कश्मीरी संस्करण पर आधारित माने जाते हैं।[1] इनमें से बृहत्कथामंजरी में अतिसंक्षेप के कारण कथाएं प्राय अस्पष्ट रह गई हैं, पर कथासरित्सागर अतीव रोचक व प्राजल शैली में प्रणीत है तथा लोककथाओं का सम्भवत सबसे बड़ा उपलब्ध भंडार है। इसका नायक राजकुमार नरवाहनदत्त विद्याधर मानसवेग द्वारा अपहृत अपनी पत्नी मदनमंचुका की खोज में घर से निकल पड़ता है और मार्ग में अनेक साहसकर्म करते हुए कितनी ही राजकुमारियों व दिव्य स्त्रियों से विवाह कर अन्त में मदनमंचुका को तथा विद्याधरों के चक्रवर्तित्व को पाने में सफल होता है। इस मुख्य कथा के साथ न जाने कितनी छोटी-बड़ी अन्य कथाएं जोड़ दी गई हैं जिससे मूल कथा की धारा बार-बार अवरुद्ध होती है। ये कथाएं तथा इनके पात्र मानवलोक तक सीमित नहीं हैं अपितु उनके परिवेश में विभिन्न लोक व उनके अतिप्राकृत प्राणी अन्तर्भूत हैं। इनके विषय में कीथ का यह कथन द्रष्टव्य है—"देवतागण और भूत-पिशाचादि खुले रूप में सामान्य मानव-जीवन के सम्पर्क में आते हैं, आपातत मनुष्यरूपधारी

1 दे० विंटरनित्ज हिस्ट्री आव इण्डियन लिट्रेचर, खंड 3, भाग 1, पृ० 352

असख्यात व्यक्ति केवल शापवश स्वर्ग मे निकाले हुए जीव हैं जो किसी क्रूर अथवा कारुणिक कर्म द्वारा ही अपनी स्थिति मे पुन पहुचाये जा सकते है।"[1]

पेजर ने कथासरित्सागर मे आये अतिप्राकृत प्राणियो मे इनकी गणना की है[2] —अप्सरा, असुर, भूत, दैत्य, दानव, दस्यु, गण, गन्धर्व, गुह्यक, किन्नर, कुम्भाण्ड, कूष्माण्ड, नाग, पिशाच, राक्षस, सिद्ध, वेताल, विद्याधर तथा यक्ष। संस्कृत नाटको मे इनमें से कुछ जैसे अप्सरा, गन्धर्व, विद्याधर, सिद्ध, नाग, असुर, राक्षस, दानव, भूत, पिशाच आदि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पात्रो के रूप मे आये है।

ऊपर हमने लोककथाओ के सामान्य विवेचन मे जिन अतिप्राकृत अभिप्रायो का उल्लेख किया वे सब तथा वैसे ही अनेकानेक अभिप्राय बृहत्कथामजरी, कथासरित्सागर आदि की कथाओं मे आये हैं।[3] हम आगे देखेंगे कि संस्कृत नाटको मे प्रयुक्त अनेक अतिप्राकृत अभिप्राय लोककथाओ से गृहीत है।

जिस प्रकार रामायण और महाभारत भारतीय कवियो के चिरन्तन उपजीव्य रहे है, उसी प्रकार बृहत्कथा भी। संस्कृत नाटककारो ने उदयन व वासवदत्ता की रूमानी प्रेमकथा तथा अन्य कितनी ही स्त्रियों के साथ उदयन के प्रेम-प्रसगो को आधार बना कर अनेक नाटक-नाटिकाए प्रस्तुत की है।[4] भास का अविमारक व चारुदत्त भी सभवत बृहत्कथा पर आधारित हैं, यद्यपि इस विषय मे निश्चयेन कुछ नही कहा जा सकता। संस्कृत नाटक अपनी कथाओ के लिए ही नही, अनेक कथानकरूढियो या अभिप्रायो के लिए भी बृहत्कथा या लोककथाओ के अन्य स्रोतो का ऋणी है।

---

1 दे0 कीथ संस्कृत साहित्य का इतिहास (डा0 मगलदेवशास्त्री-कृत हिन्दी रूपान्तर) पृ0 354

2 दि ओशन आव स्टोरी भाग 1 प्रथम परिशिष्ट, पृ0 197

3 पेजर द्वारा वर्णित कथासरित्सागर के अभिप्रायो मे से कुछ अतिप्राकृतिक अभिप्राय भी हैं, जैसे सत्यक्रिया, जादू की वस्तुए, अतिप्राकृत जन्म, परकायप्रवेश, निषिद्ध भवन, लिंगपरिवर्तन, मायायुद्ध या रूपान्तरग्रहण शरीरबाह्य आत्मा आदि। दे0 दि ओशन आव् स्टोरीज, खड 10 परिशिष्ट 3, पृ0 38–41

4 इनमे से कुछ ये हैं—भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण व स्वप्नवासवदत्त, हर्ष की प्रियदर्शिका व रत्नावली अनगहर्ष का तापसवत्सराज, वीणावासवदत्त (अज्ञातकर्तृक) शूद्रक का अभिसारिकावचितक (अब अप्राप्य)

साहित्य और अतिप्राकृत तत्त्व

साहित्य केवल शब्द व अर्थ के सहभाव[1] का नाम नही है, उसके पीछे समाज व संस्कृति की तथा उनसे अनुप्राणित जीवनानुभूतियो की महती पृष्ठभूमि रहती है। कोई भी साहित्य शून्य मे जन्म नही लेता, न यह कहना ही ठीक है कि वह साहित्यकार की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति होता है। यदि ऐसा होता तो वह व्यक्ति की ही सृष्टि बन कर रह जाता, उसका समष्टि द्वारा रसास्वादन व अभिशसन सम्भव नही होता।

हमारे उक्त कथन का आशय यही है कि साहित्य एक निश्चित सामाजिक और सास्कृतिक परिवेश व पृष्ठभूमि मे जन्म लेता है और उनकी अनेक विशेषताओ को अपने मे आत्मसात् किये रहता है। प्रत्येक लेखक एक स्वतन्त्र व्यक्ति होते हुए भी किसी सीमा तक अपनी संस्कृति की सवमान्य विचारणाओ, विश्वासो और अभिनिवेशो का भागीदार होता है जो उसकी कृतियो मे किसी न किसी रूप मे अवश्य प्रतिफलित होते हैं। साहित्य और अतिप्राकृत तत्त्वो के सम्बन्ध को हम इसी पृष्ठभूमि मे सम्यक् रूप से समझ सकते हैं।

प्रस्तुत अध्याय मे हम बता चुके हैं कि अतीत युगो मे मानव के धर्म, दर्शन, पुराकथा व लोककथा आदि सास्कृतिक जीवन के विभिन्न अग नानाविध अतिप्राकृत विश्वासो से परिपुष्ट रहे हैं। ये विश्वास वस्तुत प्राचीन मनुष्य की विश्व-दृष्टि तथा सृष्टि की दैवी शक्तियो के साथ अपने सम्बन्धो के अन्वेषण व अवधारण की पद्धतिया है। ये पद्धतिया मानव-ज्ञान के विकास की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियो मे अस्तित्व म आती हैं और जब तक वे परिस्थितिया रहती हैं उनके सम्बद्ध पद्धतिया भी किसी न किसी रूप मे जीवित रहती हैं तथा उनके गुणात्मक परिवर्तन के साथ उनमे भी परिवतन हो जाता है। वे मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के विभिन्न पक्षो के साथ-साथ साहित्य, कला आदि उसके सास्कृतिक अध्यवसायो मे भी निरन्तर अभिव्यजित होती हैं। इन अवधारणा-पद्धतियो के रूढ हो जाने पर साहित्य मे उनकी अभिव्यक्तिया भी रूढ व पारस्परिक हो जाती हैं। कोई साहित्य जिस समाज और युग मे रचा जाता है उसकी सास्कृतिक परम्पराओ और वैचारिक उपलब्धियो से वह स्वय को मुक्त नही रख सकता। पिछली दो शताब्दियो मे विज्ञान की अभूतपूव प्रगति से पहले तक ससार के सभी भागो मे मानव-चिन्तन के

---

1 शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।
काव्यमीमासा, द्वितीय अध्याय

साहित्यमनयो शोभाशालिता प्रति काऽप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति ॥
वक्रोक्तिजीवित, 1 17

विभिन्न क्षेत्र अतिप्राकृतवादी धारणाओं से अनुप्राणित थे। अत यह स्वाभाविक ही है कि उस काल मे प्रणीत साहित्य के विभिन्न रूपो मे भी इन धारणाओ की विविध सौंदर्यमयी अभिव्यक्तिया हुई हो। पूर्व और पश्चिम दोनो की साहित्य-परम्पराओ में आरम्भ से ही अतिप्राकृत तत्त्वो के प्रयोग की एक अविच्छिन्न धारा देखी जा सकती है। जसे-जैसे हम वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि से युक्त आधुनिक युग की ओर चरण बढाते है, वैसे-वैसे ही साहित्य मे अतिप्राकृत विश्वासो की योजना क्रमश अल्प होती जाती है और आज बीसवी शती के साहित्य मे इन तत्त्वो का या तो अभाव है या मात्र प्रतीकात्मक प्रयोग शेष रह गया है।

साहित्य के इतिहास के अवलोकन से विदित होता है कि उसका जन्म धर्म व पौराणिक विश्वासो के क्रोड से हुआ है। आराध्य देवो की प्रसन्नता के लिए आयोजित आदिम धार्मिक अनुष्ठानो से नृत्य व नाट्य जैसी कलाओ का आविर्भाव हुआ।[1] मानव जाति के प्रारंभिक काव्य दैवी शक्तियो की स्तुतियो के रूप में अस्तित्व मे आये। उनमे इष्ट देवता के स्वरूप, उनकी शक्तियो तथा आराधको के साथ विविध सम्बन्धो का चित्रण किया गया। परवर्ती काल मे लौकिक वीरो और महापुरुषो के लोकप्रचलित आख्यानो को लेकर राष्ट्रीय काव्यो की सृष्टि की गई। मूलत मानव होते हुए भी ये वीर नायक देवो से उद्भूत माने गये और अनेक प्रकार की अतिमानवीय शक्तियो की उनमें कल्पना की गई।[2] ऐसा इसलिए हुआ कि लौकिक वीरो की गाथाए धार्मिक व पौराणिक कल्पनाओ से रंजित हो गई। यही कारण है कि वे हमे मानव होते हुए भी अतिमानव कोटि के प्राणी लगते हैं। भारत मे रामायण व महाभारत के तथा यूनान मे 'इलियड' व 'ओडेसी' के वीर नायक व अन्य प्रधान पात्र इसी प्रकार के हैं। धर्म के विकास की परवर्ती अवस्थाओ मे नाना धर्म मतो व सम्प्रदायो का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अपनी-अपनी धार्मिक व दार्शनिक मान्यताओ का प्रतिपादन किया। उन्होंने अपने इष्ट देवो के सम्बन्ध में नाना प्रकार के कथा, आख्यान आदि बनायें जो पौराणिक कथाओ के रूप मे मिलते हैं। उक्त राष्ट्रीय महाकाव्यो तथा पौराणिक आख्यानो मे प्रतिपादित धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक, आध्यात्मिक व सामाजिक आदर्शो के द्वारा समाज मे एक समग्र सांस्कृतिक व्यवस्था व जीवन मूल्यो का निर्माण हुआ जिनका प्रभाव साहित्य पर भी पडा। कवियो ने इन राष्ट्रीय काव्यो व पौराणिक आख्यानो से कथायें, पात्र और सांस्कृतिक मूल्यो

---

1 यूनान मे ट्रैजेडी का उद्भव 'दियोनिसस' नामक देवता के उपलक्ष्य मे आयोजित उत्सव से माना जाता है भारतीय नाटक के उद्भव के विषय म भी इस प्रकार की मान्यता प्रकट की गई है। द० विटरनित्स हिस्ट्री आव इण्डियन लिट्रेचर, खण्ड 3, भाग 1, पृ० 183–184

2 वाल्मीकि रामायण मे राम विष्णु के अवतार कहे गये हैं तथा महाभारत के पाडवो की दवी उत्पत्ति की कथा प्रसिद्ध है।

को ग्रहण कर तथा अपनी रसात्मक चेतना मे उन्हे रचा-पचाकर काव्य के नये-नये रूपो को जन्म दिया। इसी प्रक्रिया मे महाकाव्य, नाटक, कथासाहित्य, गद्यकाव्य आदि अस्तित्व मे आये। चूंकि इनके निर्माण की प्रेरणा व सामग्री अतीत के धार्मिक व पौराणिक साहित्य से ली गई थी, इनमे भी उन्ही के समान अलौकिक पात्र व घटनाओ की योजना की गई। दूसरी ओर लोकसाहित्य की परम्परा से जो रूमानी व अद्भुत कथा-कहानिया, चरित्र, कथानक-रूढिया व लोकविश्वास शिष्ट साहित्य मे ग्रहण किये गये, उन्होंने भी अतिप्राकृत तत्त्वो की परम्परा को अक्षुण्ण रखा। जब तक समाज मे लोकप्रिय पौराणिक धर्म-दर्शन के अलौकिक विश्वास जीवन्त रहे तब तक उनसे प्रेरित व अनुप्राणित साहित्य मे भी उनकी निर्बाध अभिव्यक्ति होती रही।

यह उल्लेखनीय है कि साहित्य मे अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग धार्मिक व पौराणिक आस्थाओ की अभिव्यक्ति मात्र नही है अपितु कवियो ने उनका कलात्मक उद्देश्यो की दृष्टि से भी संयोजन किया है। कही वे कथानक के विकास की विभिन्न अवस्थाओ मे वैचित्र्य और कौतूहल का आधान करते हैं, कही पात्रो के मानवीय गुणो को अतिरंजित कर उन्हे अधिक प्रभावशाली बनाते हैं, तो कही सास्कृतिक मूल्यो को चामत्कारिक रीति मे रेखाकित करते हैं। कभी वे कृति की आतरिक सरचना के अविभाज्य अग बन कर प्रकट होते हैं, तो कभी उनका स्थान बाह्य व गौण होता है। अनेक स्थलो पर उनका विनियोग किन्ही तथ्यो की सूचना मात्र देने के लिए किया जाता है। कही वे लेखक की सज्ञान व सोद्देश्य कला के अग होते हैं तो कही उनका प्रयोग मात्र अलकरण के रूप मे पाया जाता है। कभी उनके विधान मे कवि की मौलिक सूझबूझ व सवेदनशील दृष्टि झलकती है, तो कहीं वे साहित्यिक रूढियो से अधिक नहीं होते। कही वे सृष्टि व मानव जीवन को सचालित करने वाली निगूढ शक्तियो का सकेत देते हैं तो कही मनुष्य और दैवी शक्तियो के बहुविध सम्बन्धो को अभिव्यक्त करते हैं। ये अतिप्राकृत तत्त्व यो तो काव्य के प्राय सभी रूपो मे मिलते हैं, पर नाटको मे उनका प्रयोग अधिक जीवन्त व प्रभावशाली रूप मे हुआ है।

सस्कृत नाटको में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है —

(क) अतिप्राकृत घटना, प्रसग, वस्तु, विश्वास आदि —

१ शाप और वरदान
२ देवता का नियम
३ ईश्वरीय विभूतिया व चमत्कार
४ दैवी अनुग्रह, हस्तक्षेप, साहाय्य, अभिनन्दन आदि
५ रूपपरिवर्तन
६ परकाय-प्रवेश
७ अदृश्यता

८ दिव्यलोक व स्थान
९ आकाशगमन व लोकलोकान्तरो के बीच आवागमन
१० दिव्य वाहन—विमान, रथ आदि
११ विद्याए—तिरस्करिणी विद्या, शिखावधनी विद्या, जलस्तम्भनी विद्या व दिव्यास्त्र विद्या आदि
१२ योगसाधना व तपस्या से प्राप्त सिद्धिया, जैसे भूत व भविष्य का ज्ञान, दूरवर्ती घटनाओ का ज्ञान, सिद्धादेश, मानसी सिद्धि, आवर्जिणी सिद्धि, योग-दृष्टि, प्रणिधान व ध्यान की शक्ति आदि
१३ तत्र-मत्र, माया, मायापाश, इन्द्रजाल आदि
१४ आकाशवाणी, अशरीरिणी वाणी व अमानुषीवाक्
१५ पुनरुज्जीवन
१६ अद्भुत प्रभाव से युक्त वस्तुए—अगुलीय, मणि, खड्ग, कटक, अस्त्र आदि
१७ सत्य व पातिव्रत का अलौकिक प्रभाव
१८ स्वप्न मे दैवी निर्देश
१९ शकुनो द्वारा भावी शुभाशुभ की सूचना
२० मानव जीवन मे कर्म, भाग्य, विधि, दैव, नियति, भवितव्यता आदि की निगूढ भूमिका
२१ मृत्युकालीन आभास
२२ दोहद वृक्षो मे पुष्पोद्गम की अप्राकृतिक प्रक्रिया
२३ कतिपय अन्य विश्वास

(ख) अतिप्राकृत पात्र —

१ अवतार—राम व कृष्ण
२ दिव्य पात्र—महेन्द्र, मातलि, धर्मराज, गौरी, लक्ष्मी, कात्यायनी व उसका परिवार आदि
३ अवर देवता—अप्सरा, गन्धर्व, विद्याधर, यक्ष, किन्नर, सिद्ध, नाग, चारण आदि
४ अर्धदिव्य—पुरूरवा, शकुन्तला आदि
५ आसुरी व पैशाची शक्तिया—असुर, दानव, दैत्य, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि
६ दिव्य ऋषि—मारीच, नारद, भरत, वसिष्ठ आदि
७ मानव ऋषि—वाल्मीकि, विश्वामित्र आदि
८ अलौकिक शक्ति-सम्पन्न राजा—दुष्यन्त, दशरथ आदि
९ योगी, योगिनी, तान्त्रिक, कापालिक आदि

१० दैवीकृत प्राकृतिक पात्र (अ) नदीदेवता (आ) वनदेवता
(इ) पृथ्वीदेवता (ई) समुद्रदेवता

११ प्रतीक पात्र—ऋषि का शाप, चाडाल कन्यायें, राजश्री, नगरिया, विद्याए, आयुध आदि

संस्कृत नाटको मे प्रयुक्त इन अतिप्राकृत तत्त्वो के स्रोत, स्वरूप, भूमिका व महत्त्व का विस्तृत विवेचन व मूल्याकन हम आगे के अध्यायो मे करेंगे, इसलिए उनका यहा दिङ्निर्देश मात्र किया गया है।

साहित्य मे—विशेषत नाटक मे—अतिप्राकृत तत्त्वो के प्रयोग को लेकर एक मूलभूत प्रश्न की ओर सकेत करना यहा उचित होगा। वह प्रश्न यह है कि जो साहित्य मानव-व्यापारो मे अतिप्राकृतिक शक्तियो के हस्तक्षेप या किसी भी अन्य प्रकार की भूमिका को स्वीकृति देता है उसमे मानव के स्वातत्र्य व कर्तृत्व के लिए क्या स्थान होगा? क्या इससे उसका महत्त्व घटेगा नही? क्या वह दैवी शक्तियो के हाथो का खिलौना नही रह जायेगा? इस विषय मे यह ध्यातव्य है कि अतिप्राकृत तत्त्वों को मानव कार्यों मे महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी हमारे नाटककारो की दृष्टि अन्तत मानव पर ही केन्द्रित रही है। मानवचरित्र व उसकी अन्तर्वृत्तियो का सौन्दर्यमय चित्रण ही उनका मुख्य लक्ष्य है। यह इसी से स्पष्ट है कि हमारे साहित्य मे अतिप्राकृतिक पात्र शील व स्वभाव की दृष्टि से मनुष्य ही है, उनका केवल वाह्य व्यक्तित्व व परिच्छद ही अतिमानवीय है, अन्य दृष्टियो मे वे मानव-चरित्र की सम्भावनाओ का अतिक्रमण नही करते। इनके कारण नाटककार की दृष्टि मनुष्य और उसके लौकिक लक्ष्यो से हटी नही है। सस्कृत नाटक मे नायक की फलप्राप्ति—शत्रु पर विजय, राज्यलाभ, स्त्रीलाभ आदि—लौकिक लक्ष्यो मे ही सम्बन्ध रखती है। अतिप्राकृत तत्त्व प्राय इन लक्ष्यो की प्राप्ति के साधन या सहायक के रूप मे ही प्रयुक्त हुए है। अत यह भ्रम नही होना चाहिए कि इन तत्त्वो के कारण सस्कृत नाटक मे मानव के महत्त्व का कोई वास्तविक अपकर्ष हुआ है।

इस प्रश्न पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार अपेक्षित है। सस्कृत नाटक धार्मिक व पौराणिक कल्पनाओ की जिस पृष्ठभूमि मे लिखे गये हैं उसमे इस प्रकार का प्रश्न बहुत-कुछ निरर्थक हो जाता है। हम पहले बता चुके है कि सस्कृत नाटक मे अतिप्राकृत शक्तिया मनुष्य की प्रतियोगी के रूप चित्रित नही हैं, उनमे न यही माना गया है कि मनुष्य शेष सृष्टि से, जिसमे देवता, पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति आदि सभी हैं, किसी भी भाति विलग है। वस्तुत वह इन सबके साथ नानाविध रागात्मक सम्बन्धो मे बधा है। उसे उनकी आवश्यकता है और उन्हें उसकी। वे एक दूसरे के पूरक, सहयोगी और बधु है। अत यह स्वाभाविक ही है कि मानव के कार्य कलापो

मे दैवी शक्तिया रुचि ले और उनसे भी आगे बढकर उसके सुख-दुखों मे भागीदार हों। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल मे इस जीवन-दर्शन की बडी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। यद्यपि कभी-कभी यह लगता है कि सस्कृत नाटक मे मनुष्य दैवी शक्तियो के बिना असहाय है, वह अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए उन पर अत्यधिक निर्भर है तथा वे अदृश्य रूप मे उसका जीवन-सूत्र थामे हुए हैं, पर विचार करने पर प्रतीत होता है कि वास्तविक स्थिति ऐसी नही है यह तो ठीक है कि देवता लोग उससे अधिक शक्तिशाली और उपकारक्षम हैं पर मनुष्य भी तो देवताओं के काम आने की सामर्थ्य रखता है। कालिदास के पुरूरवा और दुष्यन्त ऐसे ही मानव चरित्र हैं।

सस्कृत नाटक पर यह आरोप लगाया जाता है कि अतिप्राकृत तत्त्वो के प्रयाग व जीवन के प्रति नीतिवादी दृष्टिकोण के कारण उसमे जीवन की यथार्थता की उपेक्षा हुई है। साथ ही यह भी कहा गया है कि उसमे जीवन के दुखान्त पक्षो की ओर भी ध्यान नही दिया गया।[1] यह ठीक है कि सस्कृत नाटककार नाटकीय कथा को सदैव आनन्दमयी व मगलमयी परिणति पर पहुचाता है, पर इसका अर्थ यह कदापि नही है कि वह जीवन के कष्टप्रद व क्लेशदायक पक्षो का स्पर्श नही करता। वस्तुत सस्कृत नाटक मे ऐसे पक्षो के चित्रण का अभाव नही है, फिर भी यह सत्य है कि पाश्चात्य नाटक के समान उसमे जीवन के उद्दाम सघर्षमय रूप के चित्रण को लक्ष्य नही माना गया। उसका ध्येय तो जीवन मे प्रशान्ति, स्थैर्य, आनन्द और मगल का विधान है जो हमारे सास्कृतिक लक्ष्य है। यही कारण है कि सस्कृत नाटककार अपने नायक को बडी से बडी विपत्ति और सघर्ष मे से निकाल कर उक्त लक्ष्य पर पहुचा देता है। इस प्रक्रिया मे यदि मृत्यु को भी जीवन मे बदलना पडे तो भी वह हिचकिचाता नही।[2] भारतीय व पाश्चात्य नाटकों की मूलभूत जीवन-दृष्टि के इस अन्तर के विषय मे हेनरी डवल्यू० वेल्स का निम्न कथन द्रष्टव्य है—

'पश्चिम का रगमच (नाटक) मानवता को उसके सघर्षरत रूप मे आलिखित करता है और पूर्व का उसके प्रशान्तिमय रूप मे। यदि वस्तु-दृष्टि से विचार किया जाये तो प्रतीत होगा कि दोनों क्षेत्रो के नाटक मानव-प्रकृति के विषय मे प्राय एक से तथ्यों का विवरण देते हैं किन्तु उन्हे मूलत भिन्न प्रकार की व्याख्याओं का विषय बनाते है।"[3] इससे स्पष्ट है कि सस्कृत नाटक मे अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग तथा उसकी आदर्शवादी सुखान्त-प्रवृत्ति सस्कृत नाटककार की सास्कृतिक जीवन-दृष्टि के

---

1 दे0 कीथ सस्कृत ड्रामा, पृ0 160

2 इस के नागानन्द मे मृत जीमूतवाहन तथा अस्थिशेष नागो का पुनर्जीवित कर नाटक को सुखान्त बनाया है।

3 क्लासिकल ड्रामा आव् इडिया, पृ0 9

आ है और ये सभवत उसकी प्रतिभा की सीमाए नहीं हैं अपितु उन धार्मिक, पौराणिक, आध्यात्मिक व नैतिक आग्रहों की सीमाए हैं जिन्हें अपनाना सभवत: उसके लिए अनिवार्य था।

अब तक हमने अतिप्राकृत तत्त्वो के स्वरूप, वैचारिक आधार एव धर्म, दर्शन, पुराकथा, लोककथा व साहित्य में इनके विविध पक्षो की अभिव्यक्ति पर सामान्य रूप से तथा सस्कृत नाटक के विशिष्ट सदर्भ मे प्रकाश डाला। अब अगले अध्याय मे हम इन तत्त्वो की नाट्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि पर विचार करेंगे।

---

२ | अतिप्राकृत तत्त्व : नाट्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि

नाट्य का स्वरूप

भारतीय परम्परा में काव्य के दो रूप—श्रव्य और दृश्य—मान्य रहे हैं। इनमें से दृश्य काव्य को नाट्य या रूपक भी कहते हैं। आजकल इसके लिए नाटक शब्द अधिक प्रचलित है, जबकि संस्कृत-परम्परा में 'नाटक' रूपक का एक भेदमात्र माना गया है। श्रव्य काव्य में वृत्त-कथन व वर्णन का प्राधान्य रहता है, व दृश्य काव्य में अभिनय का। इसी दृष्टि से कालिदास ने नाट्यशास्त्र को प्रयोगप्रधान कहा है।[1] भरत मुनि के अनुसार नाट्य लोकवृत्त का अनुकरण है जिसमें नाना भावों व अवस्थाओं का समावेश रहता है।[2] उनके मत में सुख-दुःख से समन्वित लोकस्वभाव का चतुर्विध अभिनय द्वारा साक्षात् प्रदर्शन नाट्य का स्वरूप है।[3] कालिदास की दृष्टि में नाट्य देवों का शान्त चाक्षुष यज्ञ है जिसमें त्रैगुण्य से उद्भूत नाना रसात्मक लोक-चरित का प्रत्यक्ष दर्शन होता है।[4] धनञ्जय ने भरत का अनुसरण करते हुए नाट्य को अवस्थाओं की अनुकृति माना है।[5]

श्रव्य काव्य के समान दृश्य काव्य का भी प्रयोजन सहृदयों को रसानुभूति कराना है, पर दोनों की पद्धतियों में अन्तर है। प्रथम वर्णनात्मक है और द्वितीय

---

1 प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्। माल० 1, पृ० 24

2 नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥ —ना० शा० 1 112.

3 योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते॥ वही 1 121

4 माल० 1 4

5 अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। द० रू० 1 7

साक्षात् प्रदर्शनात्मक ।[1] श्रव्य काव्य मे पाठक को वस्तु, नेता, वेषभूषा, वातावरण आदि की कल्पना करनी पडती है, पर नाट्य मे यह सामग्री रगमच पर साक्षात् प्रस्तुत की जाती है। इस प्रत्यक्षगोचरता के कारण ही नाटक सभी देशो व कालो मे सबसे अधिक लोकप्रिय काव्यरूप रहा है[2] तथा साहित्य का रमणीयतम प्रकार व कवित्व की चरम सीमा माना गया है।[3] वस्तुत नाट्य केवल काव्य नही, नृत्य, सगीत, चित्र, मूर्ति आदि नाना कलाओ, शिल्पो व विद्याओ की समागम-भूमि है।[4]

नाट्य का दूसरा नाम 'रूप' या 'रूपक' भी है। वह दृश्य होने के कारण 'रूप' तथा आरोप के कारण 'रूपक' कहा जाता है।[5] विश्वनाथ के मत मे नट पर रामादि के रूप का आरोप किया जाता है इसलिये उसकी रूपक सज्ञा है।[6] धनिक के अनुसार नाट्य, रूप और रूपक शब्द इन्द्र, पुरन्दर व शक्र के समान एकार्थी हैं।[7]

नाट्य की व्यापक विषयवस्तु का निर्देश करते हुए भरत ने कहा है —

देवानामसुराणा च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्।
ब्रह्मर्षीणा च विज्ञेय नाट्य वृत्तान्तदर्शकम्॥

ना० शा० १ ११८

इससे स्पष्ट है कि 'लोकवृत्तानुकरण नाट्यम्' इस परिभाषा मे भरत की लोकसम्बन्धी धारणा केवल मर्त्यलोक व उसके प्राणियो तक सीमित नही है अपितु उसमे देवो व असुरो जैसे अतिमानवीय प्राणियो का भी अन्तर्भाव है। ब्रह्मा के शब्दो मे—'नाट्य मे केवल असुरो या देवो का अनुभावन नही है, अपितु वह समस्त त्रैलोक्य के भावो का अनुकीर्तन है।[8] वह असुरो व देवो के शुभाशुभ का बोधक, उनके कर्म, भाव व वश का परिचायक तथा सातो द्वीपो का अनुकरण है।[9] ऐसा

---

1 कविव्यापारो हि विभावादिसयोजनात्मा तच्चाभिनयानभिनेयार्थत्वेन द्विविधम्। तत्राद्य वर्णनात्मकम्। अपर पुन अनुकारक्रमेण साक्षात प््रदर्शनात्मकम्। व्यक्तिविवेक, 1 पृ0 95-96

2 नाट्य भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येक समाराधनम्। माल0 1 4

3 काव्येषु नाटक रम्यम, सन्दर्भेषु दशरूपक श्रेय (काव्या0 सू0 वृ0 1 3 30), नाटकान्त कवित्वम।

4 ना0 शा0 1 116

5 रूप दृश्यतयोच्यते। रूपक तत्समारोपात्। द0 रू0 1 7

6 सा0 द0 6 1

7 "कस्मिन्" प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्र पुरन्दर शक्र' इतिवत्प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदा दर्शित। द0 रू0 1 7 पर अवलोक।

8 ना0 शा0 1 107

9 वही 1 106 117

कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग व कर्म नहीं जिसका नाट्य मे समावेश न हो।"[1] नाट्यशास्त्र के ये कथन संस्कृत नाटक के उस व्यापक स्वरूप के दिग्दर्शक हैं जिसमें सदा से ही दिव्य व मर्त्य तथा लौकिक व अलौकिक का सहभाव रहा है।

भारतीय परम्परा मे नाटक मनोरंजन का ही साधन नहीं है अपितु उसका लक्ष्य मानव को लौकिक, धार्मिक व आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से उन्नीत करना है।[2] यह आदर्शवादी विचारधारा संस्कृत नाटक की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है तथा उसकी ऐकान्तिक सुखान्तता का आधार है।

नाट्य का उद्भव

संस्कृत नाटक का उद्भव कब और किन परिस्थितियों मे हुआ तथा उसकी स्वरूप-निष्पत्ति मे किन तत्त्वों की प्रमुख भूमिका रही, ये प्रश्न अतीव विवादास्पद रहे हैं। संस्कृत के जो सबसे पुराने नाटक उपलब्ध हुए हैं वे ई० प्रथम शती मे रचित अश्वघोष की कृतियां हैं, जिनमें नाट्य-शिल्प पर्याप्त विकसित रूप में प्रकट हुआ है। भरत का नाट्यशास्त्र जो वर्तमान रूप में ई० द्वितीय या तृतीय शती की कृति माना गया है[3] नाटक की एक दीर्घ व समृद्ध परम्परा की ओर इंगित करता है,[4] किन्तु दुर्भाग्य से वह पूर्णतया लुप्त हो चुकी है। ऐसी स्थिति में संस्कृत नाटक की उत्पत्ति व प्रारम्भिक स्थिति के बारे में जानना और भी कठिन हो गया है। इस विषय मे विद्वानों ने परस्पर विरोधी अनेक मत प्रस्तुत किये हैं जो समस्या को सुलझाने की अपेक्षा और अधिक उलझा देते हैं।

स्वयं नाट्यशास्त्र के साक्ष्य के अनुसार नाटक की उत्पत्ति त्रेता युग के प्रारम्भ मे स्वर्ग में हुई। इन्द्र व अन्य देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर सब वर्णों के लिये उपयोगी तथा इतिहासयुक्त पंचम नाट्यवेद की रचना की।[5] अनन्तर ब्रह्मा के आदेश से भरतमुनि ने स्वर्ग में इन्द्रध्वज पर्व के अवसर पर नाटक का प्रथम अभिनय प्रस्तुत किया जिसमें असुरों पर देवों की विजय दिखायी गई थी। बाद में विश्वकर्मा ने स्वर्ग मे प्रथम नाट्यशाला का निर्माण किया। नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय के अनुसार ब्रह्मा के ही आदेश से भरत ने शिव के समक्ष 'अमृतमन्थन' व

---

1 ना० शा० 1 116
2 वही, 1 114–115
3 कीथ संस्कृत ड्रामा, पृ० 13
4 वही, पृ० 291
5 ना० शा० 1 17, 1 15

'त्रिपुरदाह' नामक समवकार व डिम का अभिनय प्रस्तुत किया।[1] इस प्रयोग से प्रसन्न होकर शिव ने नाट्य के पूर्व-रग की विधि मे ताडव के समावेश की आज्ञा दी और अपने गण तडु से भरत को अगहारो की शिक्षा देने के लिए कहा।[2] नाट्य शास्त्र के ही अनुसार असुर कैटभ से युद्धरत भगवान् विष्णु के अगहारो से ब्रह्मा ने चतुर्विध नाट्य-वृत्तिया ग्रहण की[3] जो देवो के माध्यम से अनन्त भरत को प्राप्त हुई। नाट्यशास्त्र के अतिम अध्याय के अनुसार भरत के पुत्रो ने पृथ्वीलोक मे आकर नाट्य का प्रवनन किया। धनजय के अनुसार नाट्यवेद मे महादेव ने ताडव का व पार्वती न लास्य नृत्य का समावेश किया।[4] शारदातनय के 'भावप्रकाशन' मे भी नाट्य की दिव्य उत्पत्ति की कथा आई है जिसमे ब्रह्मा नन्दिकेश्वर से नाट्यवेद की शिक्षा प्राप्त कर भरतो स 'त्रिपुरदाह' नामक रूपक का अभिनय कराते हैं।[5]

नाटक की दिव्योत्पत्ति का यह सिद्धान्त आज के युग मे किसी भी सुधी को मान्य नही हो सकता, तथापि इसके पौराणिक आवरण मे सभवत नाट्य की उत्पत्ति व प्रारम्भिक दशा के कुछ सकेत छिपे हैं। ब्रह्मा ने चारो वेदो से विभिन्न तत्त्व लेकर नाट्यवेद का निर्माण किया जिससे प्रतीत होता है कि उसका उद्भव चारो वेदो के अस्तित्व मे आने के बाद हुआ। ब्रह्मा ने इतिहासयुक्त नाट्यवेद का निमाण किया जिससे नाट्योत्पत्ति मे इतिहास का विशेष योगदान सूचित होता है। प्रारम्भिक नाटको के कथानक व चरित्र सम्भवत इतिहास अर्थात् परम्परागत आख्यानो से लिये गये थे। स्वर्ग मे अभिनीत प्रथम नाटक तथा 'अमृत-मथन' व त्रिपुरदाह' नामक डिम व समवकार स्पष्टत पौराणिक कथाओ पर आधारित थे। भरत न समवकार को 'देवासुरबीजकृत' कहा है[6] तथा डिम मे भी दिव्य पात्रो का विधान किया है[7] जिससे इन दोनो रूपको का अतिप्राकृत स्वरूप सुस्पष्ट है। अत नाट्यशास्त्र मे सगृहीत परम्परा के आधार पर कहा जा सकता है कि सस्कृत नाटक मे आरम्भ मे ही अतिप्राकृत तत्त्वो का समावेश था।

स्वर्ग मे प्रयुक्त प्रथम नाटक मे असुरो पर देवो की विजय इस बात का द्योतक है कि सस्कृत नाटक मे असद् व सत् शक्तियो के सघर्ष व उसमे सत् की

1 ना० शा० 4 3, 10
2 वही, 4 14, 17
3 वही, 20, 2–14
4 द० रू० 1 4
5 पृ० 55–56
6 ना० शा० 18 63
7 देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च। वही, 18 87

विजय दिखाने की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही रही है। संस्कृत नाटक में दु खान्त कृतियो का अभाव तथा उसकी नैतिक जीवन-दृष्टि इसी प्रवृत्ति की देन है।

नाट्य की दिव्योत्पत्ति की उक्त कथा में पौराणिक हिन्दू धर्म के तीनो प्रमुख देवो का नाट्य को योगदान बताया गया है जिसमे पौराणिक धर्म के साथ उसका निकट सम्बन्ध ज्ञात होता है। हम आगे देखेंगे कि सस्कृत नाटको मे प्रयुक्त अनेक अतिप्राकृत तत्त्व पौराणिक धर्म और उसके विश्वासो की देन हैं।

संस्कृत नाटक की उत्पत्ति के विषय मे यहा कुछ आधुनिक मतो की चर्चा करना भी उचित होगा। अनेक विद्वानो ने ऋग्वेद के सवाद-सूक्तो को नाटक का बीज रूप माना है तथा वैदिक कर्मकाण्ड मे उनका विनियोग मानते हुए उन्हे प्रारंभिक या विकसित वैदिक नाटक कहा है। उदाहरणार्थ, विंटरनित्स ने सवाद-सूक्तो को प्राचीन आख्यान काव्य की सज्ञा दी है तथा उन्हे नाटक और महाकाव्य दोनो का प्रारम्भिक रूप माना है। उनके विचार मे प्राचीन आख्यान-काव्य के साथ सगीत व नृत्य के तत्त्व अनिवार्य रूप से जुडे होते थे तथा उनमे देवो व असुरदेवो की कथाए होती थी जो यज्ञ आदि अवसरो पर सुनायी जाती थी।[1] मैक्समूलर ने इन्द्रमरुत-सवादसूक्त के विषय मे कल्पना की है कि वह या तो यज्ञ के समय मरुतो के सम्मान मे बार-बार दोहराया जाता था या इन्द्र व मरुतो का प्रतिनिधित्व करने वाले दो पृथक् दलो द्वारा अभिनीत होता था।[2] सिल्वा लेवी ने मैक्समूलर की उक्त कल्पना को समर्थन देते हुए वैदिक युग मे नृत्य, सगीत आदि की समृद्ध परम्परा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। उन्होने वैदिक काल मे एन नाटको का अस्तित्व स्वीकार किया जिनमे ऋत्विक् लोग स्वर्गिक घटनाओ के पार्थिव अनुकरण के लिए देवो व ऋषियो की भूमिकाए ग्रहण करते थे।[3] फॉन श्रोडर ने सवाद सूक्तो को वैदिक रहस्य-नाटको का अवशेष बताया जिनकी परम्परा भारत-यूरोपीय युग से ही चली आ रही थी।[4] हर्टेल ने इसी मत को कुछ नये तर्कों के साथ उपस्थित किया।[5] कीथ ने यज्ञानुष्ठान के साथ सवादसूक्तो के सम्बन्ध को अस्वीकार करते हुए उन्हे 'आनुष्ठानिक नाटक' (Ritual Drama) मानने के विरुद्ध अपना मत व्यक्त किया।[6] उन्होंने यह तो स्वीकार किया कि वैदिक युग मे नाटक के सभी तत्त्व—आख्यान, सवाद,

---

1 दे० हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिट्रेचर खण्ड 3, भाग 1 पृ० 180–181

2 दे० कीथ सस्कृत ड्रामा प० 15

3 द० वही पृ० 15–16

4 वही, पृ० 16

5 वही, पृ० 16–17

6 वही, पृ० 18

संगीत, नृत्य, अभिनय, रस आदि विद्यमान थे, पर इन सबके समन्वय से नाटक जैसी वस्तु अस्तित्व मे आयी हो इसका, उनके विचार म, तनिक भी प्रमाण उपलब्ध नही है।[1]

वैदिक युग मे नाटक के अस्तित्व का खडन करते हुए कीथ ने यह मन्तव्य प्रकट किया है—"इसके विपरीत यह विश्वास करने के लिये पर्याप्त कारण हैं कि महाकाव्यो के पाठ के उपयोग से ही नाटक की सुषुप्त सम्भावनायें जागृत हुई तथा साहित्यिक रूप निर्मित हुआ प्रोफेसर ओल्डेनवर्ग ने वस्तुत नाटक के विकास मे महाकाव्य का विशेष महत्त्व स्वीकार किया है, पर यह कहना अधिक उचित होगा कि महाकाव्यो के पाठ के अभाव मे नाटक की उत्पत्ति कदापि सम्भव नही थी।"[2] कीथ ने नाटक की उत्पत्ति मे धर्म को भी उतना ही महत्त्व दिया है जितना महाकाव्यो की विषयवस्तु व पाठ को। वे कहते हैं—"धर्म और नाटक के निकट सम्बन्ध का साक्ष्य निर्णायक है और इस बात का सूचक है कि नाटक के उद्भव की निर्णायक प्रेरणा धम से प्राप्त हुई। निःसन्देह महाकाव्यो का अतीव महत्त्व है, पर उनका पाठमात्र, चाहे वह नाटक के कितना ही निकट हो, सीमान्तो का अतिक्रमण नही करता।[3]" कीथ ने अष्टाध्यायी मे शिलालिन् व कृशाश्व के नटसूत्रो को नृत्य या भावाभिनय से सम्बद्ध माना है, नाटक से नही।[4] उनके विचार मे महाभारत मे नाटक के अस्तित्व का कोई निश्चित प्रमाण नही मिलता[5] तथा रामायण के जिन स्थलो मे नाटक-विषयक उल्लेख आये हैं वे परकालीन प्रक्षिप्त अंश होने के कारण विश्वसनीय नहीं हैं।[6] इसी प्रकार हरिवंश पुराण के साक्ष्य को असदिग्ध मानते हुए भी वे उसे कालिक दृष्टि से महत्त्वहीन समझते है।[7] महाभाष्य मे उल्लिखित 'कंसवध' व 'बलिबन्धन' नामक रूपको के आधार पर कीथ ने संस्कृत नाटक का उद्भव ई० पू० द्वितीय शतक मे माना है तथा उसमे महाकाव्यो के लोकप्रिय पाठ एव कृष्णोपासना की विशेष प्रेरणा स्वीकार की है।[8] कीथ के इस दृष्टिकोण से हम अंशत ही सहमत हो सकते हैं। संस्कृत नाटक की उत्पत्ति मे महाकाव्यो व विष्णु,

---

1 दे० कीथ संस्कृत ड्रामा, पृ० 26–27
2 संस्कृत ड्रामा, पृ० 27
3 वही, पृ० 45
4 वही, पृ० 31
5 वही, पृ० 28
6 वही, पृ० 29
7 वही, पृ० 28
8 वही, पृ० 45

शिव आदि की उपासनाओं के योगदान की बात समीचीन प्रतीत होती है, पर उसका जो उद्भवकाल उन्होंने निर्धारित किया है, वह स्वीकरणीय नहीं हो सकता।

विंटरनित्स ने भी कीथ के समान नाटक की धार्मिक उत्पत्ति स्वीकार की है। उनके अनुसार "समाज की वह दशा जिसमें सभी शताब्दियों में देवों की कथाएं व धार्मिक आख्यान, विशेषत राम व कृष्ण से सम्बद्ध आख्यान कवियों को नाटक के कथानक प्रदान करते रहे और यह तथ्य कि बौद्ध कवि भी बुद्ध के जीवन चरित को नाटकीय रूप देने के लिए प्रवृत्त हुए, नाटक की धार्मिक उत्पत्ति का संकेत देते हैं।"[1] विंटरनित्स का विचार है कि वेदोत्तर युग में नाट्याभिनय का इन्द्रध्वज पर्व तथा विष्णु (कृष्ण व राम) व शिव के पूजा-अनुष्ठानों से सम्बन्ध हो गया।[2] नाट्यशास्त्र में वर्णित पूर्वरंग की विस्तृत विधि भी उनके मत में नाटक की धार्मिक उत्पत्ति की सूचक है।[3] मैक्डानल ने विष्णु-कृष्ण की उपासना से नाटक का विकास प्रतिपादित किया है।[4]

आद्यरंगाचार्य (भूतपूर्व आर० वी० जागीरदार) ने नाटक की धार्मिक उत्पत्ति के मत का खण्डन कर महाकाव्यों के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध पर नूतन प्रकाश डाला है। उनके विचार में नाट्यशास्त्र में वर्णित चतुर्विध वृत्तियां–भारती, सात्वती, कैशिकी व आरभटी महाकाव्यों के पाठ में नाटक के विकास की क्रमिक स्थितियां का प्रतिनिधित्व करती हैं।[5] महाकाव्यों में नाटक को कथानक, चरित्र, कथावर्णन की पद्धति, रस और नीति का समन्वय, मानवजीवन के चित्रण की प्रवृत्ति आदि अनेक तत्त्व प्राप्त हुए।[6] यद्यपि महाकाव्यों ने वैदिक साहित्य की तुलना में मानव-जीवन पर अधिक बल दिया, फिर भी "उनकी कथाएं अब भी कल्पनारंजित थीं, वीर-युग के अतिमानवीय नायक, अर्धदिव्य प्राणी तथा असत् और तामसिकता के प्रतिरूप असुर व राक्षस उनके पात्र थे। वीरयुग का यह अतिप्राकृतिक तत्त्व परवर्ती काव्यों में भी गृहीत हुआ तथा नाटक साहित्य ने भी पर्याप्त सीमा तक उसे अपनाया।"[7] जहां तक संस्कृत नाटक पर महाकाव्यों के प्रभाव का प्रश्न है, हम श्री रंगाचार्य से पूर्णतया सहमत हैं, पर उनका यह विचार कि संस्कृत नाटक की उत्पत्ति पर धर्म का कोई प्रभाव नहीं पडा मान्य प्रतीत नहीं होता।

---

1 पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ0 183
2 वही, पृ0 181
3 वही, पृ0 182
4 ए हिस्ट्री आव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 293
5 ड्रामा इन संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 39
6 वही, अध्याय 2
7 वही, पृ0 15

डॉ० मनमोहन घोष[1] व डॉ० इन्दुशेखर[2] ने भारत मे नृत्य व नाट्य की परम्परा को मूलत आर्येतर जनो – मुख्यत द्राविडो – की देन मानते हुए भी सस्कृत नाटक की स्वरूपसिद्धि में महाकाव्यो के विशिष्ट योगदान पर बल दिया है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रामायण, महाभारत व पुराणो की कथाओ एव उनमें प्रतिपादित विष्णु (राम, कृष्ण), शिव आदि की उपासना-पद्धतियो की सस्कृत नाटक के निर्माण मे निर्णायक भूमिका रही। भारत मे इतिहास-पुराण की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। अथर्ववेद,[3] शतपथ ब्राह्मण[4] व छान्दोग्य उपनिषद्[5] आदि मे इतिहास व पुराण शब्दो का सयुक्त या पृथक् रूप में उल्लेख मिलता है। इससे सिद्ध है कि वीरो, देवताओ, ऋषि-मुनियों तथा सृष्टि आदि से सम्बन्धित कथाएँ भारत मे अतीव प्राचीन काल से लोकप्रिय थी। आगे जाकर रामायण, महाभारत व पुराणग्रन्थो मे इन्ही परम्परागत कथा-आख्यानो का सकलन हुआ। इतिहास व पुराण दोनो का परस्पर निकट सम्बन्ध रहा है। वेद व्यास महाभारत व पुराण-साहित्य दोनो के प्रणेता माने गये है तथा सूत लोमहर्षण व उनका पुत्र उग्रश्रवा या सौति दोनो मे प्रवक्ता के रूप मे आये हैं। महाभारत वैसे तो इतिहास म परिगणित है, पर वह स्वय को पुराण भी कहता है।[6] इसी प्रकार रामायण मे भी अनेक पौराणिक कथाओ का समावेश है। वस्तुत भारतीय परम्परा मे इतिहास व पुराण के बीच सीमारेखा खीचना अतीव दुष्कर है, ये दोनो ही एक-दूसरे मे अन्तर्व्याप्त हो गये है। इनमें वर्णित कथाए आख्यान व उपाख्यान अतिप्राकृतिक तत्त्वो से परिपूर्ण है, इनके पात्र मानव और अतिमानव दोनो प्रकार के है। जो पात्र मानव है उनका स्वरूप भी पूरी तरह लौकिक नही है, वे मानव होते हुए भी लोकोत्तर हैं।

महाकाव्या व पुराणो की नैतिक व धार्मिक चेतना से समस्त परवर्ती साहित्य अनुप्राणित है। अधिकाश कवियों ने इन्ही का उपजीव्य ग्रथो के रूप में उपयोग किया है। भारतीय कवि सदैव आदर्श का उपासक रहा है। वह जीवन के

---

1 द० कान्ट्रीब्यूशन टु दि हिस्ट्री आव दि हिन्दू ड्रामा, पृ० 7

2 उनका यह कथन द्रष्टव्य है— यद्यपि द्राविड व आर्यपूर्व जन नृत्य व नाटक की परम्पराओं के अग्रगामी माने जा सकते हैं, तथापि सस्कृत नाटको ने महाकाव्यो के प्रभाव मे ही निश्चित व मूर्त स्वरूप ग्रहण किया है।' सस्कृत ड्रामा इटस ऑरिजिन एण्ड डिक्लाइन भूमिका पृ० 21

3 11 7 24 व 15 6 10 11

4 11 5 6 8 तथा 13 4 3 12 13

5 7 1 2

6 आदिपर्व, 1 17

क्षुद्र यथार्थ को किसी उदात्त आदर्श की ओर उन्मुख करने के लिये सदा उत्सुक रहता है। वह आदर्श चरित्रों, आदर्श कार्यों व आदर्श विचारों का प्रेमी है। ये आदर्श उसे महाकाव्यों व पुराणों के सिवा इतने उदात्त रूप में अन्यत्र कहाँ मिल सकते हैं? इसीलिये वह बार-बार अपने प्राचीन साहित्य में वर्णित आदर्श महापुरुषों की जीवन गाथाओं की ओर लौटता है तथा अपनी कृतियों में उन्हें उतारकर अपने और समाज के जीवन को उन आदर्शों से अनुप्राणित करने का प्रयत्न करता है। भारतीय काव्य व कलाओं के सभी रूप रामायण, महाभारत व पुराणों की प्रेरणादायी कथाओं व विचारों से ओतप्रोत हैं। अतः कोई आश्चर्य नहीं यदि संस्कृत नाटक का जन्म भी उन्हीं के क्रोड से हुआ हो। नाट्यशास्त्र में वर्णित नाट्योत्पत्ति की कथा संस्कृत साहित्य का साक्ष्य तथा आधुनिक विद्वानों के विचारों से उक्त मन्तव्य की पुष्टि होती है।

रूपक के भेद और अतिप्राकृत तत्त्व

नाट्यशास्त्र के अनुसार रूपक के दस भेद हैं[1]—नाटक, प्रकरण, अंक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग। इनमें से अंक को भरत ने उत्सृष्टिकांक भी कहा है। नाटक और प्रकरण का एक संकीर्ण भेद—नाटिका[2] भी उन्होंने माना है। धनंजय, शारदातनय, सिंग भूपाल व विश्वनाथ ने रूपकों के भेद-निरूपण में भरत का ही अनुसरण किया है।[3] किन्तु हेमचन्द्र ने नाटिका व सट्टक तथा रामचन्द्र व गुणचन्द्र ने नाटिका और प्रकरणी नाम के दो स्वतन्त्र भेदों को स्वीकार कर रूपकों की संख्या बारह कर दी है।[4]

भरत-निरूपित दश रूपकों को विषयवस्तु व पात्रों की दृष्टि से हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—आख्यानपरक और सामाजिक।[5] प्रथम वर्ग में नाटक, समवकार, डिम, व्यायोग, ईहामृग व अंक का समावेश होता है और द्वितीय में प्रकरण, भाण, प्रहसन व वीथी का। प्रथम में परम्परागत तथा लोकविश्रुत कथाओं व पात्रों की योजना की जाती है और द्वितीय में समकालीन सामाजिक जीवन के कुछ चुने हुए रोचक चित्र अंकित किये जाते हैं। आख्यानपरक रूपकों में प्रायः वीर-काव्यों की कथाएं, पौराणिक आख्यान या लोकप्रचलित कथाएं प्रस्तुत की जाती हैं।

---

1 ना० शा० 18 2-3

2 वही, 18 58-60

3 द० रू० 1 8, भा० प्र० 7, पृ० 180 र० सु० 3 3, सा० द० 6 3

4 काव्यानुशासन 8 3, ना० द० 1 3-4

5 डा० राघवन ने इन्हें उदात्त (Heroic) और सामाजिक (Social) नाम दिया है। द्र० 'दि सोशल प्ले इन संस्कृत' पृ० 2

अतिप्राकृतिक तत्त्व परम्परा से इन कथाओ व आख्यानो के अभिन्न अग रहे हैं। यही कारण है कि इन रूपको मे, सामाजिक रूपको की तुलना मे, अतिप्राकृतिक तत्त्वो का प्रयोग अधिक होता है—विशेष रूप से कथा और पात्रो के रूप मे। भरत ने दश रूपको के विवेचन मे मुख्यतया इन्ही रूपको मे अतिप्राकृतिक तत्त्वो की ओर इगित किया है।

नाटक यह रूपक का सबसे महत्त्वपूर्ण व प्रधान भेद है। इसके महत्त्व व प्राधान्य का कारण है इसका सर्वव्यापी स्वरूप जिसमें जीवन और जगत् के सभी भावो, सभी रसो, सभी कर्मों और नाना अवस्थाओं का समाहार हो जाता है।[1] भरत ने नाटको को 'देवताओ, ऋषियो व उत्कृष्ट बुद्धिवाले राजाओ का 'पूर्ववृत्तानुचरित' कहा है।[2] उनके मत में नाटक की वस्तु और नायक दोनों प्रख्यात होते हैं। नाटक का नायक राजर्षि वश का व्यक्ति होना चाहिये, क्योंकि उनके विचार में "नृपतियो का सुख व दुःख से उत्पन्न तथा नाना रसो व भावों से युक्त चरित ही नाटक होता है।"[3] भरत ने नाटक में दिव्य चरित को केवल आश्रय (सहायक) के रूप में स्वीकार किया है, नायक के रूप में नहीं—

प्रख्यातवस्तुविषय प्रख्योदात्तनायकम्।
राजर्षिवश्यचरित तथैव दिव्याश्रयोपतम्॥ ना० शा० १८ १०

अभिनव ने 'दिव्याश्रयोपेत' की बडी ही विशद व्याख्या की है। उनके अनुसार यद्यपि देवचरित भी प्रख्यात होता है, पर देवो मे वरदान देने की शक्ति तथा मत्र आदि के प्रभाव की बहुलता होने से उनका चरित मनुष्यो को उपायो का उपदेश नही दे सकता, अत दिव्य चरित को नाटक मे नायक नही बनाना चाहिए। यदि नायक के आश्रय या सहायक के रूप मे उसकी योजना हो तो कोई अनौचित्य नही। आशय यह है कि देवचरित का नाटक मे सर्वथा निषेध नही है, पताका या प्रकरी नामक प्रासगिक कथा के पात्र के रूप मे उसकी योजना की जा सकती है।[4]

अभिनव के मत मे देवचरित को मुख्यता देने से अनेक असगतिया पैदा होता है। यदि उसे विप्रलभ, करुण, अद्भुत व भयानक रसो के अनुकूल ढाला जाय तो

---

1 सवभावै सवरसै सवकमप्रवत्तिभि।
नानावस्थान्तरापेत नाटक सविधीयन॥ नाट्यशास्त्र, 21 147

2 देवतानामृषीणा च राना चोत्कृष्टमेधसाम्।
पूववत्तानुचरित नाटक नाम तद्भवेत्॥ वही, 21 145

3 नृपतीना यच्चरित नानारसभावचेष्टित बहुधा।
सुखदु खोत्पत्तिकृत भवति हि तन्नाटक नाम॥ वही, 18 12

4 दे० ना० शा०, 18 10 पर अभिनव भारती।

उसमें और मानवचरित मे अन्तर ही क्या रह जायेगा।[1] और उसमे यदि विप्रलभ आदि की योजना ही न की जाय तो ऐसे पात्र म सौन्दर्य ही क्या रह जायेगा।[2] देवचरित की प्रधानता के विरुद्ध एक आपत्ति यह है कि उसके साथ सामाजिको का हृदय-सवाद सभव नही है।[3] देवता लोग सर्वथा दु खरहित होते है, अत उन्हे दु ख-प्रतीकार के लिये यत्न नही करना पडता। पर सासारिक मनुष्य के जीवन मे दु ख का ही आधिक्य है और नाटक मे उसकी रुचि का कारण भी दु ख-निवृत्ति के उपायो का ज्ञान प्राप्त करना है। देवचरित मे जब दु ख का ही अभाव है, तो दु ख-बहुल मनुष्य का उसके साथ हृदय-सवाद कैसे होगा और ऐसे नाटक मे दु ख-प्रतीकार के उपायो का निबन्धन न होने से साधारण प्रेक्षक की उसमे रुचि क्यो होगी ?

अभिनव ने नाटक मे दिव्य नायक का निषेध किया है पर नायिका यदि दिव्य हो तो उन्हे कोई आपत्ति नही है।[4] उनके मतानुसार ऐसी नायिका का चरित नायक के चरित मे ही आक्षिप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ, कालिदास के विक्रमोर्वशीय की 'उर्वशी' एक दिव्य नायिका है।

दशरूपककार ने भरत के विरुद्ध नाटक म प्रख्यातवशीय राजर्षि और दिव्य दोनो प्रकार के नायक स्वीकार किये हैं।[5] किन्तु नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र व गुणचन्द्र ने भरत का अनुसरण करते हुए नाटक मे दिव्य नेता का निषेध कर केवल पताका-प्रकरी-नायक के रूप मे उसे मान्य किया है।[6] उन्होने अपने मत की पुष्टि के लिए जो तर्क दिया है वह नाटक के नैतिक प्रयोजन से सम्बन्ध रखता है। उनके अनुसार नाटक का उद्देश्य यह उपदेश देना है कि राम के समान व्यवहार करना चाहिए, रावण के समान नही। देवो को अतिदुर्लभ वस्तु भी इच्छामात्र से मिल जाती है। मनुष्य देवो के ऐसे चरित का आचरण नही कर सकता, अत वे उसके लिए उपदेशप्रद नही होते। यहा स्पष्टत दशरूपककार की ओर इगित करते हुए लेखक-द्वय ने कहा है कि जो लोग नाटक मे दिव्य नेता मानते हैं, उनका मत उचित नही है।[7]

---

1 यदि तु मुख्यतयैव देवचरित वर्ण्यत तत्तावद्विप्रलम्भकरुणाद्भुतभयानकरसोचित चेन्निबध्यते तन्मानुषचरितमेव सपद्यत । वही

2 विप्रलम्भाद्यभावे तु का तत्र विचित्रता रजनाया एतत्प्रमाणत्वात । वही

3 अतएव हृदयसवादोऽपि देवचरिते दुर्लभ न च तथा दु खमस्ति यत्प्रतीकारोपाये व्युत्पादन स्यात । वही

4 दे0 ना0 शा0 18 10 पर अभिनवभारती

5 प्रख्यातवशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायक ॥ द0 रू0 3 23

6 दे0 नाट्यदर्पण, 1 5 की विवृति।

7 दे0 ना0 द0 1 5 की विवृति।

अभिनवगुप्त के समान नाट्यदर्पणकारो ने भी नाटक मे दिव्य नायिका को मान्यता दी है।[1] विश्वनाथ ने नाटक मे तीन प्रकार के नायको की कल्पना की है—प्रख्यातवश राजर्षि, दिव्य तथा दिव्यादिव्य। जैसे, दुष्यन्त राजर्षि नायक है, श्री कृष्ण दिव्य और श्री रामचन्द्र दिव्यादिव्य।[2] जो नायक दिव्य होने पर भी अपने मे नरत्व का अभिमानी होता है वह दिव्यादिव्य कहलाता है।[3] यहा विश्वनाथ ने कृष्ण और राम मे जो अन्तर बताया है वह उचित प्रतीत नही होता। यह भेद जिन नाटको के आधार पर किया गया है, उनका विश्वनाथ ने उल्लेख नहीं किया। भारतीय धर्म-परम्परा मे कृष्ण और राम दोनो ही अवतार माने गये हैं, अत एक को दिव्य और दूसरे को दिव्यादिव्य मानना तथ्यसगत नही है।

उत्सृष्टिकाक इसकी कथावस्तु प्रख्यात होती है और कदाचित् अप्रख्यात भी। इसमे भरत ने दिव्य पात्रो का स्पष्ट निषेध किया है—

दिव्यपुरुषैर्वियुक्त शेषैर्युक्तो भवेद् पुभि ।
ना० शा० १८ ९४

अभिनव के मत मे करुण रस के बाहुल्य के कारण इसमे श्रेष्ठ देवपात्रो की योजना नही की जाती। रौद्र, बीभत्स व भयानक रसो से तो फिर भी देवपात्रो का सम्बन्ध सम्भव है, पर करुण मे नही।[4] नाट्यदर्पण के अनुसार दिव्य पुरुषो मे सुख-बाहुल्य होता है, अत करुणरसप्रधान उत्सृष्टिकाक मे उनकी योजना सगत नहीं है।[5]

व्यायोग इसकी कथावस्तु व नायक दोनो प्रख्यात होते हैं। इसमे भरत ने दिव्य नायक का निषेध कर राजर्षि नायक का विधान किया है।[6] विश्वनाथ ने राजर्षि के साथ-साथ दिव्य पुरुष को भी इसका नायक स्वीकार किया है।[7]

डिम इसकी भी कथा व नायक प्रख्यात होते हैं। इसमे माया, इन्द्रजाल आदि अतिप्राकृत कार्यो तथा देव, नाग, राक्षस, पिशाच आदि सोलह अतिमानवीय पात्रों का समावेश रहता है।[8] धनजय ने इसमे रौद्र रस को अगी माना है[9] जो इसके

---

1 दे० ना० द०, 1 5 की विवृति।
2 दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मत । सा० द० 6 9
3 वही, 6 7 11 की वृत्ति।
4 इह च करुणरसबाहुल्याद् देवदेवैर्वियोग । रौद्रबीभत्सभयानकसम्बन्धो दिव्ययोगे भवत्यपि न तु करुणयोग । ना० शा० भाग 2, अ० भा० पृ० 446
5 ना० द० 2, 88 की वृत्ति।
6 न च दिव्यनायककृत कार्यो राजर्षिनायकनिबद्ध । ना० शा० 18 92
7 प्रख्यातस्तत्रनायक । राजर्षिरथ दिव्यो वा । सा० द० 6 232 233
8 ना० शा० 18 87,88
9 द० रू० 3 58

पात्रों की प्रकृति के अनुकूल है। नाट्यशास्त्र में त्रिपुरदाह नामक डिम का उल्लेख मिलता है जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं।

समवकार नाट्योत्पत्ति की कथा में स्वर्ग में सर्वप्रथम अभिनीत रूपक 'अमृत-मन्थन' समवकार ही बताया गया है। भरत ने इसे 'देवासुरबीजकृत' कहा है।[1] अभिनव के अनुसार इसमें देवों व असुरों की फलप्राप्ति की उपायभूत कथा प्रस्तुत की जाती है।[2] धनंजय व विश्वनाथ ने भरत के मन्तव्य का समर्थन किया है।[3] इसमें बारह देव व दानव नायक होते हैं जो सभी प्रख्यात व उदात्त स्वभाव वाले कहे गये हैं।[4] ये नायक प्रत्येक अंक में बारह हों या तीनों अंकों में मिलाकर, इस विषय में स्थिति अस्पष्ट है।[5] समवकार में तीन अंक, त्रिविध कपट (दैवकृत, शत्रुकृत व वस्तुस्वभावकृत) तथा त्रिविध शृंगार (धर्म, अर्थ व काम) की योजना की जाती है।[6]

ईहामृग भरत के अनुसार इसका नायक दिव्य होता है जो दिव्य नायिका के लिए प्रतिपक्षी के साथ युद्ध करता है।[7] इसमें प्रायः उद्धत स्वभाव के पात्र होते हैं तथा संक्षोभ, विद्रव व सम्फेट आदि व्यापार प्रस्तुत किये जाते हैं। कार्य, पुरुष, वृत्ति व रस की दृष्टि से यह व्यायोग के समान है। केवल दिव्य स्त्री के साथ समागम इसकी विशेषता है।[8] धनंजय ने इसकी कथावस्तु 'मिश्र' कोटि की मानी है। उनके मत में इसका नायक मनुष्य और प्रतिनायक दिव्य व्यक्ति होता है।[9] वे क्रमशः प्रख्यात और धीरोद्धत होते हैं। प्रतिनायक अनिच्छुक दिव्यस्त्री के अपहरण का प्रयत्न करता है, अतः इसमें शृंगाररसाभास भी होता है।[10]

रूपक के शेष भेदों—प्रकरण, प्रहसन, भाण व वीथी में वस्तु व पात्र कल्पित होते हैं। इनमें प्रकरण सबसे महत्त्वपूर्ण है। रूपक के दस भेदों में नाटक

---

1 देवासुरबीजकृत प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव। ना० शा० 18 63

2 देवासुरस्य यद्बीजं फलसम्पादनोपायस्तेन कृतो विरचितः।

दे० ना० शा० 18 63 पर अ० भा०

3 द० रू० 3 63, सा० द० 6 234

4 द० रू० 3 63-64

5 दे० ना० शा० 18 64 पर अ० भा०

6 ना० शा० 18 63

7 दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्धः। वही 18 78

8 ईहामृगोऽपि ते स्यु केवलममरस्त्रिया योगः। वही 18 79 81

9 नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ। द० रू० 3 73

10 वही 3 74

के बाद महत्त्व की दृष्टि से इसी का दूसरा स्थान है। इसमें विप्र, वणिक्, अमात्य आदि मध्यम श्रेणी के पात्र होते है। भरत ने प्रकरण मे उदात्त (उच्चवर्गीय) नायक और देवचरित का निषेध किया है।[1] रामचन्द्र व गुणचन्द्र का मत है कि नाटक मे तो फिर भी दिव्य पात्र अग (सहायक) के रूप मे आ सकता है, पर प्रकरण मे उसका इस रूप मे भी ग्रहण नही होता। दिव्य पात्रो मे सुख का बाहुल्य और दु खो की स्वल्पता होती है। यदि उन्हे दु ख-बहुल रूप मे अकित किया जाय तो उनकी दिव्यता नष्ट हो जायेगी।[2] अत नाट्यदर्पणकारो की दृष्टि मे क्लेश बहुल प्रकरण में सुखबहुल देवपात्रो का समावेश उचित नही है।

कथा, पात्र व आन्तर चेतना की दृष्टि से नाटक व प्रकरण मे प्रभूत अन्तर है। नाटक की कथा प्रख्यात और पौराणिक होती है और पात्र आख्यानप्रसिद्ध या अतिमानव। दूसरी ओर प्रकरण की वस्तु कल्पित और पात्र मध्यवर्गीय होते हैं। नाटक की आन्तरिक चेतना प्राय धार्मिक-पौराणिक होती है और प्रकरण की सामाजिक और यथार्थपरक। यही कारण है कि प्रकरण मे अलौकिक तत्त्व प्राय बहुत कम पाये जाते है। प्रहसन, भाण व वीथी म भी कल्पित कथा व पात्रो के माध्यम से सामाजिक व धार्मिक जीवन के पाखड, छल-छद्म व विकृतियो का चित्रण किया जाता है, अत उनमे भी अतिप्राकृतिक घटनाओ व चरित्रो की योजना का अवसर नही होता। तथापि शकुन, भाग्य, कर्म, पुनर्जन्म व धर्म-सम्बन्धी सर्वसामान्य लोकविश्वासो के रूप मे कतिपय अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग उनमे भी सभव है। कभी कभी लोककथाओ के प्रभाव तथा अद्भुत तत्त्वो मे लेखक की अभिरुचि के कारण भी प्रकरण म अतिप्राकृतिक तत्त्वो का प्रवेश हो जाता है, भवभूति का मालतीमाधव इसका सुन्दर उदाहरण है।

नाटिका नाटक व प्रकरण का सकीर्ण भेद है। इसकी कथावस्तु प्रकरण के समान कल्पित और नायक नाटक के समान प्रख्यात होता है।[3] राजाओं के अत पुर की प्रणय-कथा पर आधारित होने से नाटिका की वस्तु व चरित्र लौकिक होते है, तथापि सामान्य लोकविश्वासो को अभिव्यक्ति के रूप में कुछ अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग नाटिका मे भी पाया जाता है।

---

1 नोदात्तनायककृत न दिव्यचरित न राजसभोगम्। ना० शा० 18 49

2 नाटके हि अगत्वेन दिव्या भवन्ति। प्रकरणे तु तथाभावोऽपि नष्ट।
तस्य सुखबाहुल्येनाल्पदु खत्वात्। अपरथा दिव्यत्वमेव हीयेत।
ना० द० वि० 2 का० 66 67 की विवृति।

3 द० रू० 3 43

विश्वनाथ द्वारा विवेचित १८ उपरूपकों[1] में त्रोटक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कालिदास का 'विक्रमोर्वशीय' कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'त्रोटक' कहा गया है और कुछ मे नाटक।[2] विश्वनाथ के अनुसार त्रोटक मे सात, आठ, नौ या पाच अक होने ह, उसकी कथावस्तु दिव्य व मर्त्य पात्रो से सम्बन्ध रखनी है तथा उसके प्रत्येक अक मे विदूषक उपस्थित रहता है।[3] विश्वनाथ ने 'विक्रमोर्वशीय' को पचाक त्रोटक का उदाहरण माना है।

कथावस्तु और अतिप्राकृत तत्त्व

कथावस्तु या इतिवृत्त को भरत ने नाट्य का शरीर कहा है।[4] उन्होने अधिकार या फल की प्राप्ति की दृष्टि से उसके आधिकारिक और प्रासगिक[5] तथा प्रसिद्धि के आधार पर प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र भेद माने है। धनजय ने इतिवृत्त का स्थान की दृष्टि से भी विभाजन किया है। उनके अनुसार दिव्य लोक से सम्बन्धित वस्तु दिव्य, मर्त्यलोक से सम्बन्धित मर्त्य और दोनों से ही सम्बन्ध रखने वाली दिव्य-मर्त्य होती है।[6]

कथावस्तु के उक्त वर्गीकरणो मे अतिप्राकृत तत्त्वो की दृष्टि से द्वितीय व तृतीय महत्त्वपूर्ण है। प्रख्यात कथावस्तु प्राय रामायण, महाभारत आदि मे वर्णित परम्परा-प्रसिद्ध आख्यानो, पौराणिक कथाओ या बृहत्कथा आदि की लोक-विश्रुत कथाओ पर आधारित होती है,[7] अत उसमे अतिप्राकृत तत्त्वो के समावेश की पूरी सम्भावना रहती है। रामायण व महाभारत की कथाए मानवीय व अतिमानवीय तत्त्वो का समिश्रण प्रस्तुत करती हैं। पुराण ग्रथो मे पुराकालीन राजाओ, ऋषियो, देवताओ तथा विभिन्न अवतारो से सम्बन्धित अतिप्राकृतिक कथाए समाविष्ट है। बृहत्कथा आदि मे सकलित लोककथाओ मे भी सामान्य जनो के अतिप्राकृतिक विश्वासो की उन्मुक्त अभिव्यक्ति हुई है। अत रामायण, महाभारत आदि से गृहीत आख्यानो तथा पौराणिक या लोकप्रचलित कथाओ पर आधारित नाटको मे अतिप्राकृतिक तत्त्वो का प्रयोग नितान्त स्वाभाविक है। भरत ने नाटक, समवकार, डिम, व्यायोग

---

1 सा० द० 6 269–313

2 द० प्रो० एच० डी० वेलकर द्वारा सपादित विक्रमोर्वशीय प्रस्तावना, पृ० 54

3 सप्ताष्टनवपचाक दिव्यमानुषसश्रयम ।
त्रोटक नाम तत्प्राहु प्रत्यक सविदूषकम् ॥ सा० द० 6 273

4 ना० शा० 19 1

5 वही, 19 2–3

6 द० रू० 1 16

7 ख्यात रामायणादिप्रसिद्ध वृत्तम् । सा० द० 6 7–11 की वृत्ति

व उत्सृष्टिकाक के लिए प्रख्यात कथावस्तु का विधान किया है। स्वर्ग मे प्रथम अभिनीत दो नाटक 'अमृतमथन' व 'त्रिपुरदाह' क्रमश समवकार व डिम थे तथा उनकी कथावस्तु अतिप्राकृत थी, यह पहले बताया जा चुका है। नाटक की प्रख्यात कथावस्तु मे तो अतिप्राकृत तत्त्व सम्भव ही है, नायक के दिव्य आश्रय से सबद्ध पताका या प्रकरी वृत्त मे इन तत्त्वो का विनियोग आवश्यक-सा प्रतीत होता है। यद्यपि भरत ने उत्सृष्टिकाक व व्यायोग मे दिव्य चरित का निषेध किया है, पर अतिप्राकृतिक तत्त्वो के अन्य रूप इनमे भी प्रयुक्त हो सकते है। भास के मध्यमव्यायोग मे ऐसे अनेक तत्त्वो का प्रयोग देखा जा सकता है। प्रकरण, भाण, प्रहसन व वीथी मे कथावस्तु सर्वथा लौकिक व मानवीय होती है, पर उनमे भी शकुन, कर्म, भाग्य आदि सवसामान्य लोकविश्वासो के रूप मे कतिपय अतिप्राकृतिक तत्त्वो का समावेश सम्भव है। भवभूति का मालतीमाधव प्रकरण होते हुए भी अतिप्राकृतिक तत्त्वो से युक्त है।

कुछ आचार्यों ने अवमर्श या विमर्श सधि के अन्तर्गत शाप, दैव आदि अतिप्राकृतिक विघ्नो का उल्लेख किया है। रामचन्द्र व गुणचन्द्र के अनुसार नाटक के जिस कथा भाग मे नायक को अपने फलोन्मुख (उद्भिन्न) प्रधान साध्य की प्राप्ति मे व्यसन आदि से उत्पन्न विघ्नरूप विमर्श या सन्देह उत्पन्न हो जाता है, उसे अवमर्शसन्धि कहते है।[1] यह सधि नियताप्ति नामक अवस्था से व्याप्त रहती है तथा प्रधान फल के जनक व विघातक दोनो के तुल्यबल होने से सन्देह-रूप होती है।[2] व्यसन आदि विघ्नो मे नाट्यदर्पणकारो ने व्यसन या विपत्ति, शाप, दैव तथा क्रोध की गणना की है। उनके अनुसार अभिज्ञानशाकुन्तल के पचम अक मे दुर्वासा के शाप से मोहित दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का परित्याग, शकुन्तला का अन्तर्धान तथा षष्ठ अक मे अगुलीयक के दर्शन से शकुन्तला-विषयक स्मृति का उद्बोध आदि घटनाए विमर्श सधि का निर्माण करती है।[3] इसी प्रकार उन्होने दैव या कर्मविपाक-रूप विघ्न से उत्पन्न विमर्श सधि भी मानी है। विश्वनाथ के मत मे जहा नाटक के मुख्य फल का उपाय गर्भसधि की अपेक्षा अधिक उद्भिन्न (विकसित और फलोन्मुख) होकर शाप आदि से विघ्नयुक्त (सान्तराय) हो जाता है वहा विमर्श सधि होती है। उन्होंने शाकुन्तल के चतुर्थ अक से लेकर सप्तम अक मे शकुन्तला के प्रत्यभिज्ञान तक के कथाभाग को विमर्श सधि माना है।[4]

---

1 उदभिन्नसाध्यविघ्ना मा विमर्शो व्यसनादिभि । ना० द० 1 39
2 वही, वृत्तिभाग
3 शापाद्यथा अभिज्ञानशाकुन्तल पचमेऽके दुर्वास शापविमोहितेन त्यक्तायां शकुन्तलायामन्तर्हिताया च षष्ठेऽके अगुलीयकदर्शनेन समुपजातस्मृतौ राजनि दुर्वास शापविघ्नजो विमर्श । वही
4 सा० द० 6 79 तथा वृत्ति

भरत व अन्य आचार्यों ने निवहण सधि मे अद्भुत रस की योजना आवश्यक बतायी है। भरत के अनुसार नाटक की वस्तु-सघटना गोपुच्छ के अग्रभाग के समान होनी चाहिये तथा समस्त उदात्त भावो को नाटक के अन्तिम भाग मे विन्यस्त करना चाहिये। नाना रसो और भावो मे युक्त सभी प्रकार के काव्यो मे विद्वजनो को निर्वहण सधि के अन्तगत अद्भुत रस की योजना करनी चाहिए —

काव्य गोपुच्छाग्र कर्तव्य कायबन्धमासाद्य।
ये चोदात्तभावास्ते सर्वे पृष्ठत कार्या ॥
सर्वेषा काव्याना नानारसभावयुक्तियुक्तानाम्।
निवहणे कर्तव्यो नित्य हि रसोऽद्भुतस्तज्ज्ञै ॥
ना०शा० १८ ४२-४३

अभिनव ने भरत के आशय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि नाटक के अन्त मे नायक को किसी प्रकार के लोकोत्तर व असभाव्य मनोरथ की प्राप्ति होनी चाहिए। नाटक मे शृगार या वीर रस अगी होता है, अत नायक की यह मनोरथ-प्राप्ति स्त्री-रत्न या राज्य के लाभ के रूप मे ही होगी। अभिनव के शब्दो मे "नायक के लोकोत्तर व असभाव्य मनोरथ की प्राप्ति के स्थल मे अद्भुत रस की योजना उचित है।"[1]

भरत का उक्त निर्देश अतीव महत्त्वपूर्ण है। अद्भुत रस की योजना का उद्देश्य नाटक के अतिम भाग को प्रभावशील व चमत्कारपूर्ण बनाना है। यो तो नाटक की सभी सधियो का अपना महत्त्व है, पर निवहण सधि की प्रभावशालिता पर ही नाटक की बहुत-कुछ सफलता निर्भर है। नाटक के अत मे नायक की उद्देश्य-सिद्धि की विरोधी स्थितियो का निराकरण किया जाता है, जिससे उसे अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। अभिनव के मत मे नायक का यह फल लोकोत्तर व असभाव्य मनोरथ की प्राप्ति होना चाहिए, क्योकि ऐसा ही फल उसके कष्टो और प्रयत्नो के अनुरूप हो सकता है। सामाजिको को ऐसी फल-प्राप्ति मे ही यह उपदेश मिलता है कि मनुष्य अपने प्रयत्न व उपाय द्वारा लोकोत्तर व असभव वस्तु को भी प्राप्त कर सकता है, अत उसे सदैव उपायो मे प्रवृत्त होना चाहिए। अभिनव के मत मे यह आवश्यक है कि नायक की लोकोत्तर व असभाव्य फलप्राप्ति के स्थल मे अद्भुत रस की योजना हो।[2] अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है जो अलौकिक व अप्रत्याशित वस्तु-व्यापारो के प्रत्यक्षीकरण से जाग्रत होता है।

---

1 ना0 शा0 18 43 पर अ0 भा0

2 तथा च शृगारवीररौद्रे स्त्रीरत्नपृथ्वीलाभशत्रुक्षयाः करुणादिभिरन्तर्निर्वृनिरीक्षणा कमात् लोकोत्तरासभाव्यमनोरथप्राप्तौ भवितव्यमद्भुतेन। ना0 शा0 18 43 पर अ0 भा0

सस्कृत नाटक की निवहरण सधि मे अद्भुत रस की योजना का एक और भी कारण है। नाट्शास्त्र के नियमानुसार नाटक की विषयवस्तु प्रख्यात होती है, तथा अन्न नियमेन मुखान्त, जिससे सामाजिक पहले से ही कथा व उसके अन्त से परिचित होता है। अत उसका कौतूहल नाटक के फल या परिणाम के प्रति उतना नही होता जितना उसकी निष्पत्ति की पद्धति या परिस्थिति के विषय मे होता है। सामाजिक यह जानने के लिए अधिक उत्कठित रहता है कि नायक की फल-प्राप्ति की बाधाओ को किन उपायो द्वारा दूर किया गया है? अत ये उपाय असाधारण व लोकोत्तर होने चाहिए, जिससे उनसे प्राप्त होने वाली मनोरथ-प्राप्ति भी लोकोत्तर प्रतीत हो। इसी उद्देश्य से सस्कृत नाटककार नाटकीय फल के साधक उपायो को आकस्मिक व चामत्कारिक रीति से प्रस्तुत करता है। भरतमुनि ने सम्भवत इसी दृष्टि से नाटक की निर्वहण सधि मे अद्भुत रस की योजना आवश्यक बतायी है। यद्यपि यह आवश्यक नही है कि अद्भुत रस सदैव अतिप्राकृत तत्त्वो पर ही आधारित हो, पर *अधिकतर सस्कृत नाटको की निर्वहण सधि मे अतिप्राकृत तत्त्वो की योजना* देखी जा सकती है। इसके दो कारण प्रतीत होते है। एक तो सस्कृत नाटको की वस्तु प्राय महाकाव्य व पुराणो के आख्यानो पर आधारित है जो स्वय ही अनिप्राकृत तत्त्वो से पूर्ण हैं, इसलिए ऐसे नाटकों की निवहरण सधि मे इन तत्त्वो की योजना कथा और पात्रो की प्रकृति के अनुकूल रहती है। यही कारण है कि नाटककार को भी ऐसी योजना मे कोई हिचक नही होनी। दूसरे, नाटक की कथाए कई बार इतनी उलझ जाती है कि अनिप्राकृत हस्तक्षेप के सिवा उनको सुलझाने का नाटककार के सामने कोई और उपाय नही रहता। ऐसी स्थिति मे नाटककार अतिप्राकृत तत्त्वो के प्रति सामाजिको के विश्वास का लाभ उठाकर उनकी नि सकोच योजना कर देता है। कई बार यह योजना नाटकीय वस्तु से इतनी असबद्ध और आकस्मिक होती है कि नाटक की सुखान्त परिणति कृत्रिम व आरोपित हो जाती है। निश्चय ही दिव्य हस्तक्षेप का ऐसा प्रयोग नाटककार की अकुशलता का सूचक है।

भरत के अनुसार अद्भुत की सप्राप्ति को 'उपगूहन' कहते है जो निवहरण सधि का अग है।[1] वैसे तो अद्भुत की प्राप्ति अतिप्राकृत तत्त्वो के बिना भी हो सकती है, पर दशरूपक, नाट्यदपरण व साहित्यदर्पण मे इसके जो उदाहरण दिये गये है[2] उनमे अतिप्राकृत तत्त्वो से ही अद्भुत की प्राप्ति दिखायी गयी है। इससे यह विचार पुष्ट होता है कि नाटक की निवहरण सधि मे अद्भुत रस की निष्पत्ति के लिये सस्कृत नाटककारो ने प्राय अतिप्राकृत तत्त्वो का ही आश्रय लिया है।

---

1 अद्भुतस्य तु सप्राप्तिरुपगूहनमिष्यते। ना० शा० 19 102

2 द० रू० 1 53 पर अवलोक, ना० द० 1 64 की विवृति, सा० द० 6 112 की वृत्ति

पात्र और अतिप्राकृत तत्त्व

भरतमुनि ने नाटक मे अनेकविध अतिप्राकृतिक पात्रो के प्रयोग का निर्देश किया है, यह बताया जा चुका है कि भरतमुनि ने नाट्य को 'समस्त त्रैलोक्य के भावो का अनुकीर्तन' 'असुरो व देवो के शुभाशुभ का विकल्पक' तथा 'देवा, असुरो, राजाओ, कुटुम्बियो व ब्रह्मर्षियो के वृत्तान्त का दर्शक' माना है। इससे स्पष्ट है कि भरत की दृष्टि मे नाटको की पात्रसृष्टि केवल मानवो तक सीमित नही है, अपितु उसमे धार्मिक व पौराणिक कथाओ के अतिप्राकृत पात्र मानव पात्रो के समान ही प्रयुक्त हो सकते हैं। भरत ने नाटक मे पात्रो की त्रिविध प्रकृतिया बतायी है—दिव्या, दिव्य-मानुषी और मानुषी—

> अथ दिव्या प्रकृतयो दिव्यमानुष्य एव च।
> मानुष्य इति विज्ञेया नाट्यवृत्तिक्रिया प्रति ॥

ना० शा० १२ २६

उनके विचार मे देवो की प्रकृति दिव्या, राजाओ की दिव्यमानुषी व अन्यो की मानुषी होती है। वेद और उपनिषद् आदि अध्यात्मशास्त्र के ग्रन्थो म राजा लोग देवता के अश कहे गये हैं, अत वे देवो का अनुकरण करे तो दोष की कोई बात नही।[1] सम्भवत नाट्यशास्त्र के इसी निर्देश के अनुसार कालिदास ने दुष्यन्त व पुरूरवा को दिव्य-मानुष रूप मे चित्रित किया है तथा देवो के मित्र व युद्ध सहायक के रूप म उनके स्वर्ग जाने का वर्णन किया है।

नाट्यशास्त्र के १३वें अध्याय मे भरत ने रूपको को 'सुकुमार' व 'आविद्ध' दो भागो मे बाटते हुए द्वितीय वर्ग 'आविद्ध' मे डिम, समवकार, व्यायोग और ईहा-मृग की गणना की है तथा उनमें शौर्य, वीर्य व बल के युक्त देव, दानव व राक्षस जैसे उद्धत पात्रो की योजना का निर्देश दिया है। प्रथम वर्ग सुकुमार मे उन्होने नाटक, प्रकरण, भाण, वीथी व अक का समावेश करते हुए उन्हे मानव पात्रो पर आश्रित बताया है —

> डिम समवकारश्च व्यायोगेहामृगौ तथा।
> एतान्याविद्धसज्ञानि विज्ञेयानि प्रयोक्तृभि ॥

---

1 देवाना प्रकृतिर्दिव्या राज्ञा वै दिव्यमानुषी।
या त्वन्या लोकविहिता मानुषी सा प्रकीर्तिता ॥
देवाशजास्तु राजानो वेदाध्यात्मसु कीर्तिता।
एव देवानुकरणे दोषो ह्यत्र न विद्यते ॥
ना० शा० 12 27-28

एषा प्रयोग कर्त्तव्यो देवदानवराक्षसे ।
उद्धता ये च पुरुषा शौर्यवीर्यबलान्विता ।। ना० शा० १३ ६२-६३
सुकुमारप्रयोगाणि मानुषेष्वाश्रिनानि तु ।। वही, ६४

रूपक के कतिपय भेदो मे भरत ने दिव्य पात्रो का विधान किया है, यह हम पहले बता चुके हैं। आहार्याभिनय के अन्तर्गत नेपथ्य-रचना के प्रकरण मे उन्होंने देव, सिद्ध, विद्याधर, गन्धर्व, नाग, दैत्य, दानव, भूत, पिशाच, राक्षस आदि अतिमानवीय पुरुष व स्त्री पात्रो के नेपथ्य विधान का विस्तृत वर्णन किया है जिससे स्पष्ट है कि उन्हे नाटक मे उक्त सब प्रकार के दिव्य पात्र अभीष्ट है।[1]

भरत ने यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि नाटक मे दिव्य पात्रो के सभी भाव व आगिक चेष्टाये मानव-भावो व चेष्टाओ पर आश्रित हो, विशेष रूप से शृगार रस के प्रसग मे। उनके मत मे प्रयोक्ताओं (नटो) को देवो के 'अनिमेषत्व' आदि का अभिनय नही करना चाहिए—

सर्वे भावाश्च दिव्याना कार्या मानुषसश्रया ।।
तेषा चानिमेषत्वादि नैव कार्यं प्रयोक्तृमि ।।
ना० शा० २१ १५६

दिव्याना दृश्यते पुसा शृगारे योषिता यथा ।
ये च भावा मानुषाणा स्युर्यदग तच्च चेष्टितम् ।।
सव तदेव कत्तव्य दिव्यैर्मानुषसगमे । ना० शा० २२ ३२६–३२७

इससे स्पष्ट है कि नाटक मे दिव्य पात्र नाममात्र के लिए दिव्य होते हैं। नाटककार की सिद्धि इसी मे है कि वह उन्हे बाह्यत दिव्य रूप मे अकित करते हुए भी शील स्वभाव व चेष्टाओ की दृष्टि से मानवीकृत रूप मे उपस्थित करें।

भरत के अनुसार यदि नाटक मे कही दिव्य स्त्रियो (अप्सराओ) का मनुष्यो के साथ समागम हो तो उन्हे मानवोचित भावो का ही प्रदर्शन करना चाहिए। यदि *दिव्य पात्रों का शाप के कारण या अपत्य की लालसा से मर्त्यलोक मे आगमन हो* तो मनुष्यो के साथ उनका समागम शृगार रस पर आश्रित होना चाहिए तथा उन्हे अदृश्य होकर पुष्पो की सुगन्ध व आभूषणो की ध्वनि से अपने मनुष्य प्रेमी को लुभाना चाहिए। तदनन्तर उन्हे अपना स्वरूप प्रकट कर क्षण भर बाद अन्तर्हित हो जाना चाहिए। वस्त्र, आभरण, माला, लेख तथा इसी प्रकार के अन्य उपचारो से उन्हे नायक को उन्मत्त बनाना चाहिए, क्योकि उन्मादन से उत्पन्न काम अतीव

---

1 दे0 नाट्यशास्त्र, अध्याय 21

रमणीय होना है।[1] नाट्यशास्त्र का उक्त निर्देश कालिदास के विक्रमोवशीय की उवर्शी पर पूरी तरह लागू होता है। इस पात्र के व्यक्तित्व की रचना करते समय कालिदास के सामने सभवत नाट्यशास्त्र का उक्त स्थल रहा होगा।

दिव्य पात्रों का एक स्थान से दूसरे स्थान तक गमनागमन किस प्रकार हो इस बारे में भी भरत न कुछ निर्देश दिये है। उनके अनुसार दिव्य पात्रो को आकाश मे उडकर, विमान मे बैठकर माया द्वारा अथवा अन्य विविध क्रियाओ द्वारा नगर, वन, पर्वत, सागर, वष, द्वीप इत्यादि स्थानो मे गमन करना चाहिए।[2] यदि दिव्य पुरुष किसी कारणवश प्रच्छन्न निवास कर रहा हो तो उसे भूमि पर ही चलना चाहिए जिससे वह मनुष्य दृष्टिगत हो।[3] भरत ने यह भी बताया है कि दिव्य पुरुष पृथ्वी के विभिन्न भागो व स्थानो मे स्वच्छद भ्रमण करते है, किन्तु मनुष्यो का गमन केवल भारतवर्ष मे होना है।[4]

अन्यत्र भरत ने कहा है कि किसी काव्य मे दिव्य नायक हो और उसमे सग्राम, बधन व वध आदि काय समाविष्ट हा तो उसका कथा-स्थल भारतवष को बनाना चाहिए। देवताओ के लोक तो भोग भूमि है, अतएव वहा केवल उनके आनन्दोपभोग का ही चित्रण होना चाहिए। भारत कमभूमि है अत दिव्य पात्रो के कर्मो का आरम्भ यहीं होना उचित है।[5]

नाट्यशास्त्र मे विभिन्न दिव्य पात्रा के आवास पवना का भी उल्लेख मिलता है। इस उल्लेख के अनुसार यक्ष, गुह्यक राक्षस और भूतो का आवास कैलास पर्वत, गधर्व और अप्सराओ का हेमकूट, नागों का निषध, तैंतीस देवा का सुमेरु, सिद्धो व ब्रह्मर्षियो का नीलगिरि, दैत्यो व दानवो का श्वेत पवत तथा पितृगणो का शृगवत् पवत बताया गया है।[6] हम देखेंगे कि सस्कृत नाटककारो ने दिव्य पात्रो की आवास भूमि के रूप मे उक्त पवतो मे से कुछ का उल्लेख किया है। विक्रमोवशीय व शाकुन्तल दोनो मे कालिदास ने 'हेमकूट' पवत को काफी महत्त्व दिया है।

सस्कृत नाटको मे कभी-कभी कुछ निर्जीव वस्तुए पात्रो के रूप मे सशरीर उपस्थित होती है। भास के दो नाटको मे भगवान् विष्णु के पाच आयुध मानव

---

1 दे० नाट्यशास्त्र, अध्याय 22 327–33.
2 वही, 13 18–19
3 वहा, 13 20
4 वही 13 21–22
5 वही, 18 97–100
6 वही 13 29–32

आकार में मचपर अवतीर्ण होते हैं। इस विषय से नाट्यशास्त्र का निम्न निर्देश द्रष्टव्य है—

शैलप्रासादयन्त्राणि चमवमध्वजास्तथा ।
नानाप्रहरणाद्याश्च ते प्राणिन इति स्मृता ।
अथवा कारणोपेता भवन्त्येते शरीरिण ।। ना० शा० २१ ६४

इसी प्रकार १३वें अध्याय में भरत ने उक्त वस्तुओं के मूर्तरूप में प्रयोग को 'नाट्यधर्मी' कहा है—

शैलयानविमानानि चमवर्मायुधध्वजा ।
मूर्तिमन्त प्रयुज्यन्ते नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ।। ना० शा० १३ ७७

इन श्लोकों में प्रहरणों के किसी विशेष कारण से सशरीर उपस्थित होने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। साथ ही शैल, प्रासाद, यन्त्र, चर्म (ढाल), वर्म (कवच), ध्वज आदि अन्य निर्जीव वस्तुओं (अप्राणिन) के भी मूर्तिमान् रूप में उपस्थित होने की बात कही गयी है।

भरत ने विविध जाति के पात्रों के स्वभाव के बारे में भी हमें बताया है। उनके अनुसार देवता लोग धीरोद्धत, राजा लोग धीरललित, सेनापति व अमात्य धीरोदात्त तथा ब्राह्मण व वणिक् धीरप्रशान्त स्वभाव के होते हैं—

देवा धीरोद्धता ज्ञेया स्युर्धीरललिता नृपा ।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ।।
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा ।।
ना० शा० २४

वस्तुत भरत का यह कथन नायक के लिए नहीं है, सभी पात्रों के विषय में सामान्य निर्देश है। इसका आशय यह है कि दिव्य व्यक्ति सामान्यत धीरोद्धत स्वभाव के होते हैं। अनेक प्रकार की दैवी शक्तियों से युक्त होने के कारण उनके व्यवहार में दर्प व असहिष्णुता की झलक आने लगती है। श्री सुरेन्द्रनाथ शास्त्री[1] के विचार में भरत का उक्त कथन विभिन्न पात्रों के कर्म-सम्बन्धी स्वभाव का निर्देशक है, और इससे केवल इतना ही सूचित होता है कि किसी नाटक में यदि विभिन्न स्वभाव वाले पात्र एक साथ चित्रित हों तो दिव्य पात्रों का धीरोद्धत स्वभाव होना चाहिए। धनजय के अनुसार धीरोद्धत नायक या पात्र में दर्प व मात्सर्य का आधिक्य होता है, वह माया (मन्त्र बल से अविद्यमान वस्तु का प्रकाशन) व छद्म में रत, अहकारी,

---

1 दि लाज् एण्ड प्रैक्टिस ऑव संस्कृत ड्रामा, प० 6–7

चचल, क्रोधी व आत्मश्लाघी प्रकृति का होता है।[1] धीरोद्धत दिव्य पात्र की माया-परायणता संस्कृत के अनेक नाटकों मे सिद्ध होती है। शाकुन्तल का मातलि, प्रतिमा का रावण व अविमारक का विद्याधर इसी प्रकार के पात्र है।

रस और अतिप्राकृत तत्त्व

संस्कृत नाटक का प्रमुख लक्ष्य सामाजिक को रसानुभूति कराना है। भरत के मत मे नाट्य मे रस के बिना कोई भी अर्थ प्रवृत्त नहीं होता।[2] धनजय ने रसास्वाद-रूप आनन्द-निष्यन्द को दशरूपको का फल माना है तथा इतिहास आदि के समान व्युत्पत्ति को उसका फल मानने वाले सहृदयताशून्य अल्पबुद्धि जनो पर व्यग्य किया है।[3] नाट्य के तीन तत्त्वों-वस्तु, नेता और रस मे से रस ही प्रधान है, क्योकि वस्तु और पात्रो के विधान का भी अतिम लक्ष्य रस-निष्पत्ति कराना है। इसीलिए धनजय का निर्देश है कि कथावस्तु मे नायक और रस की दृष्टि मे कुछ अनुचित या विरुद्ध हो तो नाटककार उसे छोड दे या उसकी अन्यथा प्रकल्पना करे।[4]

भरत ने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय मे रस के स्वरूप, निष्पत्ति व भेद-प्रभेदो का विस्तृत विवेचन किया है। इस विवेचन मे उन्होने अनेक स्थलो पर अतिप्राकृत तत्त्वों का उल्लेख किया है तथा उनके साथ रस-विशेष का सम्बन्ध बताया है।

नाट्यशास्त्र मे विभिन्न रसो के साथ विशेष देवताओ का सम्बन्ध बताया गया है।[5] अभिनव के अनुसार रस-देवताओ के निरूपण का उद्देश्य रस-विशेष की सिद्धि के लिए देवता-विशेष की पूजा का विधान करना है।[6] रस-देवताओ की कल्पना धर्म के साथ नाट्य के निकट सम्बन्ध की द्योतक है।

विप्रलम्भ शृगार धनजय ने विप्रलभ के दो भेद माने है—मान व प्रवास। प्रवास-विप्रलभ के तीन कारणो[7]—कार्य, सभ्रम और शाप मे से अन्तिम अतिप्राकृत है। धनजय के अनुसार नायक व नायिका के समीप होने पर भी जहा शाप के कारण उनका स्वरूप बदल जाये, वहा शापज प्रवास होता है,[8] जैसे कादबरी मे शाप के कारण वैशम्पायन और महाश्वेता का वियोग।

---

1 द० रू० 2 5-6
2 न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। ना० शा० 6 पृ० 272
3 द० रू० 1 6
4 वही, 3 24-25
5 ना० शा० 6 44 45
6 तत्तद्रससिद्धौ ता ता देवता पूजयेदिति देवतानिरूपणम्। वही 6 44 45 पर अ० भा०
7 द० रू० 4 64
8 स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापज सन्निधावपि। वही,

रामचन्द्र-गुणचन्द्र न विप्रलभ के पाच प्रकारों मे से शाप विप्रलभ को एक स्वतन्त्र प्रकार माना है, प्रवास का अवान्तर भेद नहीं ।[1] विश्वनाथ न धनजय के समान उसे प्रवास का ही एक रूप स्वीकार किया है तथा मेघदूत मे यक्ष-यक्षिणी के वियोग को उसका उदाहरण बताया है ।[2]

प्रवास विप्रलभ और करुण का भेद बताते हुए धनजय ने कहा है कि जहा प्रेमी-प्रेमिका मे से एक के मरने पर दूसरा उसके वियोग मे विलाप करे, वहा करुण रस होता है । आश्रय के नष्ट होने के कारण ऐसे स्थल मे शृगार नहीं माना जा सकता, किन्तु जहा मृत्यु होने पर भी पुनर्जीवन की आशा हो वहा करुण नहीं, प्रवास विप्रलभ ही माना जायगा ।[3] यहा मृत व्यक्ति के पुनर्जीवन के रूप मे अति प्राकृत तत्त्व स्वीकृत है तथा वही करुण के स्थान पर शृगार मानने का आधार है। कादम्बरी मे चन्द्रापीड की मृत्यु होने पर पहले तो करुण रस है, पर यह आकाश वाणी होने पर कि वह पुनर्जीवित होगा, करुण का स्थान विप्रलभ ले लेता है ।[4] विश्वनाथ ने उक्त स्थिति मे विप्रलभ शृगार का 'करुणात्मक विप्रलभ' नामक स्वतन्त्र भेद माना है, जो शापहेतुक प्रवास-विप्रलभ से भिन्न है ।[5] यह उल्लेखनीय है कि धनजय आदि न उक्त स्थितियो के जो उदाहरण दिये है वे श्रव्य-काव्यो (कादम्बरी, मेघदूत आदि) से लिए गये है, नाटकों से नहीं । धनजय का यह कहना उचित नहीं है कि शाप के कारण नायक या नायिका का रूप-परिवर्तन हो, वही शापज विप्रलभ होता है । शाकुन्तल मे रूप-परिवर्तन के बिना ही दुर्वासा-शाप के कारण नायक-नायिका का वियोग चित्रित है ।

करुण रस भरत ने करुण रस के विभावों मे शाप से उत्पन्न इष्ट-जन वियोग व विभवनाश आदि की गणना की है ।[6] नाट्यदर्पण के लेखकों ने भी करुण रस के विभावों मे शाप को गिना है ।[7] उनके मत मे दिव्य प्रभाव से युक्त व्यक्ति के आक्रोश को शाप कहते है जो अभिमत व्यक्ति से वियोग का हेतु होता है ।[8]

---

1 ना० द० 3 11_

2 शापाद यथा– ना आनाथा इत्यादि ।
सा० द० 3 208 की वृत्ति

3 द० द० रू० 4 67

4 द० द० रू० 4 67 पर अवलोक

5 यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तर पुनर्लभ्य ।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्य ॥
सा० द० 6 209

6 ना० शा० 6 पृ० 317

7 ना० द० 3 116

8 शापोऽभिमतवियोगहेतुर्दिव्यप्रभावस्य आक्रोश । वही, 3 116 की विवृत्ति

विप्रलम्भ शृंगार और करुण रसो मे निर्वेद आदि कुछ सचारिभाव समान है, अत इन दोनो का अन्तर स्पष्ट करने के लिए भरत ने कहा है कि जहा करुण रस शापरूपी क्लेश मे ग्रस्त प्रियजन के वियोग व विभवनाश आदि से उत्थित निरपेक्ष भाव है, वहा विप्रलभ शृगार औत्सुक्य व चिन्ता मे उदित होने वाला सापेक्षभाव है।[1] अभिप्राय यह है कि करुण रस मे शाप आदि अप्रतिकार्य हेतुओ से उत्पन्न प्रियजन के वियोग, विभवनाश आदि के निराकरण की कोई आशा शेष नही होती, जबकि विप्रलभ शृगार मे ऐसी आशा बनी रहती है। अभिनवगुप्त के अनुसार यहा शाप शब्द के ग्रहण से यह सूचित होता है कि शाप से उत्पन्न वियोग आदि अप्रतिकार्य होते है, अत उत्तम प्रकृति के व्यक्ति को भी उनके विषय मे शोक का अनुभव हो सकता है। यदि वे अप्रतिकार्य न हो तो शोक के नही, उत्साह व क्रोध आदि के विभाव होगे। कविकुलचक्रवर्ती कालिदास ने शोकत्व (करुण रस) के निराकरण के लिए ही पुरूरवा को उर्वशी की शाप-प्राप्ति से अपरिचित रखा है।[2] यहा अभिनवगुप्त ने सभवत विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अक मे भरतमुनि के शाप व कार्तिकेय के नियम के कारण उर्वशी के लता रूप मे परिवर्तन के प्रसग की ओर सकेत किया है। पुरूरवा को यह ज्ञान नही है कि उर्वशी शाप या देवता-नियम के कारण लता बन गयी है, अत चतुर्थ अक मे उर्वशी के साथ पुरूरवा का वियोग विप्रलभ का ही विभाव है, करुण का नही। इसी प्रकार शाकुन्तल मे कालिदास ने दुष्यन्त और शकुन्तला दोनो को दुर्वासा के शाप से अपरिचित रखा है, अत उनका वियोग भी विप्रलभ को ही जन्म देता है, करुण को नही।

रौद्र रस भरत मुनि ने रौद्र रस के विवेचन मे भी कतिपय अतिप्राकृतिक तत्त्वो का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार रौद्र रस क्रोधस्थायिभावात्मक, राक्षस, दानव तथा उद्धत मनुष्य पात्रो पर आश्रित तथा युद्धहेतुक होता है।[3]

भरत ने यहा शका उठाई है कि रौद्र रस क्या राक्षस, दानव आदि पात्रो पर ही आश्रित है, दूसरो पर नही ? इसका समाधान उन्होने स्वय इस प्रकार किया

---

1 ना० शा० 6, पृ० 309

2 शापग्रहणेनाप्रतिकार्यत्वे सत्युत्तमप्रकृतेः शोकोऽस्मिन्नस्तीति दर्शयति।
अन्यथोत्साहक्रोधादिविभाव एव स्यात्। शोकत्वमेव च परिहर्तु
कविकुलचक्रवर्तिना पुरूरवस उर्वशीशापप्राप्तिरनुपलक्षितैवेन निबद्धा॥
ना० शा० 6 अ० भा० पृ० 310

3 अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृति सग्रामहेतुक। वही, 6, अ० भा० पृ० 319

है—"रौद्र रस दूसरों से भी सम्बन्ध रखता है, पर यहां अधिकार का ग्रहण किया गया है। राक्षस, दानव आदि स्वभाव से ही रौद्र होते हैं। क्यों ? इसलिए कि उनके *अनेक बाहु, अनेक मुख, सभी ओर बिखरे पिंगलवर्ण केश, लाल-लाल चढ़ी* हुई आंखें तथा भयानक व अमित रूप आदि होते हैं। वे स्वभाववश भी जो आंगिक या वाचिक चेष्टा करते है, वह रौद्र ही होती हैं। वे शृंगार का भी सेवन प्राय उग्रतापूर्वक करते है। अत उनका अनुकरण करने वाले पुरुषों (नटों) मे भी संग्राम व सप्रहार से उत्पन्न रौद्र रस की प्रतीति माननी चाहिए।"[1] भरत का आशय यह है कि विकराल रूप वाले राक्षस आदि अतिप्राकृत प्राणियो के रूप, वेष-विन्यास व चेष्टादि के सजीव प्रदर्शन से सामाजिकों को रौद्र रस की अनुभूति होती है।

भरत ने रौद्ररस को जो युद्धहेतुक माना है, उससे अभिनव पूरी तरह सहमत नहीं है। उनके मत मे वीर रस (उत्साह) ही प्रधानतया युद्धहेतुक होता है।[2] *उन्होंने किन्हीं विद्वानो के इस विचार का खंडन किया है कि वेणी-संहार के नायक* भीमसेन आदि के रक्तपान आदि रौद्र कर्म युद्धहेतुक है। अभिनव के विचार मे भीमसेन का रुधिरपान युद्धहेतुक नहीं, अपितु उसके उद्धत स्वभाव का परिणाम है जिसके कारण वह क्रोध के वशीभूत होकर (दु शासन के रक्तपान की) अनुचित प्रतिज्ञा करता है। उसकी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए ही कवि ने वेणीसंहार मे भीमसेन को राक्षस से अधिष्ठित बताया है, अत भीमसेन आदि भी राक्षस व दानव के समान स्वभाव से ही क्रोधी हैं, युद्ध आदि के कारण नहीं।[3]

अभिनव ने यह प्रश्न भी उठाया है कि राक्षस, दानव आदि के दर्शन से सामाजिक को रौद्र रस की अनुभूति कैसे होती है ? इसके समाधान मे उनका कहना है कि रस का आस्वाद हृदय-संवाद पर निर्भर है। किन्तु राक्षस आदि के साथ सभी सामाजिकों का हृदय-संवाद नहीं होता। क्रोध मे हृदय-संवाद केवल तामस प्रकृति वाले सामाजिकों का ही सकता है। दानव आदि के समान स्वभाव वाले व उनके साथ तन्मयता का अनुभव करते हुए अन्यायकारी के प्रति क्रोध भाव का रस रूप मे आस्वादन करते हैं। अत राक्षस आदि के दर्शन मे सामाजिक को क्रोधात्मक रसास्वाद होने मे कोई दोष नहीं है।[4]

---

1 ना० शा० 6, अ० भा० पृ० 322

2 तस्याचिन्ता हेतु न बाध। तथा च प्राधान्येन युद्धे वीर एव व्यपदेश्यते।
वही, 6 अ० भा० पृ० 320

3 वही 6 अ० भा० पृ० 319 320

4 वही 6 अ० भा० पृ० 323

भयानक रस भरत ने भयानक रस के विभावों में 'सत्त्वदर्शन' का उल्लेख किया है।[1] अभिनवगुप्त ने सत्त्व का 'पिशाच' अर्थ लिया है (सत्त्वानां पिशाचानां दर्शनम्) किन्तु हम इसका अधिक व्यापक अर्थ ले सकते हैं। हमारी दृष्टि में भूत, प्रेत, वेताल, पिशाच राक्षस आदि विविध श्रेणी के अशुभ अतिप्राकृत प्राणी (Evil Spirits) सत्त्व में सम्मिलित किये जा सकते हैं। भवभूति ने मालतीमाधव के पंचम अंक में श्मशानवाले दृश्य में ऐसे अनेक प्राणियों का वर्णन किया है। भास के मध्यमव्यायोग में राक्षस घटोत्कच के विकराल रूप को देखकर ब्राह्मण केशवदेव का सारा परिवार भयभीत हो जाता है। शाकुन्तल में कण्वाश्रम के धार्मिक कृत्यों में विघ्न उत्पन्न करने वाले छायाकार राक्षस भी सत्त्व ही प्रतीत होते हैं। दुष्यन्त ने अदृश्यरूप से विदूषक की ताडना करने वाले अज्ञात प्राणी को प्रारम्भ में 'सत्त्व' ही कहा है।[2]

अभिनव के मत में भयानक रस के आश्रय स्त्री बालक व नीच जन होते हैं, उत्तम प्रकृति के लोगों को भय नहीं व्यापता, अधिक से अधिक वे गुरु या राजा आदि से भय खाते हैं। पर इससे उनकी उत्तम प्रकृति को आंच नहीं आती।[3] उत्तम प्रकृति के लोगों के लिए सत्त्वदर्शन भयानक का नहीं वीर रस का विभाव होता है। शाकुन्तल के षष्ठ अंक में अदृश्य मातलि जहां विदूषक के लिए भय का विभाव है, वहां दुष्यन्त के लिए उत्साह का। इसी प्रकार छायाकार राक्षस भी दुष्यन्त के मानस में उत्साह का संचार करते हैं।[4]

अद्भुत रस अतिप्राकृतिक तत्त्वों का सबसे निकट सम्बन्ध अद्भुत रस से है। यों तो ये तत्त्व भय, शोक आदि के भी जनक होते हैं पर इनके प्रत्यक्षीकरण से सबसे अधिक जिस भाव का उन्मीलन होता है वह निःसन्देह विस्मय है जो अद्भुत रस का स्थायिभाव है। अतः इस रस के विवेचन में अतिप्राकृत तत्त्वों की सर्वाधिक स्वीकृति निहित है। भरत के अनुसार दिव्य जनों का दर्शन, अभीष्ट मनोरथों की प्राप्ति, उपवन व देवकुल में गमन, सभा (गृह-विशेष) विमान (दिव्य रथ), माया (रूप-परिवर्तन, अदृश्यता आदि) और इन्द्रजाल (मंत्र, द्रव्य व वस्तु की युक्ति से असंभव वस्तु का दर्शन) अद्भुत रस के विभाव हैं।[5]

---

1 स च विकृतरवसत्त्वदर्शन ... विभावैरुत्पद्यते। वही 6 पृ० 326
2 राजा—(उत्थाय) मा तावत् सत्त्वानि सर्वैरभिभूयन्ते यहाँ। शाकुन्तल अंक 6
3 ना० शा० 6 अ० भा० पृ० 326
4 शाकुन्तल 3.25
5 अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः। स च दिव्यजनदर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युपवनदेवकुलादिगमनसभाविमानमायेन्द्रजालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। ना० शा० 6 पृ० 329

भरत ने अद्भुत रस के विषय में दो आनुवंश्य श्लोक उद्धृत किये हैं। प्रथम में अतिशय से युक्त वाक्य, शिल्प अथवा कर्म विशेष को अद्भुत रस का विभाव बताया गया है तथा दूसरे में उसके अनुभाव वर्णित हैं।[1] धनञ्जय ने अतिलोक (लोक-सीमा का अतिक्रमण करने वाले) पदार्थों को, विश्वनाथ ने लोकातिग वस्तुओं को तथा रामचन्द्र व गुणचन्द्र ने दिव्य प्राणी, इन्द्रजाल, अतिशययुक्त आनन्दप्रद वस्तुओं (शिल्प, कर्म, रूप, वाक्य, गन्ध, रस, स्पर्श, नृत्य, गीत आदि) के दर्शन व अभीष्ट सिद्धि को अद्भुत रस का विभाव माना है।[2]

भरत के अनुसार अद्भुत रस दो प्रकार का होता है—दिव्य और आनन्दज। प्रथम अलौकिक वस्तुओं के दर्शन से तथा द्वितीय हर्ष से निष्पन्न होता है।[3]

अद्भुत रस के पूर्वोक्त विभावों में कुछ स्पष्टतः अतिप्राकृतिक तत्त्वों के प्रतिनिधि हैं जैसे दिव्य जनों का दर्शन, विमान, माया और इन्द्रजाल। अद्भुत रस के दिव्य नामक भेद में दिव्य व्यक्तियों व वस्तुओं के दर्शन के रूप में अतिप्राकृतिक तत्त्व स्वीकृत हैं।

भरत ने निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस की योजना आवश्यक बतायी है जिसके महत्त्व का विवेचन हम कथावस्तु के अन्तर्गत कर चुके हैं।[4] इस योजना का मुख्य ध्येय नाटक के अन्त को चमत्कारपूर्ण बनाना है। इस दृष्टि से संस्कृत नाटककारों ने अनेक उपायों का आश्रय लिया है। कुछ नाटकों में दिव्य हस्तक्षेप व साहाय्य द्वारा, कुछ में प्रत्यभिज्ञान व रहस्योद्घाटन द्वारा और कुछ में किसी आकस्मिक व अप्रत्याशित घटना की योजना द्वारा नाटक के अवसान को सुखमय व विस्मयकारी बनाया गया है।

भरत ने अद्भुत रस की उत्पत्ति वीर रस से मानी है[5] तथा उसे वीर का कर्म बताया है। वीर पुरुष के शौर्यकर्म दूसरों के लिए विस्मयजनक होते हैं, सम्भवतः इसी दृष्टि से ऐसा कहा गया है। किन्तु अद्भुत को केवल वीर के कर्म तक सीमित रखना उचित प्रतीत नहीं होता। स्वयं भरत ने दिव्य जनों के दर्शन, माया व इन्द्र-

---

1 वही 6 75-76
2 द० रू० 4 78 सा० द० 3 243 ना० द० 3 121
3 दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा स्यादोऽद्भुतो रसः।
दिव्यदर्शनजो दिव्यो हर्षादानन्दजः स्मृतः॥ ना० शा० 6 82
4 दे० प्रस्तुत अध्याय, पृ० 74 76
5 वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः। ना० शा० 6 39

जाल आदि को इसका विभाव माना है। भोज के मत में अद्भुत रस वीर में ही नहीं, शृंगार में भी उत्पन्न हो सकता है।[1]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अद्भुत रस अलौकिक, अपरिचित, अप्रत्याशित व असाधारण वस्तु-व्यापार के गोचरीकरण से अभिव्यक्त होता है। इसके मूल में अतिशय व लोकातिक्रान्तता के तत्त्व निहित रहते हैं। वस्तुतः ये तत्त्व केवल नाटक तक ही सीमित नहीं हैं, काव्य और कलाओं के सभी रूपों में इनकी व्याप्ति है। काव्य में ही क्यों जीवन की प्रत्येक सौन्दर्यानुभूति में लोकोत्तरता और विस्मय की भावना निहित रहती है। डा० वी० राघवन के शब्दों में— विस्मय तत्त्व लौकिक व कलात्मक आनन्दानुभूति का एक अपरिहार्य तत्त्व है। कला और साहित्य में आश्चर्य, असाधारण और विस्मय का तत्त्व सर्वत्र विद्यमान रहता है।[2]

संस्कृत आलंकारिकों ने वैचित्र्य, विच्छित्ति, चमत्कार, रमणीयता, वक्रता, चारुता आदि के रूप में काव्य में विस्मय के आधारभूत तत्त्वों का ही महत्त्व प्रतिपादित किया है। भामह ने वक्रोक्ति को लोकातिक्रान्तगोचरवचनरूपा अतिशयोक्ति से अभिन्न मानते हुए[3] कहा है कि इसके बिना अलंकार को अलंकारत्व प्राप्त नहीं होता।[4] अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वे हेतु, सूक्ष्म व लेश को अलंकार नहीं मानते।[5] उनके मत में 'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः' आदि वक्रोक्ति-शून्य उक्तियाँ काव्य नहीं, वार्ता मात्र हैं।[6] भामह के समान दण्डी ने भी अतिशयोक्ति को अलंकारों का मूलतत्त्व माना है[7] और आनन्दवर्धन ने इसे सर्वालंकाररूपा[8] कहा है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को सकलालंकारसामान्य[9] बताया है और अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में इसे एक व्यापक सिद्धान्त के रूप में विकसित किया है। मम्मट

---

1. दे० डा० वी० राघवन, भोजाज शृंगारप्रकाश, पृ० 45
2. दि नम्बर आव् रसाज, पृ० 171
3. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
   मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा॥ — काव्यालंकार 2.81
4. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
   यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥ — वही 2.85
5. वही 2.86
6. वही, 2.87
7. अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
   वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥ — काव्यादर्श 2.220
8. ध्वन्यालोक 3, 36 की वृत्ति
9. वक्रोक्तिजीवित 1.31 की वृत्ति

के अनुसार अतिशयोक्ति समस्त अलंकारों में प्राणरूप में रहती है।[1] इससे स्पष्ट है कि संस्कृत अलंकारशास्त्र वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति के रूप में 'लोकातिक्रान्तगोचर' उक्ति को काव्यात्मक अभिव्यक्ति का अनिवार्य लक्षण मानता है।[2] भामह व कुन्तक ने इसी मान्यता के कारण वार्ता व स्वभावोक्ति को अलंकार मानने का विरोध किया है।[3] जो आलंकारिक स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं वे भी वस्तुस्वभाव के वर्णनमात्र को स्वभावोक्ति नहीं कहते[4] अपितु कविप्रतिभा की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकारान्तर से उसमें भी अलंकार मात्र के सामान्य तत्त्व वैचित्र्य, वक्रता या अतिशय की स्थिति स्वीकार करते हैं।[5] इससे सिद्ध है कि भारतीय काव्य-दृष्टि साधारणतः वस्तुओं के कल्पनाशून्य यथावत् वर्णन को काव्य की श्रेणी में स्थान नहीं देती। वह उन्हीं शब्दार्थों को काव्य मानती है जिनमें लोकोत्तीर्णता,[6] असाधारणता, वैचित्र्य, चमत्कारजनकता आदि तत्त्व विद्यमान रहते हैं। वह यथार्थ व लौकिक को अस्वीकार नहीं करती किन्तु उसके अन्तस् में निहित अलौकिकता व असाधारण्य को ही काव्य का समुचित विषय मानती है। इस प्रकार वह लौकिक को लोकोत्तर में और लोकोत्तर को लौकिक में जोड़ देती है। संस्कृत साहित्य में लौकिक व अलौकिक का जो सद्भाव, सामंजस्य या अभेद दिखाई देता है उसमें भारतीय काव्य-दृष्टि की उक्त मान्यता भी एक कारण प्रतीत होती है। हमारे आलंकारिकों ने शब्द व अर्थ के स्तर पर वक्रता व अतिशय के रूप में जिस अलौकिकता को काव्यात्मक अभिव्यक्ति का सामान्य तत्त्व माना है हमारे नाटककारों ने प्राकृत जगत् व मानव जीवन के चित्रण में अद्भुत रस के आधारभूत अतिप्राकृत तत्त्वों के रूप में उसी का सौन्दर्यमय साक्षात्कार करते हुए भारतीय काव्य की पूर्वोक्त दृष्टि का ही अनुगमन किया है।

रसवादियों ने रस को एक अलौकिक आस्वाद माना है जो विस्मय का ही नामान्तर है। विश्वनाथ ने अपने वृद्ध पितामह नारायण के मत का उल्लेख किया है

---

1 काव्यप्रकाश, 10 136 की वृत्ति

2 यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भामह, आनन्दवर्धन, मम्मट आदि ने अतिशयोक्ति नामक अलंकार विशेष को नहीं अपितु लोकातिक्रान्तगोचर उक्ति रूप अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का मूल तत्त्व माना है। द० डा० रामचन्द्र द्विवेदी-कृत, अलंकार मीमांसा, पृ० 312

3 काव्यालंकार 2 87, व० जी०, 1 11–14

4 दे० रुय्यककृत अलंकार सर्वस्व, पृ० 223 (निर्णय सागर संस्करण)

5 किंच वैचित्र्यमलंकार इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता इति सैवालंकारभूमिः। (काव्यप्रकाश, 9 85 की वृत्ति)

6 शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेवासावलंकारस्यालंकारभाव, लोकोत्तरत्वैव चातिशय, तेनातिशयोक्ति सर्वालंकारसामान्यम्। ध्वन्या० 3 36 पर लोचन, पृ० 467

जिनके अनुसार अद्भुत ही एकमात्र रस है जो सभी रसों में प्रारम्भ से विद्यमान रहता है। प्रत्येक रस में सहृदय का लोकोत्तर चमत्कार की प्रतीति होती है, चित्त-विस्तार रूप यह चमत्कार या विस्मय ही समस्त रसों का प्राणभूत तत्त्व है, अत नारायण के मत म अद्भुत ही एकमात्र रस है।[2]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अद्भुत रस केवल अतिप्राकृत तत्त्वों तक सीमित नहीं है, अपितु सभी प्रकार के अतिशयी, असाधारण व आकस्मिक तत्त्व उसके आधार हो सकते हैं। किन्तु संस्कृत नाटकों में अद्भुत रस की योजना प्राय अतिप्राकृतिक तत्त्वों के आधार पर ही की जाती है—विशेष रूप से महाकाव्यों व पौराणिक कथाओं पर आधारित नाटकों में।

भरत व अन्य आचार्यों ने हास्य, वीर और बीभत्स रसों के विवेचन में किसी अतिप्राकृत तत्त्व का उल्लेख नहीं किया। हास्य रस का तो अतिप्राकृत तत्त्वों के साथ कोई विशेष सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, पर वीर व बीभत्स रस कुछ स्थितियों म इन तत्त्वों से सम्बद्ध हो सकते हैं। संस्कृत नाटकों में अनेक स्थलों पर अद्भुत रस से परिपुष्ट वीर रस का चित्रण हुआ है। वीर का पोषक यह अद्भुत रस प्राय अति-प्राकृत तत्त्वों के माध्यम से उन्मीलित होता है। इसी प्रकार बीभत्स रस की निष्पत्ति में भी अतिप्राकृत तत्त्वों का योगदान सम्भव है। भवभूति ने मालतीमाधव के श्मशान दृश्य म भूत, प्रेत, पिशाच आदि अतिप्राकृत तत्त्वों के माध्यम से शृंगार के अंग के रूप म अद्भुत, रौद्र भयानक व बीभत्स आदि अनेक रसों की योजना की है।

ऊपर हमने संस्कृत नाटक के सन्दर्भ म अतिप्राकृत तत्त्वों की नाट्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला। हम आगे देखेंगे कि संस्कृत के अनेक नाटककारों ने अपनी कृतियों में अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग करते समय नाट्यशास्त्रीय निर्देशों का किसी सीमा तक अनुसरण किया है। यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत के उपलब्ध सभी नाटक नाट्यशास्त्र के बाद के हैं, यहा तक कि अश्वघोष के नाटकों पर भी नाट्यशास्त्र की किसी पूर्व परम्परा का स्पष्ट प्रभाव है। यद्यपि वर्तमान नाट्यशास्त्र का रचना-काल तृतीय व चतुर्थ शताब्दी ई० माना गया है पर उसका मूलरूप सम्भवत ई० पू० काल में अस्तित्व में आ चुका था।[3] इस प्रकार संस्कृत के सभी उपलब्ध नाटक

---

1 रसे सारश्चमत्कार सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रस ॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥ सा० द० 3, पृ० 78 पर उद्धृत

2 द० श्री पी० वी० काणे हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स, पृ० 21

3 श्री काणे ने वर्तमान नाट्यशास्त्र के कतिपय अंश-विशेषत षष्ठ व सप्तम अध्यायों के रसविषयक अंशों का रचनाकाल 200 ई० पू० माना है। दे० वही, पृ० 18

नाट्यशास्त्र के परवर्ती सिद्ध होते हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि वे नाट्यशास्त्र के अन्यान्य निर्देशों के साथ अतिप्राकृत तत्त्व सम्बन्धी उसके विधानों का भी अनुगमन करें। नाट्यशास्त्र के बाद इस विषय पर दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ दशरूपक (१०वीं शताब्दी ई०) लिखा गया।[1] इसमें नाट्यशास्त्र के विषयों को सीमित कर केवल वस्तु, नेता, रस तथा रूपक-भेदों का संक्षिप्त निरूपण किया गया है। परवर्ती काल के नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ अधिकतर भरत के नाट्यशास्त्र व धनंजय के दशरूपक पर ही आधारित हैं। इन ग्रंथों में रामचन्द्र गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण (१२वीं शताब्दी ई०), सागरनंदी का नाटकलक्षणरत्नकोष (१३वीं शताब्दी ई०), शारदातनय का भावप्रकाशन (१४वीं शताब्दी ई०), विश्वनाथ का साहित्यदर्पण (१४वीं शताब्दी ई०) शिंगभूपाल का रसार्णवसुधाकर (१४वीं शताब्दी ई०) विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण (१४वीं शताब्दी ई०) आदि उल्लेखनीय हैं। संस्कृत नाटककार नाट्यशास्त्र की इस समृद्ध परंपरा से तो प्रभावित हुए ही हैं, स्वयं नाटक-साहित्य की परंपरा का भी उन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। प्रतिभासम्पन्न नाटककारों ने शास्त्र व प्रयोग दोनों में बहुत कुछ ग्रहण करते हुए भी अपनी मौलिक मेधा से नाट्यसाहित्य को समृद्ध बनाने में अपूर्व योग दिया है। यह उचित ही है कि अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग में वे शास्त्र के ही पदचिह्नों पर नहीं चले, अपितु उन्होंने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा अतिप्राकृत तत्त्वों के नये-नये रूपों का भी आविष्कार किया। किन्तु अल्प प्रतिभावाले व रूढ़िवादी नाटककारों ने या तो शास्त्र का ही अनुसरण किया या अपने पूर्ववर्ती नाटकों की परम्परा का अन्ध अनुकरण।

हमारा उद्देश्य संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का एकान्तत नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करना नहीं है। हमारी यह भी मान्यता है कि केवल नाट्यशास्त्र की पृष्ठभूमि में इन तत्त्वों के स्वरूप, स्थान एवं प्रयोग के कलात्मक उद्देश्यों को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। नाट्यशास्त्र की पृष्ठभूमि इन तत्त्वों के अध्ययन का एक पक्षमात्र प्रस्तुत करती है। हमने अपने अध्ययन में जहाँ भी उचित प्रतीत हुआ है इस पक्ष की भी चर्चा की है।

---

1 अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' नामक व्याख्या तथा धनंजय के अनुज धनिक ने दशरूपक पर 'अवलोक' नाम की वृत्ति लिखी। नाट्यशास्त्र व दशरूपक का हमारा वर्तमान ज्ञान बहुत कुछ इन्हीं ग्रन्थों पर आधारित है।

३ अश्वघोष और भास के नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

संस्कृत नाटक की सबसे पुरानी उपलब्ध कृतियां अश्वघोष व भास के नाटक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनके पूर्व भी नाटक की एक समृद्ध परम्परा रही होगी,[1] किन्तु परवर्ती काल की अपेक्षाकृत विकसित व श्रेष्ठतर कृतियों ने उन प्रारंभिक नाटकों को सर्वथा भुला दिया। अतः हम अपने प्रस्तुत अध्ययन को अश्वघोष व भास के नाटकों से आरंभ कर रहे हैं।

अश्वघोष के नाटक

सन् १९११ में एच ल्यूडर्स को[2] मध्य एशिया में तुफान नामक स्थान में कुछ ताडपत्रीय पाण्डुलिपियों के त्रुटित अवशेष प्राप्त हुए जिनमें बौद्ध महाकवि अश्वघोष (प्रथम शता ई०) के एक नाटक का भी कुछ अंश सम्मिलित था। सौभाग्य से उपलब्ध अंश नाटक का अन्तिम भाग था जिसमें पुष्पिका के अन्तर्गत नाटक का नाम 'शारिपुत्र-प्रकरण' या शारद्वतीपुत्रप्रकरण' दिया हुआ है तथा उसके प्रणेता के रूप में सुवर्णाक्षी के पुत्र साकेतक अश्वघोष का नामतः उल्लेख किया गया है। इसमें बुद्ध-चरित का एक श्लोक भी मिला है जिससे इसके अश्वघोषकृत होने के विषय में रहा-

---

1 महाभाष्य में उल्लिखित कंसवध व 'बलिबन्धन' के विषय में हम पहले बता चुके हैं। कालिदास ने सौमिल्ल व कविपुत्र का प्रसिद्ध नाटककारों के रूप में सादर उल्लेख किया है। रामायण, महाभारत व हरिवंश पुराण में नाटक के अस्तित्व का संकेत देने वाले अनेक साक्ष्य प्राप्त हुए हैं यद्यपि काल की दृष्टि से उनका मूल्य विचारणीय है। अष्टाध्यायी में उल्लिखित शिलालि व कृशाश्व के नटसूत्रों को अनेक विद्वानों ने नटों की शिक्षा के लिए निर्मित ग्रन्थ माना है। 'ललितविस्तर' व 'अवदानशतक' आदि बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख आये हैं जिनमें स्वयं भगवान बुद्ध के समय में नाटक के अस्तित्व की बात कही गयी है। दे० कीथ संस्कृत ड्रामा पृ० 43

2 दे० विंटरनित्स हिस्ट्री ऑव् इंडियन लिटरेचर खंड 3, भाग 1, पृ० 198 कीथ संस्कृत ड्रामा पृ० 80

सहा सन्देह भी दूर हो जाता है।[1] ल्यूडर्स को इस नाटक की पाडुलिपि के साथ ही दो अन्य नाटकों के भी खडित अश प्राप्त हुए, किन्तु उनमें नाटक व रचयिता के नाम का उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी अश्वघोष के नाटक के साथ पाये जाने तथा भाषा, शैली आदि की दृष्टि से उनके ही सदृश होने के कारण ये दोनो भी साधारणत अश्वघोष के नाटक मान गये हैं, यद्यपि इस विषय में पूर्ण निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है 'शारिपुत्रप्रकरण' शास्त्रीय दृष्टि से एक प्रकरण है। इसमें शारिपुत्र व मौद्गल्यायन के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की कथा नौ अंकों में प्रस्तुत की गई थी, पर यह इतने खडित रूप में प्राप्त हुआ है कि उससे कथा का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। फिर भी जितना सा अश मिला है वह संस्कृत नाटक के इतिहास की दृष्टि से अपरिमेय महत्त्व रखता है। इसके पर्यालोचन से विदित होता है कि ई० प्रथम शताब्दी में जो कि अश्वघोष का स्थितिकाल है, संस्कृत नाटक उस शास्त्रीय स्वरूप को उपलब्ध कर चुका था जो परवर्ती नाटक साहित्य में हमें एक रूढिबद्ध रूप में दिखायी देता है। रूपक के प्रकरण—जैसे जटिल व विकसित प्रकार का अस्तित्व, कथावस्तु का अंकों में विभाजन, विदूषक—जैसे पात्र की योजना, संस्कृत व प्राकृत दोनों का सहप्रयोग आदि तथ्य इस बात के निश्चित प्रमाण है कि अश्वघोष के काल में संस्कृत नाटक स्वय को शास्त्रीय मर्यादाओं में लगभग पूरी तरह बाध चुका था। इस दृष्टि से अश्वघोष की यह कृति संस्कृत नाटक साहित्य की कोई प्रारम्भिक कृति नहीं है, अपितु उसके विकास की अग्रिम अवस्था की प्रतिनिधि है। हम अनुमान कर सकते है कि बौद्ध अश्वघोष ने धर्म-प्रचार की बुद्धि से संस्कृत भाषा व नाटक के माध्यम का उपयोग उनकी समृद्ध परम्परा व लोकप्रियता के आधार पर ही किया होगा।

'शारिपुत्रप्रकरण' का जो अश उपलब्ध हुआ है वह हमें उसकी कथावस्तु व पात्रों के बारे में अपरिमित सूचना देने में असमर्थ है। अत उसमें अतिप्राकृत तत्त्वों का कितना प्रयोग हुआ था यह कहना कठिन है। फिर भी यह निश्चित है कि उसमें बुद्ध के व्यक्तित्व को अलौकिक रूप में उपस्थित किया गया था। उपलब्ध अश में आए एक प्रसग में बताया गया है कि शारिपुत्र व मौद्गल्यायन जब बुद्ध के पास आये, तब बुद्ध ने उनके विषय में यह भविष्यवाणी की कि मेरे शिष्यों में तुम दोनों सर्वोच्च ज्ञान एव मायिक शक्ति प्राप्त करोगे।[2] इससे सूचित होता है कि इस नाटक में अनेक अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश रहा होगा।

---

1 कीथ वही पृ० 81

2 द० वही पृ० 81–82

दूसरा नाटक एक प्रतीकात्मक नाटक प्रतीत होता है जिसमें बुद्धि, धृति व कीर्ति आदि मनोवृत्यात्मक पात्रों की योजना की गई है। साथ ही प्रभामण्डल से युक्त भगवान् बुद्ध भी इसके एक पात्र हैं। इस प्रकार इसमें प्रतीकात्मक व वास्तविक दोनों प्रकार के पात्रों का समावेश है और इस दृष्टि से इसकी तुलना कवि कर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदय' से की गयी है।[1]

इस नाटक का जो खंडित अंश उपलब्ध हुआ है उसमें बुद्ध के व्यक्तित्व का अतिप्राकृत धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया है। कीर्ति व बुद्धि के एक संवाद में बुद्ध का एक—'आलोक-पुरुष' के रूप में उल्लेख हुआ है। कीर्ति बुद्धि से पूछती है कि "बुद्ध इस समय कहां निवास कर रहे हैं?" इसके उत्तर में बुद्धि कहती है—"क्योंकि बुद्ध में असीम अलौकिक शक्ति है, प्रश्न यह होना चाहिए कि वे कहां नहीं रहते वे पक्षिवत् आकाश में विचरण करते हैं जलवत् भूमि में समा जाते हैं अनेक रूप ग्रहण करते हैं, आकाश से जलधाराओं की वृष्टि कराते हैं और साध्य दीप्ति में मेघवत् सुशोभित होते हैं।[2] बुद्धि के ये शब्द भगवान् बुद्ध के लोकान्तर व्यक्तित्व की सूचना देते हैं जिनके मूल में नाटककार की उत्कट धार्मिक भावना निहित है।

यह नाटक एक अन्य दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। यह ऐसा सर्वप्रथम नाटक है जिसमें प्रतीक पात्रों की योजना की गई है। इस दृष्टि से यह प्रतीकात्मक नाटकों की उस परम्परा का अग्रणी कहा जा सकता है जिसमें अनेक शताब्दियों बाद 'प्रबोध-चन्द्रोदय' आदि नाटकों का निर्माण किया गया। इसी अध्याय में हम बतायेंगे कि भास ने भी अपने 'बालचरित' में कुछ प्रतीक पात्रों की योजना की है। सम्भव है, इस विषय में अश्वघोष का उदाहरण उनके सामने रहा हो।

तीसरा नाटक सम्भवतः एक प्रकरण है[3] जिसमें विदूषक कोमुदगंध, वेश्या *मागधवती, नायक (सम्भवतः सोमदत्त नामक), दुष्ट तथा धनञ्जय* (जो 'भट्टिदालक' कहा गया है) आदि पात्रों की योजना की गई है। धार्मिक उपदेश के लिए रचित होने पर भी इसमें लेखक ने हास्य रस की सुष्ठु योजना की है।[4] इसमें विदूषक परवर्ती नाटकों के समान सुस्वादु भोजन के प्रेमी के रूप में अंकित है। पूर्वोक्त दोनों नाटकों की तरह यह भी इतने खंडित रूप में मिला है कि इसकी प्रतिपाद्य वस्तु के बारे में कोई निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती। अतः यह कहना कठिन है कि

---

1 कीथ वही, पृ० ८४

2 द० विंटरनित्ज हिस्ट्री आव् इंडियन लिटरेचर, खंड 3 भाग 1 पृ० 195

3 दे० डा० वी० राघवनकृत 'दि सोशल प्ले इन संस्कृत' पृ० 6

4 कीथ पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० 84

उनमें अतिप्राकृतिक तत्त्वों का प्रयोग हुआ था या नहीं और हुआ था तो कितना और कैसा ?

भास के नाटक

एक प्राचीन व प्रख्यात नाटककार के रूप में संस्कृत साहित्य में भास की चर्चा बहुत पुरानी है[1] पर आधुनिक काल में उनकी कृतियों से हमारा सर्वप्रथम परिचय वर्तमान शती के प्रारम्भ में ही हो सका। सन् १९०९ में श्री गणपति शास्त्री को केरल में भास के तेरह नाटकों की हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त हुई जिन्हें उन्होंने "त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला' में प्रकाशित कराया। इनके प्रकाशन के साथ ही इनके *कर्तृत्व, प्रामाणिकता व रचनाकाल के विषय में एक तीव्र विवाद उठ खड़ा हुआ* जिसमें अनेक देशी विदेशी विद्वानों ने सोत्साह भाग लिया। कुछ ने इन्हें प्राचीन व प्रामाणिक मानते हुए कालिदास के पूर्ववर्ती भास की मूल कृतियों के रूप में स्वीकार किया। कुछ अन्य विद्वानों ने इस दृष्टिकोण का खंडन कर इनकी प्रामाणिकता पर एक बड़ा सा प्रश्नचिह्न अंकित कर दिया। इन दोनों मतों के मध्य एक तृतीय मत यह प्रस्तुत किया गया कि ये नाटक भास के मूल नाटक नहीं अपितु रंगमंच व अभिनय की दृष्टि से किये गये उनके संक्षिप्त संस्करण हैं।[2] कुछ विद्वानों ने प्रतिज्ञायौगन्धरायण व स्वप्नवासवदत्त के अतिरिक्त और नाटकों के भासकृत होने में सन्देह व्यक्त किया।[3] *भास-सम्बन्धी यह विवाद वर्षों तक चलता रहा, फिर भी मूल समस्या जहां* की तहां रही है। हमारे प्रस्तुत अध्ययन का कर्तृत्व की समस्या से कोई साक्षात सम्बन्ध न होने से हम इस विवाद के विस्तार में जाना अपेक्षित नहीं है, फिर भी यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि हमने सामान्यतः मान्य दृष्टिकोण के अनुसार इन नाटकों को भास-प्रणीत ही स्वीकार किया है। भास-सम्बन्धी सम्पूर्ण विवाद की एक रोचक बात यह है कि इसके पक्ष या विपक्ष में जितने भी तर्क दिये गये उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसका उतने ही प्रबल विरोधी तर्क द्वारा उत्तर न दिया गया हो।[4]

---

1 कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में एक प्रख्यात नाटककार के रूप में भास का सौमिल्ल और कविपुत्र के साथ उल्लेख किया है। बाणभट्ट ने हर्षचरित (प्रस्तावना, 15) में भास के नाटकों की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उनकी देवकुल से उपमा दी है। *वाक्पतिराज ने गउडवहो (म0 800)* में भास को 'ज्वलनमित्र' उपाधि से विभूषित किया है। राजशेखर के एक श्लोक में भासनाटकचक्र की अग्निपरीक्षा व उसमें स्वप्नवासवदत्त की सफलता का उल्लेख हुआ है।

2 दे0 श्री देवधर द्वारा सम्पादित 'भासनाटकचक्र' पृ0 9–10

3 डॉ0 सुखथंकर मेमोरियल एडीशन भाग 2, एनेलेक्टा, पृ0 170

4 वही, पृ0 170

ऐसी अनिश्चय की स्थिति मे इन नाटकों के साहित्यिक अध्येता के लिए इसके सिवा कोई चारा नही कि वह कर्तृत्व व प्रामाणिकता के प्रश्नों मे तटस्थ होकर इनके साहित्यिक अध्ययन मे प्रवृत्त हो। हमने यही दृष्टिकोण अपना कर इन नाटकों का अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से अध्ययन किया है।

इन नाटकों के रचनाकाल का प्रश्न भी अनिर्णीत है जो विभिन्न विद्वानों द्वारा ई पू पचम शती से लेकर ११वीं शती ई० के बीच इधर-उधर खींचा जाता रहा है।[1] भास के स्थितिकाल का प्रश्न कालिदास के स्थितिकाल से जुडा है जो स्वय विवादग्रस्त है। अत इस विषय म भी हमने बहुमान्य मत का ही अनुसरण किया है जिसके अनुसार कालिदास चतुर्थ शती ई० के अन्तिम भाग मे तथा भास उनसे कम से कम सौ या पचास वर्ष पूर्व लगभग तृतीय या चतुर्थ शती ई० मे हुए।[2] इस प्रकार भास अश्वघोष (प्रथम शती ई०) के परवर्ती हैं जिनकी प्राकृत से भास के नाटकों की प्राकृत परकालीन मानी गयी है।[3]

भास के तेरह नाटकों को विषयवस्तु व कथा-स्रोतों के आधार पर निम्न वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—

(क) रामायणमूलक नाटक – (१) प्रतिमा (२) अभिषेक
(ख) महाभारतमूलक नाटक – (३) मध्यमव्यायोग (४) पचरात्र
(५) दूतवाक्य (६) दूतघटोत्कच
(७) कर्णभार, और (८) ऊरुभग
(ग) कृष्णकथामूलक नाटक – (९) बालचरित
(घ) लोककथामूलक नाटक – (१०) प्रतिज्ञायौगन्धरायण (११) स्वप्नवासवदत्त (१२) अविमारक, और (१३) चारुदत्त

इस वर्गीकरण से विदित होता है कि भास ने अपने नाटकों के इतिवृत्त रामायण, महाभारत, पुराण व लोककथाओं से लिए हैं। उनके समय मे अवतारवाद की धारणा पर्याप्त दृढ हो चुकी थी, यह इसी से सिद्ध है कि उन्होंने कतिपय नाटकों[4] के मगल-श्लोकों मे नृसिंह, वामन व वराह आदि अवतारों या विष्णु का स्तवन किया

1 वही, पृ० 143–144 द तथा दासगुप्त हिस्ट्री आव् सस्कृत लिटरेचर पृ० 106
2 कीथ सस्कृत ड्रामा पृ० 93 विंटरनित्स हिस्ट्री आव् इडियन लिटरेचर खण्ड 3 भाग 1 पृ० 205
3 द० कीथ सस्कृत ड्रामा पृ० 94 विंटरनित्स हिस्ट्री आव् इडियन लिटरेचर, खण्ड 3, भाग 1, पृ० 205
4 अविमारक प्रतिमा अभिषेक, मध्यमव्यायोग दूतवाक्य, कर्णभार, ऊरुभग तथा बालचरित

है तथा अभिषेक में राम को एवं बालचरित व दूतवाक्य में कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में अंकित किया है। इन नाटकों में प्रयुक्त अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व राम व कृष्ण के ईश्वरत्व की सिद्धि के अंग हैं। उनमें नाटककार की उत्कट धार्मिक भावना व्यक्त हुई है। लोककथाओं पर आधारित नाटकों में से अविमारक में अतिप्राकृत तत्त्वों का अधिक प्रयोग हुआ है, उसमें इन कथाओं से अनेक अतिप्राकृत अभिप्राय लिये गये हैं। प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्त व चारुदत्त में भास की दृष्टि मानव-चरित्र पर अधिक केन्द्रित रही है अतः उनमें इन तत्त्वों का लगभग अभाव है।

(क) रामायणमूलक नाटक

भास ने राम कथा के आधार पर दो नाटकों का प्रणयन किया—प्रतिमा और अभिषेक। महाभारतमूलक नाटकों से ये स्वरूप और आकार दोनों दृष्टियों से भिन्न हैं। महाभारत की कथा पर आधारित नाटक जहाँ रूपक के व्यायोग, उत्सृष्टिकांक, समवकार आदि अवर भेदों के उदाहरण हैं, वहाँ अभिषेक और प्रतिमा दोनों रूपक के प्रधान भेद 'नाटक' के निदर्शन हैं। अभिषेक छह अंकों का नाटक है और प्रतिमा सात अंकों का किन्तु महाभारतमूलक नाटकों में पंचरात्र को छोड़कर शेष सभी एकांकी हैं। पंचरात्र तीन अंकों का है और समवकार माना गया है।[1]

प्रतिमा और अभिषेक में मिलाकर रामायण की लगभग पूरी कथा प्रस्तुत कर दी गयी है। इन नाटकों के वस्तु-विधान में लेखक ने प्रायः रामायण का अनुगमन किया है। अभिषेक के विषय में यह बात विशेष रूप से सत्य है। 'प्रतिमा' में नाटककार ने मूलकथा के अनेक प्रसंगों को परिवर्तित किया है या सर्वथा नयी कल्पनाओं का समावेश किया है। चरित्र-चित्रण और भाव-व्यंजना की दृष्टि से भी इसमें भास ने कुछ मौलिक प्रयोग किये हैं। प्रायः सभी विद्वानों की सम्मति में अभिषेक की तुलना में प्रतिमा श्रेष्ठतर कृति है।[2] प्रतिमा में मुख्यतः राम कथा का पूर्वभाग प्रस्तुत किया गया है और अभिषेक में उत्तर भाग। अभिषेक का आरम्भ सुग्रीव के राज्याभिषेक से हुआ है और अन्त राम के राज्याभिषेक के साथ। प्रतिमा का आरम्भ राम के असफल यौवराज्याभिषेक की घटना से और अन्त चौदह वर्ष के वनवास के अनन्तर उनके राज्याभिषेक के प्रसंग के साथ होता है। इस प्रकार दोनों नाटकों के आरम्भ और मध्य भिन्न हैं, पर उपसंहार का बिन्दु समान है। कीथ के अनुसार अभिषेक रामायण के तीन कांडों (किष्किन्धा, सुन्दर और युद्ध) का नीरस-सा संक्षेप है और प्रतिमा भी तत्त्वतः उससे उत्कृष्टतर नहीं है।[3] उनके मत में भास

---

1 ए० डी० पुसालकर : भास ए स्टडी, पृ० 213

2 वूलनर व सरूप : त्रिवेन्द्रम प्लेज, भाग 2, पृ० 144

3 कीथ : संस्कृत ड्रामा, पृ० 105

रामायण की कथा से इतने अभिभूत हैं कि इन नाटको मे उनकी उद्भावना शक्ति जवाब दे गयी है।[1] जो भी परिवर्तन किये गये हैं वे नगण्य और महत्त्वहीन है।[2] किन्तु कीथ का यह मत, कम से कम प्रतिमा नाटक के विषय में, निष्पक्ष प्रतीत नही होता। श्री पुसालकर ने प्रतिमा की वस्तु-योजना मे भास की मौलिक व महत्त्वपूर्ण देन का विवेचन किया है।[3] श्री अय्यर[4] और श्री उपाध्याय[5] के मत मे प्रतिमा भास के सर्वश्रेष्ठ नायकों मे से एक है। सम्प ने भी प्रतिमा को अनेक दृष्टियो से अभिषेक मे उत्कृष्टतर माना है।[6] अत कीथ का दोनो नाटको को एक ही पायस मे रखने का प्रयत्न उचित प्रतीत नही होता।

प्रतिमा

इसमे राम के यौवराज्याभिषेक की तैयारी तथा कैकेयी द्वारा उसमे विघ्न डालने की घटना से लेकर रावणवध व राम के राज्याभिषेक तक की रामायण की कथा सात अंको मे प्रस्तुत की गयी है। कथा के प्रस्तुतीकरण म पर्याप्त नवीनता है। कुछ प्रसग बदल दिये गये हैं और कुछ नूतन प्रसगों की योजना की गयी है। प्रथम अक मे वल्कल-सम्बन्धी प्रसग भास की नयी कल्पना है। तृतीय अक मे भरत द्वारा प्रतिमागृह मे दशरथ की प्रतिमा का दर्शन और उसके माध्यम से अयोध्या मे घटित वृत्तान्त का ज्ञान भास की नूतन उद्भावना है। नाटक का नामकरण इसी प्रसग पर आधारित है। पचम अक म सीताहरण की घटना का भास ने नये रूप मे प्रस्तुत किया है। छठे अक मे दो नयी कल्पनाए की गयी हैं। सुमन्त्र जनस्थान की यात्रा से लौटकर रावण द्वारा सीता के हरण का दुखद समाचार सुनाता है। कैकेयी भरत द्वारा पुन उपालम्भ दिये जाने पर यह रहस्योद्घाटन करती है कि राजा दशरथ को किसी मुनि का शाप था। उस शाप को सत्य करने के लिए ही उसने भरत को राज्य और राम को वनवास देने की याचना की थी। इसी अक मे भरत सीता की मुक्ति के लिए अपनी सेना को लका भेजने का निश्चय करते है। सप्तम अक मे जनस्थान मे माताओ, भाइयो व प्रजाजनो की उपस्थिति मे राम का राज्याभिषेक सम्पन्न होता है। अनन्तर वे पुष्पक विमान मे बैठकर अयोध्या लौटते हैं।

---

1 दि सस्कृत ड्रामा, पृ० 101
2 वही, पृ० 105
3 भास–ए स्टडी, पृ० 255–257
4 ए० एस० पी० अय्यर भास, पृ० 153
5 श्री बलदेव उपाध्याय द्वारा सम्पादित 'भासनाटकचक्र' भाग 1, पृ० 98
6 त्रिवेन्द्रम प्लेज, भाग 2, पृ० 144

कथावस्तु के अतिरिक्त चरित्र चित्रण में भी भास ने नूतन प्रयोग किये हैं। यों तो नाटक के सभी प्रधान चरित्र हृदयग्राही है, पर भरत और कैकेयी के चरित्र निरूपण में भास ने नया दृष्टिकोण अपनाया है। कैकेयी के पारम्परिक चरित्र का उन्नयन किया गया है। भरत, सीता और राम के चरित्र भी रामायण की अपेक्षा अधिक उदात्त और परिमार्जित है। भाव-व्यजना की दृष्टि से भी यह नाटक पर्याप्त मौलिकता लिये हुए है। श्री पिशोराती ने इसके द्वितीय अंक को समस्त संस्कृत-साहित्य में 'एकमात्र विशुद्ध दु खान्त-चित्र' कहा है।[1] वेल्स ने इसे अभिषेक के विपरीत एक अतिशय सवेदनात्मक व सुगठित काव्य-नाटक माना है।[2]

कथावस्तु मे अतिप्राकृत तत्त्व

यह नाटक मुख्यत रामकथा के पूर्वभाग पर आधारित है, अत अभिषेक की तुलना मे इसमे अतिप्राकृत तत्त्व स्वल्प हैं। इसमे कथा का केन्द्रीय स्थान अयोध्या म दशरथ के राजपरिवार की दु खद घटनाए है। उसी केन्द्र के चारो ओर कथा का वृत्त खींचा गया है। नाटक की दृश्य कथावस्तु अयोध्या, उसके समीप मे स्थित प्रतिमागृह तथा जनस्थान इन तीन स्थानो तक सीमित है। राम और सुग्रीव की मैत्री, वाली का वध, राम व रावण का युद्ध, सीता का उद्धार आदि प्रसग केवल सूचित किये गये हैं, अत वे गौण है। रामायण म भी रामकथा का पूर्वभाग अतिप्राकृत तत्त्वो से प्राय मुक्त है वह मानव के लौकिक जीवन का ही एक अध्याय प्रतीत होता है। फिर भास ने उसे और भी अधिक लौकिक व मानवीय बनाने का प्रयास किया है, अत प्रतिमा मे अतिप्राकृत तत्त्वो की योजना काफी सीमित है। कवि की दृष्टि मुख्यत मानवचरित्र और उसके अन्त सौन्दय के उद्घाटन पर केन्द्रित रही है, तथापि कुछ महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृत तत्त्व विशिष्ट नाटकीय उद्देश्यो से नियोजित किये गये है, जिनका विवरण आगे दिया जा रहा है।

पूवजों का दशन द्वितीय अक के अन्त मे राजा दशरथ को मृत्यु के समय दिलीप, रघु व अज ये तीन मृत पूवज दिखायी देते है। राजा सोचता है कि ये पितृगण राम के वनवास मे दग्ध हुए मेरे हृदय को आश्वस्त करने आये हैं। वह आचमन के लिए जल मगाता है। आचमन करने पर उसे उक्त पूर्वज सुस्पष्ट दृष्टिगत होते है। वह जान जाता है कि मेरा इन पितरो के साथ रहने का समय आ गया है, ये मुझे लेने के लिए ही आये हैं। वह राम, सीता व लक्ष्मण तीनो का स्मरण कर

---

1 ए0 डी0 पुसालकर-भास-ए स्टडी, पृ0 262 पर उद्धृत।
2 हेनरी डब्ल्यू वेल्स दि क्लासिकल ड्रामा ऑव इंडिया, पृ0 26

कहता है कि मैं पितरों के पास जा रहा हूं। अनन्तर वह 'हे पितृगण! मैं आ रहा हूं' यह कहता हुआ मूर्च्छित हो जाता है।[1]

भास ने अभिषेक[2] और 'ऊरुभंग'[3] में भी क्रमश बाली और दुर्योधन की मृत्यु के समय इस प्रकार की कल्पना प्रस्तुत की है। भास के समय में सामान्य जनता में यह विश्वास प्रचलित था कि मृत्यु के समय व्यक्ति को 'कुछ' दिखायी देता है। अविमारक में भास ने इस विश्वास का उल्लेख किया है।[4] यह 'कुछ' सम्भवत म्रियमाण व्यक्ति की पारलौकिक गति का सूचक माना जाता था। ऊरुभंग व अभिषेक में बाली को मरते समय दिव्य विमान, अप्सराएं व गंगा आदि नदियां दिखायी देती हैं, पर प्रतिमा में दशरथ को केवल तीन पूर्वज ही दृष्टिगत हुए हैं। दशरथ का यह 'दर्शन' मृत्युकालीन दृष्टिदोष या मानसिक भ्रम भी हो सकता है, पर नाटककार ने इसका दशरथ के एक यथार्थ अनुभव के रूप में ही चित्रण किया है। अत इस प्रसंग को हम अतिप्राकृत ही कहेंगे। सम्भवत नाटककार ने इसे सांकेतिक या प्रतीकात्मक रूप में निबद्ध किया है। इसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि दशरथ की मृत्यु सन्निकट है तथा वह अपने मृत पूर्वजों में सम्मिलित होने के लिए जा रहा है। साथ ही कुशल नाटककार ने इस कल्पना द्वारा तृतीय अंक के प्रतिमागृह के प्रसंग का भी पूर्व संकेत दे दिया है। दशरथ को मृत्यु के समय जो पूर्वज दिखाई देते हैं प्रतिमागृह में उन्हीं की प्रतिमाओं में दशरथ की प्रतिमा सम्मिलित की गई है।

काचनपार्श्व मृग राक्षसी माया पंचम अंक में रावण एक परिव्राजक का रूप धारण कर जनस्थान में राम के आश्रम में आता है। राम उस समय अपने पिता के श्राद्ध के विषय में चिन्तित हैं जो अगले दिन किया जाना है। परिव्राजक बना हुआ रावण स्वयं को अन्यान्य शास्त्रों के साथ श्राद्धकल्प का भी विशेषज्ञ बताता है। राम उससे पूछते हैं कि पितर लोग किस बलि से सबसे अधिक प्रसन्न होते हैं। रावण अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त हिमालय में रहने वाले किन्तु मनुष्यों के लिए अदृश्य काचनपार्श्व नामक मृग की बलि को सर्वश्रेष्ठ बताता है। उसी समय रावण की माया से राम को दिशाओं में बिजली की-सी चमक दिखाई देती है। रावण कहता है कि यही वह काचनपार्श्व मृग है, हिमालय ने स्वयं इसे आपके पास भेज कर,

---

1 भास नाटक चक्र, पृ० 271 (ओरियण्टल बुक एजेंसी पूना, 1962)

2 प्रथम अंक, वही, पृ० 328 29

3 वही, पृ० 509

4 आ अन्तकाले मनुष्या किमपि पश्यन्ति। वही, पृ० 153

आपको सम्मान दिया है ।[1] राम सोचते हैं कि मेरे पिता के भाग्य से ही स्वर्ण मृग स्वतः यहां आया है । वे सीता को परिव्राजक की सेवा-शुश्रूषा का आदेश देकर मृग को मारने के लिए चले जाते हैं । लक्ष्मण भी उस समय किसी कार्य से आश्रम के बाहर गये हुए हैं । रावण माया द्वारा अपना राक्षस रूप प्रकट कर भयभीत सीता को बलात् उठाकर आकाश में उड़ जाता है ।[2]

मायामृग की कल्पना रामायण में भी आयी है पर नाटककार ने यहां उस नवीन रूप में संयोजित किया है । रामायण के अनुसार मारीच नामक राक्षस सुनहले व रुपहले पार्श्ववाले मृग का रूप धारण कर सीता की दृष्टि आकृष्ट करता है ।[3] सीता उसके अद्भुत रूप पर मुग्ध होकर उसे जीवित या मृत किसी भी रूप में पाने की इच्छा प्रकट करती है । लक्ष्मण चेतावनी देते हैं कि यह मृग राक्षसी माया है,[4] पर राम सीता की तीव्र इच्छा देखते हुए मृग को पकड़ने के लिए चल देते हैं । किन्तु नाटक में राम का उद्देश्य दूसरा ही है । वे अपने पिता के श्राद्ध में बलि अर्पित करने के लिए मृग को प्राप्त करना चाहते हैं । इस नवीन उद्देश्य की कल्पना द्वारा नाटककार ने सीता व राम दोनों के चरित्र को परिमार्जित किया है । न यहां सीता मृग के लिए लालायित है और न राम ही दयिता की इच्छापूर्ति के लिए मृग का पीछा कर रहे हैं ।

अपरिहरणीय शाप षष्ठ अंक में कैकेयी का निर्देश पाकर सुमंत्र किसी मुनि द्वारा दशरथ को दिये गये शाप का वृत्तान्त सुनाता है । इस वृत्तान्त के अनुसार दशरथ ने किसी मुनिकुमार को जब वह सरोवर में पानी भर रहा था, भ्रम से वनगज समझ कर शब्दवेधी बाण से मार दिया था । तब उसके पिता नेत्रहीन मुनि ने दशरथ को शाप दिया था कि तुम भी मेरी ही तरह पुत्रशोक से मरोगे ।[5] कैकेयी भरत को समझाती है कि मैंने शाप के निमित्त ही वत्स राम को वन में भेजने का अपराध किया, राज्य-लाभ से नहीं । मुनि का अपरिहरणीय शाप पुत्र के विप्रवास के बिना

---

1 राम (दिशो विलोक्य) अये विद्युत्सम्पात इव दृश्यते ।
रावण (प्रकाशम्) कौसल्यामातः । इहस्थमेव भवन्तं
पूजयति हिमवान् । एष काञ्चनपार्श्वः ।

भा० ना० च० पृ० 298

2 सीता मायामुपाश्रित्य रावणेन तता हृता । प्रतिमा, 6 11

3 सा तं सम्प्रेक्ष्य सुश्रोणी कुसुमानि विचिन्वती ।
हेमराजतवर्णाभ्यां पार्श्वाभ्यामुपशोभितम् ॥ अरण्यकाण्ड, 42 1

4 मृगा ह्येवंविधा रत्नविचित्रा नास्ति राघव ।
जगत्यां जगतीनाथ मायैषा न संशयः ॥ वही, 42 8

5 यथाहं भवानप्येवं पुत्रशोकाद् विपत्स्यसे ॥ वही, 6 15

परिहार्य नहीं हो सकता था।[1] कैकेयी भरत को यह भी बताती है कि मैं राम को चौदह दिन के लिए ही वन भेजना चाहती थी पर घबराहट में मेरे मुंह में 'दिवस' की जगह 'वर्ष' शब्द निकल गया।[2]

अंध मुनि द्वारा दशरथ को शाप देने की बात रामायण में ली गयी है।[3] पर नाटककार ने उसे कैकेयी की वरयाचना में सम्बद्ध कर मूल कथा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया है। इस परिवर्तन का उद्देश्य स्पष्टतः कैकेयी को निर्दोष सिद्ध कर उसके चरित्र का उन्नयन करना है। नाटककार का यह प्रयत्न सराहनीय है, पर वह स्वाभाविक और विश्वासजनक नहीं हो सका है। इस विषय में हमारी कुछ जिज्ञासाएं अनुत्तरित रह जाती हैं। यदि मुनि का शाप अपरिहरणीय था तो वह स्वतः ही क्रियान्वित क्यों नहीं हुआ? कैकेयी का उसे सत्य बनाने की आवश्यकता क्यों हुई? क्या इस प्रकार वह अपने पति की मृत्यु का कारण नहीं बनी? यदि उसके मुंह से घबराहट में 'चौदह दिवस' के स्थान पर 'चौदह वर्ष' निकल गया तो क्या वह अपने कथन में संशोधन नहीं कर सकती थी? सच तो यह है कि नाटककार अपनी इस नूतन कल्पना को सुसंगत रूप देने में असफल रहा है। सारा ही प्रसंग एक लीपापोती जैसा लगता है। यह तो ठीक है कि शाप अपरिहार्य होता है, पर उसकी क्रियान्विति शापदाता की अपनी शक्ति पर निर्भर होती है, किसी अन्य के प्रयास पर नहीं। रामायण में रामवनगमन की पृष्ठभूमि पूरी तरह लौकिक और मानवीय है, पर नाटककार ने उसे शाप से सम्बद्ध कर एक अतिमानवीय आधार दे दिया है। इससे कैकेयी का चरित्र आदर्श तो बन गया पर वह रामायण के समान स्वाभाविक नहीं रहा।

उक्त तत्त्वों के अतिरिक्त इस नाटक में रावण का सीता को लेकर आकाश में उत्पतन,[4] वहां जटायु के साथ उसका युद्ध[5] तथा पुष्पक विमान द्वारा यात्रा[6]

---

1 जात। एतन्निमित्तमपराधे मां निक्षिप्य पुत्रका राजा वनं प्रेषितः न खलु राज्यलोभेन। अपरिहरणीयो महर्षिशापः पुत्रविप्रवासं विना न भवति। भा० ना० च० पृ० 309

2 जात। चतुर्दश दिवसा इति वक्तुकामया पर्याकुलहृदयया चतुर्दश वर्षाणीत्युक्तम्।
भा० ना० च० पृ० 309

3 अयोध्याकांड, सर्ग 64

4 योऽहमुत्पतिता व्योम्नि दग्धः सूर्यरश्मिभिः। प्रतिमा 5.20

5 हन्तेतदन्तरिक्षे प्रवृत्तं युद्धम्। भा० ना० च० पृ० 302

6 आः ज्ञातम्। सम्प्राप्तं पुष्पकं दिवि गवाक्षं विमानम्।
इदमस्मदिच्छानुरूपमुपगच्छतीति। तत् सर्वैरारुह्यताम्।
वही पृ० 317

आदि अतिप्राकृत प्रसग भी आये हैं । ये प्रसग रामायण पर आधारित हैं एव नाटक के वस्तु-विकास मे इनका कोई विशेष योगदान नहीं है ।

अतिप्राकृत पात्र

प्रतिमा मे भास का लक्ष्य मानव राम के चरित्र को अकित करना है, न कि ईश्वरीय अवतार राम का । इस दृष्टि से प्रतिमा और अभिषेक मे रात-दिन का अन्तर है । अभिषेक मे राम को बार-बार विष्णु का अवतार बताया गया है तथा उनके ईश्वरीय रूप की स्तुति की गई है । दोनों नाटको मे राम के व्यक्तित्व के इस अन्तर को देखते हुए कुछ विद्वानो ने इन दोनों की एककर्तृकता मे सन्देह व्यक्त किया है । हमारे मत मे नाटककार के दृष्टिभेद, उद्देश्यभेद तथा नाटकीय वस्तु की भिन्नता के कारण दोनो नाटको मे राम का स्वरूप भिन्न रूपों मे अकित हुआ है । प्रतिमा मे भी रावण के एक कथन मे राम की ईश्वरता का सकेत दिया गया है ।[1] इससे स्पष्ट है कि नाटककार राम के ईश्वरीय रूप से परिचित होते हुए भी प्रस्तुत नाटक मे उनके मानव रूप को ही प्रमुखता देना चाहता है ।

रावण रामायण से कुछ भिन्न होने पर भी प्रतिमा के रावण का व्यक्तित्व पौराणिक कल्पनाओ मे ढला हुआ है । वह एक वचक, मायावी, दभी और अत्याचारी व्यक्ति है । राक्षस होने के कारण वह रूप-परिवर्तन व माया-प्रदर्शन मे कुशल है । उसमे आकाश मे उडने की शक्ति है । वह दभपूर्वक कहता है कि मैं वही रावण हू जिसने युद्ध मे देवो और दानवो को पराजित किया, इन्द्र को नष्ट किया, कुबेर को कँपा दिया, चन्द्रमा को खीच लिया तथा यमराज को कुचल दिया ।[2]

दशरथ नाटक मे दशरथ का चरित्र मुख्यत मानवरूप मे अकित है पर उसके बारे मे कुछ अतिप्राकृत बातो का भी उल्लेख किया गया है । ये उल्लेख पौराणिक कल्पनाओ पर आधारित हैं । प्रथम अक मे प्रतिहारी ने दशरथ को 'देवासुरसग्राम मे अप्रतिहतरथ' बताया है ।[3] राम के कथनानुसार 'दशरथ' दानवो के साथ युद्ध मे देवो की सहायतार्थ अपनी सेना-सहित स्वर्ग जाया करते थे ।[4]

अतिप्राकृत लोकविश्वास

प्रतिमा मे कतिपय अतिप्राकृत लोकविश्वासो का भी चित्रण मिलता है ।

---

1 अहो बलमहो वीर्यमहो सत्त्वमहो जय ।
राम इत्यक्षररल्पै स्थाने व्याप्तमिद जगत ॥
वही, 5 14

2 वही, 6 17

3 आर्य, महाराजो देवासुरसग्रामेष्वप्रतिहतरथो दशरथ आज्ञापयति । भा०ना० च०, प० 250

4 प्रतिमा, 4 17

इनमें दैव-सबधी विश्वास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राम के यौवराज्याभिषेक में कैकेयी द्वारा उत्पन्न विघ्न में 'दैव' की अदृश्य भूमिका मानी गयी है। राजप्रासाद से स्त्रियों व पुरुषों का तुमुल आर्तनाद सुनकर राम कहते हैं—"अवश्य ही दैव ने स्वयं को प्रभावशाली मानते हुए मूल पर आघात किया है।"[1] काञ्चुकीय के कथनानुसार दशरथ जैसे महापुरुषों को आपत्तिग्रस्त देखकर यह विश्वास होता है कि विधि का विधान सर्वथा अनतिक्रमणीय है।[2] विधाता छोटे-बड़े का अन्तर नहीं करता, वह श्रेष्ठ पुरुषों पर भी अपना बल दिखाता है।[3]

रस और अतिप्राकृत तत्त्व

म० म० गणपति शास्त्री के मत में प्रतिमा का प्रधान रस धर्मवीर रस है किन्तु डा० पुसालकर, प्रो० ध्रुव व श्री बलदेव उपाध्याय ने करुण रस को इस का अंगी रस माना है। द्वितीय अंक में जहां मृत्यु के समय दशरथ को अपने मृत पूर्वज दिखायी देते हैं, वहां विस्मयपरिपुष्ट करुणरस की अभिव्यक्ति होती है। पंचम अंक में विद्युत्-संपात-सदृश काचनपार्श्व मृग के दर्शन के स्थल में अद्भुत रस व्यक्त होता है। रावण द्वारा जहां अपना राक्षस रूप प्रकट किया गया है वहां भयानक रस है। भरत ने राक्षस आदि सत्त्वों के दर्शन को भयानक रस का विभाव माना है, यह हम पहले बता चुके हैं। जटायु और रावण का युद्ध अद्भुत-परिपुष्ट वीर रस का स्थल है। षष्ठ अंक में मुनि द्वारा दशरथ को दिये गये शाप तथा कैकेयी के रहस्योद्घाटन का प्रसंग विस्मय भाव को परिपुष्ट करता है। इस प्रकार अतिप्राकृतिक तत्त्वों के प्रयोग-स्थलों में या तो अद्भुत रस की निष्पत्ति होती है। या विस्मय से पुष्ट अन्य रसों की।

अभिषेक

इस नाटक का नामकरण अतीव सार्थक है। इसमें दो अभिषेकों की कथा समाविष्ट है—प्रथम अंक में सुग्रीव का और षष्ठ अंक में राम का। रामायण के किष्किन्धा, सुन्दर व युद्ध काडों की कथा इस नाटक की विषयवस्तु है। लेखक ने एक-दो साधारण परिवर्तनों के सिवा रामायण की मूल कथा का ही अनुगमन किया है। वस्तुत उक्त काडों की प्रमुख घटनाओं को संक्षिप्त कर नाटक का रूप दे दिया गया है। डा० पुसालकर का विचार है कि नाटककार ने बहुत जल्दी में इसकी रचना की

---

1 प्रतिमा 1 11

2 भो । कष्टम् । ईदृग्विधा पुरुषविशेषा ईदृशीमापद
प्राप्नुवन्तीति विधिरनतिक्रमणीय भा0 ना0 च0 2 पृ0 268

3 प्रतिमा, 4 22

होगी जिसमे उसे नवीन प्रसगो की उद्भावना के लिये समय नही मिला।[1] इसमे न वस्तु-योजना मे विशेष अभिनवत्व है और न चरित्र-चित्रण और भाव-व्यजना मे। नाटककार ने कुछ परिवर्तन किये है, पर वस्तु को प्रभावशाली बनाने मे उनका योगदान नगण्य है। डा० दे के मत मे नाटक मे चित्रित घटनाओ मे उद्देश्यपरक अन्विति का अभाव है। इसकी कथावस्तु को यदि रामायण के सम्बन्धित काडो का शुष्क सक्षेप न माने तो भी 'वह स्थितियो की माला' मात्र है, स्वाभाविक रूप से विकसित घटनाओ की शृखला नही।[2]

कथावस्तु मे अतिप्राकृत तत्त्व

प्रथम अक मे वाली को मृत्यु के समय गगा आदि नदिया, उवशी आदि अप्सराए तथा सौ हसो से चालित दिव्य विमान दिखायी देता है। वह वीरवाही विमान उसे लेने के लिए स्वग से आया है। वह 'मै आ रहा हू' कहता हुआ स्वग चला जाता है।[3]

यहा नाटककार ने यह सूचित किया है कि वाली को मृत्यु के अनन्तर स्वग की प्राप्ति हुई। अप्सरा, विमान आदि का दर्शन एक अतिप्राकृत घटना है। निश्चय ही नाटककार की यह कल्पना समकालीन लोकविश्वासो पर आधारित है। उस समय साधारण लोगो मे यह विश्वास रहा होगा कि मृत्यु के समय वीर या पुण्यात्मा व्यक्ति को स्वग ले जाने के लिए अप्सरा व विमान आदि आते है जो केवल मरने वाले व्यक्ति को ही प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। हम बता चुके है कि प्रतिमा और ऊरुभग मे भी क्रमश दशरथ और दुर्योधन को मृत्यु के समय इस प्रकार का दृश्य दिखायी देता है।[4] पर दोनो मे एक अन्तर है, दशरथ और दुर्योधन को अपने मृत पूवज या स्नेही जन भी दृष्टिगत होते है, किन्तु वाली को नही। वाली के इस अनुभव को हम मरणासन्न व्यक्ति का दृष्टिभ्रम भी कह सकते है, पर उसके पीछे उस व्यक्ति की वैसी आस्था या विश्वास का आधार मानना आवश्यक है।

चतुथ अक मे रावण द्वारा निष्कासित विभीषण समुद्र-तट पर स्थित राम के

---

1 भास ए स्टडी पृ0 222

2 दे व दासगुप्त ए हिस्ट्री आव सस्कृत लिट्रेचर पृ0114

3 वाली-(आचम्य) परित्यजन्तीव मा प्राणा ।
इमा गगाप्रभृतयो महानद्य एता उवश्यादयोऽप्सरसो मामभिगता ।
एष सहस्रहसप्रयुक्ता वीरवाही विमान कालेन प्रेषितो मा नेतुमागत ।
भवतु, अयमागच्छामि । (स्वर्याति)

4 भासनाटकचक्र, पृ0 271, 508

शिविर मे आकाश से उतरता है।[1] उसकी सलाह मे राम समुद्र पर दिव्य बाणों से प्रहार करने को उद्यत होते हैं कि वरुण देवता प्रकट होकर उन्हें मार्ग देना स्वीकार करता है। वरुण अन्तर्हित हो जाता है और समुद्र अपने जल को दो भागो मे विभक्त कर राम व उनकी सेना को मार्ग दे देता है।[2] राम सेना सहित समुद्र पार कर सुवेल पर्वत पर पडाव डालते हैं।

पचम अक मे रावण की नगरी लका एक नारी के रूप मे वर्णित है। वह रावण को छोडकर राम के पास जा रही है, रावण उसे रोकने का प्रयास करता है, पर वह नही रुकती।[3] यह उल्लेख्य है कि लका सामाजिकों के समक्ष साक्षात् उपस्थित नहीं होती, अपितु वह दूर जा रही है और रावण उसे पुकारता हुआ अकेला ही रगमच पर उपस्थित है।

षष्ठ अक के विष्कभक मे आकाशस्थित तीन विद्याधरो द्वारा राम व रावण के युद्ध का वर्णन किया गया है। यहा नाटककार ने युद्ध-प्रसग को साक्षात् प्रस्तुत न करने की दृष्टि से विद्याधरों के माध्यम की कल्पना की है। राम कुछ समय तक पैदल ही युद्ध करते हैं, पर बाद मे वे इन्द्र द्वारा प्रेषित दिव्य रथ पर आरूढ होकर लडते हैं। इन्द्र का रथ मातलि द्वारा सचालित है।[4] राम ब्रह्मास्त्र द्वारा रावण का वध करते है, ब्रह्मास्त्र अपना कार्य कर उन्ही के पास लौट आता है।[5]

सीता अपने चरित्र की शुचिता सिद्ध करने के लिए राम की अनुमति से अग्नि मे प्रवेश कर निर्विकार रूप मे बाहर निकल आती है।[6] स्वय अग्नि देवता उसे लेकर प्रकट होते है और उसके चरित्र की विशुद्धता प्रमाणित कर राम से उसे ग्रहण करने का अनुरोध करते हैं। वे कहते है कि सीता साक्षात् लक्ष्मी है जिसने मानुष शरीर ग्रहण कर आपको प्राप्त किया है।[7] राम अपने उत्तर म कहते है कि मैं वैदेही की शुचिता पहले से ही जानता हू, फिर भी लोक-प्रत्यय के उद्देश्य से मैंने ऐसे किया।[8]

इसी समय नेपथ्य से दिव्य गन्धर्वगण राम का विष्णु के रूप मे स्तवन करते हैं[9] तथा अग्निदेव राम को अभिषेक के लिए अपने साथ ले जाते हैं। नेपथ्य मे

---

1 अभि0 वही पृ0 349
2 विभीषण —देव। साम्प्रत द्विधाभूत इव दृश्यते जलनिधि। वही, पृ0 351
3 अभि0 5 1, वही पृ0 356
4 भा0 ना0 च0 पृ0 363
5 वही, पृ0 364
6 अभि0 6 25
7 वही, 6 28
8 वही, 6 29
9 वही, 6 30

देवताओ की उपस्थिति मे दशरथ के हाथो राम का राज्याभिषेक सम्पन्न होता है।[1] इन्द्र के आदेश से भरत शत्रुघ्न तथा राम की प्रजा आदि भी वहा आ जाते हैं।[2] सभी लोग राम को बधाइया देते ह।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि नाटककार न अधिकतर अतिप्राकृत तत्त्व रामायण से लिए है। हनूमान् का समुद्र-लघन, लका मे उनके अतिमानुषिक काय, विभीषण का आकाश माग से राम की शरण मे गमन, शुक व सारण द्वारा वानर रूप का ग्रहण, इन्द्र द्वारा प्रेषित रथ पर आरूढ होकर राम का रावण के साथ युद्ध, सीता की अग्नि-परीक्षा, अग्नि देवता द्वारा सीता के सच्चरित्र का प्रमाणीकरण, मृत दशरथ की राम से भेट इत्यादि प्रसग रामायण पर आधारित है तथा वे नाटक मे अविकल रूप से या किंचित् परिवतन के साथ ग्रहण किये गये है।

नाटककार ने रामायण मे वर्णित एक अतिप्राकृत प्रसग को लेकर कुछ परिवर्तित किया है। नाटक के अनुसार वरुण देवता ने समुद्र के जल को दो भागो मे बाट कर राम को माग दिया। पर रामायण के अनुसार नल नामक वानर ने समुद्र के जल पर पत्थर तैराकर सेतु बनाया। इसी सेतु पर होकर राम ससैन्य समुद्र के पार गये। नाटककार ने यहा मूल कथा मे जो परिवतन किया है वह बालचरित के उस प्रसग मे साम्य रखता है जिसम यमुना नदी न दो भागो मे बट कर वसुदेव को माग दिया है।[3] सम्भवत भास को सेतु की तुलना मे माग की कल्पना अधिक प्रिय लगी होगी। वैसे इस परिवतन का नाटक के वस्तुविकास की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है।

अभिषेक मे भास न कुछ नवीन अतिप्राकृत प्रसगो की भी योजना की है जिनका समग्र नाटक की दृष्टि से तो विशेष महत्त्व नही है, पर जहा भी वे आये हैं वहा उनका कोई प्रयोजन अवश्य ह। उदाहरणाथ वाली की मृत्यु के समय अप्सरा, गगानदी व दिव्य विमान आदि अतिप्राकृतिक वस्तुए दिखायी देती है। इस कल्पना द्वारा लेखक ने हमे वाली के स्वगगमन की सूचना दी है, जिससे उसके चरित्र का उत्कष सिद्ध होता ह। अगम्यागमन का अपराधी होने पर भी राम के हाथो मृत्यु पाने से वह पापमुक्त होकर स्वग का अधिकारी बना। यहा वाली के प्रति नाटककार की प्रच्छन्न सहानुभूति भी व्यक्त हुई ह।[4]

नाटककार की दूसरी नूतन उद्भावना पचम अक मे आयी ह जहा लका एक स्त्री का रूप धारण कर तथा रावण को छोड कर राम के पास चली जा रही है।

---

1 अभि० 6 34
2 भा० ना० च० पृ० 369
3 वही, पृ० 516
4 वही, पृ० 326

स्पष्टतः यह प्रसंग प्रतीकात्मक है तथा बालचरित में आई राजश्री-सम्बन्धी घटना से तुलनीय है।[1] यहां लंका रावण की समृद्धि, सुख और सौभाग्य की प्रतीक है तथा उसका राम के पास गमन रावण पर राम की भावी विजय का सांकेतिक सूचन है। लंका को जाते हुए देखकर रावण कहता है—"मुझे इससे क्या? अब तो मैं सीता को अपनी ओर आकृष्ट करता हूं।"[2] उसका यह कथन उसके घोर नैतिक पतन, अविवेक व अहंकार का परिचायक है जिसके कारण वह अपना और अपने कुल का सर्वनाश कराता है।

नाटककार की एक नयी कल्पना तीन विद्याधरों के द्वारा राम और रावण के युद्ध का वर्णन कराना है। लेखक युद्ध-दृश्य को सामाजिकों के सामने साक्षात् प्रस्तुत नहीं करना चाहता, इसीलिये उसने विकल्प के रूप में इस प्रकार की कल्पना का आश्रय लिया है। सम्भवतः राम-रावण के इस महायुद्ध की रंगमंच पर प्रस्तुति व्यावहारिक दृष्टि से शक्य नहीं थी। दूसरे, यह दृश्य सामाजिकों के लिए भी उद्वेजनक होता। वैसे भास नाट्यशास्त्र के उस नियम[3] के प्रति विशेष आस्थाशील नहीं है जिसके अनुसार युद्धदृश्य रंगमंच पर वर्जित ठहराया गया है। बालचरित में भास ने युद्ध और मृत्यु दोनों को नाटक की दृश्य कथावस्तु में निःसंकोच स्थान दिया है। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से तो भास इस वर्जना के समर्थक नहीं हैं। सम्भवतः रंगमंच की व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण ही उन्होंने इस प्रसंग को सूच्य रूप दिया है।

नाटककार की एक नूतन कल्पना रावण-वध के अनन्तर लंका में ही देवताओं द्वारा राम का राज्याभिषेक कराना है। इस घटना द्वारा राम के व्यक्तित्व को दिव्य रूप देने का प्रयास किया गया है। राम विष्णु के अवतार हैं, रावण को मार कर उन्होंने न केवल सीता का तथा समस्त लोक को आश्वस्त किया अपितु देवों का कार्य भी सिद्ध किया है।[4] अतः इस कार्य के लिए राम के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के उद्देश्य से देवताओं का उनके पास आगमन तथा उनका अभिषेक शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न करना नाटककार के धार्मिक दृष्टिकोण का परिचायक है। यह घटना बालचरित में कंसवध के अनन्तर कृष्ण के अभिनन्दन के लिए उनके पास गन्धर्वों व अप्सराओं के साथ नारद के आगमन के प्रसंग से साम्य रखती है।[5] यहां नाटककार की धार्मिक व पौराणिक भावना ने नाटक के अन्त को अस्वाभाविक बना दिया

---

1 वही, पृ० 527–529

2 किमनया। यावदहमपि सीता विलोभयिष्ये . । वही, पृ० 356

3 नाट्य शास्त्र 18 38, दशरूपक 3 34

4 द्वितीय –भवतु। सिद्धं देवकार्यम्। भा० ना० च० पृ० 364

5 बा० च० अंक 5, भा० ना० च० पृ० 556–557

है । देवताओ द्वारा राम का लका मे अभिषेक तथा इन्द्र के आदेश से भरत, शत्रुघ्न तथा प्रजा की वहा उपस्थिति की बात आकस्मिक और असगत प्रतीत होती है । ऐसा लगता है कि नाटककार बहुत जल्दी मे है और नाटक को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करना चाहता है ।

अतिप्राकृत पात्र

कथावस्तु के समान नाटक के पात्र भी रामायण से गृहीत है । उनके व्यक्तित्व और चरित्र की मूल विशेषताए अधिकतर रामायण के अनुसार है । जो भी अन्तर है वह काव्यरूप की भिन्नता का परिणाम है । रामायण एक महाकाव्य है, अत उसका फलक अतिविस्तृत है । किन्तु नाटक की अपनी कलागत सीमाए होती है जिनके कारण उसमे वस्तु और पात्रों के निरूपण की सूक्ष्म और सांकेतिक पद्धति अपनायी जाती है । महाकाव्य मे जहा चरित्रो की पूरी झाकी दिखायी जा सकती है, वहा नाटक मे उनकी रूपरेखा मात्र दी जा सकती है, या कुछ ही विशेषताओ को अकित किया जा सकता है । अभिषेक के पात्रो के बारे मे सामान्यत यह कहा जा सकता है कि उन्हे रामायण के परम्परागत साचे मे ही ढाला गया है । केवल वाली और रावण के चरित्रो मे कुछ नवीनता है, जिससे ये पात्र रामायण की अपेक्षा अधिक मानवीय रूप मे हमारे सामने आते है तथा हमारी सहानुभूति अर्जित करते है ।

राम ये नाटक के नायक हैं तथा धीरोदात्त प्रकृति के है । भास ने इनके व्यक्तित्व को मानवीय और दैवी दोनो तत्त्वो से समवेत किया है । तथापि यह कहना उचित होगा कि कुल मिलाकर उनके व्यक्तित्व मे दैवी तत्त्वो की प्रधानता है । उनकी मनुष्यता को ईश्वरता ने आवृत-सा कर लिया है । वूलनर और सरूप के अनुसार वे 'निरकुश योद्धा' अथवा 'निष्करुण दैवी शक्ति' मात्र है ।[1] वे पृथ्वी पर धर्म की रक्षा के लिए वाली का वध करते है तथा सीता की पवित्रता को मनसा जानते हुए भी लोकप्रत्ययार्थ उसकी अग्नि-परीक्षा लेते है ।[2]

राम की परमेश्वरता का लेखक ने अनेक पात्रो के पात्रो के मुह से बार-बार स्मरण कराया है ।[3] नाटक के मगल श्लोक मे कवि ने अपने इष्ट देवता के रूप मे इन्ही की स्तुति की है ।[4] वरुण के अनुसार वे सब के कारण होते हुए भी कार्यार्थी

1 त्रिवेन्द्रम प्लेज, भाग 2, पृ0 144

2 अभि0 6 29

3 वही, 4 13,14, 6 30,31

4 वही, 1 1

के रूप मे उपस्थित हुए है।[1] वे नररूप मे नारायण हैं।[2] अग्नि के कथनानुसार राम विष्णु के और सीता लक्ष्मी की अवतार है।[3] दिव्य गन्धर्वों ने अपनी स्तुति मे राम को सर्वदेवनामय तथा वामन, वराह आदि पूर्व अवतारो से अभिन्न बताया है। उन्होंने रावण का वध सीता की मुक्ति के लिए ही नहीं किया, अपितु विश्व को रावण जैसे दुराचारी से छुटकारा दिलाकर उन्होंने देवताओ का कार्य भी सिद्ध किया है।[4] इसीलिये रावण का वध होने पर देवगण आकाश से पुष्पवृष्टि कर दुन्दुभिया बजाते हैं।[5] राम की वीरता उनके व्यक्तित्व के अलौकिकत्व का महत्त्वपूर्ण अग है। रावण जैसे दुर्दान्त राक्षस का वध उनके दैवी पराक्रम का प्रमाण है। अग्नि आदि देवताओ व देवर्षियों द्वारा राम का अभिषेक पुन उनके अलौकिक व्यक्तित्व की ओर इगित करना है। सक्षेप मे, इस नाटक म राम का चरित अतिमानवीय धरातल पर अकित है।

हनूमान् रावण को दिये गये परिचय के अनुसार हनूमान् मारुत व अजना के औरस पुत्र है।[6] उनकी शक्ति अलौकिक है, समुद्रलघन, अशोक वाटिका का विध्वस तथा रावण के सेनापतियो, भटा व पुत्र अक्ष का वध आदि कार्य उनकी लोकोत्तर शक्ति व शौर्य के परिचायक हैं।[7]

रावण लका का अधिपति व राक्षसो का स्वामी रावण स्वभाव से दभी, आत्मविकत्थन एव कामी ह। उसकी शक्ति व शौर्य अलौकिक हैं। वह अनेक बार देवताओ और दानवो को युद्ध मे पराजित कर चुका है।[8] विभीषण के शब्दो मे क्रुद्ध रावण के समक्ष युद्ध मे देवो सहित वज्रपाणि इन्द्र भी ठहरने मे असमर्थ ह।[9]

---

1 मानुष रूपमास्थाय चक्रशाङ्ग गदाधर ।
स्वय कारणभूत सन् कार्यार्थी समुपागत । वही, 4 14

2 नारायणस्य नररूपमुपाश्रितस्य वही, 4 13

3 इमा भगवती लक्ष्मी जानीहि जनकात्मजाम ।
स भवन्तमनुप्राप्ता मानुषीं तनुमास्थिता ॥ वही 4 14

4 वही, 6 30–31

5 वही, 6 18

6 वही, 3 15

7 भा0 ना0 च0 पृ0 339

8 रावण– ह ह ह।
दिव्यास्त्रै स्त्रिदशगणा मयाभिभूता ।
दैत्येन्द्रा मम वशवर्तिन समस्ता ॥ भा0 ना0 च0 पृ0 343

9 जमि0 4 7

तीनो लोक उससे भयभीत हैं ।[1] एक बार उसने कैलास पर्वत को उठाकर उस पर बैठे शिव-पार्वती को भी हिला दिया था । उसके इस कार्य से शिव प्रसन्न हुए थे पर गौरी व नन्दी ने शाप दे दिया था ।[2]

नाटककार ने रावण के व्यक्तित्व मे जिन अतिप्राकृत तत्त्वो का उल्लेख किया है वे प्राय उसके विगत जीवन से सम्बन्धित हैं, नाटक मे अंकित उसके कार्यकलापो से उनका बहुत कम सम्बन्ध है । नाटकीय कथा मे रावण के व्यक्तित्व का दुर्बलताओ मे ग्रस्त मानवीय पक्ष ही अधिक उभरा है । रामायण के रावण की अपेक्षा नाटक का रावण सम्भवत अधिक मानवीयता लिये हुए हैं । उसकी अतिमानवता या तो राम के साथ युद्ध मे प्रकट हुई है या उसकी दम्भोक्तियो मे ।

देवपात्र अभिषेक मे वरुण और अग्नि देवता मानव रूप मे प्रकट होते हैं । समुद्रदेव वरुण राम के बाण चलाने के लिए उद्यत होते ही भयभीत होकर अपना स्वरूप प्रदर्शित करता है तथा राम व उनकी सेना को समुद्र के जल मे पथ प्रदान करता है । वह राम के विष्णु-रूप का स्तवन भी करता है । अग्नि देवता का प्रादुर्भाव षष्ठ अंक मे सीता की अग्नि-परीक्षा के प्रसग म होता है जब वह ज्वालाओ म प्रविष्ट सीता को लेकर बाहर आता है । वह सीता के चरित्र की विशुद्धता प्रमाणित करता है तथा राम को राज्याभिषेक के लिए ले जाता है । अग्नि सहित सब देवता मिलकर उनका राज्याभिषेक करते है ।

सीता नाटककार ने सीता को मुख्यत एक वियोगिनी पतिव्रता नारी के रूप मे चित्रित किया है, अत उसके व्यक्तित्व का मानवीय पक्ष ही अधिक उभरा है। नाटक के अन्त मे वह अपने पातिव्रत व सच्चरित्र का प्रमाण देने के लिए अग्नि मे प्रविष्ट होती है, पर अग्नि उसका कुछ नही बिगाड पाता, प्रत्युत स्वय प्रकट होकर उसके चरित्र की पवित्रता प्रमाणित करता है । अग्नि देवता के कथनानुसार सीता मूलत लक्ष्मी है और राम भगवान विष्णु ।[3] इस प्रकार नाटकान्त मे सीता के व्यक्तित्व को अतिप्राकृत बना दिया गया है ।

उक्त पात्रो के अतिरिक्त नाटक मे अनेक गौण पात्र भी आये है, जिनके व्यक्तित्व को विकसित करने का नाटककार को पर्याप्त अवसर नही मिला है । ऐसे चरित्रो मे लक्ष्मण, अगद, विभीषण, नल, शकुकर्ण, विद्युज्जिह्व, विद्याधर आदि उल्लेखनीय हैं । इनके अलावा अक्षकुमार, इन्द्रजित्, कुम्भकर्ण व लका आदि का भी उल्लेख मिलता है, पर वे नाटक की दृश्य कथा मे अवतीर्ण नही होते ।

---

1 अभि० 3 4
2 वही, 3 12
3 वही, 6 27-28

अतिप्राकृत तत्त्व और रस प्रथम अङ्क मे जहा मृत्यु के समय वाली को अति-प्राकृतिक वस्तुए दृष्टिगोचर होती है, वहा करुण रस की निष्पत्ति होती है, पर इस करुण मे सामाजिक की दृष्टि से सचारीभाव के रूप मे विस्मय का भी मिश्रण है।

वरुण देवता के प्रकटीकरण, समुद्र द्वारा मार्ग-दान, सीता को लेकर अग्नि देवता का आविर्भाव तथा उसके सच्चरित्र का प्रामाणीकरण आदि घटनाए अद्भुत रस की व्यजक हैं।

भरत ने नाटक की निर्वहण सधि मे अद्भुत रस की योजना का विधान किया है।[1] प्रस्तुत नाटक मे सीता का प्रज्वलित अग्नि मे प्रवेश, उसे लेकर अग्नि-देवता का प्रादुर्भाव तथा देवताओं द्वारा राम का राज्याभिषेक आदि घटनाए अद्भुत रस की व्यजक हैं तथा निर्वहण सधि की अग है।

अभिषेक का प्रधान रस युद्धवीर है तथा अद्भुत व करुण इसके अग हैं। राम और रावण के युद्ध का विद्याधरो द्वारा किया गया वर्णन अद्भुत परिपुष्ट वीररस का सुन्दर उदाहरण है। इसमे शत्रु पर विजय पाने के लिए राम का उत्साह वीर रस का स्थायिभाव है तथा राम की अलौकिक वीरता के विषय मे आकाश-स्थित देव, यक्ष, किन्नर, विद्याधर आदि का तथा नाटक के प्रेक्षको का विस्मय भाव अद्भुत रस की व्यजना का मूल आधार है। यद्यपि वीर रस प्रधान है, पर अद्भुत रस अग के रूप मे उसकी सौन्दर्य वृद्धि म सहायक है।

(ख) महाभारतमूलक नाटक

भास के तेरह नाटको मे से छह—मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, कर्णभार पचरात्र दूतघटोत्कच व ऊरुभग महाभारत के विभिन्न प्रसगो पर आधारित हैं। ये प्रसग महाभारत के विभिन्न पर्वों से सम्बन्ध रखते है। उक्त नाटको के अध्ययन से विदित होता है कि भास महाभारत की प्राय सम्पूर्ण कथा से भलीभाति परिचित थे। यह उल्लेखनीय है कि भास के महाभारतमूलक नाटक रूपक के गौण भेदो—व्यायोग, समवकार, उत्सृष्टिकाक आदि के उदाहरण हैं। भास ने महाभारत की किसी कथा या आख्यान को लेकर रूपक के प्रधान भेद 'नाटक' की रचना नही की। दूसरी ओर रामायण की कथा पर आधारित भास की दोनो कृतिया 'नाटक' हैं। पचरात्र के सिवा सभी महाभारतमूलक रूपक एकाकी है।

रामायणमूलक नाटको की अपेक्षा महाभारतमूलक नाटको मे भास ने वस्तु-योजना की अधिक मौलिकता प्रदर्शित की है। उदाहरणार्थ पचरात्र, मध्यमव्यायोग व दूतघटोत्कच मे महाभारत की कथा का आधार लेते हुए भी नाटककार ने वस्तु

---

1 नाट्यशास्त्र 19 43

की अभिनव कल्पना की है। एक विशेष बात यह है कि भास के इन नाटकों पर भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णित रूपक के लक्षण पूरी तरह लागू नहीं होते। जब पचरात्र को कुछ विद्वानों ने समवकार माना है, पर न तो उसकी कथावस्तु 'देवासुर बीजकृत' है और न पात्र ही देव या दानव। इसी प्रकार मध्यमव्यायोग को किसी ने ईहामृग बताया है तो किसी ने व्यायोग। इससे स्पष्ट है कि इन नाटकों को रूपकों की पारिभाषिक सीमाओं में नहीं बाधा जा सकता। इस स्थिति के कारण कई विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। किसी के मत में वर्तमान नाट्य शास्त्र भास के बाद अस्तित्व में आया। कुछ मानते हैं कि भास के समय में नाट्यशास्त्र तो था,[1] पर उसका प्रामाण्य इतना मान्य नहीं था कि भास उसका अक्षरश अनुगमन करना आवश्यक समझते। एक संभावना मत यह भी है कि भास ने भरत के नाट्यशास्त्र से भिन्न किसी परम्परा का अनुसरण किया। यह सारा प्रश्न इतना उलझा हुआ है कि इस विषय में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचना बहुत कठिन है।

अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से इन नाटकों में 'मध्यमव्यायोग' 'दूतवाक्य' तथा 'कर्णभार' उल्लेखनीय है। अन्य नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्वों का लगभग अभाव है—विशेष रूप से कथावस्तु और पात्रों के रूप में। इनमें केवल कुछ प्रचलित लोकविश्वासों के रूप में इन अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग हुआ है। ऊरुभग में एक विशिष्ट अतिप्राकृत तत्त्व–मृत्युकालीन आभास' का विनियोग मिलता है। यह तत्त्व प्रतिमा और अभिषेक में भी आया है, पर ऊरुभग में इसका प्रयोग कुछ नयी विशेषताओं को लिये हुए है। 'दूतवाक्य' में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व नाटककार की धार्मिक भावना से प्रेरित है। दूतघटोत्कच व ऊरुभग में सकेतित कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व में भी इसी भावना की अभिव्यक्ति हुई है।

मध्यमव्यायोग

यह एकाकी नाटक है। प्रो० मान्ड ने इसे ईहामृग माना है।[2] किन्तु डा० पुसालकर इसे व्यायोग मानने के पक्ष में हैं।[3] नाट्यशास्त्र के अनुसार ईहामृग में किसी दिव्य स्त्री के लिए युद्ध किया जाता है।[4] किन्तु इसमें युद्ध अन्य कारण से

1 अविमारक में विदूषक की एक हास्योक्ति में नाट्यशास्त्र का उल्लेख मिलता है—'अस्ति रामायण नाम नाट्यशास्त्रम् (भा० ना० च०, पृ० 119)। इससे सिद्ध है कि भास नाट्य शास्त्र से परिचित थे। सम्भवत उन्होंने स्वय भी नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा था। देखिये, कीथ-कृत 'संस्कृत ड्रामा' पृ० 292 की पाद टिप्पणी।

2 टाइम्स ऑव् संस्कृत ड्रामा, पृ० 61

3 भास–ए स्टडी, पृ० 206

4 दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्ध । ना० शा० 18 78

हुआ है। नाटक के अन्त में राक्षसी हिडिम्बा व भीमसेन के मिलन को 'दिव्यस्त्री-समागम' के रूप में लेना ठीक प्रतीत नहीं होता।[1] इसलिए इसे व्यायोग[2] मानना ही अधिक उचित है।

यह नाटक महाभारत पर इसी अर्थ में आधारित है कि इसके कुछ पात्र महाभारत से लिये गये हैं, अन्यथा इसकी कथावस्तु का आधार महाभारत में प्राप्त नहीं होता। डा० दे के अनुसार नाटककार की मौलिकता इस बात में प्रकट हुई है कि उसने महाभारत की कथा में प्रस्तुत नाटक के इतिवृत्त की उद्भावना की है।

मध्यमव्यायोग में भीमसेन वृद्ध ब्राह्मण केशवदास के मध्यमपुत्र को राक्षस घटोत्कच के चंगुल से छुड़ाता है तथा उसके स्थान पर स्वयं राक्षस के साथ जाना स्वीकार करता है। भीमसेन अपने पुत्र को पहचान लेता है, पर घटोत्कच अनजान में उससे युद्ध करता है, जिसमें उसे हार खानी पड़ती है। नाटक के अंत में राक्षसी हिडिम्बा और भीमसेन का मिलन बताया गया है।

अमानुषी शक्ति, मंत्र व मायापाश प्रस्तुत नाटक में भीमसेन और घटोत्कच के द्वन्द्व युद्ध में कुछ अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग मिलता है। भीमसेन पुत्र की बल-परीक्षा के लिए उसे चुनौती देता है कि तुममें शक्ति हो तो मुझे बलपूर्वक ले चलो। घटोत्कच चुनौती स्वीकार कर लेता है। वह पहले एक विशाल वृक्ष उखाड़ कर भीम पर प्रहार करता है, पर उसका कोई असर नहीं होता। इसके बाद वह एक पर्वत-शिखर उखाड़ कर पिता पर प्रहार करता है, किन्तु यह प्रयास भी व्यर्थ जाता है।[3] तब वह द्वन्द्व युद्ध आरम्भ कर भीमसेन को अपनी भुजाओं में बांध लेता है, पर भीमसेन क्षण भर में उसके भुजपाश को तोड़ देता है। तत्पश्चात् घटोत्कच माता हिडिम्बा की कृपा से प्राप्त मायापाश द्वारा उसे बांधने का निश्चय करता है। वह समीपवर्ती पर्वत से आचमन के लिए पानी मांगता है जो उसे शीघ्र मिल जाता है। आचमन के बाद मंत्र जपकर वह भीमसेन को मायापाश से बांध लेता है।[4] पर भीमसेन को महेश्वर की कृपा से मायापाश खोलने का मंत्र आता है।[5] वह ब्राह्मण कुमार के कमण्डलु में जल लेकर आचमनपूर्वक मंत्र जपता है जिससे मायापाश

---

1 भरत ने व्यायोग और ईहामृग को काय, पुरुष, वृत्ति व रस की दृष्टि से समान मानते हुए केवल 'दिव्य स्त्री के साथ समागम' को ईहामृग की विशेषता बताया है। देखिए ना०शा० 18 81

2 वही, 18 90-93

3 घटोत्कच भा० ना० च०, पृ० 434

4 म० व्या० 47

5 अस्ति मे महेश्वरप्रसादान्लब्धो मायापाशमोक्षो मन्त्रः ।   भा० ना० च०, पृ० 435

खुल जाता है। इसके बाद घटोत्कच को निरुपाय देखकर भीमसेन उसके साथ ज... को तैयार हो जाता है।

उक्त अतिप्राकृत प्रसंग का नाटक की योजना में कोई कलात्मक म... प्रतीत नहीं होता। इसके द्वारा नाटककार ने घटोत्कच तथा भीमसेन दोनों ... अमानुषिक शक्ति तथा उनके मंत्र आदि के ज्ञान का परिचय दिया है तथा यह ... है कि पुत्र से पिता अधिक बलशाली है। नाटक के वस्तुविन्यास में उक्त अतिप्राकृ... तत्त्वों का कोई योगदान नहीं दिखायी देता।

प्रस्तुत नाटक में घटोत्कच, भीमसेन और हिडिम्बा ये तीन अतिप्राकृति... पात्र आये हैं। घटोत्कच को अपनी माता से भयावह राक्षसी आकृति मिली है ... पिता से शक्ति, स्वाभिमान और दर्प। नाटक के प्रारंभ में ब्राह्मण परिवार के ... से उसकी राक्षसी आकृति का वर्णन किया है। इस वर्णन में कवि ने घटोत्कच ... अधिक से अधिक भयावह रूप देने की कोशिश की है।[1] घटोत्कच के इस रूप को देख ब्राह्मण परिवार प्राण रक्षा के लिए भाग खड़ा होता है। भीमसेन के साथ ... युद्ध में घटोत्कच की अमानुषिक शक्ति का परिचय मिलता है, तथापि वह प्रकृति... मानव अधिक है राक्षस कम। भीमसेन भी अलौकिक शक्ति-सम्पन्न व मनस्वी...। हिडिम्बा एक मनुष्यभक्षिणी राक्षसी बतायी गयी है, किन्तु नाटक के अन्त में ... व्यक्तित्व एक स्नेहशील माता व अनुरागमयी पत्नी का है।

नाटक के प्रारंभ में जहाँ ब्राह्मण परिवार को राक्षस घटोत्कच का भयंकर रूप दिखायी देता है भयानक रस है तथा घटोत्कच व भीमसेन की अलौकिक शक्ति के परिचायक कार्य विस्मय की अनुभूति कराते हुए अंगी वीररस को परिपुष्ट करते हैं।

पंचरात्र

तीन अंकों का यह नाटक भास के महाभारतमूलक नाटकों में सम्बद्ध है। पुसालकर[2] व कीथ[3] ने इसे समवकार माना है किन्तु समवकार के अन्य महत्त्वपूर्ण लक्षण इसमें नहीं है। समवकार का एक विशेष लक्षण बहुनायकत्व इसमें मिलता है पर दशरूप ने बहुनायकत्व के साथ नायकों की दिव्यता पर भी बल दिया है[4] किन्तु पंचरात्र के सभी पात्र मानव हैं।

---

1 मध्यमव्यायोग ५ 6

2 भास–ए स्टडी पृ० 21३

3 संस्कृत ड्रामा, पृ० ९७

4 नायका देवदानवा द्वादशोदात्तविख्याताः । 3 63

पंचरात्र की वस्तु महाभारत के विराट पर्व में वर्णित कौरवों द्वारा राजा विराट् की गायों के अपहरण के प्रयास की घटना पर आधारित है। नाटककार ने इस घटना को कुछ नई कल्पनाओं के साथ जोड़ दिया है जिनमें दुर्योधन द्वारा पाण्डवों को आधा राज्य देने की बात भास की अपनी उद्भावना है।

पंचरात्र की कथावस्तु व पात्रों में कोई भी अतिप्राकृतिक तत्त्व नहीं मिलता। केवल एक स्थान पर शकुन के रूप में एक विशेष अतिप्राकृत लोक-विश्वास की अभिव्यक्ति हुई है। वृद्ध गोपालक देखता है कि एक शुष्क वृक्ष पर स्थित कौवा उसकी शाखा में अपनी चोंच रगड़ कर सूर्य की ओर देखता हुआ विकृत स्वर से चिल्ला रहा है। वह इसे किसी भावी अशुभ का सूचक मानकर उसकी शान्ति के लिए प्रार्थना करता है।[1] इस अपशकुन के पश्चात् कौरवों द्वारा विराट् की गायों के हरण का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार कौवे की विशेष चेष्टा व स्वर-विकृति में भावी अनर्थ की सूचना के रूप में नाटककार ने अपने समय में प्रचलित एक अतिप्राकृत लोक-विश्वास का उल्लेख किया है। इस शकुन में यह विश्वास छिपा है कि पशु-पक्षी आदि मानवेतर जीवों को किसी भावी अनर्थ का पहले से ही आभास हो जाता है तथा उनकी विशेष चेष्टाओं से मनुष्य को उसकी सांकेतिक रूप में सूचना मिल जाती है।

दूतवाक्य

दूतवाक्य महाभारत के उद्योग पर्व के अन्तर्गत भगवद्यानपर्व की कथा पर आधारित एकांकी नाटक है। अधिकतर विद्वानों ने इसे 'व्यायोग' माना है। इसमें पाण्डवों के दूत के रूप में कृष्ण के दुर्योधन की राजसभा में उपस्थित होने का वृत्तान्त अंकित है।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

दूतवाक्य में वासुदेव कृष्ण को अलौकिक पुरुष व विष्णु के अवतार के रूप में दिखाने के लिए नाटककार ने वस्तु-योजना में जिन अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश किया है उनका विवरण इस प्रकार है—

वासुदेव का विश्व रूप—दुर्योधन व वासुदेव के वार्तालाप में कटुता आने पर दुर्योधन वासुदेव को बन्दी बनाने के लिए दुःशासन आदि को आदेश देता है, पर जो भी उन्हें बाँधने की कोशिश करता है वही औंधा होकर गिरता है। जब दुःशासन और शकुनि दोनों की यही गति होती है, दुर्योधन स्वयं पाश लेकर वासुदेव को

---

1. किन्तु खल्वेष वायसः शुष्कवृक्षे शुष्कशाखामवस्थितः सूर्याभिमुखः विस्वरं विनदति शान्तिर्भवतु शान्तिर्भवतु अस्माकं गोधनस्य च। भा० ना० च०, पृ० ३९९

पकडने के लिए आगे बढता है। तब वे विश्वरूप धारण कर लेते है ।[1] इस पर भी दुर्योधन अपनी चेष्टा से विमुख नही होता तो वासुदेव अदृश्य हो जाते हैं, वे पुन प्रकट होने पर कभी ह्रस्व और कभी दीर्घ आकार ग्रहण कर लेते है। दुर्योधन की मत्रशाला मे सभी ओर केशव ही केशव दिखायी देते हैं। तब वहा उपस्थित प्रत्येक राजा को वह एक-एक केशव को बाधने का आदेश देता है, पर वे स्वय ही अपने पाशो मे बधकर गिर पडते है। इस पर निराश दुर्योधन कृष्ण को धमकी देता हुआ वहा से चला जाता है ।[2]

महाभारत मे भी कृष्ण को बदी बनाने की दुर्योधन की योजना का उल्लेख आया है, पर सात्यकि उसका भण्डाफोड कर देता है जिसमे वह क्रियान्वित नही हो पाती। श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र की राजसभा मे अपना विश्वरूप प्रकट करते हैं।[3] परन्तु नाटक मे जिस प्रकार वे क्षण-क्षण मे आकार बदलते है तथा प्रकट व अदृश्य हो जाते हैं वैसा वर्णन वहा नही मिलता। यह नाटककार की मौलिक उद्भावना प्रतीत होती है।

विष्णु के आयुधो व वाहन का प्रकटीकरण दुर्योधन के अनुचित व्यवहार से क्रुद्ध होकर वासुदेव पाडवो का कार्य स्वय ही सम्पन्न कर देने का विचार कर अपने सुदशन चक्र का स्मरण करते हैं।[4] सुदशन तत्काल सशरीर उपस्थित हो जाता है। आकाश गगा उसके आचमन के लिए जल-स्रवण करती है ।[5] वासुदेव दुर्योधन को मारने के लिए सुदशन को आज्ञा देते है, पर वह उनसे निवेदन करता है–'आपने मही का भार उतारने के लिए जन्म लिया है, यदि आप दुर्योधन का इस प्रकार मार देगे तो आपका श्रम व्यथ जायेगा ।[6] इस पर कृष्ण अपनी भूल अनुभव कर चक्र को लौट जाने का आदश देते हैं। वासुदेव की आज्ञा से जब सुदर्शन लौट रहा होता है तब माग मे क्रमश शार्ङ्ग धनुष, कौमोदकी गदा, पाञ्चजन्य शख तथा

---

1 वासुदेव –कथ बद्धुकामो मा किल सुयोधन ।
भवतु सुयाधनस्य सामथ्य पश्यामि। (विश्वरूपमास्थित) वही, पृ० 451

2 वही, पृ० 452

3 महाभारत, उद्योगपव, अध्याय 131

4 वासुदेव –भवतु, पाडवाना कायमहमेव साधयामि। भो सुदशन। इतस्तावत।
भा० ना० च० पृ० 452

5 कृत खलु आप, कृत खलु आप। भगवति आकाशगगे। आपस्तावत्। हन्त स्रवति।
वही, पृ० 452 453

6 महीभारापनयन कतु जातस्य भूतले।
अस्मिन्नेव गत देव। ननु स्याद विफल श्रम। दू० वा० 46

नन्दक असि से उसकी भेंट होती है। वह उन्हें बताता है कि भगवान् का क्रोध अब शान्त है, अतः वे लौट जाएं।[1]

आयुधों के लौट जाने पर विष्णु का वाहन आता दिखायी देता है। उसके प्रचण्ड वेग से वायु कांप गया है, सूर्य तप उठा है, पर्वत हिल रहे हैं, समुद्र विक्षुब्ध हैं, वृक्ष गिर रहे हैं, मेघ चक्कर खा रहे हैं, वासुकि इत्यादि श्रेष्ठ सर्प कहीं छिप गये हैं।[2] सुदर्शन गरुड को भी वासुदेव का रोष शान्त होने की बात बताकर लौटा देता है।

अतिप्राकृतिक पात्र

दूतवाक्य के नायक वासुदेव अलौकिक व्यक्तित्व से युक्त हैं। यद्यपि दुर्योधन की दृष्टि में वे 'कंसभृत्य दामोदर', 'गोपालक' या जरासन्ध के राज्य, कीर्ति और भोग के अपहर्ता मात्र हैं,[3] पर बादरायण की दृष्टि में, जो स्वयं नाटककार की भी दृष्टि है, वे साक्षात् पुरुषोत्तम नारायण हैं।[4] नाटक के मंगल श्लोक में भास ने उन्हीं की स्तुति की है। दुर्योधन के मना करने पर भी काञ्चुकीय उन्हें 'पद्मनाभ' शब्द द्वारा सम्बोधित करता है। मन्त्रशाला में प्रविष्ट होते ही उनके व्यक्तित्व का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है कि समस्त राजा जिन्हें दुर्योधन ने उठने की मनाही कर दी थी, उनके स्वागत में अपने आप उठ खड़े होते हैं और दुर्योधन अपने आसन से लुढ़क जाता है।

कृष्ण द्वारा प्रदर्शित ह्रस्व-दीर्घ आदि आकारों व विश्वरूप में नाटककार ने उनके ईश्वरत्व की झलक दिखायी है। इसी प्रकार सुदर्शन चक्र व अन्य आयुधों की उपस्थिति भी उनके विष्णु-स्वरूप को सूचित करती है। सुदर्शन के शब्दों में कृष्ण 'अव्यक्तादि', 'अचिन्त्यात्मा', व 'लोकसंरक्षण में उद्यत' हैं तथा वे पृथ्वी का भार उतारने के लिए भूतल पर अवतीर्ण हुए हैं।[5] वामन अवतार में उन्होंने ही तीन डगों में तीनों लोकों को अतिक्रान्त किया था।[6] वृद्ध राजा धृतराष्ट्र की दृष्टि में भी वे साक्षात् नारायण हैं।[7]

---

1 दू० वा० 47–52

2 भा० ना० च० पृ० 455

3 वही पृ० 443

4 काञ्चुकीय —जयतु महाराज। एष खलु पाण्डवस्कन्धावाराद्
दौत्येनागतः पुरुषोत्तमो नारायणः। वही, पृ० 443

5 अव्यक्तादिरचिन्त्यात्मा लोकसंरक्षणोद्यतः।
एकोऽनेकवपुः श्रीमान् द्विषद्बलनिषूदनः॥ दू० वा० 43

6 सुदर्शन —यदानापयति भगवान् नारायणः। कथं कथं गोपालक इति।
त्रिचरणातिक्रान्तत्रिलोको नारायणः खल्वत्रभवान्। भा० ना० च०, पृ० 453

7 धृतराष्ट्र —क्व नु खलु भगवान् नारायणः वही पृ० 456

पच आयुध   भास ने 'दूतवाक्य' और 'बालचरित' दोनो मे भगवान् विष्णु के पच आयुधो व वाहन गरुड को पात्रो के रूप मे उपस्थित किया है।[1] भास उत्कट विष्णुभक्त है तथा आयुधो को मानवरूप मे उपस्थित करने की कल्पना उन्हे अतीव प्रिय है। इन आयुधो द्वारा उन्होने ईश्वर की लोकरक्षिका शक्ति का दर्शन कराया है। हम बता चुके हैं कि नाट्यशास्त्र ने आयुध आदि निर्जीव वस्तुओ की रगमच पर सशरीर उपस्थिति की बात कही है।[2]

गरुड   गरुड के वर्णन मे उसके स्वरूप आदि का परिचय नहीं दिया गया, केवल उसके आगमन से प्राकृतिक जगत् पर पडने वाले प्रभाव का वर्णन किया गया है। नाटककार ने गरुड को काश्यप का प्रिय सुत कहा है तथा मा को छुडाने के लिए उसके द्वारा अमृतहरण की पौराणिक कथा का उल्लेख किया है।[3]

'दूतवाक्य' मे महाभारत के आधार पर यह भी कहा गया है कि युधिष्ठिर आदि पच पाडव वस्तुत देवताओ के पुत्र थे।[4] इसी आधार पर दुर्योधन उन्हे आधा राज्य देने से इन्कार करता है। वासुदेव ने अर्जुन की वीरता का परिचय देते हुए, महाभारत के ही आधार पर, कुछ पौराणिक आख्यानो की ओर इगित किया है।[5]

'दूतवाक्य' की वस्तु व पात्रो मे प्रयुक्त प्राय सभी अतिप्राकृत तत्त्व वासुदेव के अलौकिक व्यक्तित्व से सम्बद्ध है। नाटककार प्रारम्भ से ही उन्हे भगवान् विष्णु का अवतार मान कर चला है। उनकी ईश्वरता का प्रतिपादन करने के लिए ही उनके विभिन्न आकारो व विश्व-रूप का वर्णन किया गया है। सुदर्शन आदि पचायुधो व गरुड के प्रकटीकरण द्वारा भी नाटककार ने भगवान् विष्णु के साथ वासुदेव की अभिन्नता तथा उनके प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की है। इस प्रकार कृष्ण के व्यक्तित्व को अलौकिक रूप देने से 'दूतवाक्य' एक धार्मिक व पौराणिक भावना से अनुप्राणित नाटक बन गया है। इसमे आये अतिप्राकृत तत्त्व मुख्यत अद्भुत रस के व्यजक हैं।

दूतघटोत्कच

'दूतवाक्य' व 'कर्णभार' के समान इसमे भी एक अक है। इसकी वस्तु-योजना मे हमे कोई अतिप्राकृतिक तत्त्व नही मिलता। 'बालचरित' और 'दूतवाक्य' के समान इसमे भी नाटककार ने कृष्ण को भगवान् विष्णु से अभिन्न माना है तथा धृतराष्ट्र

---

1 दू० वा०, 47-51, 53, बा० च० 1 21-26
2 दे० प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ०
3 दू० वा० 53
4 वही, 19
5 वही, 32

व घटोत्कच में उनके प्रति भक्ति-भावना प्रदर्शित की है।[1] एक जगह कृष्ण के अष्टभुजों का उल्लेख मिलता है[2] तथा उनके लिए 'चक्रायुध', 'जनार्दन', 'त्रैलोक्य-नाथ' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।[3]

नाटक का मूल स्वर नैतिक है। इसमें यह दिखाने का यत्न किया गया है कि मनुष्य को ईश्वर और धर्म का भय मानकर नीति के मार्ग पर चलना चाहिए। अनीति का मार्ग चाहे प्रारम्भ में सुखद प्रतीत हो, पर उसका परिणाम विनाशकारी होता है। घटोत्कच द्वारा लाया गया भगवान् जनार्दन का संदेश, दुर्योधन और उसके साथियों के आसन्न विनाश की सूचना देकर धर्म और नीति के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है।

कर्णभार

यह एकांकी नाटक आकार की दृष्टि से भास के नाटकों में सबसे छोटा है। डा० पुसालकर ने इसे *उत्सृष्टिकांक माना है, पर वे स्वयं स्वीकार करते हैं* कि इसमें उत्सृष्टिकांक के सारे लक्षण नहीं मिलते।[4]

कर्णभार में नाटककार ने कर्ण की उदात्त दानशीलता का महाभारतीय वृत्तान्त नूतन संदर्भ में गुम्फित किया है। कौरव सेनापति कर्ण युद्ध-भूमि की ओर जा रहा है। परशुराम के शाप के स्मरण से उसका मन उदास है। उसे अपने अस्त्र निर्वीर्य प्रतीत हो रहे हैं[5] फिर भी वह अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होता। इसी समय मार्ग में देवराज इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण कर उससे महाभिक्षा मांगता है। यह महाभिक्षा है कर्ण के कुण्डल और कवच। यह जानते हुए भी कि मेरे साथ छल किया जा रहा है, कर्ण ब्राह्मण को दोनों वस्तुएं दान कर देता है। इन्द्र भी बदले में कर्ण को एक अमोघ शक्ति प्रदान करता है।

कर्णभार में परशुराम का शाप, कर्ण के सहजात कवच और कुण्डल, स्मरण-मात्र से उपस्थित होने वाली अमोघ शक्ति आदि अतिप्राकृत तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। इसमें शक्र व देवदूत ये दो अतिप्राकृत पात्र भी आये हैं। कर्ण द्वारा संस्मृत अतीत वृत्तान्त में परशुराम का भी उल्लेख किया गया है।

---

1 घटोत्कच—अहो कल्याण खल्वत्रभवान। कल्याणाना प्रसूति पितामहमाह भगवाश्चक्रायुध।
 धृतराष्ट्र—(आसनादुत्थाय) किमाज्ञापयति भगवाश्चक्रायुध। भा० ना० च०, पृ० 470

2 कृष्णस्याष्टभुजापथानरचित योऽसौ दिवद्धश्चिरम दूतघटोत्कच, 8

3 वही 52

4 भास—ए स्टडी पृ० 173

5 एतान्यस्त्राणि निर्वीर्याणीव लक्ष्यन्ते। भा० ना० च० पृ० 480

कर्णभार में नाटककार ने कोई नवीन अतिप्राकृत कल्पना प्रस्तुत नहीं की। परशुराम द्वारा कर्ण को दिये गये शाप की कथा महाभारत में दो स्थानों पर आयी है।[1] इसी प्रकार ब्राह्मणरूपधारी शक्र द्वारा कर्ण से कवच-कुंडल प्राप्त करने का वृत्तान्त भी महाभारत में एकाधिक स्थलों पर आया है।[2] शाप वाले प्रसंग को नाटककार ने कर्ण की अतीत स्मृति के रूप में प्रयुक्त किया है तथा दूसरे प्रसंग को मूल सन्दर्भ से हटाकर नाटकीय दृष्टि से नूतन रूप में गुम्फित किया है। महाभारत में कवचकुण्डल-दान की कथा वन पर्व में आयी है, पर नाटक में यह घटना कर्ण और अर्जुन के युद्ध के ठीक पहले उपन्यस्त की गयी है। नाटककार की यह योजना पर्याप्त प्रभावशाली व सोद्देश्य है। एक निर्णायक युद्ध के ठीक पहले कर्ण का अपने कुण्डल और कवच को दान में देना उसकी दानशीलता की पराकाष्ठा है। कर्ण इन्द्र के छल को जानते हुए भी अपने दानशीलता के आदर्श पर अटल रहता है।[3] वह अपने शरीर के साथ ही उत्पन्न व देवासुरों के लिए भी अभेद्य कवच व कुण्डल स्वेच्छा से उसे सौंप देता है। परशुराम का शाप जो शीघ्र ही अपना प्रभाव दिखाने वाला है तथा इन्द्र को कवच व कुण्डलों का दान ये दोनों बातें कर्ण को अपनी मृत्यु के बिल्कुल सामने ला खड़ा करती हैं। अतः इस लघुनाटक में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व सामाजिक को आश्चर्य-चकित नहीं करते, अपितु उसके हृदय में कर्ण के प्रति प्रशंसा, सहानुभूति और करुणा के भाव जागृत करते हैं। इस दृष्टि से इनमें अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग का एक नया रूप सामने आया है।

ऊरुभंग

इस एकांकी नाटक में दुर्योधन के जीवन की अन्तिम झाँकी दिखायी गयी है। गदा-युद्ध में भीम द्वारा ऊरु तोड़ दिये जाने पर वह युद्धभूमि में आहत पड़ा हुआ मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है। उसके निकट सम्बन्धी—माता-पिता, पुत्र, पत्नी उससे मिलने आते हैं। वह एक वीर पुरुष की भाँति सबको धैर्य बंधाता है, सान्त्वना देता है। जीवन की इस अंतिम घड़ी में उसका हृदय उदात्त भावनाओं से पूर्ण है। वह क्षमा, दया, सहिष्णुता, स्नेह व कोमलता की साक्षात् मूर्ति प्रतीत होता है। यहाँ महाभारत का दुर्योधन भास की प्रतिभा के कलात्मक स्पर्श से एक उदात्त चरित्र में ढल गया है। नाटककार ने कथा के मुख्य सूत्र महाभारत से लिये हैं पर उनके सग्रथन में अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। कुछ परिवर्तनों और नवीनताओं का समावेश भी किया गया है। अधिकतर विद्वानों ने इसे रूपक की

1 शान्तिपर्व, अध्याय 3, 30-31, कर्णपर्व, 42 3 9
2 आदिपर्व, अध्याय 110 वनपर्व, अध्याय 310
3 कर्णभार, 22

'उत्सृष्टिकाक' नामक भेद माना है,[1] तथा यह संस्कृत का एकमात्र दु खान्त नाटक कहा गया है। नाटक के अन्त में नायक दुर्योधन की मच पर ही मृत्यु हो जाती है।

मृत्युकालीन आभास ऊरुभग के अतिम दृश्य में एक महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृत तत्त्व का प्रयोग मिलता है। दुर्योधन अन्तिम सासें ले रहा है, उसके प्राण उसे छोड़-कर जा रहे हैं। ऐसे समय मे उसे अनेक प्रकार की आकृतिया दिखायी देती है। उसे शान्तनु आदि बाप-दादा इष्टमित्र वर्ग, सौ भाई तथा अभिमन्यु आदि मृत व्यक्ति प्रत्यक्षवत् दृष्टिगोचर होते है। अभिमन्यु ऐरावत पर बैठा है, उसने इन्द्र का हाथ थाम रखा है, वह काकपक्ष धारण किये हुए है, तथा क्रुद्ध मुद्रा मे दुर्योधन से कुछ कह रहा है। इसके अलावा महासमुद्र, गगानदी तथा उर्वशी आदि अप्सराये भी उसके समीप मे उपस्थित हैं। वह देखता है कि स्वर्ग मे उसे लेने के लिए एक दिव्य वीरवाही विमान आया है जिसे सौ हस खीच रहे हैं। "मैं भी आपके पास आ रहा हू" यह कहता हुआ वह स्वर्ग चला जाता है।[2]

हम बता चुके हैं कि प्रतिमा नाटक मे राजा दशरथ को तथा अभिषेक मे वाली को भी मृत्यु के समय ऐसे ही दृश्य दिखायी देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि भास ने इनका चित्रण तत्कालीन लोक-विश्वासो के आधार पर किया होगा।

मृत व्यक्तियों तथा अप्सरा, विमान, गगा आदि दिव्य वस्तुओ का दर्शन एक अतिप्राकृत घटना है। दुर्योधन के कथन मे लगता है कि उसे शान्तनु, कर्ण, अभिमन्यु, उर्वशी, दिव्यविमान आदि सचमुच मे दिखायी देते हैं। कम से कम उसकी दृष्टि से इन वस्तुओ का यथार्थ अस्तित्व है। इस रूप मे यह वर्णन अतिप्राकृत ही कहा जायेगा।

इस घटना का हम एक अन्य दृष्टि से भी विवेचन कर सकते हैं। दुर्योधन ने जो दृश्य देखा वह एक दृष्टिभ्रम या मिथ्या-आभास भी हो सकता है। और मरणासन्न व्यक्ति के लिए तो इस प्रकार का मिथ्याभास और भी स्वाभाविक है। नाटककार ने यहा अतिप्राकृत तत्त्व और म्रियमाण व्यक्ति की मन स्थिति का अतीव कौशलपूर्ण समन्वय किया है। यदि दुर्योधन के अनुभव को हम मिथ्याभास भी मानें तो भी वह नितान्त निराधार नहीं कहा जा सकता। उसकी पृष्ठभूमि मे तत्कालीन लोकविश्वास ही नहीं, महाभारत युद्ध की अनेक करुण घटनाए भी हैं। दुर्योधन जो कौरवो मे सबसे बडा है, अब भी जीवित है, जबकि सभी छोटे भाइ मर चुके है। उसका परम सुहृद् कर्ण भी वीर गति प्राप्त कर चुका है। पाडव पक्ष

1 भास-ए स्टडी, पृ0 203

2 भा0 ना0 च0, पृ0 508

का अद्वितीय वीर अभिमन्यु भी अपनी अनुपम वीरता दिखाकर कौरवो के छल से अपने प्राणों से हाथ धो चुका है। अब ये सब स्वर्ग मे है जहाँ की यात्रा पर दुर्योधन प्रस्थान कर रहा है। ऐसे अवसर पर मृत पूर्वजो या स्नेही बन्धुओ का स्मरण और उस स्मरण के अतीव सजीव हो जाने पर उनका प्रत्यक्षवत् दर्शन नितान्त स्वाभाविक है। कर्ण व सौ भाइयो के उल्लेख मे दुर्योधन के हृदय का मित्र-स्नेह, भ्रातृ स्नेह, उनकी मृत्यु का शोक तथा उनका सामीप्य प्राप्त करने की उसकी तीव्र लालसा व्यक्त हो रही है। अभिमन्यु की क्रुद्ध मुद्रा मे दुर्योधन के पापभाव की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है। पाडव पक्ष के वीरो मे से दुर्योधन को केवल अभिमन्यु ही दिखायी देता है। कौरवो ने अभिमन्यु को अनीति से मारा था, दुर्योधन के अन्तर्मन मे इस जघन्य घटना को लेकर अवश्य एक तीव्र पापबोध व अनुताप रहा होगा। अत अभिमन्यु का क्रोध दुर्योधन की परितापग्रस्त आत्मा द्वारा अभिमन्यु मे कल्पित की गई एक प्रतिक्रिया मात्र है।

शत हसो से युक्त दिव्य विमान तथा उर्वशी आदि अप्सराओ की कल्पना मे तत्कालीन लोक-विश्वासो की अभिव्यक्ति हुई है। युद्ध मे प्राणोत्सर्ग करने वाले वीरो के विषय मे चिरकाल से यह धारणा रही है कि वे दिव्य विमानो मे बैठकर स्वर्ग जाते हैं,[1] अप्सरायें उनका वरण करती है तथा वे स्वर्ग मे दिव्य ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं। ये धारणाये युद्ध को तो गौरवान्वित करती ही हैं, उसमे वीरगति प्राप्त करने वाले योद्धाओ को भी वर्तमान जीवन की क्षतिपूर्ति का एक सुखद आश्वासन देती है। ऐसे किसी आश्वासन के अभाव मे युद्ध-कर्म घृणित कार्य हो जाता है। इस वर्णन द्वारा लेखक हमे बताना चाहता है कि दुर्योधन एक वीर पुरुष है तथा उसे वीरोचित गति प्राप्त हुई है।

यहा यह कहना उचित होगा कि नाटक के वस्तु-विधान मे इस अतिप्राकृत तत्त्व का कोई विशेष महत्त्व नही है, इसके द्वारा लेखक ने दुर्योधन के चरित्र को कुछ गौरवान्वित करने का प्रयत्न अवश्य किया है। इसमे उसका बन्धु-प्रेम, भ्रातृ प्रेम तथा अभिमन्यु के अनीतिपूर्ण वध के लिए उसकी आत्मा का गूढ अपराधबोध सूचित होता है।

कृष्ण का परमेश्वरत्व कृष्ण इस नाटक मे प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित नही होते पर विभिन्न पात्रो के मुह मे उनके विषय मे काफी चर्चा की गयी है। भास ने यहा भी कृष्ण और भगवान् विष्णु के एकत्व का सकेत दिया है। उल्लेखनीय बात यह है कि लेखक ने यह सकेत कृष्ण के विरोधी दुर्योधन और अश्वत्थामा के कथनो

---

1 हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम गीता 237

में दिया है।[1] इससे प्रतीत होता है कि नाटककार अपने इष्ट देव विष्णु या कृष्ण के प्रति अपनी उत्कट श्रद्धा व भक्ति-भावना प्रकट करना चाहता है, चाहे उसके लिए उचित अवसर या पात्र हो न हो।

(ग) कृष्णकथामूलक नाटक

बालचरित

यह भास का कृष्णकथा पर आधारित एकमात्र नाटक है। यद्यपि दूतवाक्य के नायक भी कृष्ण हैं, किन्तु उसकी वस्तु कौरवों व पाण्डवों के पारस्परिक कलह तथा कृष्ण के दौत्य से सम्बन्धित है, उनके व्यक्तिगत जीवन से नहीं। कृष्ण के व्यक्तिगत जीवन की जो भी चर्चा वहाँ आई है, वह आकस्मिक है। फिर भी 'दूत-वाक्य' के साथ प्रस्तुत नाटक की एक बात में समानता है। दोनों ही नाटकों में कृष्ण 'नारायण के अवतार' माने गये हैं तथा उनके व्यक्तित्व को अलौकिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया गया है। कोनो का यह कथन ठीक मालूम होता है कि 'दूतवाक्य' नाम के कृष्णपरक नाटक 'बालचरित' की ओर सक्रान्ति का सूचक है।[2] 'बाल-चरित' में भगवान् कृष्ण के बाल-जीवन के अलौकिक व आश्चर्यजनक कार्यों का चित्रण किया गया है। समस्त नाटक अतिप्राकृत तत्त्वों से परिपूर्ण है। भास ने कृष्ण को भगवान् विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित किया है, अतः नाटक में उनका व्यक्तित्व अलौकिक/असामान्य रूप में प्रकट हुआ है। चामत्कारिक घटनाओं द्वारा उनके ईश्वरत्व की ओर बार-बार ध्यान खींचा गया है। नाटककार की यह धार्मिक भावना ही नाटक का मूल स्वर है और इसमें प्रयुक्त अतिप्राकृतिक तत्त्वों का भी आधार है।

बालचरित में समाविष्ट अधिकांश अतिप्राकृत प्रसंग वही हैं जो चिरकाल से कृष्ण कथा का अभिन्न अंग रहे हैं। नाटककार ने कुछ ऐसी बातों का भी समावेश किया है जो कृष्णकथा-सम्बन्धी हरिवंश, विष्णु और भागवत आदि पुराणों में नहीं मिलती। उदाहरणार्थ पुराणों के अनुसार कृष्ण देवकी की आठवीं सन्तान थे किन्तु नाटक में उन्हें सातवीं बताया गया है। विष्णु और भागवत पुराण के अनुसार आकाशवाणी ने कंस को चेतावनी दी थी कि देवकी की आठवीं सन्तति उसका वध करेगी।[3] हरिवंश पुराण के अनुसार नारद ने यह बात देवसभा में सुनी और फिर कंस को इसकी सूचना दी।[4] किन्तु नाटककार ने आकाशवाणी या नारद-प्रदत्त

---

1 उरुभंग, 30, 60

2 स्टेन कोनो दि इंडियन ड्रामा, पृ० 87 (अंग्रेजी रूपान्तर)

3 वि० पु० 51 8, भा० पु० 10 1 34

4 हरि० पु०, वि० प० 1 13-16

सूचना को मयूक ऋषि के शाप मे परिवर्तित कर दिया है तथा उसे भयावह आकृति मे कस के समक्ष उपस्थित किया है । इसी प्रकार शिशु कृष्ण का असाधारण भार, अधकारपूर्ण मार्ग मे प्रकाश की सृष्टि, नन्दगोप के स्नान के लिए भूमि से अकस्मात् जलधारा का उद्रेक, विष्णु के वाहन व आयुधो का मानव रूप मे अवतरण, यशोदा की मृत पुत्री का पुन जीवित हो जाना, कस की राजश्री का उसके घर से प्रस्थान, अरिष्टर्षभ व कालिय नाग को कृष्ण की विशेष चुनौतिया आदि अतिप्राकृत प्रसग इस नाटक मे आये हैं, पर पुराणो मे नही । ये नूतन प्रसग व कल्पनाए भास की मौलिक प्रतिभा की देन हैं अथवा कृष्णकथा के किसी प्राचीनतर रूप से सम्बद्ध, यह कहना कठिन है । पुसालकर[1], कीथ[2], वूलनर व सरूप[3] आदि विद्वान् इस बात पर सहमत है कि विष्णु, हरिवश व भागवत पुराण अपने वर्तमान रूप मे इस नाटक के कथास्रोत नही हो सकते । कीथ के अनुसार कृष्णकथा की परवर्ती परम्परा की एक मुख्य विशेषता—'शृगारिक तत्त्व' का इस नाटक मे लगभग अभाव है । वूलनर और सरूप के अनुसार बालचरित की कथा के जो अश पुराणो से भिन्न हैं उनके विषय मे यह विचारणीय है कि वे कहा तक भास की उद्भावना हैं और कहा तक कृष्णकथा के किसी प्राचीनतर या अधिक लोकप्रिय रूप से सम्बन्धित है ।[4]

बालचरित मे कृष्ण के जन्म से लेकर कसवध व उग्रसेन के राज्याभिषेक तक की कथा अकित है । कथा की पौराणिक प्रकृति, नायक के दिव्य व्यक्तित्व और उसके प्रति नाटककार की धार्मिक श्रद्धा ने सम्पूर्ण नाटक को अतिप्राकृत धरातल पर स्थापित कर दिया है ।

कथावस्तु मे अतिप्राकृत तत्त्व

बालचरित का वस्तु-विन्यास आद्यन्त अतिप्राकृतिक तत्त्वो से पूर्ण है । प्रथम अक के प्रारम्भ मे ही ब्रह्मलोक से आकर नारद बताते है कि भगवान् नारायण ने कस के सहार व लोकहित के सम्पादन के लिए वृष्णिकुल मे जन्म लिया है ।[5] नारद कृष्ण का दर्शन व परिक्रमा कर उनके ईश्वरीय रूप की स्तुति करते हुए ब्रह्मलोक लौट जाते है ।[6]

---

1 भास ए स्टडी पृ० 90

2 दि सस्कृत ड्रामा, पृ० 100

3 त्रिवेन्द्रम प्लेज भाग 2, प० 109

4 वही

5 तत्भगवत लोकान्मिनिधनमस्य लोकहितार्थं कसवधाय वृष्णिकुल प्रसूत नारायण द्रष्टुमिहागतोऽस्मि । भा० ना० च० प 512,

6 यावदहमपि भगवन्त नारायण प्रदक्षिणीकृत्य ब्रह्मलोकमेव यास्यामि, वही

कृष्ण के जन्म पर प्रकट हुए महानिमित्तों मे देवकी व वसुदेव को अपने पुत्र की अलौकिकता का आभास मिलता है ।[1] वसुदेव शिशु कृष्ण को कंस की क्रूरता से बचाने के लिए मथुरा से बाहर ले जाते हैं । उन्हें कृष्ण का शरीर विन्ध्य व मन्दर के समान गुरु प्रतीत होता है ।[2] नवजात शिशु पिता के अन्धकार-पूर्ण मार्ग को आलोकित कर देता है ।[3] वृष्टि–जल से परिपूर्ण यमुना दो भागों मे विभक्त होकर वसुदेव को मार्ग देती है ।[4] यमुना पार कर वसुदेव एक न्यग्रोध वृक्ष के नीचे ठहरते हैं । वे उस वृक्ष के अधिष्ठाता देवताओं से प्रार्थना करते हैं कि नन्द गोप वहां आए । वसुदेव की प्रार्थना तत्काल फलवती होती है । नन्दगोप यशोदा से उत्पन्न अपनी सद्योजात मृत पुत्री के अंतिम संस्कार के लिए वहां आता है । वसुदेव के अनुरोध पर वह कृष्ण को अपने घर ले जाना स्वीकार कर लेता है । नन्दगोप को स्नान के लिए जल की आवश्यकता होती है तो वहीं भूमि से जल की धारा फूट निकलती है ।[5] नन्दगोप कृष्ण के अतिशय भार के कारण उसे उठाने मे असमर्थ रहता है ।[6] तभी भगवान् विष्णु का वाहन गरुड व पंच आयुध-चक्र, शंख, गदा, खड्ग व धनुष मनरी प्रकट होकर भगवान् कृष्ण के बालचरित मे सम्मिलित होने के लिए गोपों की बस्ती मे उतरने का निश्चय प्रकट करते हैं ।[7] नंदगोप व चक्र की प्रार्थना पर शिशु कृष्ण अपना भार कम कर देते हैं । अत नंदगोप अब उसे उठाने में समर्थ होता है । शिशु के दिव्य प्रभाव से नन्दगोप के पात्रों की बेड़ियां अपने-आप टूट गिरती हैं ।[8] नन्दगोप के लौटने पर यशोदा की मृत पुत्री पुनर्जीवित हो जाती है ।[9] वसुदेव कंस को वंचित करने की दृष्टि से उसे लाकर देवकी को सौंप देते हैं । लौटते समय यमुना उन्हें पूर्ववत् मार्ग दे देती है ।[10]

द्वितीय अंक के प्रारम्भ में कंस अपशकुनों से उद्विग्न रूप में हमारे सामने आता है ।[11] उसे अनेक प्रकार के अशुभ व भयावह प्राणी दिखाई देते हैं । कज्जल

---

1 भ० ना० च० पृ० 513

2 वही 1 12

3 वही 1 17

4 वही, पृ० 516

5 नन्दगोप —आश्चर्यमाश्चर्यं भोः । आश्चर्यम् । पातु न भगवती प्रावृषि निशा युगपन्मान सलिलधारादर्शिता । वही पृ० 521

6 नन्दगोप —भोः । अस्मिन्नेव मे बाहू मन्दमन्दं बालक ग्रहीतुं न समर्थौ । वही पृ० 521

7 बालचरित 1 27-28

8 नन्दगोप —आश्चर्यमाश्चर्यं भोः । आश्चर्यम् । इदं कपाटं पतितम् । वही, पृ० 524

9 नन्दगोप — (परिक्रम्य) अत्र प्रत्यागतप्राणेव दारिका । वही, पृ० 525

10 नन्दगोप — जय इत भगवती यमुना तथैव स्थिता । वही, पृ० 525

11 बालचरित 2 1

के समान काली चाण्डाल कन्यायें उससे विवाह का प्रस्ताव करती हैं।[1] कस के डाटने पर वे अकस्मात् गायब हो जाती हैं।[2] तभी मधूक ऋषि का शाप उसे भीतर जाने से रोक देता है। वह कहता है कि तुम्हारे घर पर अब मेरा अधिकार हो गया है।[3] शाप का आकार अतीव भयानक है, वह शिव के साक्षात् क्रोध जैसा प्रतीत होता है। वह कस के हृदय मे प्रविष्ट होने के लिए श्मशान से आया है।[4] ज्यो ही कस को नीद आती है, शाप और उसकी सगिनियां-लक्ष्मी, खलती, कालरात्रि, महा-निद्रा व पिंगलाक्षी कस के प्रासाद मे छा जाती है। वे कस की राजश्री को विदा देकर वहा अपना आधिपत्य जमा लेती है।[5] शाप कस के शरीर मे प्रविष्ट हो जाता है। नीद खुलने पर कस समझ नही पाता कि उसने सचमुच के प्राणियों को देखा है या स्वप्न मात्र।[6]

कस को रात्रि मे वायु का उद्भ्रमण, भूकम्प, दैवतप्रतिमा आदि जो निमित्त दिखायी दिये उनका अर्थ पूछने के लिए वह बालाकि नामक काचुकीय को सावत्सरिक और पुरोहित के पास भेजता है।[7] व बताते है कि किसी दिव्य प्राणी के पृथ्वी पर जन्म लेने के कारण ये विकार उत्पन्न हुए है।[8]

कस को बताया जाता है कि देवकी ने पुत्री को जन्म दिया है। वसुदेव व देवकी की प्रार्थना ठुकरा कर वह उस कन्या को शिला पर दे मारता है। कन्या दो अशो मे विभक्त हो जाती है, एक अश आकाश मे उठकर कात्यायिनी बन जाता है।[9] कात्यायिनी हाथों मे उज्ज्वल शस्त्र लिए हुए है तथा अपने पार्षद कुण्डोदर, शूल, महानील व मनोजव से परिवारित है।[10] कात्यायनी भी कृष्ण की बाललीलाओं

---

1 मदा आगच्छ भत । आगच्छ । अस्माक कन्यका त्वया सह विवाहो भवतु । भा० ना० च०, प० 525 526

2 राजा-आ अपध्वम । कथ सहसैव नष्टा वही, प० 526

3 शाप-ह क्वेदानी प्रविशसि । इद खलु मम गृह मवृत्तम । वही

4 बालचरित 2 4 5

5 शाप एवम् । राजश्री । अपक्रामतु भवती । इद खलु मम गृह मवृत्तम । भा० ना० च०, प० 527

6 राजा-कि स्वप्नो नु मयानुभूत वही, पृ० 529

7 वही, पृ० 529

8 बालचरित 2 10

9 एकाश पतितो भूमावेकाशा स्त्विमुत्थित ।
सा निहन्तुमिहोद्भूत करैं शस्त्रसमुज्ज्वलै ॥ वही, 2 18

10 वही, 2 21-24

का दर्शन करने के लिए अपने गणों सहित गोप-वेष में घोष की ओर चली जाती है।[1]

तृतीय अंक के प्रवेशक में दामक बताता है कि कृष्ण का जन्म हुआ तब से घोष में गायें रोगमुक्त हैं तथा कंद, मूल, फल, दूध, घृत, व मधु का बाहुल्य हो गया है।[2]

वृद्ध गोपालक शिशु कृष्ण द्वारा पूतना, यमलार्जुन, धेनुक प्रलंब, केशी आदि दानवों के वध की सूचना देता है।[3] अनन्तर हल्लीसक नृत्य करते समय दामोदर को दानव अरिष्टर्षभ के आगमन की सूचना मिलती है। यह दानव वृषभ का रूप धारण कर कृष्ण को मारने आया है।[4] कृष्ण उसका दर्प चूर्ण करने के लिए एक पाँव पर खड़े हो जाते है और चुनौती देते हैं कि तुममें शक्ति हो तो मुझे हिला दो। अरिष्टर्षभ उन्हें गिराने के प्रयत्न में स्वयं मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। वह कृष्ण को विष्णु या पुरुषोत्तम के रूप में पहचान कर[5] उन्हीं के हाथ में मरने के लिये युद्ध करता है, कृष्ण उसे पल भर में मार गिराते है।

चतुर्थ अंक में कालिय-मर्दन की घटना चित्रित है। कृष्ण यमुना ह्रद में कूद कर कालिय नाग से युद्ध करते है। बाद में उसके फनों पर चढ़ जाते हैं और हल्लीसक नृत्य करते हैं।[6] वे कालिय को चुनौती देते हैं कि तुम अपनी विष-ज्वाला से मेरे हाथ जलाकर तो दिखाओ। कालिय प्रयत्न करता है, पर सफल नहीं होता। तब वह भी दामोदर के ईश्वरत्व को पहचान कर[7] अपने व्यवहार के लिए उनसे क्षमा मांगता है। बाद में वह यमुना-ह्रद में व्याप्त सारा विष समेट कर अन्यत्र चला जाता है।

पंचम अंक में दामोदर कंस के निमन्त्रण पर धनुर्मह में भाग लेने के लिए मथुरा जाते है। संकर्षण भी उनके साथ है। वहाँ वे उत्पलापीड नामक मदोन्मत्त हाथी का दांत उखाड़ कर उसे मार डालते है,[8] दासी मदनिका की कुब्ज मिटा देते

---

1 भा० ना० च०, प० 533
2 वही पृ० 535
3 वही, प० 536 537
4 वही, पृ० 545
5 वही पृ० 542
6 भाग विषाग्निफणस्य महोरगस्य।
हल्लीसकं सननित रुचिरं वहामि॥ बा० च० 4 6
7 कालिय –प्रसीदतु, प्रसीदतु भगवान नारायण। भा० ना० च० प 547
8 बाल चरित 5 2

है[1] धनुशाला के रक्षक मिहवल को एक ही घूँसे मे मार गिराते है,[2] तथा चाणूर व मुष्टिक नामक मल्लो को मार कर[3] प्रासाद-शिखर पर स्थित कंस को नीचे गिराकर उसका भी वध कर देते हैं ।[4]

कंस का वध होने पर देवगण प्रसन्न होकर नृत्य-वादन व पुष्प-वृष्टि करते हैं । नारद गधर्वा और अप्सराओं के साथ कृष्ण का दर्शन व स्तुति करने के लिए देवलोक से आते हैं ।[5]

इस विवरण से स्पष्ट है कि 'बालचरित' मे कृष्ण के ईश्वरत्व का प्रतिपादन ही भास का ध्येय है । कृष्ण ने कंस आदि दुष्टो का वध करने के लिए वृष्णि कुल मे जन्म लिया है । वे भगवान् नारायण के अवतार है । नाटककार ने उनके नारायणत्व को कहीं भी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है । कृष्ण के सभी कार्य उनकी ईश्वरता के परिचायक हैं । नारद, वसुदेव व नन्दगोप तो उनकी ईश्वरता से परिचित हैं ही, अरिष्टर्षभ व कालिय जैसे दुष्ट भी अंत मे कृष्ण के दैवी रूप को पहचानने म समर्थ होते हैं । अरिष्टर्षभ तो जानबूझ कर दामोदर के हाथो से मरता है जिससे उसे अक्षय लोक की प्राप्ति हो ।[6] कृष्ण के ईश्वरत्व का ही यह चमत्कार है कि कंस सहित कोई भी दानव या दुष्ट युद्ध म उनका समकक्ष नहीं हो पाता । इससे कृष्ण की अलौकिकता तो प्रकट होती है, पर युद्ध-दृश्यो मे वास्तविक संघर्ष का तत्त्व नहीं उभर सका है । कृष्ण के ईश्वरत्व व अलौकिक चमत्कारो को अतिशय महत्त्व देने का परिणाम यह हुआ है कि नाटक म मानव-तत्वो को उचित स्थान नहीं मिल सका है ।

शास्त्रीय दृष्टि से 'बालचरित' की कथावस्तु 'प्रख्यात' कही जायेगी । वह भास के युग की कृष्ण-संबंधी पौराणिक कथाओं पर आधारित है । ये कथाएं बाद में पुराण ग्रन्थों मे भी संकलित की गई । डा० दे के अनुसार इस नाटक की कथा-वस्तु कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन की असुसम्बद्ध घटनाओं पर आधारित है तथा इसमे प्रभाव की अन्विति व पूर्णता का लगभग अभाव है ।[7] किन्तु यह आलोचना तथ्य

---

1 भा० ना० च०, पृ० 550-1
2 वही, पृ० 551
3 वही, पृ० 553
4 बाल चरित 5 11
5 कंसे प्रमथिते विष्णो पूजार्थं देवशासनात् ।
 सगन्धर्वाप्सरोभिश्च देवनारदिहागत ॥ वही 5 17
6 वही, अंक 3, पृ० 542
7 ए हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ० 115

नहीं कही जा सकती । यदि हम नाटककार के उद्देश्य को दृष्टि में रखें तो कह सकते हैं कि वस्तु-योजना और प्रभाव-सृष्टि में उसे काफी सफलता मिली है। उसने कृष्ण के बाल-जीवन के जिन प्रसगों को नाटक में प्रदर्शित किया है, वे पर्याप्त प्रभावशाली हैं। पौराणिक कथाओं का आधार लेते हुए भी नाटककार ने घटनाओं के चयन में स्वतंत्र दृष्टि का परिचय दिया है। प्रथम अंक में शिशु कृष्ण की दिव्यता के सूचनार्थ परपरागत कथा में अनेक नवीन अतिप्राकृत प्रसगों की योजना की गई है। विष्णु के पंच आयुध व गरुड का मानवीकरण भास की मौलिक कल्पना है जो 'दूतवाक्यम्' में भी इसी रूप में आयी है। डा० दे की यह आपत्ति कि इन प्रसगों का कोई नाटकीय महत्त्व नहीं है,[1] उचित नहीं कही जा सकती। ये प्रसंग निश्चय ही कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व के सूचक हैं, और उनके ऐसे व्यक्तित्व की स्थापना ही नाटक का प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है।

भास की सबसे अधिक मौलिकता दूसरे अंक में प्रकट हुई है जहां उन्होंने शाप, राजश्री तथा चाण्डाल कन्याओं जैसे पात्रों की मनोवैज्ञानिक व प्रतीकात्मक योजना की है। संस्कृत नाटक में अतिप्राकृतिक तत्त्वों की ऐसी योजना अत्यन्त विरल है। चाण्डाल कन्याओं का कंस के प्रति विवाह का प्रस्ताव, शाप व उनकी भयानक मडली का कंस के घर पर अधिकार, राजश्री का प्रस्थान, कंस के हृदय में शाप का प्रवेश आदि घटनाएं कंस की अशुभ दानवी प्रवृत्ति, सत्ताक्षीण नैतिक पतन तथा उसके आसन्न विनाश की सूचक हैं। साथ ही नाटककार ने बड़े कौशल से यह सदेह भी जाग्रत रखा है कि कंस ने इन विचित्र व भयानक प्राणियों को यथार्थ रूप में देखा है कि स्वप्न में ? कंस प्रतिहारी यशोधरा से पूछता है कि क्या तुमने इधर मातंग कन्याओं को घूमते देखा ? वह उत्तर देती है कि प्रतिदिन सेवा करने वाले लोगों का भी राज प्रासाद में प्रवेश कठिन है फिर मातंग कन्याओं की तो बात ही क्या ?[2] इस पर कंस कहता है कि मैंने कहीं स्वप्न ही तो नहीं देखा !

बालचरित के इस दृश्य की शेक्सपीयर के 'मैकबेथ' नाटक के उस दृश्य से तुलना की जा सकती है जहां मैकबेथ व बैंको की तीन डाइनों से निर्जन स्थान में भेंट होती है। ये डाइनें कुछ भविष्यवाणियां करके अकस्मात् अदृश्य हो जाती हैं।[3] जिस प्रकार वहां डाइनों की वस्तुगत सत्ता के साथ एक मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मक सत्ता भी है उसी प्रकार प्रस्तुत दृश्य में चाण्डाल कन्याओं, शाप व राजश्री आदि की

---

1 ए हिस्ट्री आव् संस्कृत लिट्रेचर पृ० 115

2 प्रतिहारी—हं मातंगीजन इति। नित्य भर्तृपादमूले वर्तमानस्यापि जनस्येह प्रवेशो दुर्लभ किं पुनर्मातंगीजनस्य। भा० ना० च०, पृ० 529

3 शेक्सपीयर मैकबेथ, अंक 1 तृतीय दृश्य

भी प्रतीति हमे दो रूपो मे होती है । एक तो वास्तविक पात्रो के रूप मे और दूसरे मनोवैज्ञानिक व प्रतीकात्मक तथ्यो के रूप मे ।

इसी अक मे देवकी-कन्या के आकाश मे उडकर देवी के रूप मे परिवतन की घटना आयी है । भास ने यहा भी दो नयी बाते जोडी हैं—(१) कन्या के शरीर के दो अशा म से एक ही अश आकाश मे उडता है और (२) कात्यायिनी अपने परिवार महित कृष्ण के बाल चरित मे सम्मिलित होने के लिए गोपवेष धारण कर घोष की ओर चली जाती है । तृतीय से पचम अको तक की घटनाए पौराणिक कथाओ का अनुसरण करती है, किन्तु यहा भी नाटककार की चयन-कुशलता द्रष्टव्य है । तृतीय अक के प्रवेशक मे वृद्ध गोपालक ने शिशु कृष्ण द्वारा अनेक दानवों के वध की सूचना दी है । इस प्रवेशक द्वारा भास ने पौराणिक कथा के विस्तार को नाटकीय दृष्टि से सीमित करने का सफल प्रयास किया है । नाटक की दृश्य कथा मे कृष्ण की मुठभेड केवल अरिष्टार्षभ, कालिय, चाणूर व कस के साथ दिखाई गई है, अन्य प्रसगो की मात्र सूचना दी गई है । इससे नाटककार का वस्तुयोजना का प्रावीण्य प्रकट होता है ।

भास ने इस नाटक मे नाट्यशास्त्र के एक महत्त्वपूर्ण विधान का उल्लघन किया है । नाट्यशास्त्र के अनुसार रगमच पर मृत्यु के दृश्यो का प्रदर्शन नही होना चाहिए ।[1] भास ने इस नाटक मे एक तो क्या, चार या पाच मौते रगमच पर प्रदर्शित की है । परन्तु ये मृत्यु दृश्य अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होते, प्रत्युत नाटक मे यथार्थता की सृष्टि कर कृष्ण की वीरता व अलौकिकता के प्रभाव को तीव्र करने मे सहायक होते है ।

कीथ के विचार म 'बालचरित' नाटक भास की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है । उनके अनुसार द्वितीय अक का 'प्रवेश-दृश्य' अपनी भयावहता मे अतिशय प्रभावशाली है, तथा कवि ने विष्णु के पार्षदो व कात्यायिनी के परिवार की अद्भुत आकृतियो को प्रेक्षको की कल्पना का विषय बनाने मे तनिक भी सकोच नहीं किया है । ये सभी रगमच पर उपस्थित होते है, पर नि सन्देह ऐसी वेशभूषा मे कि बहुत कुछ सामाजिको के मनश्चक्षुओ पर छोड दिया जाता है । कीथ के अनुसार इस नाटक का एक प्रमुख दोष यह है कि इसमे पक्ष व प्रतिपक्ष के बीच अत्यधिक असमानता है । कृष्ण पर कभी विपत्ति नहीं आती तथा उनके साहसिक कर्म इतनी सरलता से निष्पन्न हुए हैं कि वे अपना अभीष्ट प्रभाव नहीं डाल पाते ।[2]

---

1 ना० शा० 18 16 दशरूपक 3 34, सा० द० 6 16

2 कीथ सस्कृत ड्रामा, पृ० 106 107

अतिप्राकृत पात्र

पौराणिक कथा पर आधारित होने से 'बालचरित' में अति प्राकृत पात्रों का बाहुल्य है। ये पात्र अधिकतर पौराणिक कल्पनाओं से निर्मित हैं। केवल द्वितीय अंक में भास ने कुछ नये पात्रों की सृष्टि की है जिनका कृष्ण-सम्बन्धी पौराणिक कथाओं में उल्लेख नही मिलता।

'बालचरित' मे चित्रित अतिप्राकृतिक पात्र अनेक प्रकार के है। कुछ दैवी पात्र है जो स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर मानवीय कार्यकलापों मे भाग लेते हैं। ऐसे पात्रों मे नाटक के नायक दामोदर, नारद, विष्णु के पांच आयुध तथा गरुड, कात्यायनी तथा उसका परिवार उल्लेखनीय है। असुर पात्रों मे कंस, पूतना आदि दानव तथा अरिष्टवृषभ व कालिय नाग उल्लेखनीय हैं। तीसरे प्रकार के पात्र प्रतीकात्मक व मनोवैज्ञानिक हैं जिनमें चाण्डाल युवतियां, शाप, वज्रबाहु, उसकी सहचरियां तथा कंस की राजश्री सम्मिलित है।

दामोदर ये भगवान् विष्णु के अवतार हैं जिन्होंने कंस-वध तथा लोक-हित के प्रयोजन से वृष्णि कुल मे देवकी के गर्भ मे जन्म लिया है। वे माया के द्वारा शिशु बने है,[1] वस्तुतः वे त्रिलोकेश्वर, लोकों के अभय-प्रदाता, सुरों के गुरु तथा दैत्यो के घातक है। पूर्व अवतारो में रावण और विरोचन का वध उन्होने ही किया था।[2] नाटक का समस्त घटना-विन्यास कृष्ण या दामोदर के अलौकिक व्यक्तित्व का अनावरण मात्र है। वे अनेक चमत्कारो के जनक तथा अलौकिक शक्ति के धनी है। वे कितने ही असुरो को अनायास मार गिराते हैं। कोई भी प्रतिपक्षी शक्ति और प्रभाव मे उनका तुल्य नहीं है। नाटककार ने प्रत्येक प्रसंग मे उनकी 'ईश्वरता' का स्पष्ट शब्दों म उल्लेख किया है। शास्त्रीय दृष्टिमे'दामोदर' दिव्य या दिव्यादिव्य कोटि के नायक हैं।

नारद नारद का व्यक्तित्व पौराणिक कल्पनाओं एव लोकविश्वासो का मिश्रित रूप उपस्थित करता है। वे वीणा-प्रेमी और कलहप्रिय हैं।[3] उन्हें शांति मे बैठना पसद नहीं।[4] लोगों मे बैर पैदा करना और उन्हे आपस मे लडाना उनका प्रिय विनोद है।[5] वे लोक लोकान्तरो मे भ्रमण करते हैं। नाटक मे वे कृष्ण का

---

1 मायया शिशुवपुषा त्रिलोकेश्वर प्रादुर्भूत—भा0 ना0 च0, पृ0 512

2 बा0 च0 1 6-8

3 वही, 1 5

4 वही, 1 4

5 वैराणि भीमकठिना कलहा प्रिया मे। वही

दर्शन करने के लिए दो बार पृथ्वी पर आये हैं। दूसरी बार वे गन्धर्व व अप्सराओं को भी साथ में लाते हैं।

विष्णु के पञ्च आयुध व वाहन गरुड भास ने 'दूतवाक्यम्' के समान इस नाटक में भी इन्हें मानव-आकार में प्रस्तुत किया है। इससे प्रतीत होता है कि भास को यह कल्पना विशेष प्रिय थी। जैसा कि पहले कहा गया है, इन आयुधों के रूप में नाटककार ने ईश्वर की लोकरक्षिका शक्ति का प्रतीकात्मक चित्रण किया है।

कात्यायनी व उसका परिवार सम्भवत भास ने भगवती दुर्गा को ही कात्यायनी कहा है। पुराणों के अनुसार वह भगवान् विष्णु की योगनिद्रा या योग-माया थी जो उन्हीं की आज्ञा से यशोदा के गर्भ से उत्पन्न हुई थी।[1] नाटक में इस बात का तो संकेत नहीं दिया गया, पर यह अवश्य कहा गया है कि वह सुम्भ, निसुम्भ, महिष व अन्य देव-शत्रुओं का वध कर कंस के कुल का नाश करने के लिए वसुदेव के वंश में पैदा हुई है।[2]

कंस भगवान् नारायण ने इसी के वध के लिए अवतार लिया है। दामोदर के अनुसार वह पूर्व जन्म में असुर था,[3] किन्तु उसका चरित्र दानव या असुर के रूप में उतना नहीं उभर सका है जितना एक दुष्ट, दुराचारी और क्रूर राजा के रूप में।

अन्य असुर पूतना, यमलार्जुन, प्रलंब, धेनुक व केशी आदि दानव क्रमश स्त्री, वृक्ष, नन्दगोप, गदभ और तुरग का रूप धारण कर कृष्ण को मारने आते हैं, किन्तु वे स्वयं ही उनके द्वारा मार दिये जाते हैं।[4] मृत्यु के पूर्व ये सभी अपने वास्तविक दानव रूप में प्रकट होते हैं।

चाण्डाल कन्यायें शाप व राजश्री ये सभी प्रतीकात्मक अतिप्राकृत पात्र हैं जिनका विवरण हम पहले दे चुके हैं। नाटक में प्रतीकात्मक पात्रों के समावेश की परम्परा भास से भी पुरानी है। उपलब्ध नाटक-साहित्य में सर्वप्रथम अश्वघोष के एक खंडित नाटक में कतिपय प्रतीकात्मक पात्रों की योजना मिलती है जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। इन पात्रों के अलावा बुद्ध स्वयं भी इस नाटक के एक पात्र हैं। अत इसमें यथार्थ व प्रतीक दोनों प्रकार के पात्रों का सम्मिश्रण है।

---

1 विष्णु पुराण 5, 2 3 भागवत पुराण 10 3 47

2 बा० च० 2 20

3 मर्त्येषु जन्म विरह म सानि पापे, कर्माणि चाद्य नगरे धनद न तावत्।
यावत्र वसद्रतव युधि पातयित्वा जन्मान्तरप्रमुरमह कथयामि ॥ वही, ८ 6

4 भा० ना० च०, पृ० 536-7

यही बात हमे भास के बालचरित के द्वितीय अक मे देखने को मिलती है। इसमे शाप, चाण्डाल युवतिया व राजश्री प्रतीकात्मक पात्र हैं और कस एक यथार्थ पात्र। इस प्रकार इन प्रतीकात्मक पात्रो की कल्पना मे भास ने सभवत अपने पूर्ववर्ती नाटक-साहित्य की एक मान्य परम्परा को ही आगे बढ़ाने की चेष्टा की है। यह अन्तर अवश्य है कि जहा अश्वघोष के पात्र मानसिक तत्त्वो (बुद्धि, धृति आदि) के प्रतीक है वहा भास के पात्र तत्कालीन लोक विश्वासो के मूर्त रूप प्रतीत होते हैं। भास के पश्चात एक दीर्घ काल तक हमे नाटको मे प्रतीकात्मक पात्रो की योजना नही मिलती। अनेक शताब्दियां बाद कृष्णमिश्र (११वी सदी ई०) के प्रबोध-चन्द्रोदय मे प्रतीकात्मक शैली का पुन नवोन्मेष हुआ। यद्यपि भास ने अपने सपूर्ण साहित्य मे ऐसे एक ही दृश्य की योजना की है, पर यह दृश्य प्रतीकात्मक पात्रो की प्रभावपूर्ण योजना मे उसके नैपुण्य का सूचक है।

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

शास्त्रीय दृष्टि से नाटक मे शृगार और वीर इन दो रसो मे से कोई एक अगी होना चाहिए। अन्य रसो की योजना अग के रूप मे हो की जा सकती है। 'बालचरित' मे शृगार रस की हल्की सी झलक तृतीय अक मे हल्लीसक नृत्य के प्रसग मे मिलती है, किन्तु उसका सम्यक् विकास व परिपाक नही होता। नृत्य के बीच मे ही दानव अरिष्टार्षभ के आगमन की सूचना मिलने से नाटक की भावधारा शृगार से हटकर वीर रस की ओर मुड जाती है।

'बालचरित' का प्रधान रस वीर है जिसकी व्यजना अतिम तीन अको मे हुई है। प्रथम अक मे शिशु कृष्ण का अलौकिक व्यक्तित्व व कार्य अद्भुत रस के व्यजक है। द्वितीय अक मे कस के राजप्रासाद मे रात्रि के समय शाप व चाण्डाल-कन्याओ का भयावह रूप व कार्यकलाप विस्मय व भय के भाव जाग्रत करते हैं। यहा विस्मय भाव भयानक रस के सचारी के रूप मे व्यक्त होता है। देवकी-कन्या के आकाश मे उडने और कात्यायिनी के रूप मे परिवर्तित होने का प्रसग भी अद्भुत-मिश्रित भयानक रस का व्यजक है। इस प्रकार नाटक के विभिन्न स्थलो मे विभिन्न रसो की निष्पत्ति होती है, किन्तु समग्र नाटक की दृष्टि से वीर रस ही प्रधान है। कृष्ण ने कस के वध के लिए पृथ्वी पर जन्म लिया है, अत प्रथम व द्वितीय अको मे वर्णित अलौकिक वस्तु-व्यापार कस व अन्य दानवो के वध-रूप उद्देश्य के प्रति अग है। अरिष्टार्षभ, कालिय व कस आदि के वध के लिए कृष्ण का उत्साह तथा तज्जन्य अलौकिक कर्म अद्भुत परिपुष्ट वीर रस के व्यजक है। यह भी उल्लेखनीय है कि नाटकीय घटनाचक्र के बीच-बीच मे विभिन्न पात्रो के माध्यम से नाटककार

ने अपने भक्तिभाव को बार-बार मुखरित किया है। वस्तुत नाटक में चित्रित अद्भुत व वीर रस सर्वत्र भास की इस धार्मिक चेतना से अनुप्राणित हैं।

(घ) लोककथामूलक नाटक

भास के चार नाटक लोककथाओं पर आधारित हैं—(१) प्रतिज्ञायौगन्धरायण (२) स्वप्नवासवदत्त (३) अविमारक और (४) चारुदत्त। इनमें से प्रथम दो में उदयन और वासवदत्ता के प्रेम की लोकप्रिय कथा अंकित है। कालिदास ने अवन्ती देश में उदयन कथा की व्यापक लोकप्रियता का उल्लेख किया है।[1] ब्राह्मण, बौद्ध व जैन साहित्यों में इस कथा के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। गुणाढ्य की बृहत्कथा के संस्कृत रूपान्तरों में भी यह कथा आयी है, जिससे अनुमान होता है कि मूल बृहत्कथा में भी यह अवश्य रही होगी। सोमदेव के कथासरित्सागर की कथा व इन नाटकों की कथावस्तु की तुलना से यह स्पष्ट है कि कथा का मोटा रूप तो दोनों में समान है, पर ब्यौरे की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है। या तो मूल बृहत् कथा में इस कहानी का रूप कथासरित्सागर आदि से भिन्न रहा होगा या भास ने किसी अन्य स्रोत से यह कथा ली होगी अथवा अपने नाटकीय उद्देश्यों की दृष्टि से मूल-कथा में परिवर्तन किये होंगे। मूल बृहत्कथा के अप्राप्य होने से इस विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन है। फिर भी हम सामान्यत यह मान सकते हैं कि कथासरित्सागर में उदयन कथा जिस रूप में मिलती है लगभग उसी रूप में या उससे मिलते-जुलते रूप में यह बृहत्कथा में भी रही होगी। अत कथासरित्सागर की कथा के साथ तुलना द्वारा हम भास की मौलिकता का कुछ अनुमान लगा सकते हैं।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्त दोनों नाटक विषयवस्तु की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हैं। प्रतिज्ञायौगन्धरायण की ही कथा को स्वप्नवासवदत्त में आगे बढ़ाया गया है, तथापि नाटकीय गुणों की दृष्टि से प्रतिज्ञायौगन्धरायण की अपेक्षा स्वप्नवासवदत्त श्रेष्ठतर है तथा भास की सर्वोत्तम नाट्यकृति होने के साथ संस्कृत नाट्य-साहित्य की भी एक महती उपलब्धि कही जा सकती है। अविमारक और चारुदत्त भी लोककथाओं पर आश्रित हैं, पर इनके स्रोत के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। कथासरित्सागर में कुरंगी और उसके प्राणरक्षक चाण्डालकुमार की कथा आयी है पर नाटकीय कथा के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों का इस कथा में उल्लेख नहीं मिलता। भास के लोककथामूलक नाटकों में से इसी में अतिप्राकृत तत्त्वों का सबसे अधिक प्रयोग हुआ है।

---

1 प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् मेघदूत, पूर्वखण्ड, 31

जहा तक 'चारुदत्त' का प्रश्न है, बृहत्कथा के सस्कृत-रूपान्तरो मे या अन्यत्र कही भी उसका कोई आधार प्राप्त नही होता। यह भी हो सकता है कि नाटककार ने किसी ऐसी लोककथा का उपयोग किया हो जो परवर्ती काल मे सुरक्षित न रही हो। इसमे कोई भी उल्लेखनीय अतिप्राकृत तत्त्व नही मिलता, इसलिए हमने इसे अपने प्रस्तुत अध्ययन की सीमा से बाहर रखा है। शूद्रक 'मृच्छकटिक' के साथ चारुदत्त के सम्बन्ध का प्रश्न गम्भीर विवाद का विषय रहा है पर हमारे अध्येय विषय के साथ सम्बन्ध न होने से हमने यहा उसका विवेचन नही किया है।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण

यह चार अको का रूपक है जिसे किसी ने नाटिका और किसी ने प्रकरण माना है।[1] माकड के अनुसार इसमे प्रकरण का एक भी प्रधान लक्षण नही मिलता।[2] डा० गणपति शास्त्री ने इसे "अल्प नाटक-नाटिका" अर्थ मे नाटिका स्वीकार किया है। डा० बनर्जी शास्त्री ने इसे ईहामृग माना है, किन्तु पुसालकर के मत मे इसकी कथावस्तु मे "अनिच्छुक दिव्य स्त्री" के हरण का अभाव है जो ईहामृग का एक आवश्यक लक्षण कहा गया है।[3] नाटिका और ईहामृग दोनो मे शृगार रस प्रधान होना चाहिए, पर प्रतिज्ञायौगन्धरायण मे उदयन और वासवदत्ता का प्रणय-वृत्त पृष्ठभूमि मे ही रहा है। भास का उद्देश्य यौगन्धरायण के चरित्र और उसकी नीतिनिपुणता को ही प्रकाश मे लाना है। इसी दृष्टि से उसने उदयन और वासवदत्ता को एक बार भी सामाजिको के सामने उपस्थित नही किया।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण मे अतिप्राकृत तत्त्वो का अतीव सीमित प्रयोग हुआ है। नाटककार ने वस्तु, पात्र और वातावरण तीनो का अधिकतर लौकिक स्तर पर ही चित्रण किया है। यह उल्लेखनीय है कि कथासरित्सागर की सम्बन्धित कथा मे नाटकीय कथा की अपेक्षा अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग अधिक हुआ है। कथासरित्-सागर के अनुसार यौगन्धरायण ने उज्जयिनी के श्मशान मे योगेश्वर नामक एक ब्रह्मराक्षस से मित्रता की तथा उसकी बतायी युक्ति से अपना रूप बदल लिया जिससे वह एक विरूप, कुबडा, उन्मत्तवेश, खलवाट और हास्योत्पादक व्यक्ति हो गया। इसी

---

1 प्रतिज्ञायौगन्धरायण की "स्थापना मे इस प्रकरण कहा गया है—'तत्रभवतोमप्रमादिन रगे वयमपि प्रकरणमारभामहे।' कीथ के अनुसार प्रकरण से इसका आशिक साम्य है। द० सस्कृत ड्रामा, पृ० 102

2 ड्राइग्स ऑव् सस्कृत ड्रामा प० 55

3 दे० भास—ए स्टडी, पृ० 272–273

युक्ति से उसने वसन्तक का भी रूप बदल डाला।[1] कथासरित्सागर का यौगन्ध-रायण अदृश्य होने की विद्या मे निष्णात है। वह उदयन, वासवदत्ता व उसकी सखियों के समक्ष देखते-देखते अदृश्य हो जाता है।[2] इस अदृश्य रूप मे ही वह राजा की बेडिया काटकर वासवदत्ता व उसकी सखियों को वश म करने के लिए उसे वशीकरण की औषधिया देता हे।[3] वह दूसरी बार पुन अदृश्य रूप म[4] उदयन से भेंट कर वासवदत्ता के साथ उज्जयिनी से भाग निकलने की कूट योजना से उसे परिचित कराता ह।

इससे स्पष्ट है कि लोककथा मे यौगन्धरायण का व्यक्तित्व बहुत कुछ अतिमानवीय था जिसे भास ने यथासभव मानव रूप मे ढालने का प्रयास किया ह। भास की दृष्टि से यह उचित भी है। कथासरित्सागर म यौगन्धरायण का अलौकिक व्यक्तित्व उसके नीति-नैपुण्य को पूरी तरह उभरने नहीं देता। वहा यौगन्धरायण एक सिद्धिसम्पन्न पुरुष है, नीति-प्रवीण नहीं। नीतिज्ञता एक मानवीय गुण है जो तभी प्रभावी रूप मे प्रकाश मे आ सकती है जब उसका सबध किसी मनुष्य से हो, अतिमानव से नहीं। भास का उद्देश्य यौगन्धरायण को एक नीति-कुशल व स्वामि-भक्त मत्री के रूप मे चित्रित करना था, अत उसके व्यक्तित्व को अलौकिकता से सर्वथा मुक्त रखा गया है। इससे उसका व्यक्तित्व अधिक प्रभावशाली व विश्वसनीय हो सका है। नाटक का यौगन्धरायण एक मनुष्य पात्र है, इसलिए उसकी नीति-निपुणता उसे गौरवान्वित करती है, जबकि कथासरित्सागर मे वह उसकी अलौकिकता का एक ही पक्ष है।

भविष्य-कथन व अदर्शन नाटक के प्रथम अक मे यौगन्धरायण का द्वारपाल निमुण्डक उसे एक आश्चर्यजनक सूचना देता है। राजा उदयन के कल्याण के निमित्त जब ब्राह्मण-भोजन हो रहा था तब किसी उन्मत्त-वेशधारी ब्राह्मण न जोर से हसकर कहा—'आप लोग निश्चिन्तता से भोजन करे। इस राजकुल का अभ्युदय होगा।' यह कह कर तथा अपने उन्मत्त वेष को वहीं छोडकर वह सहसा अदृश्य हो गया।[5] बाद मे एक ब्राह्मण यौगन्धरायण के पास उन वस्त्रो को लेकर आया। उसने बताया कि भगवान् द्वैपायन इन वस्त्रो को छोडकर गये हैं।[6] तब यौगन्धरायण

---

1 कथासरित्सागर, लम्बक 2, तरग 4 47–51
2 वही 2, 4 59–60
3 वही, 63–64
4 वही, तरग 5 2
5 प्रा० या० च०, पृ० 71
6 वही, पृ० 71

ने उन्हे पहन कर देखा और पाया कि उनके कारण उसका रूप कुछ और ही हो गया है।[1] उसने सोचा "द्वैपायन मेरे लिए इन वस्त्रों को छोड गये है। उस साधु पुरुष (द्वैपायन) के द्वारा धारित यह उन्मत्तसदृश वेष राजा को मुक्ति दिलायेगा और मुझे प्रच्छादित रखेगा।"[2] आगे के अंकों मे हम यौगन्धरायण को इसी उन्मत्तवेष मे उदयन की मुक्ति के लिए प्रयास करते देखते है।

कथासरित्सागर और नाटक दोनों मे यौगन्धरायण का उन्मत्तरूप मे परिवर्तन बनाया गया है, पर इस परिवर्तन का कारण उनमे भिन्न भिन्न निर्दिष्ट है। प्रथम मे ब्रह्मराक्षस द्वारा बनायी युक्ति से ऐसा होता है और दूसरे मे द्वैपायन द्वारा परित्यक्त वस्त्रों से। यहाँ नाटककार ने मूल कथा मे जो परिवर्तन किया है वह सार्थक है। जहाँ लोककथा का यौगन्धरायण ब्रह्मराक्षस से युक्ति सीखकर मन्त्र-तन्त्र व योग आदि द्वारा अपना रूप-परिवर्तन कर एक सिद्ध पुरुष बन जाता है वहाँ नाटक का यौगन्धरायण यथावत् रहता है, केवल महर्षि द्वैपायन के वस्त्र पहनने से उसका रूप उन्मत्त पुरुष जैसा हो जाता है, वह अलौकिक या सिद्ध पुरुष नही बनता। कथासरित्सागर के अनुसार यौगन्धरायण न केवल अपना ही रूप बदलता है अपितु वसन्तक के शरीर को भी बदल डालता है। नाटक के यौगन्धरायण मे ऐसी कोई अलौकिक शक्ति नही बताई गयी। अगर कोई अलौकिकता है तो वह वेदव्यास के वस्त्रों मे ही है। अतः यौगन्धरायण का मूल लौकिक व्यक्तित्व अपरिवर्तित रहता है। इस प्रकार नाटककार ने कथा को लौकिक धरातल से पृथक् नही होने दिया है तथा यौगन्धरायण के नीति-निपुण मानव-रूप को ही विशेष गौरव दिया है। किन्तु चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रशंसनीय होते हुए भी वस्त्रों मे सन्निहित कल्पना नाटकीय दृष्टि से संगत नही है। द्वैपायन का उन्मत्त रूप मे आगमन तथा अपने वस्त्र छोडकर अकस्मात् गमन आदि का नाटक की मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध नही है, अतः यह प्रसंग आरोपित-सा प्रतीत होता है। नाटककार ने केवल यौगन्धरायण के रूप-परिवर्तन के लिए इस प्रकार की क्लिष्ट-कल्पना की है जो वस्तु-विधान की दृष्टि से उचित नही लगती। इस युक्ति द्वारा नाटककार ने यौगन्धरायण को तो अति-मानवीयता से बचा लिया है, पर कथावस्तु मे एक असंगत अतिप्राकृत प्रसंग को ग्रहण कर लिया है।

---

1 यौगन्धरायण —क्षयमयद रूपमिव मे सवृत्तम्। वही, पृ० 72

2 उन्मत्तसदृशो वेषो धारितस्तेन साधुना।
मोक्षयिष्यति राजानं मा च प्रच्छादयिष्यति।
प्र०यौ० 1 17

प्रस्तुत नाटक में एक मात्र 'द्वैपायन' का व्यक्तित्व अलौकिकता लिए हुए है। उनके द्वारा परित्यक्त वस्त्रों में कुछ ऐसी विशेषता है कि यौगन्धरायण का अपना वास्तविक रूप बिल्कुल छिप जाता है। नाटककार ने उन्हें भविष्यद्रष्टा और अन्तर्धान की अलौकिक शक्ति से युक्त बताया है। यह उल्लेखनीय है कि नाटक में द्वैपायन की चर्चा मात्र आई है, वे किसी भी दृश्य में प्रत्यक्ष उपस्थित नहीं होते।

स्वप्नवासवदत्त

छह अंकों का यह नाटक भास की सर्वश्रेष्ठ नाट्य कृति है। इसमें राजा उदयन के खोये हुए राज्य की पुनः प्राप्ति के लिए उसकी पत्नी वासवदत्ता के अनुपम आत्मत्याग की कथा निबद्ध है। पंचम अंक का स्वप्नदृश्य भास की एक अनूठी कल्पना है, जो इस नाटक के नामकरण का आधार है। नाटककार का सबसे अधिक कौशल उदयन व वासवदत्ता के मानसिक भावों के चित्रण में प्रकट हुआ है। भास मानव-हृदय के कितने बड़े पारखी थे यह बात इस नाटक के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है।

स्वप्नवासवदत्त में न कथावस्तु के अन्तर्गत कोई अतिप्राकृत तत्त्व आया है और न चरित्र-चित्रण में। नाटक की समस्त घटनाएं, पात्र एवं वातावरण सर्वथा मानवीय है। केवल कुछ लोक-प्रचलित विश्वासों के रूप में अतिप्राकृतिक तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। इन विश्वासों को नाटककार ने नाटकीय कथा तथा उसकी मूल भावना के साथ समन्वित करने का सफल प्रयास किया है। ये तत्त्व निम्नलिखित हैं –

सिद्धादेश पुष्पकभद्रक आदि आदेशिकों ने भविष्यवाणी की है कि मगध-नरेश दर्शक की बहिन पद्मावती राजा उदयन की रानी होगी।[1] इसी भविष्यवाणी का ध्यान में रखकर यौगन्धरायण आदि मन्त्रियों ने वासवदत्ता का पद्मावती के पास धरोहर के रूप में रखने का निश्चय किया। उक्त आदेशिकों के कथन में सन्देह के लिए तनिक भी अवकाश नहीं था, क्योंकि उनकी कुछ भविष्यवाणियां पहले भी सच्ची प्रमाणित हो चुकी थीं। उदाहरणार्थ उन्होंने राजा उदयन पर आने वाली विपत्ति की भविष्यवाणी की थी जो सही निकली।[2] यौगन्धरायण के अनुसार स्वयं

---

1 यौगन्धरायण (स्वगतम्) एवम्। एषा सा मगधराजपुत्री पद्मावती नाम या पुष्पकभद्रादिभिरादेशिकैरादिष्टा स्वामिनो देवी भविष्यतीति।
स्वप्नवासवदत्त (भासनाटकचक्र में संकलित) पृ० 3

2 पद्मावती नरपतेर्महिषी भवित्री
दृष्टा विपत्तिरथ यैः प्रथमं प्रदिष्टा।
तत्प्रत्ययात् कृतमिदं न हि सिद्धवाक्या-
न्युत्क्रम्य गच्छति विधिः सुपरीक्षितानि॥ वही, 1 11

विधि (विधाता) भी सिद्धजनों के सुपरीक्षित वाक्यों का उल्लंघन नहीं कर सकता।

यहां नाटककार ने सिद्ध पुरुष के आदेश या भविष्यवाणी के रूप में जिस अतिप्राकृत तत्त्व की योजना की है वह एक प्रचलित लोक-विश्वास तो है ही, नाटक की वस्तु-योजना की दृष्टि से भी मार्मिक है। कथासरित्सागर की कथा में 'सिद्धादेश' की बात नहीं आयी। वहां भी वासवदत्ता पद्मावती के संरक्षण में सौंपी गयी है पर सिद्धादेश के कारण नहीं। वहां मन्त्रियों को केवल राजनैतिक प्रयोजन से पद्मावती का उदयन के साथ विवाह इष्ट है। नाटक में भी मुख्य कारण राजनैतिक ही है पर उसे सिद्धादेश द्वारा एक लोकोत्तर अनुमोदन भी दिया गया है जिससे नाटकीय घटनाचक्र में एक अवश्यंभाविता का तत्त्व समाविष्ट हो गया है। जिस प्रकार उदयन की राज्यनाशरूपी विपत्ति पूर्वनियत थी, उसी प्रकार पद्मावती के साथ उसका विवाह भी एक अपरिवर्तनीय दैवी-विधान है। इस तरह लेखक ने नाटक की विशुद्ध मानवीय कथा में एक अतिप्राकृत तत्त्व जोड़ दिया है, पर यह नाटक के मानव-तत्त्व का सहायक व पूरक मात्र है। वह उसके महत्त्व को कम नहीं करता, केवल उसे एक अतिरिक्त बल प्रदान करता है। नाटक का यौगन्धरायण कथासरित्सागर के यौगन्धरायण की तुलना में वासवदत्ता को पद्मावती के संरक्षण में अधिक विश्वास के साथ सौंप सका है, क्योंकि उसे पद्मावती और उदयन के विवाह के विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है।[1] कथासरित्सागर में उदयन के मन्त्रियों को केवल आशा ही है कि वासवदत्ता की मृत्यु की घोषणा के बाद मगधराज अपनी पुत्री का विवाह उदयन के साथ कर देगा, पर नाटक में उन्हें यह पक्का भरोसा है कि ऐसा होगा ही। अब जब भी ऐसा होगा तब पद्मावती वासवदत्ता के शील व चरित्र की साक्षिणी होगी। दूसरी ओर कथासरित्सागर की वासवदत्ता को अपनी सच्चरित्रता सिद्ध करने के लिए अग्निप्रवेश का प्रस्ताव करना पड़ा है[2] तथा अन्त में एक आकाशवाणी द्वारा उसका पातिव्रत प्रमाणित किया गया है।[3]

---

1 राज्ञो अथ पद्मावत्या इमं किं ग्रान्तकारणम्।
यौगन्धरायण —पुष्पकभद्रादिभिरादेशिकैरादिष्टा स्वामिना देवी भविष्यतीति।
भा0 ना0 चा0 पृ0 ५०

2 अग्निप्रवेशं कार्यों मे राज्ञः हृदयशुद्धये।
इति वासवदत्ता च बभाषे बद्धनिश्चया॥ 3 2 116

3 इत्युक्त्वा विरते तस्मिन् दिव्या वागुदभूदियम्।
धन्यस्त्वं नृपते यस्य मन्त्री यौगन्धरायणः॥
यस्य वासवदत्ता च भार्या प्राग्जन्मदेवता।
न दोषः कश्चिदेतस्या इत्युक्त्वा वागुपारमत॥ 3 2 119-120

भाग्यवाद स्वप्नवासवदत्त में भाग्य की परिवर्तनशीलता,[1] विधि की अनतिक्रमणीयता[2] तथा दैव की निष्ठुरता[3] का भी अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। इस उल्लेख द्वारा नाटककार ने यह संकेत दिया है कि मानव-जगत् अपने आप में स्वतन्त्र और पूर्ण नहीं है, उसकी विभिन्न दशाओं और कार्यकलापों के पीछे किसी अदृश्य शक्ति का हाथ रहता है। यह शक्ति ही मानव के सुख-दुःख, सफलता-असफलता जीवन-मरण आदि का नियमन व निर्देशन करती है। कोई भी व्यक्ति दैवी विधान का अतिक्रमण नहीं कर सकता। उसके सामने मनुष्य सर्वथा असहाय व निरुपाय है। यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के विचार पात्रों के मुंह से प्रायः किसी अप्रिय परिस्थिति, निराशा या दुःख के क्षणों में ही व्यक्त हुए हैं।

अविमारक

भास के लोककथाओं पर आधारित नाटकों में अविमारक में अतिप्राकृत तत्त्वों का सबसे अधिक प्रयोग हुआ है। इसकी वस्तु व पात्र दोनों की योजना में इन तत्त्वों का उपयोग किया गया है। छह अंकों के इस नाटक में राजा कुन्तिभोज की पुत्री कुरंगी व शाप के कारण चाण्डाल बने सौवीरराज के पुत्र अविमारक के रोमांचकारी व साहसिक प्रणय की कथा निबद्ध है। सोमदेव कृत कथासरित्सागर,[4] क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामंजरी[5] एवं कुणालजातक में वर्णित 'एलकमारक' की कहानी में अविमारक व कुरंगी की प्रेमकथा के विभिन्न रूप मिलते हैं, पर इनमें से कोई भी नाटकीय कथा से पूरी तरह साम्य नहीं रखता। गुणाढ्य की बृहत्कथा में भी यह प्रेम कहानी रही होगी, पर उसके अप्राप्य होने से हम नहीं कह सकते कि उसमें इसका क्या रूप था? बृहत्कथा पर आधारित कथासरित्सागर में सुरतमंजरी की कथा के अन्तर्गत कुरंगी व चाण्डाल कुमार के प्रणय की कहानी आई है। नाटकीय कथा के साथ इसकी अनेक बातों में समानता है। राजकुमारी व चाण्डालकुमार के प्रेम व विवाह का मूल इतिवृत्त दोनों में समान है। प्रेमी व प्रेमिका के प्रथम दर्शन

---

1 (क) कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना
चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः । स्वप्न० 1.4
(ख) यावन्दिदानीं भागधेयनिवृत्तं दुःखं विनोदयामि।
अहो अत्याहितम्। आर्यपुत्रोऽपि नाम परकीयः संवृत्तः। भा० ना० च० 16.17

2 धारयतु धारयतु भवान्। अनतिक्रमणीयो हि विधिः ईश्वरमिन्तनीमनन भा० ना० च० पृ० 32

3 (क) एतदपि मया कर्तव्यमासीत्। अहो अकरुणाः खल्वीश्वराः। वही पृ० 18
(ख) किं नाम दैव! भवता न कृतं यदि स्यात् राज्यं परैरपहृतं कुणप च दन्या ॥
स्वप्न० 6.5.

4 1C 2 89 108

5 18 137-149

व प्रणयारम्भ की परिस्थिति भी लगभग वही है। चाण्डालकुमार एक उद्यान में मतवाले हाथी के आक्रमण से राजकुमारी कुरंगी के प्राणों की रक्षा करता है और इसी बिन्दु से दोनों के हृदय में पारस्परिक प्रणय जाग्रत होता है। निराश चाण्डालकुमार का आत्महत्या का प्रयास दोनों में वर्णित है, इस अन्तर के साथ कि नाटक में यह प्रयास दो बार किया गया है। नाटक में नायिका कुरंगी भी आत्महत्या का प्रयत्न करती है जिसका कथासरित्सागर की कथा में उल्लेख नहीं मिलता। चाण्डालकुमार के अग्निपुत्र होने की बात दोनों में आयी है यद्यपि उसके ब्यौरों में भिन्नता है। प्रणय की विवाह के रूप में सुखमय परिणति दोनों में समान है। किन्तु कथासरित्सागर की कथा में अविमारक की राजपुत्रता, शाप के कारण उसके एक वर्ष के चाण्डालत्व, राजकुमारी के अन्तःपुर में उसके गुप्त प्रवेश व दीर्घ काल तक प्रच्छन्न निवास तथा विद्याधर द्वारा प्रदत्त जादू की अगूठी पहनकर कन्यान्तःपुर में उसके पुनः प्रवेश आदि का उल्लेख नहीं मिलता, जबकि नाटक की वस्तु-योजना में इनका अतिशय महत्त्व है। बृहत्कथामंजरी के अनुसार एक देवदूत स्वर्ग से आकर कुरंगी के पिता को अविमारक का जन्म वृत्तान्त सुनाता है जिसे मानकर राजा अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर देता है।[1] प्रणयकथा में दिव्य-साहाय्य का यह अभिप्राय नाटक के अंतिम अंक में बहुत कुछ इसी रूप में प्रयुक्त है। कुणाल जातक में आई 'एलकमारक की कथा'[2] में नायक व नायिका के नाम, चाण्डालकुमार (वस्तुतः राजकुमार) के साथ राजकुमारी का गुप्त-प्रेम व अन्त में दोनों का विवाह आदि बातें समान हैं। किन्तु हस्तिसंभ्रम, चाण्डाल कुमार का अग्निपुत्रत्व तथा विद्याधर-प्रदत्त अगूठी की सहायता से कुरंगी के महल में उसका अदृश्य प्रवेश आदि महत्त्वपूर्ण प्रसंगों का जातक की कथा में उल्लेख नहीं मिलता।

श्री मेनन ने महाभारत की एक कथा की ओर हमारा ध्यान खींचा है जिसमें अग्नि देवता दुर्योधन की पुत्री सुदर्शना के साथ विवाह करता है।[3] नाटक में भी अविमारक की मां सुदर्शना दुर्योधन पुत्र कुन्तिभोज की बहन बतायी गयी है जो अग्निदेवता से पुत्र प्राप्त करती है। वे यह भी मानते हैं कि अविमारक की मूल कथा में 'अवैध-सन्तान' का अभिप्राय प्रधान रहा होगा तथा अवैध पुत्र का परित्याग

---

1 ततस्तु जन्मवृत्तान्तं यथावत् स्वयमन्विता।
देवदूता दिवः प्राह तन्त्वामयन भूपतिः ॥ बृहत्कथामंजरी, 18 148

2 द्र० जर्नल ऑव् ओरियंटल इन्स्टीट्यूट एम० एस० यूनिवर्सिटी बड़ौदा भाग 19 स० 1-2, 1969 में प्रकाशित श्री के० मेनन का लेख 'ए नोट आन दि सोर्सेज ऑव अविमारक' (?) पृ० 68 70

3 वही, पृ० 73 की पादटिप्पणी।

करने वाली मा के प्रति पुत्र द्वारा आक्रोश व्यक्त किया गया होगा। किन्तु भास का उद्देश्य एक शृगार-प्रधान नाटक की रचना करना था, अत उसने मूल कथा मे इस दृष्टि से अनेक परिवर्तन किये होगे। फिर भी नाटक मे ऐसे तत्त्व रह गये जिनकी प्रेमकथा मे सगति नही बैठती। ये तत्त्व मूलकथा के वे अश है जिन्हे भास नाटक मे भली-भाति समन्वित नही कर सके।[1] श्री मेसन के विचार मे अविमारक की कथा सभवत बृहत्कथा से भी पहले की है और यह सभव है कि भास ने किसी ऐसे स्रोत का उपयोग किया हो जो अब लुप्त हो चुका है, अथवा उसने अपने समय मे प्रचलित कहानियो का आधार ग्रहण किया होगा।[2] कीथ के विचार मे इस नाटक की वस्तु कथासाहित्य से ली गयी है।[3] विंटरनित्स ने बृहत्कथा को इसका मूल स्रोत स्वीकार किया है।[4] डा० लक्ष्मण सरूप के मत मे नाटक की कथा भास की अपनी उद्भावना है।[5] प्रो० ध्रुव ने लोकवार्ताओ को इसकी कथा का स्रोत माना है।[6] श्री पुसालकर के अनुसार 'एलकमारक' कथा एक लोकप्रिय कथा रही होगी तथा भास उससे परिचित रहे होगे। अत उनके मत मे नाटक की कथा भास की उद्भावना नही हो सकती। वे मानते है कि भास ने यह कथा लोकवार्ताओ मे ग्रहण की तथा लोकरुचि के परितोषार्थ उसमे जादू की अगूठी वाली घटना जोडदी।[7]

कथावस्तु मे अतिप्राकृत तत्त्व

चण्डभार्गव का शाप अविमारक मे प्रणय-कथा की पृष्ठ-भूमि के रूप मे नाटककार ने चण्डभार्गव के शाप की योजना की है। कथासरित्सागर की कथा मे इस शाप का उल्लेख नही मिलता, किन्तु नाटक मे इसका अतिशय महत्त्व है। एक तरह से कथा का सारा ढाचा इसी कल्पना पर आधारित है। इस शाप का विवरण छठे अक मे सौवीरराज द्वारा कु तिभोज को दिया गया है जो इस प्रकार है[8] "चण्डभार्गव नामक एक अतीव क्रोधी ब्राह्मण थे। एक बार वे सौवीरदेश मे आये। उनके शिष्य को वन मे किसी व्याघ्र ने मार डाला। सयोग से सौवीरराज शिकार खेलते हुए उसी स्थान पर पहुचे। राजा को देखकर क्रुद्ध ऋषि उस भला-बुरा कहने लगे। राजा भी भवितव्य अर्थ की प्रबलता के कारण धैर्य-च्युत होकर क्रुद्ध स्वर मे

1 वही पृ0 73
2 वही, पृ0 62
3 सस्कृत ड्रामा, पृ0 101
4 हिस्ट्री आव इडियन लिट्रेचर, भाग 3, खड 1, पृ0 221 222
5 भास ए स्टडी, पृ0 92 पर उल्लिखित मत
6 वही,
7 वही,
8 भा0 ना0 च0 देवधर पृ0 176 178

बोल पड़ा—"तुम बताये बिना ही मुझे अकारण भला-बुरा कह रहे हो। तुम क्रोधी होने के कारण तपस्या के अधिकारी नहीं हो। तुम ब्रह्मर्षि के रूप में श्वपाक हो।" राजा के इस अपमानकारी वचन को सुनकर क्रुद्ध ऋषि ने उन्हें यह शाप दिया "ब्रह्मर्षियों में मुख्य मुझे तुमने श्वपाक कहा है, अतः तुम पुत्र व पत्नी सहित श्वपाकत्व को प्राप्त करोगे।[1]" शाप से विक्षुब्ध राजा ने ऋषि की बहुत अनुनय-विनय की। तब ऋषि ने प्रकृतिस्थ होकर अनुग्रह के स्वर में कहा—'तुम एक वर्ष का काल प्रच्छन्न रूप में बिताओ। संवत्सर पूरा हो जाने पर शाप-मुक्त हो जाओगे।' ऋषि ने प्रसन्न चित्त से अपने शिष्य को बुलाया—"हे काश्यप! चलो" और आश्चर्य कि गुरु का आदेश सुनकर मृत शिष्य उठकर ऋषि के पीछे चल दिया।

भास ने शाप की यह कल्पना सौवीरराज की वैरन्त्यनगर में सपरिवार उपस्थिति तथा अविमारक के अस्थायी चाण्डालत्व को सुसंगत रूप देने के लिए की है। इन दोनों ही बातों का नाटक की कथावस्तु में विशेष महत्त्व है। हस्ति-सम्भ्रम में अविमारक द्वारा राजकुमारी की प्राणरक्षा तथा उसके अन्तःपुर में गुप्त प्रवेश आदि घटनाएं वैरन्त्य नगर में अविमारक की उपस्थिति पर ही निर्भर है। इसी प्रकार प्रणय-कथा में संघर्ष व जटिलता के तत्त्वों का समावेश अविमारक के चाण्डालत्व का सीधा परिणाम है। हम देखते हैं कि शाप की अवधि समाप्त होते ही प्रणय-कथा भी सुखद परिणति पर पहुंच जाती है। इस प्रकार नाटककार ने शाप-प्रसंग को नाट्य-वस्तु के साथ घनिष्ठतया सम्बन्धित कर उसे समस्त नाटकीय घटना-चक्र का आधार बना दिया है।

भास ने अविमारक के कुल व जाति के विषय में सामाजिकों व नाटक के अन्य पात्रों को प्रारंभ से ही एक अम-संशय की स्थिति में रखा है। बीच में यह सकेत तो दिया गया है कि अविमारक किसी ऋषि के शाप से चाण्डाल का जीवन बिता रहा है,[2] पर इस बारे में कोई स्पष्ट विवरण नहीं दिया गया। इस प्रकार नाटककार ने प्रेक्षकों की कौतूहलवृत्ति को अनवरत जागरूक रखा है तथा नाटक के अन्त में ही चण्डभार्गव के शाप आदि रहस्यों का उद्घाटन किया है। इससे सिद्ध है कि भास घटनाओं की कौतूहलपूर्ण योजना में प्रवीण कुशल हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि भास ने शाप-प्रसंग को सूच्य रूप में ही प्रस्तुत किया है, दृश्य घटना के रूप में नहीं। इससे प्रतीत होता है कि नाटककार को यह प्रसंग केवल पृष्ठभूमि के रूप में अभीष्ट है। उसने अविमारक को शाप के कारण कुछ काल के लिए अन्त्यज

---

1 भा० ना० च० पृ० 177

2 विदूषक—किं समाप्तोऽस्माकमभिशापः। भा० ना० च० पृ० 129

बनाकर एक राजकुमारी के साथ उसके गुप्त प्रणय का रोमाचकारी वृत्तान्त गुम्फित किया है। नाटक की कथा का बहुत कुछ स्वारस्य इसी मे है कि चाण्डाल का जीवन बिताने वाला एक युवक राजपुत्री से न केवल प्रेम करता है अपितु उसके महल मे एक वर्ष तक छिप कर निवास भी करता है। लोगो की दृष्टि मे वह एक अन्त्यज है, क्योकि अन्त्यजो की बस्ती मे रहता है, किन्तु उसका असाधारण सौन्दर्य, वीरता आदि गुण उसकी कुलीनता का सकेत देते है। अत अविमारक चाण्डाल है और नही भी है। उसके व्यक्तित्व के इस द्वैत ने प्रेमकथा को एक विशिष्ट सौन्दर्य प्रदान किया है, और यह द्वैत स्पष्टत चण्डभार्गव के शाप का फल है। अविमारक और कुरगी के प्रेम मे सामाजिक मर्यादाओ की परवाह न करने वाली एक साहसिकता निहित है जो उसे विशेष चमत्कारकारी बनाती है, किन्तु निपुण नाटककार ने वास्तव मे ऐसी किसी मर्यादा का अतिक्रमण भी नही कराया है, क्योकि अविमारक का अन्त्यजत्व उसके जीवन की एक अस्थायी व प्रातिभासिक घटना मात्र है। वस्तु-स्थिति की दृष्टि से तो वह न केवल राजपुत्र है, अपितु देवपुत्र भी है।

दैवभणित यह प्रसग द्वितीय अक मे आया है। कुरगी की धात्री अविमारक को राजकुमारी के साथ गुप्त मिलन के लिए कन्यान्त पुर मे आने का निमत्रण देने जा रही है। तथापि उसका मन अविमारक के कुल व जाति के विषय मे सशयग्रस्त है। तभी मार्ग मे उसे ये शब्द सुनायी देते हैं—"कुलहीन व्यक्तियो मे विभव, रूप, ज्ञान, सत्त्व तो हो सकते हैं, पर उनका चरित्र विशुद्ध नही हो सकता। इसके कुल के विषय मे तुम अवश्य ही यथासमय सुनोगे। अभी कुल-विषयक सन्देह त्याग दो तथा इस कार्य को सफल बनाओ।"[1]

इन शब्दो को सुनकर धात्री ने नलिनिका से पूछा—'हला केन खलु भणितम्।' नलिनिका ने आसपास देखकर कहा—'अत्र कोऽपि न दृश्यते।' इस पर धात्री ने अपना यह विचार प्रकट किया 'असशय दैवेन भणितम्' अह पुनर्जानामि नैव केवलो मानुष इति'। नलिनिका ने धात्री का समर्थन किया—'एतस्यास्य कुलसदेह। अस्मात् वचन करोति न करोतीति चिन्तयामि।"

नाटक की वस्तुयोजना मे उक्त दैवी वाणी का विशिष्ट महत्त्व है। नाटककार अविमारक और कुरगी के मिलन से पूर्व यह विश्वास दिलाना चाहता है कि अविमारक निम्नकुलोत्पन्न नही है। तत्कालीन सामाजिक मर्यादाओ की दृष्टि मे इस प्रकार का पूर्व आश्वासन अतीव आवश्यक रहा होगा। इस दैवी सूचना के कारण धात्री और नलिनिका द्विगुणित उत्साह एव सन्देहहीन चित्त से प्रेमी-प्रेमिका के गुप्त

---

1 अविमारक 2 5

मिलन का आयोजन करती हैं। इस प्रकार यह दैवी घोषणा कुरंगी व अविमारक के मिलन की नैतिक बाधा को दूर कर कथा को गतिशील बनाने में सहायक होती है। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि नाटककार ने यहां अविमारक के कुल आदि के बारे में पूरा रहस्य भी नहीं खोला है। उसने केवल यह संकेत दिया है कि अविमारक निम्नकुल का नहीं है। वह कौन है, चाण्डालों के बीच में क्यों रहता है, इत्यादि प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया है। इस सारे रहस्य के उद्घाटन का नाटककार ने अन्तिम अंक के लिए सुरक्षित रखा है, जिससे प्रेक्षक का कौतूहल अन्त तक अक्षुण्ण रहे तथा नाटक का अन्त भी चमत्कारपूर्ण हो।

नाटककार ने उक्त दैवी वाणी के वक्ता के विषय में केवल 'दैवेन भणितम्' इतना ही बताया है। यह दैव क्या है, अविमारक व कुरंगी के प्रणय-सम्बन्ध में उसकी रुचि क्यों है आदि बातें अस्पष्ट ही रहती हैं। इससे इतना ही प्रतीत होता है कि वह कोई ऐसी रहस्यमयी शक्ति है जो मानव-व्यापारों में उचित अवसर पर हस्तक्षेप कर उन्हें दिशा-विशेष में प्रेरित करती है। यह 'दैव' सम्भवतः अविमारक या कुरंगी या दोनों के ही पूर्व जन्म के सुकर्मों से जन्मा उनका अदृष्ट या भाग्य है जो उनके प्रणय-सम्बन्ध के विकास की एक महत्त्वपूर्ण घड़ी में उनकी सहायता करता है।

शीतल अग्नि यह प्रसंग चतुर्थ अंक का है। अविमारक राजा कुन्तिभोज के कन्या-अन्तःपुर में एक वर्ष तक कुरंगी के साथ गुप्त रूप से रहा, पर एक दिन उसका रहस्य खुल गया। कुन्तिभोज के रक्षियों से बचकर उसने वैरन्त्य नगर के समीप एक पहाड़ पर शरण ली। उस समय ग्रीष्म ऋतु थी, सूर्य प्रचण्ड रूप से तप रहा था। पहाड़ पर दावाग्नि सुलग रही थी। अब अविमारक को कुरंगी से वापिस मिलने की आशा नहीं थी। अतः निराश होकर उसने आत्महत्या का निश्चय किया। सर्वप्रथम उसने वन में प्रज्वलित अग्नि में कूद कर प्राण देने का यत्न किया। वह दावाग्नि में प्रविष्ट हो गया, किन्तु आश्चर्य की बात कि ज्वालाएं उसके लिए चन्दन रस के समान शीतल हो गयीं। आग की लपटों ने उसका उसी प्रकार प्रहृष्ट भाव से आलिंगन किया जैसे पिता पुत्र का करता है।[1]

इस प्रकार जब अग्नि ने उसे नहीं जलाया तो उसने पर्वत से गिरकर आत्महत्या करने का निश्चय किया। तभी एक विद्याधर-युगल आकाशमार्ग से जाता हुआ विश्रामार्थ उस पर्वत पर उतरा। विद्याधर ने अविमारक को आत्महत्या के प्रयत्न से रोका।

यहां नाटककार ने अग्नि की शीतलता की कल्पना द्वारा नायक अविमारक की प्राण रक्षा तो की ही है, उसके व्यक्तित्व की अलौकिकता का भी संकेत दिया है।

---

1 भा० ना० च०, पृ० 151

अविमारक वस्तुतः अग्निदेवता का पुत्र है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि वह उसका पुत्र के समान आलिंगन करे तथा उसके लिए शीतल हो जाए। इस अतिप्राकृतिक प्रसंग द्वारा भास ने अविमारक के दिव्य संबंध को सूचित करते हुए उसमें दैवी साहाय्य की पात्रता प्रदर्शित की है।

विद्या द्वारा वृत्तान्त-ज्ञान जब अविमारक स्वयं आत्महत्या के प्रयास का कारण नहीं बताता, तब विद्याधर मेघनाद अपनी विद्या से उसका सारा वृत्तान्त जान लेता है।[1] यह प्रसंग विद्याधर के दिव्य व्यक्तित्व का द्योतक है तथा अविमारक को सहायता देने की उसकी सामर्थ्य का संकेत देता है।

जादू की अंगूठी नाटक के वस्तुविकास में विद्याधर मेघनाद द्वारा अविमारक को प्रदत्त जादू की अंगूठी विशेष महत्त्व रखती है। विद्याधर अपनी विद्या से अविमारक की वस्तुस्थिति जान कर उसे एक ऐसी अंगूठी देता है जिसको अंगुली में पहनकर वह अज्ञात रूप में कुरंगी के महल में जा सकता है। इस अंगूठी की विशेषता यह है कि उसे दाहिने हाथ में पहनने पर व्यक्ति अदृश्य हो जाता है और बायें में धारण करने से प्रकृतिस्थ रहता है।[2] अविमारक को विश्वास दिलाने के लिए स्वयं विद्याधर अंगूठी को पहनकर उसका अद्भुत प्रभाव प्रदर्शित करता है।[3]

आश्चर्यजनक खड्ग इसी अवसर पर विद्याधर अविमारक को एक खड्ग भी देता है जिसे हाथ में लेकर उसके आश्चर्यकारी प्रभाव से वह विस्मित रह जाता है। तदनन्तर भगवती विद्याओं के प्रभाव से अंगूठी द्वारा अदृश्य होकर वह कहता है—"यद्यपि मुझ में वही गुण हैं जो पहले थे, तथापि अंगूठी के कारण अब मैं दिव्य स्वभाव को प्राप्त हो गया हूं। मेरा शरीर विद्यमान है फिर भी निर्गुण मर्त्यजन मुझे नहीं देख सकते।'[4] विद्याधर अविमारक को बताता है कि न केवल अंगूठी को पहनने वाला ही अन्तर्हित होता है, अपितु वह जिसका स्पर्श करता है वह भी और उससे स्पृष्ट भी सब अन्तर्हित हो जाते हैं।[5] विद्याधर अविमारक को अंगूठी देकर सपत्नीक आकाश में उड़ जाता है।[6] अनन्तर अविमारक की विदूषक सन्तुष्ट में

1 भा० ना० च०, पृ० 154

2 एतदङ्गुलीयकं दक्षिणाङ्गुल्या धार्यमाणमदृश्यो भवति, वामेन प्रकृतिस्थः।
वही पृ० 155

3 वही, पृ० 155

4 अविमारक —(खड्गं दृष्ट्वा) अहो भगवतीनां विद्यानां प्रभावः।
दिव्यं स्वभावं समुपागतोऽस्मि स एव नामास्मि गुणैर्विशिष्टैः।
दृष्टो यदा निर्गुणमर्त्यवृन्दैर्न ज्ञायते चास्ति च मे शरीरम्॥ वही पृ० 156

5 अन्तर्हितश्चान्तर्हितस्पृष्टश्च तत्स्पृष्टश्चान्तर्हिता भवन्तीति निश्चयः।
वही, पृ० 156

6 वही पृ० 157

भेंट होती है। वह उसके सामने अगूठी के अद्भुत प्रभाव का प्रदर्शन करता है। फिर इस अगूठी को पहन कर वह विदूषक के साथ दिन-दहाड़े कुन्तिभोज के कन्यान्तःपुर में प्रवेश कर जाता है।

भास ने दैव मणि, जादू की अगूठी, अद्भुत खड्ग तथा दिव्य पात्रों का माहात्म्य आदि अभिप्राय सम्भवत लोककथाओं से लिए हैं। बृहत्कथामजरी व कथासरित्सागर की कथाओं में ये अथवा इनसे मिलते-जुलते अभिप्राय स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार नाटककार न केवल कथावस्तु के लिए ही अपितु अनेक कथा-अभिप्रायों व पात्रों के लिए भी लोककथाओं का ऋणी है।

भरतमुनि ने नाटक के नायक की इष्ट-सिद्धि में दिव्य पात्रों से सहायता प्राप्त होने की बात कही है, जिसकी चर्चा हम दूसरे अध्याय में कर चुके हैं। प्रस्तुत नाटक में विद्याधर द्वारा प्रदत्त मायामय अगूठी और उसकी सहायता से अविमारक का कुरगी के साथ पुनर्मिलन दिव्याश्रय-प्राप्ति का ही उदाहरण है। इस प्रसग द्वारा नाटककार ने प्रणयवृत्त में उत्पन्न अवरोध को दूर कर घटनाचक्र को पुन गतिशील बनाया है। पहले अविमारक के आत्महत्या के प्रयास से नाटकीय कथा दु खान्त की ओर उन्मुख थी, किन्तु जादू की अगूठी ने उसमें मानो नये प्राणों का सचार कर दिया।

यह स्पष्ट है कि विद्याधर-सम्बन्धी वृत्तान्त को लेखक नाटक की प्रेम-कथा में अन्तर्ग्रथित नहीं कर सका है। विद्याधर-दम्पती का पर्वत पर अवतरण एक आकस्मिक घटना मात्र है। नाटकीय कथा के भावी विकास को नाटककार ने इसी आकस्मिक घटना पर निर्भर बना दिया है।

दिव्य साहाय्य षष्ठ अक से ज्ञात होता है कि सौवीरराज का एक वर्ष का शाप समाप्त हो गया है। कुन्तिभोज के अमात्य ने उन्हें वैरन्त्य नगर में ढूढ निकाला है। अपने बालमित्र व सम्बन्धी कुन्तिभोज से मिलकर वे प्रसन्न हैं, पर अविमारक का लगभग एक वर्ष से कोई पता नहीं है। इस बात से वे अत्यधिक चिन्तित हैं। ऐसी जटिल स्थिति में नाटककार ने दिव्यपात्र नारद के साहाय्य से प्रणयकथा को सुखद परिणति पर पहुचाया है। नारद ने अपने भूलोक में आने का उद्देश्य इस प्रकार बताया है—"अविमारक के अदर्शन से कुन्तिभोज और सौवीरराज आज कार्य सकट की स्थिति में हैं, अत अविमारक से मिलकर उनकी व्याकुलता दूर करने के लिए मैं भूमि पर अवतीर्ण हुआ हू"।[1]

---

1 भा० ना० च० पृ० 180-181

नारद कुन्तिभोज व सौवीरराज को अविमारक व कुरंगी के प्रेम व गान्धर्व विवाह का समस्त वृत्तान्त बताकर अविमारक के विषय में उनकी चिन्ता और जिज्ञासा शान्त करते हैं। तदनन्तर वे काशीराज की पत्नी सुदर्शना को याद दिलाते हैं कि तुमने अग्नि देवता से एक पुत्र प्राप्त किया था और उसे अपनी बहिन सुचेतना को सौंप दिया था। सुचेतना के पति सौवीरराज ने उसका विष्णुसेन नाम रखा तथा अपना ही पुत्र समझ कर उसका लालन-पालन किया था। बाद में अविरूपवाणी असुर को मारने के कारण वह अविमारक के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1] नारद ने अविमारक और कुरंगी के प्रणय व विवाह का समस्त पूर्ववृत्त सुदर्शना को भी सुनाया और सुझाव दिया कि वह अपने पुत्र जयवर्मा का विवाह कुरंगी के स्थान पर उसकी छोटी बहिन सुमित्रा से करे। इसके बाद नारद की आज्ञा से अविमारक व कुरंगी अन्तःपुर में बुलाये गये। वर-वधू के वेश में उपस्थित उन्हें नारद, कुन्तिभोज, सौवीरराज व सुदर्शना आदि सभी ने आशीर्वाद दिये। इस प्रकार दिव्य हस्तक्षेप से कुरंगी व अविमारक के प्रणय व गान्धर्व विवाह को सबका अनुमोदन प्राप्त हुआ।

जहाँ तक नाटकीय कथा में नारद की उपस्थिति के औचित्य का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि अविमारक व कुरंगी की प्रणयकथा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। नाटककार ने निश्चय ही वस्तु-विन्यास की जटिलताओं को सुलझाने व नाटक को सुखान्त बनाने के लिए इस पात्र का सहारा लिया है। क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी की कुरंगी कथा में देवदूत के हस्तक्षेप से अविमारक व कुरंगी का विवाह सम्पन्न होता है।[2] भास ने जिस लोककथा के आधार पर नाट्य-वस्तु की रचना की, संभव है उसमें ऐसा कोई प्रसंग रहा हो। इस पात्र की योजना में लोककथाओं का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। नारद सदा से भारतीय लोककथाओं व पौराणिक कथाओं के एक लोकप्रिय पात्र रहे हैं। अविमारक में उनका व्यक्तित्व अधिकतर लोककथाओं से गृहीत तत्त्वों से निर्मित है। नाटकान्त में अविमारक सम्बन्धी रहस्योद्घाटन द्वारा नाटककार ने संभवतः नाट्यशास्त्रीय विधान के अनुसार निर्वहणसंधि में अद्भुत रस की योजना का प्रयास किया है।

यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि नाटक का अंत मुख्यकथा से सर्वथा असंबद्ध नारद-जैसे दिव्य पात्र के हस्तक्षेप के कारण कृत्रिम हो गया है। नाटक का सुखमय अंत तो अप्रत्याशित नहीं है, पर वह नाटकीय वृत्त व पात्रों में से उद्भूत नहीं होता, अपितु एक बाह्य दैवी पात्र द्वारा उस पर आरोपित किया गया है। फिर भी भास के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने इस नाटक के कथानक के

---

1 भा० ना० च० पृ० 183 184

2 18 147 149

सूत्र लोककथाओं से लिए हैं, अतः यह स्वाभाविक ही है कि इसकी वस्तु-योजना पर लोककथाओं की कथानक रूढ़ियों का प्रभाव हो। ऋषि के शाप से चाण्डालत्व, विद्याधर द्वारा प्रदत्त जादू की अंगूठी की सहायता से प्रेमी-प्रेमिका का पुनर्मिलन एवं नारद जैसे दिव्य पात्र के माहात्म्य से प्रणयकथा की सुखमयी परिणति आदि अतिप्राकृत प्रसंग लोककथाओं की परम्परा से गृहीत प्रतीत होते हैं।[1] हम आगे देखेंगे कि कालिदास ने भी नायक-नायिका के पुनर्मिलन के उपाय या साधन के रूप में संगमनीय मणि तथा अंगूठी जैसी अद्भुत वस्तुओं का उपयोग किया है। विक्रमोर्वशीय के अन्त में नारद की भूमिका लगभग वैसी ही है जैसी इस नाटक में। यह जरूर है कि कालिदास ने उसे उचित पृष्ठभूमि के साथ उपस्थित किया है, भास के समान आकस्मिक रूप में नहीं।

अतिप्राकृत पात्र

'अविमारक' में प्रयुक्त अतिप्राकृत (दिव्य) पात्रों में अविमारक, विद्याधर मेघनाद तथा नारद उल्लेखनीय हैं। ये तीनों ही पात्र लोककथाओं की परम्परा से लिये गए हैं।

अविमारक अविमारक का नाम ही उसके अतिप्राकृतिक व्यक्तित्व का सूचक है।[2] षष्ठ अंक में भूतिक ने कुन्तिभोज को बताया है कि किस प्रकार सौवीरराज के पुत्र विष्णुसेन ने, जब वह कुमार ही था, धूमकेतु नामक एक अविरूपधारी नृशंस असुर को बिना किसी आयुध के खेल ही खेल में मार डाला था जिसके कारण वह अविमारक नाम से विश्रुत हुआ।[3] द्वितीय अंक में स्वयं अविमारक ने भी इस प्रसंग की ओर संकेत किया है।[4]

अविमारक की इस असाधारण शक्ति का रहस्य उसके दिव्य उद्भव में निहित है। चतुर्थ अंक में विद्याधर मेघनाद[5] तथा षष्ठ अंक में नारद ने बताया है[6] कि अविमारक वस्तुतः सुदर्शना से उत्पन्न अग्निदेवता का पुत्र है। उसके इस दिव्य उद्भव का नाटक में अनेक बार उल्लेख किया गया है।[7] उसके विषय में बार-बार

---

1 यह स्पष्ट है कि अविमारक में बहुत सारे जादू के प्रसंग बृहत्कथा की परम्परा से आए हैं। देखिए जे० भक्त लिखित पूर्वोक्त निबन्ध पृ० 64

2 यस्मादविरूपधारी मारितोऽसुरः तस्मादविमारक इति विष्णुसेन लोको ब्रवीति। भा० ना० च० पृ० 183 184

3 वही, पृ० 178-179

4 अविमारक, 2 9

5 अथ खलु भगवतोऽग्नेः पुत्रमात्मानं न जानाति भा० ना० च०, पृ० 154

6 वही, पृ० 183

7 अविमारक, 4 8, भा० ना० च०, पृ० 156-184

यह कहा गया है कि वह 'केवल मानुप' नही हो सकता ।[1] सक्षेप मे, अविमारक एक अलोकसामान्य व्यक्ति है । किन्तु उद्भव की दृष्टि से दिव्य या अमानुष होते हुए भी उसका चरित्र मूलत मानवीय है । उसके गुण वस्तुत मानव गुणो के ही असाधारण प्रकर्ष के सूचक हैं । तत्वत वह एक उद्दाम प्रेमी, साहसी और वीर चरित्र है। नाटक की दृश्य कथा मे अविमारक का यह मानवीय रूप ही प्रमुख रूप से उभरा है, उसके अतिमानवीय रूप की प्राय सूचना मात्र दी गई है ।

विद्याधर मेघनाद वह देव जाति का पात्रहै अत उसके व्यक्तित्व मे नाटक कार ने अनेक दिव्य विशेपताओं का आधान किया है। उसका आकाशचारित्व उसकी दिव्यता के अनुकूल है । इस आकाशचारित्व के कारण देश की दूरी उसके लिए कोई समस्या नही है ।[2] विद्याधर होने के नाते वह विद्याओं का ज्ञाता है। उसके द्वारा प्रदत्त अद्भुत अगूठी उसकी विद्या का ही सुन्दर प्रसाद है । उसके दिव्य व्यक्तित्व मे तीन लोकोत्तर विशेषताए बतायी गयी है—वनिता के साथ गगन-विचरण, मत्रजन्य प्रभाव से समस्त विषयो का ज्ञान तथा अदृश्य या दृश्य रूप मे सुखपूर्वक भ्रमण ।[3] भास ने विद्याधर युगल के आकाशोत्पतन का भी अतीव प्रभावशाली चित्र अकित किया है ।[4]

नारद भास ने नारद को कलह-उत्पादक के रूप मे नही अपितु मानव-जगत की समस्याओं का समाधान करने वाले एक दयालु व उदार दिव्य पात्र के रूप म अकित किया है । वे अपने दिव्य ज्ञान द्वारा दूसरो के वृत्तान्त को जानने मे समर्थ हैं। उन्हे अविमारक के अग्निपुत्र होने तथा उसके प्रणयजीवन के समस्त उतार-चढ़ावो का ज्ञान है । हम बता चुके है कि उनकी व्यक्तित्व-सृष्टि मे नाटककार ने मुख्यत लोककथाओं से प्रेरणा ली होगी।

अतिप्राकृत लोकविश्वास

अविमारक मे अनेकत्र दैव, भाग्य या विधि के विषय मे सामान्य जनो मे प्रचलित लोकविश्वासो की अभिव्यक्ति भी मिलती है । एक बहुत प्रचलित विश्वास

---

1 दे० भा० ना० च०, पृ० 124, 154, 179, 183

2 अवि० 4 10

3 ये सचरन्ति गगने वनितासहाया
क्रीडन्ति पर्वततटेषु कृतोपदेशा
सर्व विदन्त्यपि च मन्त्रकृतै प्रभावै—
रन्तर्हिताश्च विवृताश्च सुख भ्रमन्ति ॥
वही, 4 13

4 वही, 4 19-20

यह था कि मनुष्य किसी कार्य में तभी सफल होता है जब दैव उसके अनुकूल हो। उदाहरणार्थ, अविमारक धात्री के मुख से कुन्तिभोज के राजकुल के सविधान का सुनकर कहता है कि यदि दैव विसंवाद को प्राप्त न हो तो मेरा पौरुष दूसरों की दृष्टि में निन्दनीय सिद्ध नहीं होगा।[1] इसी प्रकार तृतीय अंक में उसने कहा है कि मनुष्य का पौरुष उसके शुभ यत्नों में निहित है न कि कार्यसिद्धि में, क्योंकि वह तो दैव विधान का अनुगमन करती है।[2] कुन्तिभोज के यह पूछने पर कि कुरंगी को अविमारक को किसने सौंपा, नारद यह उत्तर देते हैं—'पहले विधि ने उन्हें सौंपा, फिर वह गज-सम्भ्रम में देखी गयी, पहले पौरुष का आश्रय लेकर और फिर माया के सहारे वह अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ।[3] आशय यह है कि कुरंगी और अविमारक का विवाह उनके जीवन की एक नियति थी।

अविमारक में प्रयुक्त विभिन्न अतिप्राकृत प्रसंग जिनकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं अद्भुत रस के व्यंजक हैं। यह अद्भुत रस नाटक के अंगी शृंगार रस का परिपोषक है।

निष्कर्ष

अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से भास के नाटकों के उक्त अध्ययन से हम कुछ सामान्य निष्कर्षों पर पहुंचना चाहेंगे। इनमें प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों के दो मूल स्रोत प्रतीत होते हैं—एक स्रोत भास के युग की धार्मिक व पौराणिक आस्थायें है तथा दूसरा तत्कालीन लोककथाएं व लोकविश्वास। अभिषेक, दूतवाक्य तथा बालचरित के अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व कवि की धार्मिक व पौराणिक मनोभूमि की देन हैं। दूसरी ओर लोककथामूलक नाटकों विशेष रूप से अविमारक—में आये अतिप्राकृत तत्त्व लोककथा की परम्परा से गृहीत हैं। प्रतिमा, मध्यम-व्यायोग व कर्णभार में प्रयुक्त ये तत्त्व महाकाव्यों से प्रभावित हैं, यद्यपि उनमें लोककथाओं के भी तत्त्वों का किंचित् सम्मिश्रण माना जा सकता है। प्रतिमा, अभिषेक और ऊरुभंग में भास ने क्रमशः दशरथ, बाली व दुर्योधन के मृत्युकालीन आभास के रूप में एक विशिष्ट लोकविश्वास का चित्रण किया है जिसके मूल में कुछ अतिप्राकृत कल्पनाएं निहित हैं। अभिषेक, दूतवाक्य व बालचरित में नाटककार का लक्ष्य राम व कृष्ण की

---

1 न पौरुषं वै परदूषणीयं
न चेद विसंवादमुपैति दैवम्। भा०ना०च० पृ० 127 (अवि० 2 8)

2 दैवं विधानमनुगच्छति कार्यसिद्धि। वही, 3 12

3 दत्ता सा विधिना पूर्वं दृष्टा गजसम्भ्रमे।
पूर्वं पौरुषमाश्रित्य प्रविष्टो मायया पुनः॥ अवि० 6 14

ईश्वरता का उद्घाटन करना है। इन नाटकों के अतिप्राकृत तत्त्व प्राय इसी उद्देश्य के अग हैं। मध्यमव्यायोग मे वे केवल आश्चर्य व कौतुक की सृष्टि करते है, प्रतिमा मे उन्हे पात्रो के चारित्रिक परिष्कार का साधन बनाया गया है, कर्णभार मे वे कर्ण की कारुणिक नियति का हृदयस्पर्शी चित्र अकित कर हमारे मन मे उसके प्रति प्रशसा व सहानुभूति के भाव जागृत करते है। अविमारक मे उनके द्वारा प्रणय कथा मे रोमाच, विस्मय व गतिशीलता की सृष्टि की गई है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण मे प्रयुक्त एकमात्र अतिप्राकृत तत्त्व मुख्य कथा से असम्बद्ध व आकस्मिक होने पर भी उसे आगे बढाने मे सहायक है। इन विविध तत्त्वो मे से कुछ के ही प्रयोग म भास अपने कलात्मक नैपुण्य का सम्यक् परिचय दे सके ह। अनेक स्थलो मे ये तत्त्व नाटक की आन्तरिक सरचना के अविभाज्य अग नही बन पाये है। उदाहरणार्थ, अविमारक मे जादू की अगूठी की प्राप्ति व नारद के हस्तक्षेप के प्रसग कथा पर बाहर से आरोपित किये गये ह, स्वय नाट्यवस्तु मे उद्भूत नही होते। प्रतिज्ञायौगन्धरायण का द्वैपायन प्रसग भी इसी श्रेणी मे आता है। किन्तु बालचरित के द्वितीय अक मे शाप की भयावह मडली से सम्बद्ध दृश्य तथा प्रतिमा मे काचनपार्श्व मायामृग का प्रसग बाह्य व आन्तरिक दोनो स्तरो पर वस्तुयोजना का अभिन्न अग है। इस प्रकार भास इन तत्त्वो के विनियोग मे कही सफल हुए है और कही नही।

इन नाटको मे चित्रित अतिप्राकृत पात्रो के विषय मे भी पूर्वोक्त कथन लागू होते है। अभिषेक के राम तथा दूतवाक्य व बालचरित के कृष्ण ईश्वर के अवतार होने से आद्यन्त अलौकिकता मे मडित हैं किन्तु प्रतिमा के राम पूर्णतया मानव है। एक ही नाटककार की कृतियो मे एक ही पात्र का यह द्वैत या तो नाटककार के दृष्टिभेद का परिणाम है अथवा ये दोनो भिन्न व्यक्तियो की कृतिया हैं। अन्य नाटको म भीम, घटोत्कच, अविमारक, नारद आदि लोकोत्तर या दिव्य पात्र आये हैं जिनके व्यक्तित्व-निर्माण मे लेखक ने या तो पौराणिक कल्पनाओ का उपयोग किया है या उन्हे लोककथाओ के अतिमानवीय अद्भुत साचो मे ढाला है। बालचरित व अविमारक के नारद का व्यक्तित्व-भेद इन्ही भिन्न पृष्ठभूमिया की देन है। भास की एक अनूठी उपलब्धि बालचरित मे प्रतीकात्मक पात्रो की योजना है। ये पात्र नाटक म एक असाधारण मनोवैज्ञानिक प्रभाव की सृष्टि कर कस की आसुरी प्रकृति तथा उसके भावी विनाश की साकेतिक सूचना देते हैं। विष्णु के पच आयुधो की सशरीर उपस्थिति की कल्पना भास की एक प्रिय कल्पना है जिसे उन्होने दो नाटको म दुहराया है।

अतिप्राकृत तत्त्वो के प्रयोग द्वारा भास विविध भावो व रसो की सृष्टि करने मे पर्याप्त सफल रहे हैं। ये तत्त्व अधिकतर अद्भुत रस के व्यजक हैं, किन्तु यह अद्भुत रस प्राय किसी अन्य रस के अग के रूप मे ही आता है। नाटक की निवहण

संधि मे अद्भुत रस की निष्पत्ति के लिए भास ने अभिषेक, बालचरित व अविमारक आदि मे अतिप्राकृतिक तत्त्वो का सहारा लिया है, पर इनकी योजना अविस्तर कृत्रिमता से युक्त है।

यद्यपि भास संस्कृत के श्रेष्ठ व अग्रणी नाटककारो मे गिने जाते है, फिर भी कालिदास व शूद्रक आदि की तुलना मे उनकी कृतियो मे नाट्य-नैपुण्य, भाव-सम्पत्ति, शिल्प सौन्दर्य व कलात्मक परिष्कृति की कमी है। उनके अनेक नाटक-विशेषत महाभारतमूलक—महाकाव्यो की प्रकथन शैली से पूर्णतया मुक्त नही हो सके है, जिसका परिणाम यह हुआ कि भास अपनी कई कृतियो मे कथ्य को नाट्य-शिल्प मे पूरी तरह नही ढाल सके हैं। अतिप्राकृत तत्त्वो के प्रयोग मे भी उनकी ~ स्य-प्रतिभा की ये सीमाए दृष्टि मे आये बिना नही रहती। भास जिस प्रकार नाटक के अन्यान्य क्षेत्रो मे कालिदास की तुलना मे अपरिष्कृत व अपरिपक्व है उसी प्रकार अतिप्राकृत तत्त्वो के प्रयोग मे भी। किन्तु यह तो प्रत्यक अग्रणी व मार्गदर्शक की अनिवार्य नियति है। यदि भास न होते तो क्या कालिदास 'कालिदास' बन पाते? उनकी व्यक्तिगत प्रतिभा चाहे कितनी ही असाधारण क्यो न हो, उसके विकास व परिष्कार मे परम्परा के दाय को कम करके नही आका जा सकता। अत हम कह सकते है कि कालिदास के नाटको मे अतिप्राकृत तत्त्वो के अधिक कलात्मक व निपुणतर प्रयोग का मार्ग प्रशस्त करने मे उनकी अपनी विशिष्ट प्रतिभा के अलावा, भास जैसे पूर्ववर्तियो के अपेक्षाकृत अल्पपरिष्कृत किन्तु अग्रिम प्रयत्नो का भी महत्त्व-पूर्ण योगदान रहा होगा।

— ——

आश्रित थे,[1] तथा दूसरे के अनुसार वे गुप्त वंश के सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७५ से ४१४ ई०) की राजसभा के कवि थे। इन दोनों ही मतों के पक्ष व विपक्ष में अनेक तर्क दिये गए हैं, किन्तु अधिकांश विद्वानों का झुकाव दूसरे मत की ओर अधिक दिखाई देता है,[2] तथा हमने भी इसी को स्वीकार किया है।

गुप्तयुग भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना गया है। इस युग में भारतीय जनता ने जीवन के सभी क्षेत्रों में असाधारण व अभूतपूर्व प्रगति की। यह शान्ति, सुव्यवस्था व सुस्थिरता का युग था। कालिदास की कृतियों में इस युग का स्पष्ट प्रतिबिंब देखा जा सकता है। गुप्तयुग ब्राह्मण धर्म व संस्कृति के पुनरुत्थान का काल माना गया है। यह पुनरुत्थान वस्तुतः ई० पू० द्वितीय शतक में शुंग राजवंश के प्रभुत्व में आने के साथ प्रारंभ हुआ तथा काण्व, सातवाहन, शक आदि राजवंशों के शासनकाल में क्रमशः शक्ति संचित करता हुआ गुप्तयुग में अपने पूर्ण प्रकर्ष पर पहुंच गया।[3] ब्राह्मण धर्म के इस नव जागरण ने अपने प्रतिपक्षी बौद्ध व जैन धर्मों के मूल तत्त्वों को भी उदारतापूर्वक अपने में समन्वित करते हुए परम्परागत वैदिक धर्म व उसकी सांस्कृतिक विचारधारा को युग की आवश्यकताओं के अनुसार नये रूप में ढाला। अवतारवाद के सिद्धान्त तथा वैष्णव, शैव व शाक्त आदि धार्मिक सम्प्रदायों की विचारधारा का भी इसी युग में अभ्युदय हुआ। लोक में परम्परा से चले आ रहे जातीय काव्यों–रामायण व महाभारत को भी इसी काल में अपना अन्तिम रूप प्राप्त हुआ। ब्राह्मण-पुनरुत्थान की धार्मिक, दार्शनिक व नैतिक चेतना को लोकप्रिय अभिव्यक्ति देने के लिये परम्परागत पौराणिक कथाओं का नये सिरे से संपादन, संकलन व परिवर्धन किया गया।[4] कालिदास की रचनाओं पर उक्त ब्राह्मण-पुनरुत्थान की प्रवृत्तियों का—विशेष रूप से पौराणिक साहित्य की धार्मिक व दार्शनिक चेतना तथा पुराकथात्मक कल्पनाओं का गहरा प्रभाव पड़ा है। उनकी कृतियों में—विशेष रूप से महाकाव्यों व नाटकों में—प्राप्त होने वाले अतिप्राकृत तत्त्व अधिकतर इसी प्रभाव की अभिव्यक्तियां हैं।[5] उन्होंने गगन

---

1 दे० एम० ए० सवनीस कालिदास हिज स्टाइल एंड टाइम्स पृ० १०

2 दे० कीथ संस्कृत साहित्य का इतिहास (हिंदी रूपान्तर) पृ० 101
विंटरनित्स हिस्टी आव इंडियन लिटरेचर, खण्ड 3 भाग 1, पृ० 47
वी० वी० मिराशी व एन० आर० नवलेकर, 'कालिदास', पृ० 35
दे व दासगुप्त हिस्ट्री आव संस्कृत लिट्रेचर, पृ० 120, स्टेन कोनो इंडियन ड्रामा, पृ० 98

3 दे० डा० राधाकमल मुखर्जी भारत की संस्कृति और कला, पृ० 145

4 दे० हिस्ट्री एंड कल्चर आव दि इंडियन पीपल खण्ड 3 (क्लासीकल एज) पृ० 297–298

5 कालिदास ने निश्चय ही कुछ अतिप्राकृत तत्त्व लोककथाओं व जनसामान्य में प्रचलित विश्वासों से भी ग्रहण किये होंगे। मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, व शाकुन्तल में प्रयुक्त क्रमशः सर्प-दंश, अद्भुत मणि व अंगुलीय के अभिप्राय संभवतः लोक-परम्परा से गृहीत हैं।

महाकाव्यों व नाटकों के कथानक तथा पात्र रामायण, महाभारत व पौराणिक साहित्य में लिये हैं तथा वस्तु-योजना व चरित्र चित्रण में पौराणिक विश्वासों का भरपूर उपयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि उनका युग पौराणिक धर्म और उसकी अतिप्राकृत आस्थाओं का युग था। पुराणों की सृष्टिविषयक व्याख्याएं नाना प्रकार की अलौकिक शक्तियों की कल्पनाओं पर आधारित थीं। परब्रह्म, ईश्वर, दैवी व आसुरी शक्तियां, उनके परस्पर संघर्ष, सृष्टि की उत्पत्ति व उसका विकास-क्रम पौराणिक राजा और महर्षि, लोक-लोकान्तर, मानवीय कार्यकलापों में दैवी हस्तक्षेप, देवों व मानवों का पारस्परिक सहयोग व द्वन्द्व, प्राकृतिक पदार्थों में दैवी तत्त्वों की अनुभूति, ऋषि-मुनियों की तपस्याजन्य अलौकिक शक्तियां, मानव-नियति के निर्माण में कर्म, भाग्य या अदृष्ट की भूमिका, पुनर्जन्म इत्यादि कितने ही अतिप्राकृत तत्त्वों में विश्वास पौराणिक विश्व-दृष्टि के अविभाज्य अंग थे। निश्चय ही कालिदास के युग की लोकचेतना उक्त पौराणिक विश्वासों से अनुप्राणित रही होगी। कालिदास का समग्र साहित्य-विशेषतः पौराणिक कथाओं व चरित्रों पर आधारित उनके नाटक और महाकाव्य—उक्त कथन की सत्यता के साक्षी हैं।

मालविकाग्निमित्र

यह नाटक मालविका व अग्निमित्र की प्रणय कथा पर आधारित है। इसका नायक अग्निमित्र एक ऐतिहासिक व्यक्ति हुआ है जिसका स्थितिकाल ईसा पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है। वह शुंग राजवंश के प्रतिष्ठापक पुष्यमित्र का पुत्र था तथा पिता के प्रतिनिधि के रूप में विदिशा में शासन करता था। नाटक की प्रणयकथा की पृष्ठभूमि में कालिदास ने शुंगकालीन इतिहास की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया है। पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ और सिन्धुतट के युद्ध में यवनों पर वसुमित्र की विजय के प्रसंगों को इतिहासकारों ने ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में स्वीकार किया है। इसी प्रकार विदर्भ के राजनैतिक घटनाचक्र में भी ऐतिहासिक सत्यता प्रतीत होती है।[1]

किन्तु नाटक के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि कालिदास का उद्देश्य मालविका व अग्निमित्र के प्रणय-वृत्त का ही चित्रण करना है, तत्कालीन इतिहास के घटनाचक्र पर प्रकाश डालना नहीं। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश केवल आकस्मिक रूप में हुआ है।

यद्यपि अग्निमित्र एक ऐतिहासिक राजा हुआ है, पर नाटक में चित्रित प्रणय-कथा कवि की उद्भावना प्रतीत होती है। श्री मिराशी व श्री नवलेकर ने कथासरि-

---

1 दे० दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर आव् दि इण्डियन पीपल, भाग 2, अध्याय 6, पृ० 95-97

त्सागर में वर्णित बधुमती की कथा को नाटक की प्रेमकथा का मूल स्रोत माना है।[1] पर श्री काले के विचार में बधुमती की कथा के साथ नाटकीय कथा का साम्य या तो आकस्मिक है या दोनों ही किसी समान स्रोत पर आधारित हैं। श्री काले नाटक की प्रणय-कथा को सर्वथा कल्पित नहीं मानते। उनके मतानुसार कालिदास अग्नि-मित्र जैसे ऐतिहासिक व्यक्ति को एक कल्पित प्रेम कथा से नहीं जोड सकते थे। अत यह कथा अवश्य किसी वास्तविकता पर आधारित है। सम्भवत कालिदास के समय में अग्निमित्र के अन्त पुर में किसी राजकुमारी के प्रच्छन्न निवास की रोमानी कहानी लोकप्रचलित रही होगी। इसी कहानी को केन्द्र में रखकर नाटककार ने अन्त पुर की कूट योजनाओं से भरी सुवासित प्रणयकथा का ताना-बाना बुना होगा।[2] श्री काले का यह मत एक अनुमान मात्र है। सम्भवत नाटक की मुख्य प्रणयकथा के अधिकतर ब्यौरे कवि की सृजनात्मक कल्पना की उपज हैं। अत यह नाटक इतिहास और कल्पना का सुन्दर सम्मिश्रण कहा जा सकता है। नाटकीय घटनाचक्र का मूल आधार व पार्श्वभूमि ऐतिहासिक है जिस पर कवि-कल्पना ने प्रेम-कथा का एक रंजक चित्र उकेरा है।

मालविकाग्निमित्र में अतिप्राकृत तत्त्वों का लगभग अभाव है। इसका कारण कथा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को माना जा सकता है। सम्भवत कालिदास इसमें अग्निमित्र के माध्यम से समकालीन सामन्ती जीवन की विलास-वृत्ति का चित्र अंकित करना चाहते थे। गुप्त-युग में अग्निमित्र का व्यक्तित्व इतना पुराना नहीं पडा था कि उसमें पौराणिक विशेषताओं का आधान किया जाता। सम्भव है, उसके अन्त पुर की प्रणय-कथाएं गुप्त-युग की लोकवार्ताओं का अंग रही हों। लोक-स्मृति में जीवित एक इतिहास-सिद्ध व्यक्ति की कथा में अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रचुर प्रयोग उसके चरित्र को अस्वाभाविक और अविश्वसनीय बना देता। तथापि इस नाटक में अशोक-दोहद के रूप में एक विशिष्ट अतिप्राकृतिक तत्त्व की योजना की गयी है। साथ ही सिद्धादेश साधु की भविष्यवाणी तथा शकुन आदि अतिप्राकृत विश्वासों का भी इसमें उल्लेख हुआ है।

अतिप्राकृत लोकविश्वास

अशोक-दोहद मालविकाग्निमित्र के वस्तु विधान में अशोक-दोहद का प्रसंग विशेष महत्त्व रखता है। नाटक की प्रणय-कथा के साथ अशोक-दोहद की कल्पना को नाटककार ने बडी निपुणता से सग्रथित किया है। तीसरे अंक की समस्त

1 श्री बी० बी० मिराशी व एन० आर० नवलेकर प्रणीत कालिदास पृ० 224

2 श्री एम० आर० काले द्वारा सम्पादित 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना, पृ० 20, 23

घटनावली इसी प्रसग को केन्द्र मे रखकर प्रस्तुत की गयी है । चतुर्थ अक के अन्त मे सूचित अशोक के पुष्पोद्गम की आश्चर्यजनक घटना[1] ही पचम अक मे प्रणयकथा की सफल परिणति का आधार है । रानी धारिणी ने मालविका से वादा किया था कि यदि उसके द्वारा की गयी दोहद-पूर्ति के फलस्वरूप अशोक वृक्ष मे पाच रात्रियो के भीतर फूल निकल आयेंगे तो वह उसकी अभिलाषा पूर्ण करेगी ।[2] हम देखते हैं कि मालविका के पादाघात से अशोक मे निर्धारित समय से पूर्व ही पुष्प प्रकट हो जाते हैं । अत रानी धारिणी मालविका पर अप्रसन्न होने पर भी उसका मनोरथ पूर्ण करने के लिए अग्निमित्र के साथ उसका विवाह करा देती है । इस प्रकार नाटक की सुखान्तता अशोक के पुष्पोद्गम पर निर्भर है ।

वृक्षो मे पुष्पों का आविर्भाव वस्तुत प्राकृतिक प्रक्रिया का परिणाम है, किन्तु नाटककार ने अशोक वृक्ष मे पुष्पोद्गम के लिए, सभवत तत्कालीन लोकविश्वास के आधार पर, दोहद के रूप मे एक अतिप्राकृत या अप्राकृत कल्पना प्रस्तुत की है तथा उसे नाटक की वस्तुयोजना का एक अविभाज्य अग बनाया है । तृतीय से पचम अक तक का वस्तु विकास, अनेक पात्रो की चारित्रिक विशेषताओ का उद्घाटन, प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक अभिलाष व प्रणय की अभिव्यक्ति तथा नाटकीय वृत्त की सुखद व सफल परिणति आदि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अशोक-दोहद से सम्बद्ध हैं ।

दोहद शब्द सम्भवत सस्कृत 'दौहृद'[3] या 'दौहृद' का प्राकृत रूप है ।[4] दोहद का मुख्य अर्थ है गर्भिणी स्त्री की अभिलाषा । किन्तु 'दोहद' स्त्रियों तक ही सीमित नही है । 'दोहद' की कल्पना का वृक्ष-वनस्पतियो के जगत् मे भी विस्तार किया गया है । वृक्षो के सदर्भ मे दोहद का अर्थ है—'पुष्पोद्गम के निमित्त वृक्ष का अभिलाष-विशेष या उसकी पूर्ति के लिए प्रयुक्त विशेष द्रव्य या क्रिया ।[5] सस्कृत साहित्य मे अशोक, बकुल आदि कतिपय वृक्षो के विशिष्ट दोहदो की अतीव काव्यात्मक व रमणीय कल्पनाएँ मिलती हैं जिनका विवरण हम आगे देंगे । यहा इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'दोहद' भारतीय साहित्य व कला का एक विशिष्ट अभिप्राय

---

1 (नपथ्य) आश्चर्यमाश्चर्यम । अपूर्ण एव पचरात्रे दोहदस्य मुकुलै सनद्धस्तपनीयाशोक । यावद्देव्यै निवेदयामि । मा०0 अक 4, पृ0 124

2 वही, 3, पृ0 58

3 द्विहृदया च नारी दौहृदिनीमाचक्षते । तद्दौहृदा हि वीर्यवन्त चिरायुष च पुत्र जनयति । सुश्रुत, शारीर सस्थान, अ0 3 18

4 दे0 मोनियर विलियम्स कृत 'सस्कृत इगलिश डिक्शनरी' म 'दोहद' ।

5 तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलं कृतम् ।
पुष्पाद्युत्पादक द्रव्य दोहद स्यात्तु तत्क्रिया ॥
उत्तर मेघ 15 की सजीवनी म 'शब्दार्णव' से उद्धृत ।

रहा है । कथा-साहित्य मे, विशेषकर जातक कथाओ मे, स्त्री-दोहद के अनेक प्रसग आये है ।[1] इन प्रसगो का मनुष्य व पशु दोनो की स्त्रियो से सम्बन्ध है । पेंजर न ब्लूमफील्ड के आधार पर भारतीय कथा साहित्य मे स्त्री-दोहद के अभिप्राय के विविध रूपो व प्रयोगो का सविस्तर परिचय दिया है ।[2] किन्तु वह हमारा प्रकृत विषय नही है, अत हम अपनी चर्चा को वृक्ष दोहद तक ही सीमित रखेगे ।

कालिदास-साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट है कि उन्हे दोहद द्वारा पुष्पागम की कल्पना अतीव प्रिय है । उत्तरमेघ मे रक्ताशोक व केसर को क्रमश स्त्री के वामपाद तथा मुखमदिरा-रूप दोहद का अभिलाषी बताया गया है ।[3] कुमारसम्भव के अनुसार कामदेव और वसन्त के प्रभाव से शिवजी के तपोवन मे अशोक वृक्ष सुन्दरियो के नूपुरयुक्त चरण के सस्पर्श के बिना ही पल्लवो और पुष्पो से लद गये ।[4] रघुवश मे कवि ने अशोक और बकुल वृक्षो के पूर्वोक्त दोहद का उल्लेख किया है ।[5] इससे स्पष्ट है कि कालिदास के समय मे कम से कम अशोक और बकुल वृक्षो के दोहद से सम्बन्धित विश्वास पर्याप्त व्यापक था । मल्लिनाथ ने मेघदूत के पूर्वोक्त श्लोक की टीका मे अशोक व बकुल के अलावा प्रियगु, तिलक, कुरबक, मन्दार, नमेरु, चम्पक, आम्र और कर्णिकार वृक्षो के दोहदो का भी उल्लेख किया है ।[6] इसी प्रकार कुमार सम्भव, सर्ग ३ श्लोक २६ की टीका मे भी मल्लिनाथ ने दोहद-सम्बन्धी दो परम्परागत श्लोक उद्धृत किये है जिनमे 'अशोक, बकुल, कुरबक और तिलक' इन चार वृक्षो के दोहद की चर्चा की गयी है ।[7] संस्कृत साहित्य मे प्राय इन्ही चार वृक्षो के दोहदो का उल्लेख मिलता है । इससे प्रतीत होता है कि कालिदास के समय मे वृक्ष-दोहद सम्बन्धी विश्वास पर्याप्त व्यापक था । सभवत काव्य-साहित्य मे वृक्षदोहद की

---

1 दे0 सुवण्णक्क्कट जातक धुस जातक सुसुमार जातक वानरजातक, भद्दसाल जातक, चवक जातक, निग्रोध जातक आदि

2 एन0 एम0 पेंजर द्वारा सपादित दि आशन आव् स्टोरी', प्रथम भाग परिशिष्ट 3, पृ0 221–229

3 उत्तरमेघ, 15

4 कु0 स0 3 26

5 रघुवश 8 62 19 12

6 उत्तरमेघ 15 की सजीवनी मे उदधृत

7 सनूपुररवेण स्त्रीचरणेनाभिताडनम ।
दोहद यदशोकस्य तत पुष्पोद्गमो भवेत ॥
पादाहत प्रमदया विकसत्यशोक
शोक जहाति बकुलो मुखसीधुसिक्त ।
आलिङ्गित कुरबक कुरुते विकास-
मालोकितस्तिलक उत्कलिका बिभर्ति ॥

कल्पना का सर्वप्रथम समावेश कालिदास ने ही किया। कालिदास के पूर्ववर्ती साहित्य में स्त्री-दोहद के तो उल्लेख मिलते हैं, पर वृक्षदोहद की रमणीय कल्पना के प्रथम प्रयोक्ता कालिदास ही प्रतीत होते हैं। मालविकाग्निमित्र में उन्होंने वृक्षदोहद के लोकप्रचलित विश्वास का केवल उल्लेख ही नहीं किया है, अपितु उसे वस्तु-विन्यास का महत्त्वपूर्ण अंग भी बनाया है तथा उसके माध्यम से प्रकृति व मानव में आत्मैक्य का दर्शन करने वाली अपनी भावप्रवण काव्य-दृष्टि को भी बड़ी सशक्त अभिव्यक्ति दी है।

मल्लिनाथ ने दोहद-विषयक कल्पनाओं को 'प्रसिद्धि' कहा है।[1] निश्चय ही उनका आशय कवि-प्रसिद्धि से है। किन्तु राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में जिन कविसमयों का वर्णन किया है उनमें दोहद-सम्बन्धी प्रसिद्धियां सम्मिलित नहीं हैं।[2] तथापि 'कर्पूरमंजरी'[3] व 'काव्य-मीमांसा'[4] से स्पष्ट है कि राजशेखर अशोक, बकुल, कुरवक और तिलक इन चार वृक्षों के दोहद की कल्पना से भलीभांति परिचित थे। संभवत विश्वनाथ ने ही सर्वप्रथम वृक्षदोहद को कविसमय के रूप में स्वीकार किया।[5]

अनेक विद्वानों के अनुसार वृक्षदोहद की कल्पना के लिए भारतीय साहित्य और शिल्प दोनों प्राचीन लोक-धर्म के ऋणी हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने[6] फर्गुसन और डा० आनन्द के० कुमार स्वामी के अनुसंधानों के आधार पर वृक्ष-पूजा व वृक्ष-दोहद को असुर जातियों की यक्ष-पूजा से सम्बद्ध माना है। उनके विचार में यक्ष-देवता मूलत जल और वृक्षों के अधिपति माने गये थे। उनके अनुसार रामायण व महाभारत की अनेक कथाओं व प्रसंगों में यक्ष-देवता के इस प्राचीन रूप की झलक देखी जा सकती है। 'वस्तुत यक्ष और यक्षिणी मूलत उर्वरता के प्रतीक देवता थे। भरहुत, बोधगया, मथुरा आदि में सन्तानार्थिनी स्त्रियों के इस प्रकार वृक्ष के पास जाकर यक्षों से वर प्राप्त करने की मूर्तियां बहुत अधिक पायी गयी हैं।"[7] वे आगे लिखते हैं—"इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय वृक्ष अशोक है। जिस प्रकार वृक्षदेवता स्त्रियों में दोहद का संचार करते थे, उसी प्रकार सुन्दरी स्त्रियां भी अधिष्ठात्री

---

1 उत्तरमेघ 15 पर संजीवनी टीका

2 अध्याय 14

3 कर्पूरमंजरी, 2 43

4 अध्याय 13, पृ० 73

5 सा० द०, 7 24

6 हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 228–230

7 वही, पृ० 229

यक्षिणियां स्त्री-अंग के संस्पर्श से वृक्षों में भी दोहद-संचार करती थीं।"[1]

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने वृक्षदोहद की कल्पना का मूल प्राचीन भारतीयों के वृक्ष-वनस्पतियों के प्रेम तथा उनके विकास व पुष्पोद्भास में सम्मिलित होने की स्वाभाविक भावना को माना है। प्राचीन वृक्षमह या वृक्षपूजा के मूल में उन्होंने यही प्रवृत्ति स्वीकार की है। वे कहते हैं—"इसी उद्देश्य से स्त्रियों के लिए दोहद नामक उत्सव का विधान किया गया। कुमारी कन्याएं अशोक वृक्ष के समीप जाकर श्रद्धा से उसके चारों ओर नृत्य करतीं और नृत्य की भाव-भंगिमा में ही वामपाद से वृक्ष का स्पर्श करती थीं। इसके मूल में यह भावना थी कि उस पाद-प्रहार से अशोक का वृक्ष पुष्पों की समृद्धि से लहलहा उठेगा। उसके बाद जब पुष्पों का खिलने का समय आता तो प्रकृति के प्रेमी स्त्री-पुरुष मानसिक उल्लास से पुष्पप्रचायिका क्रीडा में भाग लेने के लिये उद्यान में पहुंचते थे।"[2] डा० अग्रवाल के अनुसार इन उत्सवों का सामाजिक महत्त्व था। साथ ही उन्हें धर्म का भी अंग बना दिया गया, ताकि उन्हें स्थायित्व प्राप्त हो सके।

डा० भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार कुषाण व गुप्त युग की मूर्तिशिल्प की कृतियों में अशोक दोहद के दृश्य का अतीव सजीव अंकन मिलता है। उनके विचार में मालविकाग्निमित्र में वर्णित दोहद-प्रसंग कालिदास पर तत्कालीन मूर्तिकला के प्रभाव की ही देन है।[3] हेनरी डब्ल्यू वेल्स ने इस प्रसंग में लोकवार्ता का तत्त्व स्वीकार किया है[4] तथा वाल्टर रुबेन ने इसे वृक्षपूजा की पुरातन परम्परा से जोड़ा है।[5]

मालविकाग्निमित्र में नायक-नायिका का प्रथम मिलन, नाटकीय संघर्ष का विकास एवं अन्त में प्रेमियों की मनोरथ-पूर्ति इन सबको अशोकदोहद के साथ सम्बद्ध कर नाटककार ने वस्तु विधान का अपूर्व कौशल प्रदर्शित किया है। साथ ही यहां कालिदास की प्रकृति-सम्बन्धी वह काव्य-भावना व दार्शनिक दृष्टि भी व्यक्त हुई है जिसके अनुसार मानव और प्रकृति दोनों एक ही प्राण-धारा से आप्यायित हैं तथा दोनों के जीवन-क्रम में एक अन्तर्वर्ती साम्य है।[6] वस्तुतः यह नाटक एक साथ दो

---

1 हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 230
2 प्राचीन भारतीय लोक धर्म, पृ० 83
3 दे० इंडिया इन कालिदास, पृ० 240
4 क्लासिकल ड्रामा आव् इण्डिया, पृ० 14
5 कालिदास दि ह्यूमन मीनिंग आव हिज वर्क्स, पृ० 80
6 "कालिदास के काव्य पर समग्र भाव से विचार करने पर यह बात खूब स्पष्ट एवं प्रधान होकर दिखायी पड़ती है कि उनके मन में विश्व-सृष्टि के भीतर चित्-अचित् की भेद रेखा मानो कहीं भी स्पष्ट नहीं है। इस सम्बन्ध में वे मानो बहुत कुछ अद्वयवाद के विश्वासी थे।" उपमा कालिदासस्य डा० शशिभूषण दास गुप्त, पृ० 47

दोहद-पूर्तियो की कथा है। एक दोहद प्रकृति के प्रतीक अशोक वृक्ष का है और दूसरा है मानव-दोहद मालविका और अग्निमित्र का। इन दो दोहदो की उत्पत्ति, विकास और पूर्णता की समानान्तर कथा प्रस्तुत कर कालिदास ने उच्चकोटि के नाट्य-कौशल का परिचय दिया है। उत्कण्ठिता मालविका को पुष्प-रहित दोहदाभिलाषी अशोक मे अपनी अनुकृति का दर्शन होता है।[1] उधर अग्निमित्र भी अकुसुमित दोहदापेक्षी अशोक के साथ अपना भाव-तादात्म्य स्थापित करते हुए मालविका के कोमल पादाघात की कामना करता है।[2] यह स्मरणीय है कि मेघदूत मे विरही यक्ष ने भी ऐसी ही अभिलाषा व्यक्त की है।[3] अग्निमित्र की दृष्टि मे अशोक वृक्ष एक प्रतिद्वन्द्वी प्रेमी का रूप धारण कर लेता है[4]—

आदाय कर्णकिसलयमस्मादियमत्र चरणमर्पयति ।
उभयो सदृशविनिमयादात्मान वचित मन्ये ।। माल० ३ १६

तृतीय अक मे मालविका द्वारा अशोक की दोहद-निवृत्ति के पश्चात् अग्निमित्र सहसा उसके समक्ष पहुच कर इन शब्दो मे अपना प्रणय-निवेदन करता है—

धृतिपुष्पमयमपि जनो बध्नाति न तादृश चिरात्प्रभृति ।
स्पर्शामृतेन पूरय दोहदमस्याप्यनन्यरुचे ।। माल०, ३ १८

यहा अग्निमित्र ने अशोक के साथ जिस भावैक्य का सकेत दिया है उससे प्रतीत होता है कि कालिदास ने सुन्दरी के पादाघात से उसके पुष्पोद्गम की कल्पना को नर-नारी के परस्पर आकर्षण और प्रणयाभिलाष के प्राकृतिक प्रतीक के रूप मे उपस्थित किया है। बकुलावलिका के एक द्व्यर्थक वाक्य से, जो अशोक के पल्लव-गुच्छ के विषय मे कहा गया है, मालविका राजा के सदर्भ मे अर्थ समझ लेती है।[5] यह कवि का उक्ति-चातुर्य मात्र नही है, अपितु मानवीय व प्राकृतिक व्यापारो मे

---

1 अय स सुकुमारदोहदापेक्षी अगृहीतकुसुमनेपथ्य उत्कण्ठिता मामनुकरोत्यशोक ।
माल0 3, पृ0 60

2 राजा—सम्यगभिहित भवता ।
नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन ।
अकुसुमितमशोक दोहदापेक्षया वा प्रणिहितशिरस वा कान्तमार्द्रापराधम् ।।
विदूषक—परिहास्यसि तत्रभवत्या अपराद्धम् ।
राजा—प्रतिगृहीत वच सिद्धिदर्शिनो ब्राह्मणस्य । वही अक 3, पृ0 66

3 एक सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी । उत्तरमेघ 15

4 तुलनीय— चलापाङ्गा दृष्टि ... त्व खलु कृती । अभि0 शाकु0 1, 24

5 बकुलावलिका—एष उपारूढराग उपभोगक्षम पुरतस्ते वर्तते ।
मालविका—(सहर्षम्) कि भर्ता ।
बकुलावलिका—न तावद् भर्त्ता । एषोऽशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छ ।
अवतसय तावदेनम् । माल0 3, पृ0 76

निहित एकत्व का सूक्ष्म सकेत है। पचम अक मे जब विदूषक कहता है कि 'इन यौवनवती को विश्रब्ध भाव से देखो' तो राजा का ध्यान स्वभावत समीप मे स्थित मालविका की ओर जाता है, पर धारिणी के प्रश्न के उत्तर मे विदूषक 'तपनीय अशोक की कुसुम शोभा को' कह कर स्थिति को बडी चतुराई से सम्हाल लेता है।[1] इस छोटे से सवाद द्वारा कालिदास ने समस्त यौवनवतियो की एकात्मकता सूचित करते हुए प्राकृतिक और मानवीय जगत् की समशीलता का सूक्ष्म सकेत दिया है। निश्चय ही अशोक और उनके पल्लव-पुष्प आदि विभिन्न अग कवि दृष्टि मे मानव व्यक्तित्व के ही प्रतिरूप हैं जिनके माध्यम से उसने नर-नारी की सनातन प्रणयोत्कठा और सौन्दर्य-लालसा का ममस्पर्शी चित्रण किया है। इसीलिए कवि ने अग्निमित्र के मुह से अशोक के दोहद को ललित प्रेमियो का सर्वसाधारण दोहद कहा है।[2]

अशोक की दोहद-पूर्ति के पश्चात् मालविका वकुलावलिका से पूछती है कि हमने अशोक को जो स्नेह और आदर दिया है, क्या वह सफल हो सकेगा ?[3] वकुलावलिका ने इसका जो उत्तर दिया है वह हमारे समक्ष उस गुणहीन अभागे प्रेमी का चित्र अकित कर देता है जो प्रियतमा की विह्वल प्रणय-याचना और समर्पण का उचित सम्मान न कर सौन्दर्य और प्रणय के आह्वान के प्रति असवेदनशील रहता है।[4]

मालविका का उक्त प्रश्न निश्चय ही उसकी तत्कालीन मन स्थिति का द्योतक है। उसका हृदय अग्निमित्र के प्रति सोत्कठ है, पर उसे पता नहीं है कि उसके प्रणय का राजा की ओर से क्या प्रतिदान मिलेगा। वकुलावलिका के आश्वासन के बावजूद वह कहती है—"हला। देवी चिन्तयित्वा न मे हृदय विश्वसिति।" इस वाक्य मे मालविका के मन का जो अविश्वास और भय व्यक्त हुआ है। वही 'अपि नाम आवयो सभावना सफला भवेत्" इस वाक्य म अशोक के सदभ मे प्रकट हुआ

---

1 विदूषक भो विश्रब्धा भूत्वमा यौवनवना पश्य।
धारिणी-काम्।
विदूषक-तपनीयाशोकस्य कुसुमशोभाम। पृ0 136–139

2 राजा-अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराविणा
नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन समाहित।
अशोक यदि सद्य एव कुसुमै न सम्बध्यसे
वृथा वहसि दोहद ललितकामिसाधारणम्॥ वही 3 17

3 मालविका-अपि नाम आवयो सभावना सफला भवेत्। वही, 3 पृ0 78

4 वकुलावलिका-हला नास्ति त दोष निर्गुणोऽयमशोक
यदि कुसुमोद्भेदमन्थरो भवेद य ईदृश चरणसत्कार लभते। वही 3, पृ0 78

है। इसका निष्कृष्ट अर्थ यह है कि अशोक-दोहद का प्रसंग नाटक में अंकित मानव-मनोव्यापार का ही प्राकृतिक प्रतिबिम्ब है। यही कारण है कि मानवीय और प्राकृतिक दोहद की दो कहानियां इस नाटक में बिम्बप्रतिबिम्बभाव से चलती हैं। दोनों कथाएं पृथक् होकर भी एकाकार हो जाती हैं या कम से कम एक दूसरे में अपनी प्रतिच्छाया अंकित करती चलती हैं।[1] इधर अशोक का दोहद है और उधर दोनों प्रेमियों का दोहद जो उनकी पारस्परिक उत्कंठा व मिलन-कामना में व्यक्त हुआ है। इधर मालविका अशोक का दोहद सम्पन्न करती है तो उधर उसी प्रसंग में वह राजा के प्रति अपने अनुराग की स्वीकृति द्वारा उसकी दोहद-पूर्ति की आशा जगा देती है। दोनों प्रेमी समानुराग की स्थिति में पहुंच कर एक दूसरे के दोहद की पूर्ति के प्रति सचेष्ट हैं। इधर अशोक के दोहद की सफलता संदिग्ध है तो उधर इरावती व धारिणी के संगठित विरोध के कारण राजा और मालविका के प्रणय की सफलता भी अनिश्चितता लिये हुए है। इधर अशोक में दोहद की सूचक मंजरियां निकलती हैं, तो उधर समुद्र-गृह में दोनों प्रेमियों के मिलन में उनका दोहद सफलता की ओर उन्मुख होता है। इधर तपनीय अशोक यौवनवती कुसुमशोभा से समलंकृत है तो उधर राजा वैवाहिक नेपथ्य में सुसज्जित मालविका को पाकर पूर्ण-काम है। एक ओर प्रकृति के जीवन में दोहद सम्पन्न हो रहा है तो दूसरी ओर उसी की मांगलिक छाया में दो मानव-प्रेमियों के जीवन में एक-दूसरे को पाने का दोहद चरितार्थ हो रहा है। कालिदास ने नाटक के अंतिम दृश्य में एक साथ दो दोहद-पूर्तियों का मनोरम चित्र अंकित कर मानव और प्रकृति की आत्माओं को एक ही सूत्र में ग्रथित कर दिया है।

यद्यपि कवि ने चतुर्थ अंक के अन्त में अशोक के पुष्पोद्गम के रूप में एक अप्राकृतिक घटना की योजना की है, पर यह योजना कितनी स्वाभाविक और संगत है यह उक्त विवेचन से स्पष्ट है। यह कोई एकाकी व असम्पृक्त घटना नहीं है, अपितु नाटक की वस्तु-संरचना का एक अभिन्न तत्त्व है। तृतीय अंक में जिन स्थितियों का सूत्रपात हुआ है, यह घटना उन्हीं का एक स्वाभाविक परिणाम है एवं

---

1 इस संदर्भ में विंटरनित्स का यह कथन द्रष्टव्य है—

"एक लोकप्रिय भारतीय विश्वास के अनुसार सुन्दरी स्त्री का पादस्पर्श इस वृक्ष (अशोक) को बलात् पुष्पित कर देता है। केवल कालिदास सरीखा कवि ही जो प्रकृति का अनुपम चितेरा है तथा जिसके समक्ष प्रकृति व मनुष्य एक ही अनुगुण समग्रता में इस तरह प्रकट होते हैं कि प्रत्येक मानव भाव प्रकृति में प्रतिबिम्बित हो जाता है, अपने नाटक में ऐसे विश्वासों को इतनी सुन्दरता से प्रदर्शित करने में सफल हो सकता था।'

हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, खण्ड 3 भाग 1, पृ० 250

नाटकीय वस्तु व चरित्र-चित्रण मे इस घटना की पूर्वापर स्थितिया बडी गहराई मे अन्तग्र थित हैं ।

सिद्धादेश साधु की भविष्यवाणी पचम अक मे जब विदर्भ से आगत शिल्प दारिकाए मालविका को पहचान लेती है, तो यह रहस्य खुलता है कि मालविका विदर्भ के शासक माधवसेन की बहिन तथा अग्निमित्र की वाग्दत्ता है । यहीं पर कवि ने शिल्पदारिकाओ व कौशिकी के मुह से मालविका की वह दुर्भाग्यकथा कहलाई है जिसके कारण उसे एक राजकन्या होते हुए भी अग्निमित्र के अन्त पुर मे दासी का जीवन बिताना पडा । मालविका की इस दु खपूर्ण गाथा को सुनकर उसके प्रति सबके हृदय मे सहानुभूति का उमडना स्वाभाविक है । धारिणी को खेद होता है कि उसने मालविका-रूपी चन्दन को चरणपादुका के रूप मे काम मे लिया ।[1] राजा भी ग्लानि के साथ कहता है कि कौशेयवस्त्र का अनजान मे स्नानीय वस्त्र के रूप मे उपयोग किया गया ।[2] धारिणी पडिता कौशिकी को उपालभ के स्वर मे कहती है—"भगवति । आपने अभिजनवती मालविका का परिचय हमे न देकर अनुचित काय किया है ।"[3] इस पर कौशिकी न उत्तर दिया—"ऐसा न कहे, मैं किसी कारण विशेष से ही इस विषय मे चुप रही ।" मालविका के पिता के जीवन काल मे देव यात्रा के प्रसग मे आए किसी सिद्धादेश साधु ने मेरे समक्ष यह भविष्यवाणी की थी कि मालविका एक वर्ष तक दासीत्व का अनुभव कर अपने सदृश पति को प्राप्त करेगी । उस अवश्यभावी आदेश को आपकी चरण-शुश्रूषा के रूप मे परिणत होते देखकर मैंने उचित समय की प्रतीक्षा द्वारा ठीक ही किया, ऐसा सोचती हू ।"[4]

कौशिकी के उक्त कथन मे दो प्रकार के अनिप्राकृत विश्वास निहित है—

(१) मनुष्य का जीवन पूर्व-नियत है । उसके भवितव्य के सूत्र किसी अदृश्य शक्ति के हाथो मे हैं । उसके जीवन मे आने वाली सम्पत्ति-विपत्ति, उत्थान-पतन, सुख-दु ख सब पूर्व-निर्धारित है तथा उनका उसी रूप मे घटित होना आवश्यक है । उसके जीवन का नियमन करने वाली इस अदृश्य शक्ति के स्वरूप के विषय मे नाटक कार ने हमे कुछ नही बताया है । यह शक्ति सभवत मालविका के पूर्व जन्म के कर्मों से निर्मित उसका रहस्यमय व अव्याख्येय अदृष्ट, विधि या भाग्य है जिसके कारण वह राजकुमारी से दासी बनी और दासी से पुन राजकुमारी ।[5]

---

1 माल० 5, पृ० 142
2 वही, 5,12
3 भगवति त्वयाभिजनवती मालविकामनाचक्षाणया असाम्प्रत कृतम् । वही, 5 पृ० 146
4 वही 5 पृ० 146–148
5 राजा—अपात्रभवती कथमित्थभूता ।
मालविका (नि श्वस्यात्मगतम) विधिनियोगेन । वही, 5, पृ० 142

(२) दिव्य ज्ञान से सम्पन्न कुछ विशिष्ट व्यक्ति भविष्य की घटनाओं को जानकर उनके बारे में पहले ही बता सकते हैं।

कालिदास ने कौशिकी के मालविकाविषयक मौन की जो व्याख्या की है वह न केवल धारिणी और अग्निमित्र का ही समाधान करती है अपितु कालिदास के युग के सभी सहृदय प्रेक्षकों के लिए वह समान रूप से मनोरंजक रही होगी। सिद्ध पुरुषों की भविष्यवाणियों की सत्यता तथा मानव-जीवन की सचालिका अदृश्य शक्तियों की सत्ता में उस युग के सर्वसामान्य लोगों का गहरा विश्वास था। यह विश्वास लोगों में आज भी पाया जाता है।

कालिदास ने मालविका और पण्डिता कौशिकी का रहस्य अन्तिम अंक में उद्घाटित किया है, जिससे उनकी वास्तविकता के विषय में नाटक के अन्त तक प्रेक्षक की कौतूहल-वृत्ति जाग्रत रहती है। यहाँ कालिदास ने मालविका के राज-कन्यात्व, उसके विषय में साधु की भविष्यवाणी तथा उसके जीवन की दुःखभरी कहानी के रहस्योद्घाटन द्वारा नाटक के अन्त को चमत्कारपूर्ण बना दिया है। यद्यपि यह कालिदास का प्रथम नाटक है तथापि इसमें उनका वस्तु-विधान का उत्कृष्ट कौशल प्रकट हुआ है। यह भविष्यवाणी सम्भवतः धारिणी के धर्मभीरु आस्तिक मन को यह विश्वास दिलाती है कि मालविका और अग्निमित्र का विवाह अवश्यम्भावी घटना है। यदि इस विषय में वह स्वयं पहल नहीं करती तो भी यही होकर रहता, क्योंकि दैवी शक्तियों की ऐसी ही योजना है।

शकुन मालविकाग्निमित्र में दो स्थलों पर शकुन-सम्बन्धी अलौकिक लोकविश्वास का भी उल्लेख मिलता है। ये दोनों ही स्थल पंचम अंक में आये हैं। इनमें आंगिक[1] या मानसिक विकारों[2] को भावी शुभ घटना के सूचक रूप में अंकित किया गया है। यहाँ यह विश्वास भी व्यक्त हुआ है कि आगामी सुख या दुःख हृदय को पहले से ही समर्थ बना देता है।

शकुनों में यह विश्वास निहित रहता है कि कोई दैवी शक्ति आंगिक व मानसिक विकारों या प्राकृतिक जगत् के परिवर्तनों द्वारा मनुष्य को भावी शुभ या अशुभ का पूर्व संकेत दे देती है। वह उस संकेत को ग्रहण करे या न करे यह दूसरी बात है किन्तु ऐसा संकेत उसे दिया अवश्य जाता है। इस दृष्टि से शकुनों को हम अलौकिक शक्ति के अस्पष्ट संकेत कह सकते हैं। जिन क्रियाओं व तथ्यों को हम

1 मालविका—जानामि निमित्तं कौतुकालङ्कारस्य । तथापि विमर्शपतितं ललितमिव वदनं न हृतम् । दक्षिणेतरदपि नयनं बहुशः स्फुरति । वही 5 पृ0 13[illegible]

2 प्रथमा—हला रजनिके अनुवमपदउवराजकुल प्रतिष्ठा प्रसीदन्ति मम [illegible] जाता ।
द्वितीया—स्वामिनि नेमाप्सवम् । अस्ति खलु लोकवादः । आगामि सुखं वा दुःखं वा हृदयं समर्थीकरोति । वही 5, पृ0 138

शकुन कहते हैं वे तो प्राकृत ही होते हैं पर उनकी प्रतीकात्मकता अतिप्राकृतिक शक्तियों की मान्यता पर आधारित होती है।

यह पहले कहा जा चुका है कि मालविकाग्निमित्र में कोई भी पात्र अतिप्राकृत तत्त्वों से युक्त नहीं है। इसमें कवि का उद्देश्य मानवीय व लौकिक प्रेम का चित्रण करना रहा है।

चतुर्थ अंक के अन्त में दोहद के फलस्वरूप अशोक में मुकुलों के आविर्भाव के विषय में नेपथ्य से दी गयी सूचना अद्भुत रस का विभाव है। उद्यानपालिका के "आश्चर्यम् आश्चर्यम्" आदि शब्द अद्भुत रस के अनुभाव है। यह अद्भुत रस नाटक के अंगी शृंगार का अंग है। पंचम अंक के अंत में मालविकाविषयक वास्तविक वृत्त का उद्घाटन तथा सिद्धादेश साधु की भविष्यवाणी की सूचना भी पूर्ववत अद्भुत रस की व्यंजक है।

विक्रमोर्वशीय

कालिदास का दूसरा नाटक विक्रमोर्वशीय[1] अनेक दृष्टियों से मालविकाग्निमित्र से भिन्न है। कालिदास की नाट्यकला के विकासक्रम में इसका स्थान मालविकाग्निमित्र और शाकुन्तल के मध्य में माना जाता है। कवित्व और कला की दृष्टि में मालविकाग्निमित्र से इसकी श्रेष्ठता असंदिग्ध है। वस्तु और पात्रों की परिकल्पना तथा अन्तश्चेतना की दृष्टि से यह नाटक मालविकाग्निमित्र की अपेक्षा शाकुन्तल के अधिक निकट है। इसकी कथावस्तु उर्वशी और पुरूरवा के प्राचीन आख्यान पर आधारित है। वस्तु की पौराणिक प्रकृति के कारण नाटककार को इसमें अतिप्राकृतिक तत्त्वों की योजना का प्रभूत अवसर मिला है।

विक्रमोर्वशीय में कालिदास का प्रणय-संबंधी दृष्टिकोण भी अधिक विकसित रूप में प्रकट हुआ है। इसमें चित्रित प्रेम अन्तःपुर की ऐन्द्रियलीला नहीं अपितु मानव-हृदय की एक तीव्र संवेदना है जो मिलनोत्कण्ठा और विरहव्यथा के रूप में

---

1 इस नाटक के दो पाठ मिले हैं—उत्तरभारतीय व दक्षिणभारतीय। उत्तरभारतीय पाठ की प्रस्तावना में यह 'त्रोटक' कहा गया है और दक्षिणभारतीय में 'नाटक'। प्रथम पाठ में चतुर्थ अंक के अन्तर्गत प्राकृत पद्य भी समाविष्ट हैं। कीथ के अनुसार उत्तरी पाठ में विद्यमान नृत्य तत्त्व के कारण यह त्रोटक कहा गया है (देखिये संस्कृत ड्रामा, पृ० 151) डा० दे के विचार में इस पाठ के प्राकृत पद्यों में निहित गान-तत्त्व इसके त्रोटक नामकरण का आधार है। इन दोनों विद्वानों के विचार में विक्रमोर्वशीय वस्तुतः नाटक है, त्रोटक नहीं। विश्वनाथ ने त्रोटक को उपरूपकों में गिनते हुए 'विक्रमोर्वशीय' को उसका उदाहरण बताया है (सा०द०, 6 273) किन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता।

व्यक्त हुई है। इसमे कालिदास का प्रधान लक्ष्य विरह के माध्यम से मानवीय प्रणय के अन्त सौन्दर्य का उद्घाटन है, जबकि मालविकाग्निमित्र मे वियोग की वास्तविक परिस्थिति के अभाव मे प्रणय का यह पक्ष उपेक्षित रह गया है। हम आगे देखेंगे कि कालिदास ने विरह-चित्रण के लिए उपयुक्त परिस्थिति के निर्माण की दृष्टि से भी कुछ महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृत तत्वो की योजना की है। मानव और प्रकृति मे एक ही चेतना का दर्शन करने वाली कालिदास की काव्यभावना की अभिव्यक्ति मे भी ये तत्त्व सहायक रहे हैं।

उर्वशी और पुरूरवा का प्रणयाख्यान भारतीय साहित्य के प्राचीनतम लोकप्रिय आख्यानो मे से एक है। इसका सबसे पुराना रूप ऋग्वेद के एक सूक्त[1] मे मिलता है जो उर्वशी और पुरूरवा के सवाद के रूप मे है। इस सूक्त मे वास्तविक प्रणय-कहानी का धु धला-सा ही ज्ञान होता है। ऋग्वेद का यह अपूर्ण व अस्पष्ट-सा सवादात्मक आख्यान शतपथ ब्राह्मण मे एक सुसम्बद्ध व सुस्पष्ट कथा के रूप मे वर्णित है।[2] किन्तु विक्रमोर्वशीय की कथावस्तु का न ऋग्वेद के सवादात्मक आख्यान से कोई साम्य है और न शतपथ की कथा से। कालिदास ने अपने नाटक मे उर्वशी की शर्तों, गन्धर्वो की कूट योजना एव उसके फलस्वरूप पुरूरवा को छोडकर उर्वशी के आकस्मिक गमन, कुरुक्षेत्र के सरोवर पर दोनो प्रेमियो के पुर्नमिलन, गन्धर्वो के निर्देशानुसार पुरूरवा के यज्ञानुष्ठान तथा गधर्वत्व-प्राप्ति आदि प्रसगो का जो शतपथ-ब्राह्मण की कथा मे आये हैं, कोई उल्लेख नही किया। वैदिक कथा से कालिदास के नाटक का यदि कोई साम्य है तो इतना ही कि दोनो एक स्वर्गीय अप्सरा और उसके मानवप्रेमी के प्रणय, मिलन और विरह की मूलभूत विषयवस्तु पर आधारित हैं। सच तो यह है कि उर्वशी और पुरूरवा का वैदिक आख्यान सही अर्थ मे एक प्रणयकथा कहलाने का अधिकारी नहीं है। उसमे केवल एकपक्षीय अनुराग का चित्रण हुआ है। ऋग्वेद व शतपथ ब्राह्मण की उर्वशी प्रेमिका की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। वह नारी की सहृदयता व स्थिर प्रेम की योग्यता पर ही प्रश्न चिह्न लगा देती है।[3]

शौनककृत बृहद्देवता मे देवराज इन्द्र सभवत सर्वप्रथम उर्वशी-पुरूरवा की प्रणयकथा से सम्बद्ध किये गये हैं।[4] विक्रमोर्वशीय मे कालिदास ने भी इन्द्र का

---

1 ऋग्वेद 10 95

2 शतपथब्राह्मण 11 5 1

3 न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणा हृदयान्येता।
ऋग्वेद 10, 95 15

4 7, 147–152

महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान की है, किन्तु दोनों में वह परस्पर विपरीत रूप लिये हुए है। यह भी उल्लेखनीय है कि बृहद्देवता में उर्वशी को प्रेमिका का व्यक्तित्व देने का प्रयत्न किया गया है।

हरिवंश, विष्णु भागवत, वायु, मत्स्य, पद्म आदि पुराणों में भी उर्वशी व पुरूरवा की प्रेम-कथा आई है,[1] पर प्रस्तुत नाटक की दृष्टि से इनमें से मत्स्य व पद्म का ही अधिक महत्त्व है।[2] इन दोनों पुराणों में उर्वशी की स्वर्गच्युति का कारण भरतमुनि का शाप कहा गया है,[3] तथा उसे उर्वशी की मनःस्थिति से सम्बद्ध करने का यत्न किया गया है। जहां तक कालिदास का सम्बन्ध है, उन्होंने उक्त दोनों पुराणों के समान भरतमुनि के शाप को ही उर्वशी के पृथ्वीलोक में आने का कारण बताया है तथा उसे नाटक के प्रणयवृत्त में बड़ी कुशलता से अन्तर्ग्रथित किया है। मत्स्य व पद्म पुराणों में से पद्म की रचना व सङ्कलन का काल कालिदास के बाद का माना गया है।[4] अतः उसका उन पर कोई प्रभाव नहीं माना जा सकता। अब रही मत्स्य पुराण की बात। श्री काणे ने उसका रचनाकाल २००–४०० ई० निश्चित किया है,[5] अतः विक्रमोर्वशीय की वस्तु-कल्पना पर केवल इसी पुराण का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। पद्मपुराण में आई उर्वशी की कथा सम्भवतः मत्स्यपुराण से ज्यों की त्यों ली गई है।[6] अतः मत्स्यपुराण की कथा के साथ विक्रमोर्वशीय की जितनी समानता है उतनी ही पद्मपुराण के साथ भी।

मत्स्यपुराण के अनुसार पुरूरवा इन्द्र से मिलने के लिए प्रतिदिन स्वर्ग जाया करता था। एक बार जब वह रथ में बैठकर आकाशपथ से स्वर्ग जा रहा था तो उसने देखा कि दानवेन्द्र केशी उर्वशी व चित्रलेखा नामक अप्सराओं को बलात् पकड़कर ले जा रहा है। उसने तत्काल वायव्यास्त्र से आक्रमण कर केशी को पराजित किया तथा दोनों अप्सराओं को छुड़ाकर उन्हें इन्द्र को सौंप दिया। पुरूरवा के इस शौर्य

---

1 हरि० पु० प्रथम पर्व 26 वि०पु० 4 6 34–94 भा० पु० 9 14 15–19 वा०पु० 91 वां अध्याय म०पु० 24 वां अध्याय, प०पु० सृष्टि खंड, 12 वां अध्याय,

2 इन पुराणों में इस कथा को प्रायः शतपथब्राह्मण में वर्णित रूप ही दोहराया गया है।

3 अन्य पुराणों में उर्वशी के मर्त्यलोक में पतन का कारण मित्रावरुण (भागवत व विष्णु में) या ब्रह्मा का शाप (देवी भागवत, पद्म व वायु में) कहा गया है।

4 द० श्री पा०वी० काणे कृत हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र खंड 5 भाग 2 पृ० 893 तथा 910

5 वही पृ० 899–900

6 मत्स्यपुराण और पद्मपुराण के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में श्री काणे का मत है कि पद्म में मत्स्य से सामग्री ली गई। उनके अनुसार यह आदान 1000 ई० से पूर्व कभी हुआ। द० वही पृ० 893

पूर्ण कार्य से इन्द्र अतीव प्रसन्न हुआ और सदा के लिए उसके साथ मैत्री के सूत्र मे बध गया ।[1]

कालिदास ने भी इस घटना को कुछ हेरफेर के साथ विक्रमोवशीय के प्रथम अक मे निबद्ध किया है । किन्तु जहा पुराणकार ने इसे पुरुरवा व इन्द्र की मैत्री का ही आधार माना है, वहा कालिदास ने प्रणयवृत्त की पृष्ठभूमि के रूप मे इसकी नाटकीय सभावनाओ का पूर्ण उपयोग किया है ।

मत्स्यपुराण के अनुसार एक बार स्वग मे भरतमुनि के निर्देशन मे 'लक्ष्मी-स्वयवर' नामक नाटक का अभिनय किया गया जिसमे उवशी ने लक्ष्मी की भूमिका ग्रहण की । मुनि ने उवशी, मेनका, रभा आदि अप्सराओ को नृत्य करने का आदेश दिया । उर्वशी जब लय के साथ नृत्य कर रही थी तभी प्रेक्षको मे बैठे पुरुरवा को देखकर वह कामपीडित हो गयी तथा गुरु के सिखाये अभिनय को भूल गयी । उसके इस प्रमाद को देखकर भरतमुनि क्रुद्ध हो गये । उन्होने उवशी को शाप दिया कि वह मर्त्यलोक मे पुरूरवा से वियुक्त होकर पचपन वष तक लता बनकर रहेगी तथा पुरुरवा भी पिशाच बन जायेगा । मुनिद्वारा अभिशप्त उर्वशी ने पृथ्वीलोक मे आकर पुरूरवा का पति के रूप मे वरण किया तथा शाप की अवधि समाप्त होने पर उससे अनेक पुत्रो को जन्म दिया ।[2]

पुराण की उक्त कथा का आधार लेते हुए भी कालिदास ने उसे नया रूप दे दिया है । नाटक की उवशी भी अभिनय मे भूल करती है पर पुरूरवा की अनुपस्थिति मे तथा उसके प्रति तीव्र अनुराग के कारण । भरतमुनि द्वारा उर्वशी को शाप देने की बात मत्स्य पुराण व नाटक दोनो मे आयी हैं पर जो शाप दिया गया है उसमे अन्तर ह । पुराण मे उवशी को लतारूप मे परिवर्तित होने का शाप दिया गया है जबकि नाटक म केवल स्वगच्युत हाने का । इस प्रसग मे कालिदास ने यह भी बताया है कि महेन्द्र पुरुरवा के प्रति मैत्री के कारण उवशी को पुरुरवा के पास जाकर रहने की अनुमति दे दता है जिससे भरत के शाप की कठोरता कम हो जाती है, किन्तु पुराण म महेन्द्र के ऐस अनुग्रह का कोई उल्लेख नही मिलता ।

मत्स्यपुराण मे उवशी के शाप के अतिरिक्त पुरूरवा को दिये गये दो शापो का भी उल्लेख मिलता है । ये शाप उसे अथ और काम द्वारा दिये गये थे, जिनका उसने धर्म के समान सत्कार नही किया था । काम के शाप मे कहा गया है कि पुरुरवा गन्धमादन पर्वत पर कुमारवन मे पहुचकर उवशी के वियोग मे उन्मत्त हो

1 म0 पु0, अध्याय 24 22 26
2 वही, अध्याय 24, 28 33

जायेगा।[1] कालिदास ने उक्त शाप का तो उल्लेख नही किया, पर चतुर्थ अक मे उवशी के कुमारवन मे लता बन जाने पर पुरुरवा के विरहोन्माद का वणन अवश्य किया है। उवशी के लता रूप मे परिवर्तन की कल्पना कालिदास ने सभवत मत्स्य पुराण से ली है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण मे भी उर्वशी व पुरूरवा का प्रेमाख्यान विस्तार से आया है[2] तथा उसके कुछ अश प्रस्तुत नाटक के कतिपय स्थलो से पर्याप्त साम्य रखते हैं। श्री काणे ने विष्णुधर्मोत्तर पुराण का रचनाकाल ६०० ई० के बाद का माना है,[3] अत वही कालिदास का ऋणी प्रतीत होता है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कालिदास के समक्ष इस प्रणयकथा के जो विभिन्न रूप विद्यमान थे उनमे से किसी का भी उन्होंने ज्यो का त्यों अनुगमन नही किया। वस्तुत उन्होंने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा इस चिर प्राचीन कथा को अपने विशिष्ट नाटकीय प्रयोजनो की सिद्धि के लिए नूतन रूप मे ढालने का प्रयत्न किया है। पुरूरवा और उर्वशी के प्रणय, मिलन और वियोग का मूल इतिवृत्त तो वही है, पर उसे जो आकार और अर्थ कालिदास ने प्रदान किया है वह उनकी उत्कृष्ट सजनाशक्ति का निदशन है। प्राचीन साहित्य से कथानक और चरित्र के कुछ मूल सूत्र व सकेत ग्रहण करते हुए भी कालिदास ने उनके सगुम्फन और नियोजन मे अपनी प्रभूत मौलिकता का परिचय दिया है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि विक्रमोवशीय के कथानक और चरित्रो की परिकल्पना इस प्रणयकथा के वदिक रूप की अपेक्षा उसके पौराणिक रूप के अधिक निकट है।

यह कथा दो साधारण लौकिक नर-नारियो की प्रणयकथा नही है, अपितु स्वग की अप्सरा उवशी और चन्द्रमा के पौत्र व इन्द्र के युद्धसहायक पुरूरवा के प्रणय मिलन और विरह की अति प्राचीन व प्रख्यात कथा है जो वेदो से लेकर पुराणो तक नाना रूपो मे वर्णित है। कालिदास के पूववर्ती साहित्य एव पुराकथाओ मे उवशी और पुरूरवा के अतिप्राकृतिक व्यक्तित्व सुप्रतिष्ठित हो चुके थे। अत ऐसे दिव्य और अर्धदिव्य प्रेमियो की प्रणयकथा मे अलौकिक तत्त्वो की योजना के लिए कवि को यथेष्ट अवसर मिला है। यह स्वाभाविक ही है कि एक ऐसी पौराणिक कथा म कवि-कल्पना यथार्थ की सीमाओ का अतिक्रमण कर अतिप्राकृत जगत् मे निबाध

---

1 कामोऽस्याह तवाभाग भविता गधमादन।
कुमारवनमासाद्य वियोगात्त्वमोमवान॥ वही 24 19

2. 1, 129-137

3 हिस्ट्री आव धमशास्त्र, भाग 5, खण्ड 2 पृ0 910

विचरण करें। यद्यपि कवि का मूल उद्देश्य मानवीय प्रणय की विविध अनुभूतियों का ही चित्रण करना है, परन्तु इसके लिए उसने जो माध्यम चुना है वह एक अतिप्राकृतिक जगत् की घटनाओं और व्यक्तियों का माध्यम है। इसी असाधारण माध्यम के कारण कवि ने प्रेमी और प्रेमिका के मिलन और विछोह के प्रत्येक प्रसंग में, जहां भी उसने चाहा है, अतिप्राकृतिक तत्त्वों की इच्छानुसार योजना की है। इन तत्त्वों में से अधिकतर के मूल संकेत किसी न किसी रूप में पूर्ववर्ती साहित्य में विद्यमान थे। कालिदास का कौशल इसी में है कि उन्होंने पूर्व साहित्य में संकेतित उन तत्त्वों का अपने विशिष्ट नाटकीय उद्देश्यों के लिए सफलतापूर्वक उपयोग किया है।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

उर्वशी-उद्धार विक्रमोर्वशीय के प्रायः प्रत्येक अंक की कथा में अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश मिलता है। नाटक का आरंभ ही एक अतिप्राकृत घटना से हुआ है जो प्रेमकथा के सूत्रपात और विकास का मूल आधार है। यह घटना है असुर केशी द्वारा अपहृत अप्सरा उर्वशी का पुरूरवा द्वारा उद्धार। इस घटना के पात्र, स्थान एवं परिवेश सभी अलौकिक हैं। एक बार उर्वशी जब अपनी सखियों के साथ कुबेर के भवन से लौट रही थी तब मार्ग में असुर केशी उसे उसकी सखी चित्रलेखा सहित बलपूर्वक बन्दी बनाकर ले गया।[1] उसी समय प्रतिष्ठान देश का राजा एवं चन्द्रमा का पौत्र पुरूरवा सूर्यलोक से अपने रथ में पृथ्वी की ओर लौट रहा था।[2] उर्वशी की सखियों के अनुरोध पर उसने असुर का पीछा किया तथा अपने पराक्रम द्वारा उसे पराजित कर उर्वशी व चित्रलेखा को छुड़ा लिया। यह सारी घटना अन्तरिक्ष में घटित होती है तथा उसमें सम्बद्ध सभी पात्र उर्वशी, पुरूरवा, चित्रलेखा, केशी तथा अन्य अप्सरायें दिव्य या दिव्यादिव्य हैं। उनकी आकाशगति, एक लोक से अन्य लोक में गमन आदि व्यापार उनके दिव्य या अर्धदिव्य व्यक्तित्व के सूचक हैं। नाटक में इस घटना के दो स्वाभाविक परिणाम बताये गये हैं—(१) उर्वशी और पुरूरवा के हृदय में पारस्परिक अनुराग का उदय, जिसकी क्रमिक विकास और सफल परिणति ही इस नाटक की विषय-वस्तु है। (२) उर्वशी की रक्षा करने से पुरूरवा के प्रति इन्द्र की कृतज्ञता। यह कृतज्ञता कथा के भावी विकास में घनिष्ठतया सम्बद्ध

---

1 विक्रमोर्वशीय 1.3 (श्री एच०डी० वेलंकर द्वारा संपादित साहित्य अकादमी नई दिल्ली 1961)

2 राजा-उपस्थानं कृत्वा। सूर्योपस्थानात् प्रतिनिवृत्तः पुरूरवाः मानुष्य कथयन्तु कुतः भवत्यः परित्रातव्या इति। वही 1, पृ० 3

है। नाटक का नामकरण 'विक्रमोर्वशीय' (विक्रम द्वारा प्राप्त उर्वशीविषयक नाटक) भी इसी घटना पर आधारित है। नाटक के अन्त में पुरूरवा को यद्यपि इन्द्र के अनुग्रह से उर्वशी की स्थायी प्राप्ति होती है, किन्तु इस अनुग्रह में पुरूरवा के अतीत पराक्रम के प्रति उसकी कृतज्ञता तथा भावी देवासुर-संग्राम में उसके पराक्रम व सहयोग की आकांक्षा ही प्रधान प्रेरणा है। नाटक के प्रारंभ की यह घटना उर्वशी व पुरूरवा के हृदय में प्रेम के प्रथम अंकुरण के लिए एक समुचित मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है। अपने प्राणरक्षक के प्रति उर्वशी की कृतज्ञता उसके ओजस्वी व्यक्तित्व के प्रति क्रमशः आकर्षण, उत्कंठा व प्रणय-भाव में विकसित होती है। पुरूरवा भी उर्वशी के दिव्य मनोहर रूप से प्रभावित होकर उसकी ओर आकृष्ट होता है।[1] इस प्रकार इस प्रसंग के माध्यम से दो भिन्न लोकों के प्राणी एक असाधारण परिस्थिति में एक-दूसरे के सम्पर्क में आकर परस्पर आकर्षण व प्रणय की भूमिका पर अवतीर्ण होते हैं।

गन्धर्वराज का आकाश से अवतरण इसी अंक में गन्धर्वराज चित्ररथ के आकाश से हेमकूट पर अवतरण का नाटककार ने बड़ा प्रभावशाली चित्रण किया है।[2] चित्ररथ के आगमन का उद्देश्य पुरूरवा के प्रति देवताओं की कृतज्ञता, विशेषतः महेन्द्र की प्रसन्नता ज्ञापित करना है। उसके कथनानुसार पुरूरवा ने त्रिदश-परिपन्थी केशी आदि दानवों को पराजित कर एवं उर्वशी को उनके अवलेप से बचाकर इन्द्र का अतीव प्रिय कार्य अनुष्ठित किया है।[3] पहले जिस उर्वशी को नारायण ऋषि ने इन्द्र को भेंट किया था, अब दैत्य के हाथ से छीन कर पुरूरवा ने जैसे उसी कार्य को दोहराया है।[4] साथ ही दानव-पराभव व उर्वशी-रक्षण द्वारा पुरूरवा ने महेन्द्र का भी उपकार करने वाली अपनी विक्रम-महिमा का परिचय दिया है।[5] उर्वशी कोई साधारण अप्सरा नहीं, वह इन्द्र की अप्सराओं में विशिष्ट है। अतः उसके रक्षण व क्षेम के लिए देवराज की चिन्ता स्वाभाविक है। पुरूरवा ने स्वर्ग की अलंकार उर्वशी की रक्षा कर इन्द्र को सदा के लिए उपकृत कर दिया है। इस प्रकार यह प्रसंग उर्वशी के हरण और पुरूरवा द्वारा उसकी रक्षा की एक साधारण-सी

---

1 वही 1 8

2 अयं च गाङ्गात्कोऽपि तप्तचामीकराङ्गदः ।
अवरोहति शैलाग्रं तडित्वानिव तोयदः ॥ वही, 1 13

3 चित्ररथ — महत्खलु तत्रभवतो मघोनः प्रियमनुष्ठितं भवता । वही 1, पृ० 11

4 पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते ।
दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा संप्रति त्वया ॥ वही, 1 14

5 चित्ररथ —(राजाभिमुखं स्थित्वा) दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ।
वही, 1 पृ० 10

वैयक्तिक घटना को नाटकीय व्यापार से बहिर्भूत दैवी शक्तियों के साथ जोड़कर उसे एक वृहत्तर संदर्भ प्रदान कर देती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विक्रमोर्वशीय के वस्तु-विधान में पुरूरवा के विक्रम के प्रति इन्द्र की प्रसन्नता व कृतज्ञता का विशेष महत्त्व है।

चित्ररथ के आगमन का दूसरा उद्देश्य उर्वशी व अन्य अप्सराओं को अपने संरक्षण में स्वर्ग ले जाना है जहां इन्द्र उनके सुरक्षित लौटने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। चित्ररथ पुरूरवा से भी स्वर्ग चलने की प्रार्थना करता है पर वह मना कर देता है। इस अवसर पर आत्म-प्रशंसा सुनने के लिए स्वर्ग जाना उसकी विनम्र प्रकृति के अनुकूल नहीं है। उर्वशी के स्वर्ग जाने की बात से दोनों प्रेमियों का स्वल्प मिलन विच्छिन्न हो जाता है। किन्तु यह विच्छेद की घड़ी एक मनोवैज्ञानिक स्थिति के रूप में प्रस्तुत होती है जिसमें प्रेमी व प्रेमिका पारस्परिक अभिलाषा की तरंगों में डूबते-उतराते तथा मन में प्रेम की मधुर वेदना छिपाये एक दूसरे से विदा होते हैं।[1] उर्वशी को इच्छा न होते हुए भी चित्ररथ के साथ स्वर्ग लौटना पड़ता है जिससे यह संकेत मिलता है कि वह महेन्द्र के अधीन होने के कारण पुरूरवा से प्रेम करने या उसके पास अपनी इच्छानुसार ठहरने के लिये स्वतन्त्र नहीं है। उर्वशी की यह परतन्त्रता इस नाटक में अनेक बार दोनों प्रेमियों के मिलन और उनके प्रेम के स्वाभाविक विकास की प्रतिबन्धक शक्ति के रूप में चित्रित की गई है। इस प्रतिबन्धक शक्ति के समक्ष उर्वशी और पुरूरवा नैराश्य की मूक व्यथा का अनुभव करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि इस दृश्य में उर्वशी व अन्य अप्सराएं अपनी दिव्य प्रकृति के अनुसार आकाश में उड़ कर स्वर्ग की ओर प्रस्थान करती हैं।[3]

वायव्यास्त्र का प्रत्यावर्तन प्रथम अङ्क के अन्तिम भाग में उर्वशी के स्वर्ग चले जाने के बाद एक और अतिप्राकृत प्रसंग आता है। पुरूरवा ने जिन वायव्यास्त्र से केशी को पराजित किया था वह इन्द्र के अपराधी दैत्यों को समुद्र में गिराकर पुरूरवा के तूणीर में लौट आता है।[4] इस असाधारण घटना द्वारा पुरूरवा की

---

1 चित्ररथ —वयस्य केशिना हृतामुर्वशीं नारदादुपश्रुत्य प्रत्याहरणार्थमस्याः शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा वही 1 पृ० 16

2 वही 1 16 18

3 सर्वाः सख्यो आकाशमुत्पतन्ति । वही 1 12

4 सूतः आयुष्मन्

जद सुरद्रस्य कृतापराधान्
प्रक्षिप्य दैत्यान् लवणाम्बुराशौ।
वायव्यमस्त्रं शरधिं पुनस्ते
महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टम् ॥ वही 1 17

लोकोत्तर वीरता तथा इन्द्र के प्रति उसके उपकार को प्रेक्षकों को पुन स्मरण कराया गया है। पुरूरवा के विक्रम व उसके द्वारा इन्द्र-कार्य के अनुष्ठान पर कवि ने इस प्रथम अक मे और आगे भी जो विशेष बल दिया है उससे यह सूचित होता है कि वह इन्द्र की कृतज्ञता और अनुग्रह को प्रेमकथा के विकास और परिणति का मुख्य आधार बनाना चाहता है।

तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्यता दूसरे अक मे कवि ने उर्वशी और चित्रलेखा के स्वग से उतर कर आकाश मे उडते हुए पुरूरवा के राजप्रसाद के प्रमदवन मे उतरने और वहा तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य होकर विदूषक के साथ उसका वार्तालाप सुनने का प्रसग प्रस्तुत किया गया है। पुरूरवा के पास जाकर अपने प्रति उसके मनोभाव को जानने और उससे भेंट करने के लिए उर्वशी ने जो पहल की है वह उसके अप्सरस्त्व के अनुकूल है। पौराणिक कथाओ मे अप्सराओं को दिव्य सामान्या स्त्री माना गया है। स्वग मे देवताओ के मनोरजन के लिए नृत्य और अभिनय करना तथा ऋषि-मुनियो की तपस्या भग करने के लिए अपने यौवन और सौन्दय का प्रदर्शन उनका प्रमुख कार्य बताया गया है। अत पुरूरवा के प्रेम मे आकृष्ट होकर अप्सरा उर्वशी का उससे मिलने के लिए उपक्रम उसके उक्त पौराणिक व्यक्तित्व के अनुसार ही है। यदि उवशी कोई मानवी होती तो उसका यह काय अनुचित प्रतीत होता। यह द्रष्टव्य है कि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र और शाकुन्तल मे, जहा मानवी प्रेमिकाओ का चित्रण किया गया है, प्रणय-सम्बन्ध के विकास मे स्त्री-पक्ष की ऐसी पहल का चित्रण नही किया है।

उवशी की यह पहल एक दूसरी दृष्टि से भी इस नाटक के वस्तु-विधान मे आवश्यक है। उवशी एक दिव्य स्त्री होने के नाते मानव पुरूरवा से श्रेष्ठतर और उसकी पहुच से परे है। पुरूरवा चाहते हुए भी उससे मिलने के लिए स्वग नहीं जा सकता। वह प्राय इन्द्र के निमन्त्रण पर असुरो से युद्ध करने के लिए ही वहा जाता है। केवल उवशी से मिलने के लिए उसका स्वर्ग जाना उचित प्रतीत नही होता। यही कारण है कि इस नाटक की प्रेम-कथा के विकास मे प्रेमिका पक्ष का प्रयत्न ही अधिक उभरा है,[1] पुरूरवा अधिकतर अवसरो पर निष्क्रियता और दैवश्य से ग्रस्त

---

1 विश्वनाथ ने यह साहित्यशास्त्रीय दृष्टिकोण स्पष्ट किया है कि पहिले नायिका के राग का कथन होना चाहिए, फिर उसके अभिलाष आदि इ गितो को देखकर नायक के अनुराग का- आदौ वाच्य स्त्रिया राग पु स पश्चात्तदिगितै । 3 195

कालिदास ने प्रस्तुत नाटक मे उवशी के प्रेम का सकेत तो पहले दिया ही है, नायक पुरूरवा की तुलना मे प्रणय-सम्बन्ध के विकास मे उसे अधिक सचेष्ट भी दिखाया है। यह दूसरी बात उन नाटको मे जिनमे मानव नायिकाए होती हैं, देखने को नही मिलती। यह स्पष्ट है कि उर्वशी के दिव्य नायिका होने के कारण ही कालिदास ने नाटक की प्रणयकथा मे उसे अधिक क्रियाशील भूमिका प्रदान की है।

रहा है। वैसे तो उर्वशी स्वयं भी पराधीन और विवश है, पर नाटक की प्रेम-कथा में जो थोडी बहुत सक्रियता दृष्टिगोचर होती है उसमे पुरूरवा की तुलना मे उर्वशी का ही योगदान अधिक है और जैसा कि कहा जा चुका है, उर्वशी के इस योगदान मे उसका अतिप्राकृत दिव्य व्यक्तित्व प्रमुख कारण है।

प्रत्येक प्रेमी अपने प्रिय में अपने प्रेम की प्रतिक्रिया देखना चाहता है, वह उससे अपने प्रेम का प्रतिदान चाहता है। किसी प्रेम-सम्बन्ध की सफलता की पहली शर्त है प्रेम की पारस्परिकता और प्रिय के प्रेम का बोध। प्रथम अंक मे कालिदास ने दोनो प्रेमियो के मन मे प्रेम का अकुर तो उत्पन्न कर दिया है परन्तु उन्हे पारस्परिक प्रेम-बोध मे अपरिचित रखा है। दूसरे अक के उक्त प्रसग मे तिरस्करिणी द्वारा प्रच्छन्न उर्वशी व चित्रलेखा को पुरूरवा व विदूषक का सान्निध्य प्रदान कर कवि ने प्रेम-सम्बन्ध के विकास की इसी आवश्यकता की पूर्ति की है। तत्त्वत यह दृश्य मालविकाग्निमित्र के तृतीय अक के उस दृश्य से समानता रखता है जहा दोहद के लिये आगत मालविका और वकुलावलिका के वार्तालाप को अग्निमित्र और विदूषक लता के पीछे छिप कर सुनते हैं। दोनो प्रसगो का उद्देश्य और प्रक्रिया समान हैं, दोनो मे जो बाह्य अन्तर है वह उर्वशी के अतिप्राकृत व्यक्तित्व और अप्सरस्त्व के कारण है। उर्वशी अप्सरा होने के कारण तिरस्करिणी विद्या जानती है और राजा के समीप अदृश्य रूप मे पहुच सकती है। किसी लता आदि की आड मे उर्वशी को खडा करना उसके दिव्य व्यक्तित्व के अनुकूल नही होता, अत यहा कवि ने तिरस्करिणी द्वारा अदृश्य उर्वशी को पुरूरवा के पास उपस्थित कर अपने प्रति उसके प्रेम को जानने का अवसर दिया है, जो कालिदास की कलाकार-सुलभ सूझ-बूझ का परिचायक है।

राजा के प्रेम के बारे मे आश्वस्त होकर उर्वशी पहले प्रणय-पत्र[1] द्वारा और फिर चित्रलेखा को भेजकर उसे अपने प्रेम से अवगत कराती है। इस प्रकार दोनो प्रेमी प्रणय की समभूमिका पर स्थित होकर उसी प्रकार परस्पर मिलन के अधिकारी हो जाते हैं जैसे एक तप्त अयस् दूसरे तप्त अयस् के साथ जुडने योग्य हो जाता है[2]। इसी उपयुक्त

---

1 यह प्रणयपत्र ऐसे भूजपत्र पर लिखा गया है जिसे उर्वशी ने अपने प्रभाव से बनाया है।
देo विक्रमोo 2, पृo 27

2 राजा-भद्रमुखि।
पय त्सुका कथयसि प्रियदर्शना ताम्
आर्ति न पश्यसि पुरूरवसस्तदर्थाम्।
साधारणोऽयमुभयो प्रणय स्मरस्य
तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम्॥ वही, 2 15

अवसर पर उर्वशी अपनी तिरस्करिणी हटाकर राजा के समक्ष प्रकट होती है। किंतु उनका यह मिलन क्षणिक सिद्ध होता है। वे अभी दो-दो बातें भी न कर पाये थे कि नेपथ्य से देवदूत का संदेश सुनाई देता है कि स्वर्ग में भरतमुनि के द्वारा आयोजित अष्टरसाश्रय प्रयोग में देवराज लोकपालों सहित उर्वशी का ललित अभिनय देखना चाहते हैं, अत उसे तुरन्त स्वर्ग के लिए प्रस्थान कर देना चाहिए।[1] दोनों प्रेमी मन मसोस कर रह जाते हैं। परवश उर्वशी को स्वर्ग लौटना पड़ता है।[2] पुरूरवा भी उर्वशी व चित्रलेखा को भेजे गये इन्द्र के आदेश का प्रत्यर्थी बनने में असमर्थ है। इस प्रकार एक अनुल्लंघनीय दिव्य आदेश प्रेमियों के चिर-प्रतीक्षित मिलन को भंग कर देता है। इस दैवी हस्तक्षेप के कारण यहां नाटकीय संघर्ष और तनाव के एक प्रमुख पक्ष का सूत्रपात होता है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि इस संघर्ष और तनाव में दोनों पक्ष तुल्यबल नहीं है। दैवी शक्ति का पक्ष निश्चय ही प्रेमियों की शक्ति से बढ़कर है। दूसरे, प्रेमिका दैवी शक्ति के प्रतिनिधि महेन्द्र की अनुचरी है और पुरूरवा उसके अनुयायी व रण-सहायक से अधिक नहीं है। प्रारंभ में यह दैवी शक्ति उर्वशी और पुरूरवा के पारस्परिक अभिलाष से अपरिचित होने के कारण उनके विषय में उदासीन और निरपेक्ष है। यही कारण है कि देवदूत के द्वारा लाया गया महेन्द्र का बुलावा दोनों प्रेमियों को मिलन की देहरी पर से लौटाता हुआ उन्हें परवशता और अकिंचनता के बोध से भर देता है। आगे यह दैवी शक्ति शाप के रूप में उर्वशी के प्रेम पर आघात करती है, किन्तु पुरूरवा के पराक्रम से उपकृत महेन्द्र उस शाप को वरदान में बदलकर दोनों प्रेमियों को मिलन का अवसर प्रदान करते हैं। किन्तु कुमार कार्तिकेय के नियम के रूप में पुन एक अज्ञात व रहस्यमय दैवी शक्ति प्रेमियों को वियुक्त कर नायक को विरह-व्यथा से विक्षिप्त बना देती है। किन्तु यह दैवी शक्ति निर्दय और अप्रमाधेय नहीं है। संगमनीय मणि के द्वारा उसके प्रकोप का समाधान संभव होता है जिससे बिछुड़े हुए प्रेमी पुन मिल जाते हैं। किन्तु इन्द्र के द्वारा निश्चित की गई भरत के शाप की अवधि पुन दोनों प्रेमियों के मिलन की प्रतिबन्धक बन जाती है। पर महेन्द्र के ही अनुग्रह से, जिसके पीछे पुरूरवा के अतीत पराक्रम के प्रति उसकी कृतज्ञता तथा भावी पराक्रम की आशा भरी याचना छिपी हुई है, अन्तत दोनों प्रेमी स्थायी मिलन के अधिकारी होते हैं।

भरतमुनि का शाप व महेन्द्र का अनुग्रह तृतीय अंक के विष्कम्भक से ज्ञात होता है कि भरत द्वारा आयोजित 'लक्ष्मी स्वयंवर' नाटक में उर्वशी ने विविध रसों

---

1 वही, 2 17

2 दिव्य पात्रा-अप्सरा, यक्ष आदि की इस विवशता का चित्रण कालिदास ने अनेक पात्रों के माध्यम से किया है। राजराज के अनुचर यक्ष (द० पूर्वमेघ, 3) को स्वाधिकार में प्रमाद के कारण भर्ता का वर्षभोग्य शाप मिला था जिससे उसे मेघ का याचक बनना पड़ा।

का अतीव तन्मय होकर अभिनय किया पर उसमें एक अक्षम्य भूल हो गई। लक्ष्मी की भूमिका में स्थित उर्वशी से जब वारुणी की भूमिका में वर्तमान मेनका ने पूछा कि यहां लोकपाल और विष्णु आदि तीनों लोकों के जो दिव्य पुरुष एकत्र हैं उनमें से तुम्हारा भावाभिनिवेश किसमें है, तो उर्वशी ने जो उत्तर दिया वह बहुत बड़े अनर्थ का कारण बन गया। पुरूरवा के प्रेम में बेसुध उर्वशी के मुख से प्रमादवश 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर 'पुरूरवा' का नाम निकल गया। इस पर भरतमुनि के क्रुद्ध होकर उसे शाप दिया—'तुमने मेरे उपदेश का उल्लंघन किया है, अतः अब तुम स्वर्गलोक में नहीं रहोगी।'[1] इस प्रकार अभिशप्त उर्वशी जब लज्जा से सिर झुकाकर खड़ी थी तब इन्द्र ने अनुग्रहपूर्वक उससे कहा 'तुम्हारा मेरे युद्धसहायक जिस पुरूरवा में प्रेम है, तुम्हें उसकी कामना पूर्ण करनी चाहिए। तुम इच्छानुसार पुरूरवा के पास जाकर रहो, जब तक कि वह अपनी सन्तान का मुख नहीं देख लेता।'[2]

यहां कालिदास ने उर्वशी को भरत के शाप तथा महेन्द्र के द्वारा उसमें छूट देने के जिस प्रसंग की योजना की है उसका नाटक के वस्तु-विधान में विशेष महत्त्व है। हमने देखा कि उर्वशी की पराधीन स्थिति अब तक दोनों प्रेमियों के मिलन में सबसे बड़ी बाधा रही है। उर्वशी अपनी परवशता के कारण दो बार प्रिय के समागम-सुख से वंचित हो चुकी है। अतः प्रेम-कथा के स्वाभाविक विकास की यह मांग है कि उर्वशी कम से कम कुछ समय के लिए अपने दिव्य-बंधनों से मुक्त होकर पुरूरवा के पास रहने के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करे। भरत के शाप और इन्द्र के अनुग्रह द्वारा कालिदास ने इसी नाटकीय उद्देश्य को पूर्ण करना चाहा है।[3] यहां शाप के लिए जो कारण बताया गया है वह जहां एक ओर प्रेमिका उर्वशी की तत्कालीन मनःस्थिति का सूचक है, वहां दूसरी ओर वह महेन्द्र के अनुग्रह का भी समुचित प्रेरक है। यद्यपि उर्वशी ने 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर 'पुरूरवा' बोलकर गुरु के उपदेश का उल्लंघन किया, पर उसकी यह भूल कितनी स्वाभाविक और निरीह है। वस्तुतः यह भूल क्षमा व सहानुभूति के योग्य है, दण्ड के नहीं। फिर भी गुरु भरत का शाप आपाततः दण्ड होते हुए भी एक प्रच्छन्न आशीर्वाद और वरदान ही है।

---

1 यन्मयोपदेशस्तव लङ्घितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यतीति उपाध्यायस्य शापः।
विक्रमो० 3 पृ० 40

2 पुरन्दरेण पुनर्लज्जावनतमुखीमुर्वशीं प्रेक्ष्यैव भणितम्-यस्मिन्बद्धभावासि तव तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियं करणीयम्। सा त्वं पुरूरवसं यथाकाममुपतिष्ठस्व यावत्स परिदृष्टसन्तानो भवतीति। वही, 3, पृ० 40

3 शाप को कालिदास ने मिलन व विछोह दोनों का साधन बनाया है। 'विक्रमोर्वशीय' में वह मिलन का साधन है तथा शाकुन्तल व मेघदूत में विछोह का।

इस शाप के कारण स्वर्ग तो छूट जायेगा, पर उसके बदले में उर्वशी को पुरूरवा प्राप्त हो सकेगा। इन्द्र का अनुग्रह भरत के शाप के निष्ठुर आवरण को हटाकर उसमें अन्तर्निहित मांगल्य का दर्शन कराता है। साथ ही इस अनुग्रह में पुरूरवा के विगत उपकारों की स्मृति भी निहित है। पुरूरवा इन्द्र का रणसहायक है, उसने देवों की रक्षा के लिए असुरों से अनेक बार युद्ध किया है, और सबसे बड़ी बात यह है कि उसने स्वर्ग की अमूल्य निधि उर्वशी की दानव केशी से रक्षा की है। अतः उर्वशी के प्रति सहानुभूति और पुरूरवा के प्रति कृतज्ञता से प्रेरित होकर इन्द्र का उनके प्रेम और मिलन का अनुमोदन करना उचित ही है। भरत के शाप और इन्द्र के अनुग्रह की यह घटना नाटक की प्रेम-कथा के भावी विकास को एक नया मार्ग और गति प्रदान करती है। यहां इन्द्र ने उर्वशी के शाप की जो अवधि निर्धारित की है, उसका रहस्य पांचवें अंक में खुलता है, जहां कवि एक आसन्न वियोग की निराश व विवश परिस्थिति उत्पन्न कर दोनों प्रेमियों के अनुराग के गांभीर्य का पुनः परिचय देता है।

अदृश्य अभिसार तृतीय अंक में उर्वशी अभिसारिका के वेष में आकाश में उड़ती हुई चित्रलेखा के साथ पुरूरवा के हर्म्यपृष्ठ पर उतरती है। वहां राजा विदूषक के साथ उर्वशी के विषय में बातचीत करता हुआ व्रतधारिणी रानी औशीनरी की प्रतीक्षा कर रहा है। द्वितीय अंक के समान यहां भी उर्वशी तिरस्करिणी द्वारा अन्तर्हित होकर अपने प्रति पुरूरवा के मनोभाव का पता लगाती है।[1] प्रिय को अपनी उपस्थिति का भान न कराते हुए उसकी प्रेम-वेदना का साक्षात्कार प्रेमिका के लिए कितना सुखद हो सकता है, यह इस दृश्य में जाना जा सकता है। औशीनरी अपने पूर्व व्यवहार के लिए क्षमा मांगकर राजा को मन प्रार्थित स्त्री के साथ प्रेम करने की स्वतन्त्रता दे देती है। अदृश्य उर्वशी के अज्ञात साक्ष्य में औशीनरी द्वारा किया गया पुरूरवा के प्रेम-संबंध का अनुमोदन दोनों प्रेमियों के निर्विघ्न समागम के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।[2] किन्तु हम देखते हैं कि प्रेमियों का समागम हो जाने पर भी कवि ने संयोग शृंगार के चित्रण में रुचि नहीं दिखायी है। इससे स्पष्ट है कि विक्रमोर्वशीय में कालिदास का ध्येय विरह-वेदना के माध्यम से मानवीय प्रेम के आंतरिक सौन्दर्य का दर्शन कराना है। चतुर्थ अंक की कथावस्तु इस मान्यता का समर्थन करती है।

---

1 उर्वशी—अनिर्भिन्नार्थेनानेन वचनेनाकम्पितं मे हृदयम्। अन्तरित एव शृणवावास्य स्वैरालापं यावन्न संशयच्छेदो भवति। विक्रमो० 3, पृ० 47

2 चित्रलेखा—सखि, महानुभावया पतिव्रतया अभ्यनुज्ञात अनन्तरायस्ते प्रियसमागमो भविष्यति। वही पृ० 53

दूसरे अध्याय[1] मे हम बता चुके है कि भरत ने नाट्यशास्त्र मे यह निर्देश दिया है कि जब शाप के कारण या अपत्य की लालसा से दिव्य-स्त्रिया का मनुष्यो के साथ समागम हो तो वह 'शृगाररसाश्रय' होना चाहिए । दिव्य स्त्री को अदृश्य होकर अपने भूषणो के शब्दो से प्रिय को लुभाना चाहिए तथा अपना सदर्शन देकर पुन अदृश्य हो जाना चाहिए । उसे नायक के पास वस्त्र, आभरण, माल्य, लेख आदि भेजकर उसे उन्मत्त बनाना चाहिए, क्योकि उन्मादन से उत्पन्न काम अतीव आनददायी होता है ।[2] विक्रमोर्वशीय के तृतीय अक मे उर्वशी की विविध चेष्टाओ व कार्यो के चित्रण मे कालिदास ने नाट्यशास्त्र के उक्त निर्देशो का ही पालन किया है, यह स्पष्ट है । अभिनवगुप्त ने भी अपना यही मत प्रकट किया है—"समुन्माद्य इत्यत्र हेतुमाह उन्मादनादिति एतच्च विक्रमोर्वश्या स्फुटमेव दृश्यता इति शिवम् ।" (ना०शा० २२ ३३१ पर अभिनवभारती) हमने देखा कि उर्वशी का शाप के कारण ही स्वग मे भ्र श हुआ है तथा वह अभिसारिका के वेष मे[3] पुरूरवा के पास अदृश्य रूप मे आई है । इस अवसर पर राजा यह अभिलाषा प्रकट करता है—"प्रियतमा उर्वशी गूढ रूप मे उपस्थित होकर अपने नूपुरो का शब्द मेरे कानो मे डाले, पीछे की ओर से चुप-चुप आकर मेरी आखे मूद ले तथा हर्म्य पर उतर कर अपनी चतुर सखी के द्वारा साध्वसवश मन्द-मन्द चलती हुई मेरे पास लाई जाय ।"[4] उसके इस मनोरथ को उर्वशी तत्काल पूर्ण करती है । वह पुरूरवा के पीछे से आकर अपने करतलो से उसकी आखें ढक देती है । हम बता चुके हैं कि द्वितीय अक मे भी उर्वशी राजा के पास अदृश्य रूप मे ही आती है तथा अपने प्रभाव से एक भूर्जपत्र निर्मित कर अपना प्रणय-लेख उसके पास भेजती है । इससे सिद्ध है कि विक्रमोर्वशी के द्वितीय व तृतीय अको के उक्त दृश्यो के विधान मे नाटककार ने नाट्यशास्त्र के पूर्वोक्त निर्देशो को ध्यान मे रखा है ।

कार्तिकेय का नियम व उर्वशी का रूपपरिवर्तन चतुर्थ अक मे दो अतिप्राकृत प्रसगो की योजना मिलती है—(१) कुमारवन मे प्रविष्ट उर्वशी का लतारूप मे परिवर्तन (२) सगमनीय मणि के स्पर्श से उसे नारी रूप की पुन -प्राप्ति । पहले

---

1 दे० प्रस्तुत प्रबध पृ० 101

2 ना०शा० 22 329-331

3 भरत ने दिव्य नारियो के लिए नील परिच्छद का विधान किया है, विशेष रूप से शृगारिक प्रसगो मे । (द०ना०ना० 21 65) सभवत इसी निर्देश के अनुसार कालिदास ने यहा उर्वशी का नीलाशुक मे प्रस्तुत किया है—सखि राजते तऽयमल्पाभरणभूषिता नीलाशुकपरिग्रहोऽभि सारिकावेष । विक्रमो 3, पृ० 45

4 वही, 3 15

जिस प्रकार मानव-सौन्दर्य प्रकृति का प्रतिरूप है उसी प्रकार प्रकृति भी मानवीय गुण-धर्मों से विभूषित है। कालिदास की दृष्टि मे प्रकृति कोई निर्जीव वस्तु नहीं है। वह मनुष्य के समान ही सवेदनशील और भावनाप्रवण है। वह मनुष्य के समान ही हसती, गाती और रोती है। केवल स्थूल दृष्टि से देखने पर ही दोनों में तारतम्य दिखाई देता है। सहृदयता की अन्तर्दृष्टि से देखने पर दोनो मे कोई भेद प्रतीत नही होता। कालिदास को यह अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी। यही कारण है कि उनकी कृतियो मे प्रकृति और मानव दोनो एक ही विराट् व अखण्ड जीवनधारा से आप्यायित हैं। कुमारसभव मे कवि ने योग-मग्न शिव के तपोवन मे आकस्मिक वसन्तागम होने पर लतावधुओं के साथ वृक्षो के आलिंगन का वर्णन किया है।[1] पतिगृह के लिए प्रस्थानोद्यत शकुन्तला को कण्वाश्रम के मानव ही विदा नही देते, वहा की मूक प्रकृति भी उस कारुणिक प्रस्थानकौतुक में सम्मिलित होती है। महर्षि कण्व तपोवन-तरुओं से शकुन्तला को पतिगृह-गमन की अनुज्ञा देने के लिए कहते हैं।[2] वनवास-बन्धु वे तरु भी परभृत-विरुत को प्रतिवचन बनाकर उसे सस्नेह गमन की अनुमति प्रदान करते हैं। शकुन्तला भी चलते समय अपनी लताभगिनी वन-ज्योत्स्ना से विदा लेना नही भूलती। विक्रमोर्वशीय के अनुसार उर्वशी कुमार कार्तिकेय के नियम से जिस लता में परिवर्तित हुई है, उसमे पुरुरवा को अपनी अनुतापशीला प्रियतमा की चेष्टाओं का आभास होता है—

> तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभि
> शून्येवाभरणैं स्वकालविरहाद् विश्रान्तपुष्पोद्गमा।
> चिन्तामौनमिवास्थिता मधुलिहा शब्दैं विना लक्ष्यते
> चण्डी मामवधूय पादपतित जातानुतापेव सा।। विक्रमो० ४ ८७

कालिदास ने उर्वशी को लता रूप मे बदल कर उसके प्राकृतिक व्यक्तित्व को उसके नारी-व्यक्तित्व मे एकाकार कर दिया है। बाद मे सगमनीय मणि के प्रभाव से उर्वशी पुन अपने मूल नारी रूप को प्राप्त कर लेती है। नारी का यह लताभाव और लता का नारीभाव कालिदास के उस आधारभूत दृष्टिकोण का परिचायक है जिसके अनुसार प्रकृति और मानव एक ही विराट् सत्ता के अविभाज्य अग एव परस्पर परिवर्तनीय घटक हैं। यह प्रसग इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें कवि को प्रकृति के सदर्भ में नारी-सौन्दर्य तथा मानव-विरह की मार्मिक अभिव्यक्ति का अवसर मिला है। इसी ध्येय से कालिदास ने कुमारवन को प्रस्तुत अक की कथावस्तु का घटनास्थल बनाया है।

---

1 3 39

2 मव याति शकुन्तला पतिगृह सर्वैरनुज्ञायताम। अभि0 शाकु0 4,9

यह संकेत किया जा चुका है कि विक्रमोर्वशीय में कालिदास ने प्रेम की उस स्थिति का प्रधानतया चित्रण किया है जिसमें प्रेमी-प्रेमिका मिलन के लिए उत्सुक होते हुए भी मिल नहीं पाते, और मिलते हैं तो किसी न किसी कारण से बिछुड जाते हैं। उनके समागम में बार-बार विघ्न उपस्थित होते हैं। प्रथम अंक में चित्ररथ का आकस्मिक आगमन उर्वशी पुरूरवा को प्रथम परिचय की घडी में अपनी भावनाओं की परस्पर अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देता। उर्वशी को विवश होकर उसके साथ स्वर्ग लौटना पडता है। द्वितीय अंक में ज्यों ही उर्वशी पुरूरवा के सामने प्रकट होकर अपना अनुराग व्यक्त करना चाहती है त्यों ही देवदूत स्वर्ग से इन्द्र का बुलावा लेकर आ जाता है। तीसरे अंक में इन्द्र के अनुग्रह और औशीनरी के आत्मत्याग से दोनों प्रेमियों का समागम निर्विघ्न दिखाई देता है, पर वह चिरस्थायी नहीं हो पाता। चतुर्थ अंक में उर्वशी का दूरारूढ असहनशील प्रेम पुन समागम सुख का विघ्न बन जाता है।[1] विधि की अलघनीयता[2] उर्वशी के हृदय की शापजन्य विमूढता, कार्तिकेय का नियम—ये सब अतिप्राकृतिक तत्त्व पुन दोनों प्रेमियों को एक दूसरे से वियुक्त कर देते हैं। अंतिम अंक में 'आयु' का रहस्य खुलने पर दोनों प्रेमी पुन आसन्न वियोग की व्यथा से निर्विण्ण हो जाते हैं। इस प्रकार नाटक में समागम-सुख के जितने भी अवसर आये हैं उन पर वियोग की काली छाया पडी हुई है। सच तो यह है कि कालिदास इस कृति में जिस प्रेम का चित्र अंकित करना चाहते हैं उसका सौन्दर्य और स्वारस्य मिलन में उतना नहीं, जितना विरहवेदना में है। उनके अनुसार समागम-सुख के विघ्नित होने पर प्रेम सौगुना तीव्र हो जाता है, जैसे विषम शिलाओं के अवरोध से स्खलित वेग वाला नदी-प्रवाह (उस अवरोध से मुक्त होने पर) सौगुनी गति ग्रहण कर लेता है—

नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासकटस्खलितवेग ।

विघ्नितसमागमसुखो मनसिशय शतगुणीभवति ॥ विक्रमो० ३ ८

यद्यपि प्रेम की चरितार्थता मिलन में है, पर उसके विकास, परिपाक और तीव्रता की सिद्धि विरह में ही है। वियोग की पीडा सहने के बाद जो मिलन-सुख मिलता है, वही अधिक आनन्ददायी होता है। वियोग की वेदना भोगे बिना प्रेम का मूल्य नहीं जाना जा सकता। इसीलिए कालिदास ने कहा है—

यदेवोपनत दु खात् सुख तद्रसवत्तरम् ।

निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषत । वही ३ २१

---

1 सहत्या—असहना खलु सा । दूरारूढश्चास्या प्रणय । तदभविनव्यमत्र वल्लवती । विक्रमो० 4, पृ० 63

2 सहजन्या—सवथा नास्ति विधेरलघनीय नाम यत तादात्म्यानुरागस्यापि दृश एव परिणाम सजात वही, 4, पृ० 63

इसी दृष्टि से कालिदास ने चतुर्थ अक मे उर्वशी को लतारूप मे परिवर्तित कर पुरूरवा की उन्मादकारिणी विरह-व्यथा का चित्रण किया है। विरह-चित्रण की दृष्टि से यह दृश्य समस्त संस्कृत साहित्य मे अद्वितीय है। विरह की तीव्रता मे पुरूरवा मयूर, कोकिल, हस, चक्रवाक, भ्रमर, गज, पर्वत, सरिता, हरिण आदि पक्षिया, पशुओ व निर्जीव वस्तुओ से उर्वशी का पता बताने के लिए कहता है। अन्त मे सगमनीय मणि के प्रभाव से उसे उर्वशी की पुन प्राप्ति होती है।

सगमनीय मणि चतुर्थ अक की दूसरी अतिप्राकृतिक घटना सगमनीय मणि के स्पर्श से लताभूत उर्वशी का मूल नारीरूप मे परिवर्तन है। नाटककार के अनुसार यह सगमनीय मणि गौरी के चरण-राग से उत्पन्न हुई है। कोई अज्ञात मृगचारी मुनि पुरूरवा को शिलाओ की दरार मे पडी इस मणि को उठाने के लिए कहता है।[1] इस रहस्यमय मणि को हाथ मे लेकर ज्यो ही पुरूरवा एक लता का आलिंगन करता है, वह तुरत उर्वशी बन जाती है।

यहा नाटककार ने सगमनीय मणि का द्विविध उद्देश्य से सन्निवेश किया है —(१) उर्वशी को मूल रूप मे परिवर्तित कर दोनो प्रेमियो के पुनर्मिलन के लिए (२) पचम अक मे आयु को च्यवनाश्रम से माता-पिता के पास लौटने की परिस्थिति उत्पन्न कर दोनो प्रेमियो के पुनर्वियोग का सकट उत्पन्न करने के लिए। इस प्रकार नाटककार ने यहा सगमनीय मणि का लगभग वैसा ही उपयोग किया है जैसा शाकुन्तल म मुद्रिका का। मणि और मुद्रिका दोनो ही बिछुडे हुए प्रेमियो के पुनर्मिलन की साधक हैं, पर दोनो मे अन्तर भी है। शाकुन्तल मे मुद्रिका-वृत्तान्त कथावस्तु से घनिष्ठतया सम्बद्ध है, जबकि सगमनीय मणि का प्रसग कथावस्तु पर एक आरोप-सा प्रतीत होता है। यह रहस्यगर्भित मणि कुमारवन मे कैसे आई ? वह शिलाओ के बीच क्यो पडी थी ? वह मृगचारी मुनि कौन था जिसने पुरूरवा को प्रियजन का सगम कराने वाली उस मणि को उठा लेने के लिए कहा ? पुरूरवा पर उसकी इस अनुकपा का कारण क्या था ? हमारी इन स्वाभाविक जिज्ञासाओ की नाटककार ने सर्वथा उपेक्षा की है। उसने केवल इतना-सा सकेत दिया है कि गौरी के चरणो की लालिमा से उत्पन्न होने के कारण वह मणि अपने स्पर्शमात्र से वियुक्त

---

1 (नेपथ्ये) वत्स गृह्यता गृह्यताम्।
सगमनीयो मणिरिह शैलसुताचरणरागयोनिरयम्।
आवहति धार्यमाण सगममाशु प्रियजन॥
राजा-(कर्ण दत्वा) को नु खलु मामवमनुशास्ति। (दिशोऽवलोक्य)।
अये, अनुकम्पते मा कश्चिद् मृगचारी मुनिर्भगवान्। भगवन्
अनुगृहीतोऽस्म्यहमुपदेशात्भवत। विक्रमा० 4, पृ० 86

प्रियजनो का पुनर्मिलन कराने मे समर्थन है। कुमार कार्तिकेय के नियम मे कहा गया था कि जो भी स्त्री उनके तप क्षेत्र मे प्रवेश करेगी वह लता बन जायेगी तथा गौरी के पावो के राग मे उत्पन्न मणि के सिवा अन्य किसी वस्तु से वह लतात्व से मुक्त नही होगी।[1] सहजन्या के अनुसार पुरूरवा-जैसे विशेष आकृति वाले व्यक्ति बहुत समय तक दुख के भागी नही होते। अत दिव्य अनुग्रह के फलस्वरूप उर्वशी व पुरूरवा के समागम का कोई उपाय अवश्य होगा।[2] गौरी के चरणराग से उत्पन्न सगमनीय मणि ऐसा ही उपाय है।

दिव्य साहाय्य पचम अक मे अतिप्राकृतिक शक्तियो की सहायता से नाटकीय वस्तु का सुखमय पयवसान होता है। च्यवनाश्रम से आयु के अकस्मात् आने से जहा स्वय को नि सतान समझने वाले पुरूरवा के आनन्द का कोई ठिकाना नही रहता, वहा उर्वशी की शापनिवृत्ति की बात जानने पर उसका सारा हर्षोल्लास विषाद और निराशा मे बदल जाता है। दैवी-विधान के समक्ष पुरूरवा और उर्वशी दोनो एक निरुपाय विवशता का अनुभव करते हैं। इसके फलस्वरूप पुरूरवा आयु को राज्य सौंप कर वानप्रस्थ ग्रहण करने का विचार करता है। इस प्रकार जब दिव्य नारी और उसके मानव प्रेमी का यह प्रेम-वृत्तान्त एक दुखान्त वियोग मे पयवसित होता दिखाई देता है तभी दिव्य-अनुग्रह का सन्देश उस दुख को पुन सुख मे बदल देता है। इन्द्र द्वारा प्रेषित नारद स्वर्ग से आकर सूचित करते हैं कि आगे देवो और असुरो का महायुद्ध होने वाला है, जिसमे देवताओ को पुरूरवा के पराक्रम की पुन आवश्यकता होगी। इन्द्र चाहते हैं कि पुरूरवा विरक्त होकर वन म न जाए। इसी उद्देश्य से उन्होंने उर्वशी को पुरूरवा के जीवन-पर्यन्त उसके पास रहने की अनुमति दे दी है।[3] इस प्रकार महेन्द्र के दिव्य साहाय्य से नाटक का दुखोन्मुख घटनाचक्र दोनो प्रेमियो के निर्विघ्न स्थायी मिलन मे पयवसित होता है।

यहा कालिदास ने भारतीय नाट्यशास्त्र के सर्वमान्य विधान का अनुगमन किया है। नाटक की सुखान्तता नाट्यशास्त्र का अनिवार्य नियम है। संस्कृत नाटक अपने प्रेक्षक को नाट्यगृह से निराश और दुखी बना कर नही भेजता। वह उसे मानव-जीवन की मागलिकता और दैवी शक्तियो की न्यायशीलता व अनुग्रहशीलता

---

1 गौरीचरणरागसभव मणि वजयित्वा लताभाव न मोक्ष्यतीति। वही 4, पृ० 69

2 न तादृशा आकृतिविशेषाश्चिर दुखभागिनो भवन्ति। तदवश्य कोऽप्यनुग्रहनिमित्तभूत समागमोपायो भविष्यतीति तर्कयामि। वही 4 पृ० 64

3 त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्ट सुरासुरविमर्दो भावी।
भवाश्च सायुगीन सहायो न। तन त्वया न शस्त्र
संन्यस्तव्यम्। इय चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति। वही 7, पृ० 107

के प्रति सुदृढ आस्था प्रदान करके ही प्रेक्षागृह से लौटने देता है। जीवन मे चाहे कितनी भी विघ्न-बाधाए हो, प्रतिकूल परिस्थितिया और विषम संघर्ष हो, उनका सर्दव मगलमय, प्रशान्त और सुखद अंत होता है, यह विश्वास भारत के कवि का सनातन जीवन-दर्शन और काव्य-दर्शन है। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय की निर्वहण संधि मे आधिकारिक कथावस्तु की फलसिद्धि के लिए इसी परम्परागत जीवन-दर्शन का अनुमोदन किया है। साथ ही उन्होने आयु सम्बन्धी रहस्योद्घाटन, नारद के स्वर्ग से आगमन और इन्द्र के अनुग्रह-सूचन द्वारा नाट्यशास्त्र के निर्देशानुसार निर्वहण संधि मे अद्भुत रस की भी प्रभावशाली योजना की है। यद्यपि इन्द्र का यह हस्तक्षेप प्रणय-कथा के स्वाभाविक गतिक्रम के प्रतिकूल प्रतीत होता है, फिर भी उसे सर्वथा अप्रत्याशित नही कह सकते। हम देख चुके है कि पुरूरवा के पराक्रम ने ही उर्वशी को उसकी ओर सर्वप्रथम आकृष्ट किया था। असुर केशी के अनाचार से उर्वशी को बचाकर पुरूरवा ने उसे तो प्राणभय से मुक्त किया ही था, इस कार्य द्वारा उसने प्रत्यक्ष रूप मे देवराज महेन्द्र का भी उपकार किया था, जिसके लिए वह उसके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ था। इसी कृतज्ञता की प्रेरणा से इन्द्र ने भरत के शाप की कठोरता को दूर कर उर्वशी को पुरूरवा के पास रहने की अनुमति दी थी। अत यह स्वाभाविक ही है कि महेन्द्र ने पुरूरवा के विगत उपकार और असुरो के साथ भविष्य मे होने वाले युद्ध म उसके पराक्रम की उपादेयता को दृष्टि मे रखते हुए उर्वशी को दीर्घकाल के लिए उसके पास रहने की स्वीकृति दी। इन्द्र की इस स्वीकृति मे उसकी कृतज्ञता, अनुग्रह और स्वार्थ तीनो सम्मिलित है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पुरूरवा ने उर्वशी को इन्द्र के अनुग्रह से प्राप्त नहीं किया, अपितु उसका अपना विक्रम ही इस उपलब्धि का मूल आधार है।

विक्रमोर्वशीय मे प्रणयकथा का समस्त विकास दैवी शक्तियो और अतिप्राकृत तत्त्वो पर निर्भर दिखाई देता है। इसका मुख्य कारण इसके प्रधान पात्रो का अतिप्राकृत उद्भव या सम्बन्ध है। उर्वशी तो पूर्णतया दिव्य है ही, पुरूरवा भी चन्द्रमा का पौत्र और इन्द्र का मित्र होने के कारण दिव्यता से युक्त है। ऐसे लोकोत्तर पात्रो की कथा मे अलौकिक तत्त्वो का समावेश अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। दूसरे, उर्वशी और पुरूरवा की प्रेमकथा एक प्राचीन पौराणिक कथा है और ऐसी कथाओ मे प्राकृत व अतिप्राकृत के बीच भेदरेखा खीचना सचमुच कठिन होता है। इसीलिए विक्रमोर्वशीय म प्रणयकथा का उद्भव, विकास, उसकी प्रत्येक गति, भगिमा एव अन्तत उसकी सुखद समाप्ति-संक्षेप मे उसकी सभी अवस्थाए प्राकृत व अतिप्राकृत का अद्वैत प्रस्तुत करती है। यहा किसको प्राकृत कहे और किसको अतिप्राकृत। यह आरोप लगाया जा सकता है कि इसमे समस्त नाटकीय घटनाचक्र अतिप्राकृत शक्तियों द्वारा सचालित व निर्देशित है तथा नायक व नायिका अपनी

अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए पद-पद पर दैवी अनुग्रह व साहाय्य के मुखापेक्षी हैं। यह आरोप एक दृष्टि से सत्य है, पर यदि हम इसे स्वीकार कर लेते हैं तो इस नाटक की मूल चेतना को समझने में असमर्थ रहेंगे। वस्तुत पौराणिक कथाओं में जो विश्व-दृष्टि व्यक्त हुई है उसमें मानव और देवता दोनों एक-दूसरे के विरोधी या प्रतिस्पर्धी नहीं हैं, अपितु एक ही विश्व में स्नेह, सहयोग व सख्य के साथ रहने वाले प्राणी हैं। यदि मानव पुरूरवा उर्वशी को पाने के लिए देवों की कृपा पर निर्भर हैं, तो देवों को भी भावी देवासुर संग्राम में विजय के लिए पुरूरवा के बल-पराक्रम की अपेक्षा है। अपितु यह कहा जा सकता है कि उर्वशी को पुरूरवा के हाथों में सौंप कर देवताओं ने उसके प्रति अपनी कृतज्ञता ही प्रकट की है, उस पर कोई अनुग्रह नहीं किया। यह ठीक है कि देवता मनुष्य से अधिक शक्तिशाली हैं, पर मनुष्य भी सर्वथा अकिंचन नहीं। कालिदास ने नारद के निम्न शब्दों में देवता व मनुष्य के पारस्परिक संबंध के विषय में यही दृष्टिकोण व्यक्त किया है —

> त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात् त्वं च तस्येष्टमाचर ।
> सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा ॥ विक्रमो० ५ २०

अतिप्राकृत पात्र

विक्रमोर्वशीय में अनेक अतिप्राकृत पात्रों का समावेश मिलता है जो इसकी पौराणिक कथावस्तु के अनुकूल है। इसका नायक पुरूरवा अर्धदिव्य और अर्धमानव पात्र है तथा नायिका उर्वशी पूर्णतया दिव्य। अन्य पात्रों में कुछ अप्सराएँ हैं, जैसे उर्वशी, चित्रलेखा, सहजन्या, रम्भा, मेनका आदि। इनके अतिरिक्त गन्धर्वराज, चित्ररथ तथा देवर्षि नारद भी पात्रों के रूप में अंकित हैं। ये सब साक्षात् रूप से रंगमंच पर अवतीर्ण होते हैं। इनके अतिरिक्त असुर केशी, भरतमुनि तथा महेन्द्र को भी नाटकीय वस्तु में अप्रत्यक्ष स्थान दिया गया है।

यह द्रष्टव्य है कि नाटककार ने पात्रों के व्यक्तित्व-विधान में पौराणिक कल्पनाओं को मुख्य आधार बनाया है। यों तो कालिदास वैदिक साहित्य के भी मर्मज्ञ थे, पर वे जिस समाज के लिए नाटक लिख रहे थे वह पौराणिक धर्म और उसकी आस्थाओं से अनुप्राणित था। अतः नाटककार ने वस्तु-योजना व पात्रों के चित्रण में महाकाव्यों व पौराणिक साहित्य की कथा-रूढ़ियों का मुख्यतः सहारा लिया है। उर्वशी, पुरूरवा, चित्ररथ, नारद आदि पात्र पौराणिक लोकविश्वासों के साँचों में ढले हुए हैं। शाप, रूपपरिवर्तन, आकाशमार्ग से अवतरण व उत्पतन, रथ द्वारा आकाश में आवागमन, अप्सराओं का तिरस्करिणी द्वारा प्रच्छन्न होकर पृथ्वीलोक में भ्रमण एवं मानवीय कार्यकलापों में दैवी हस्तक्षेप आदि अतिप्राकृत

कल्पनाए निश्चय ही नाटककार व उसके समकालीन समाज की पौराणिक चेतनापरक मनोवृत्ति की सूचक हैं।

उर्वशी विक्रमोर्वशीय की नायिका उर्वशी जो एक दिव्य सामान्या स्त्री है, देवराज महेन्द्र की परम प्रिय अप्सरा है। अप्सरा के रूप मे उसका व्यक्तित्व भ्रान्त अतिप्राकृत तत्त्वो से विभूषित है, किन्तु मूलत वह एक प्रेमिका है और इस रूप में उसका चरित्र सर्वथा मानवीय प्रतीत होता है। इस प्रकार उर्वशी के चरित्र और व्यक्तित्व मे दिव्य और मानवीय गुण-धर्मों का मणिकाचन योग हुआ है। उसके व्यक्तित्व का यह द्वैत ही उसकी सबसे बडी विशेषता है। आर्थर राइडर के मत म "उर्वशी का अप्सरा-रूप इतना प्रबल है कि उसे मानुषी नही माना जा सकता और उसका मानुषी रूप इतना स्पष्ट है कि वह अप्सरा नहीं कही जा सकती।"[1] हैनरी डब्ल्यू वेल्स के अनुसार "उर्वशी एक सच्ची अप्सरा होते हुए भी पुरूरवा के जीवन काल तक पृथ्वी पर रहने तथा उसके मर्त्य पुत्र को जन्म देने की अपनी अभिलाषा पूर्ण करने मे सफल होती है। उसके जीवन के तनाव उसकी प्रकृति के आन्तरिक द्वैत के परिणाम है। हृदय से वह अर्द्ध दिव्य और अर्द्ध मनुष्य है। जब वह दिव्य प्रकृति मे आस्थित होती है, तब स्वर्ग मे दिव्य नाटको मे अभिनय करती है, पर जब उसका मर्त्यप्रेम प्रबल हो जाता है तब वह देवता के स्थान पर अपने पार्थिव प्रेमी के नाम का उच्चारण करती है।"[2]

कालिदास की उर्वशी अप्सरा होते हुए भी एक प्रेमिका है। उसका अप्सरा रूप पूर्ववर्ती साहित्य मे सुप्रतिष्ठित हो चुका था, पर उसे एक सुकुमार-हृदया प्रेमिका मे रूपान्तरित करने का श्रेय कालिदास की नाट्य-प्रतिभा को है। ऋग्वेद[3] मे उर्वशी को जल से उत्पन्न (अप्या), अतरिक्ष को पूर्ण करने वाली (अतरिक्षप्रा) तथा विभिन्न लोको मे सचरण करने वाली (रजसो विमानी) कहा गया है। उसने चार शरदो तक विविध रूप धारण कर मर्त्य प्रेमियो मे निवास किया और एक दिन प्रथम उषा के समान सहसा विलीन हो गई। वह वायु के समान पुरूरवा के लिए दुष्प्राप (दुरापना वात इवास्मि) है। इस प्रकार उसका व्यक्तित्व एक अतिमानवीय अप्सरा का व्यक्तित्व है। उसके हृदय मे पुरूरवा के प्रति लेशमात्र भी प्रेम नही है। बारम्बार प्रार्थना करने पर भी वह उसके साथ जाने को तत्पर नही होती। वह निष्ठुरता से उसे कहती है कि स्त्रियो का प्रेम स्थिर नही होता और उनका हृदय

1 श्री के०सी० रामस्वामी शास्त्री कृत 'कालिदास हिज् पीरियड, पर्सनलिटी एड पोयट्री' पृ० 263 पर उद्धृत

2 देखिए—'दि क्लासिकल ड्रामा ऑव् इडिया' पृ० 60

3 10 95

सालावृकों के समान क्रूर होता है।[1] शतपथ ब्राह्मण की कथा में उर्वशी गन्धर्वों की प्रेयसी कही गई है, वे उसे स्वर्ग वापिस ले जाने के लिए एक कूट योजना क्रियान्वित करते हैं। गन्धर्वों द्वारा उत्पन्न प्रकाश में पुरूरवा के नग्न दिखाई देने पर उर्वशी अपनी पूर्व शर्त के अनुसार सहसा विलीन हो जाती है। बाद में वह कुरुक्षेत्र के सरोवर में अपनी सखियों के साथ जलचर पक्षी के रूप में तैरती बताई गई है। ऋग्वेद की उर्वशी के समान शतपथ की उर्वशी में भी प्रेम-तत्त्व का अभाव है। वह पुरूरवा के बहुत गिडगिडाने पर वर्ष में केवल एक बार मिलने का वादा करती है। मत्स्यपुराण, पद्मपुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा कथा-सरित्सागर में उर्वशी को एक प्रेमिका के रूप में ढालने का प्रयत्न नितान्त स्पष्ट है, पर उर्वशी के इस रूपान्तरण की प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष यदि कहीं देखा जा सकता है तो विक्रमोर्वशीय में। कालिदास ने वैदिक साहित्य की स्वार्थनिष्ठ अहम्मन्या उर्वशी को एक प्रेममयी नारी में रूपान्तरित कर दिया है। महाकाव्यों व पुराणों में अप्सरायें सुरवेश्या मानी गई हैं, जिनका काम इन्द्र की सभा में नृत्य, गायन व अभिनय करना या अपने शारीरिक सौन्दर्य द्वारा ऋषि-मुनियों का तप भंग करना है। कालिदास ने प्राचीन साहित्य और लोककथाओं में स्वीकृत उर्वशी के अप्सरा रूप को अक्षुण्ण रखते हुए भी उसे एक प्रेमिका में परिवर्तित कर अपने असाधारण नाट्य-कौशल का परिचय दिया है। उनके सामने सबसे बडी समस्या एक दिव्य सामान्या स्त्री को, जो प्राचीन साहित्य में एक हृदय-हीन स्त्री के रूप में चित्रित थी, एक अनन्यहृदया प्रणयशीला नारी में रूपान्तरित करने की थी। साथ ही नाटककार के लिए उसके परम्परागत अप्सरा रूप को सुरक्षित रखना भी आवश्यक था। विक्रमोर्वशीय के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि कालिदास उक्त दोनों प्रयोजनों को सफलतापूर्वक सिद्ध कर सके हैं। उसे एक सच्ची प्रेमिका का रूप देने के लिए नाटककार ने प्राचीन कथाओं के उन सब अंशों को छोड दिया है जो उसके इस रूप को विकृत या विपर्यस्त करते थे। यही कारण है कि कालिदास ने शतपथ ब्राह्मण व उसके अनुगामी पुराणों में वर्णित उर्वशी की तीन शर्तों व मित्रावरुण के शाप का उल्लेख नहीं किया है। उर्वशी के हृदय में प्रेम की स्वाभाविक उत्पत्ति व विकास प्रदर्शित करने के लिए कालिदास ने पुरूरवा द्वारा असुर केशी के चंगुल से उर्वशी की रक्षा के प्रसंग की योजना की है। पुरूरवा के प्रति उसका प्रेम कृतज्ञता से प्रेरित है, वह शारीरिक आकर्षण या वासना मात्र पर आधारित नहीं है। चित्ररथ के साथ स्वर्ग जाने के समय वैजयन्तिका के लता में उलझने के बहाने उसका अपने प्रेमी को एक बार फिर से देखने का यत्न हमारे सामने एक मुग्धा प्रेमिका का चित्र अंकित कर देता है। चित्रलेखा के प्रति उसका

---

1 न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता। ऋग्वेद, 10 95 15

यह वचन 'सखि । मदन खलु त्वामाज्ञापयति । शीघ्र मा नय तस्य सुभगस्य वसतिम्'[1] उसके चरित्र की मूल प्रेरणा का परिचायक है। स्वर्ग मे खेले गये लक्ष्मीस्वयवर नाटक के अभिनय मे उसके मुख से 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर 'पुरूरवा' का उच्चारण उसके हृदय की गाढ अनुरक्ति का द्योतक है। उदयवती की ओर निहारने पर पुरूरवा के प्रति उसका कोप उसके दूरारूढ व असहनशील प्रणय की स्वभाविक प्रतिक्रिया है।[2] उर्वशी अपने पुत्र 'आयु' को जन्म मे ही च्यवन-ऋषि के आश्रम मे तापसी के पास भेज देती है और पुरूरवा तक को उसके जन्म की सूचना नही देती। मातृत्व की दृष्टि से चाहे यह असगत हो, पर उसके प्रेमिका के रूप का ध्यान मे रखे तो यह बात उतनी आपत्तिजनक नही लगेगी। उसके इस कार्य मे उसकी पुरूरवा के पास अधिक से अधिक काल तक रहने की अभिलाषा व्यक्त होती है जिससे उसके प्रेमिका-रूप की गौरव-वृद्धि ही हुई है। कालिदास का ध्येय प्रस्तुत नाटक मे उर्वशी के इसी रूप का चित्रण करना है, न कि उसके मातृरूप का। लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि कालिदास ने उसके मातृरूप को कोई महत्त्व नही दिया। पचम अक मे माता-पुत्र का मिलन-दृश्य उर्वशी के मातृ-हृदय की भावगरिमा का पर्याप्त प्रमाण है।[3]

जहा कालिदास ने उर्वशी के चरित्र को लौकिक प्रेमिका की मानवीयता मे अलकृत किया है वहा वे उसके व्यक्तित्व को एक अप्सरा-सुलभ दिव्यता मे मडित करना भी नही भूले है। उसके व्यक्तित्व मे अनेक ऐसी विशेषताए है जो उसके लोकोत्तर दिव्य रूप को उद्भासित करती है। मेनका के शब्दो मे उर्वशी 'तपोविशेष से परिशकित महेन्द्र का सुकुमार प्रहरण, रूपगर्विता श्री का प्रत्यादेश तथा स्वर्ग की अलकार है।[4] उसका सौन्दर्य लोकोत्तर व दिव्य है। पुरूरवा के शब्दो मे 'उसका शरीर आभरण का भी आभरण, प्रसाधन विधि का भी प्रसाधन-विशेष तथा उपमान का भी प्रत्युपमान है।'[5] उसके दिव्य सौन्दर्य-रस का आस्वादन करने के लिए ही पुरूरवा ने मानो चातक-व्रत ग्रहण किया है।[6] उसका सौन्दर्य-रसिक मन कल्पना करता है कि वेदाभ्यास से जडबुद्धि, विषय-विरक्त पुराण मुनि ने भला क्या इस मनोहर रूप की सृष्टि की होगी, उसका स्रष्टा तो चन्द्रमा, कामदेव या वसन्त रहा

---

1 तृतीय अक, पृ० 46
2 सहजन्या–असहना खलु सा। दूरारूढश्चास्या प्रणय । विक्रमो० 4, पृ० 63
3 5 12
4 विक्रमो० 1, पृ० 3
5 वही, 2 3
6 विदूषक –अत खलु भवता दिव्यरसाभिलाषिणा चातकव्रत गृहीतम्। वही 2, पृ० 19

होगा।[1] उर्वशी की जन्मकथा, जिसमे नारायण ऋषि के ऊरु से उसकी उत्पत्ति बतायी गई है, अन्य अप्सराओं से उसके सौन्दर्य का वैशिष्ट्य प्रकट करती है।[2]

अप्सरा होने के नाते उर्वशी अनेक अतिप्राकृतिक शक्तियों से युक्त है। वह आकाश मे स्वच्छन्द उडती है, एक लोक से दूसरे लोक तक मुक्त विचरण करती है तथा तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य रूप मे पुरूरवा के निकट आकर उसका विश्रम्भ वार्तालाप सुनती है। कुमारवन मे लता के रूप मे बदल जाने पर भी वह अपने अन्तःकरण द्वारा पुरूरवा की वियोग-दशा का प्रत्यक्षीकरण करती है।[3] उसके व्यक्तित्व में एक विशेष 'प्रभाव' की भी कल्पना की गई है। विदूषक पुरूरवा से कहता है—"दिव्य स्त्रियो मे आप मानुषीसुलभ सभी धर्मों की सम्भावना न करें। उनके चरित प्रभावनिगूढ होते है।"[4] इसी निगूढता के कारण पुरूरवा यह नही जान पाया कि उर्वशी कब गर्भवती रही और कब उसने पुत्र को जन्म दिया? राजा को प्रणय-पत्र लिखने के लिए वह अपने प्रभाव से भूजपत्र बना लेती है।[5] पुरूरवा कल्पना करता है कि उर्वशी अपने प्रभाव द्वारा मेरे मन के अनुराग को जानकर भी मेरी उपेक्षा कर रही है[6] या कुपित होकर अपने प्रभाव से कही छिप गई है।[7] देवगुरु बृहस्पति से उर्वशी ने अपराजिता नामक शिखाबन्धनी विद्या सीखी है जिसके कारण असुर-भय से मुक्त होकर वह आकाश मे स्वच्छन्द विचरण करती है।[8]

उर्वशी के व्यक्तित्व के दोनो पक्ष-प्रेमिकात्व और अप्सरस्त्व-परस्पर विरोधी नही, प्रत्युत पूरक व पोषक हैं। उसके प्रेम ने उसके अप्सरस्त्व को मानवीय अनुभूतियों से अनुप्राणित कर अधिक आकर्षक और रमणीय बनाया है और उसकी दिव्यता ने उसके प्रेम को अधिक स्पृहणीय, रोमाचक और उन्मादक। जहा ऋग्वेद व शतपथ ब्राह्मण की उर्वशी मात्र एक अप्सरा है वहा कालिदास की उर्वशी एक

---

1 वही 1 8

2 राजा–(प्रकृतिस्थामुर्वशी निवर्ण्य आत्मगतम्) स्थाने खलु नारायणमृषि विलोभयन्त्यस्तदूरुसम्भवामिमा दृष्ट्वा व्रीडिता, सर्वा अप्सरस इति। वही 1 पृ० 7

3 उर्वशी–एद। अन्तःकरणप्रत्यक्षीकृतवृत्तान्ता महाराज। वही 4, पृ० 89

4 विदूषक–मा भवान् मानुषीधर्मं दिव्यासु सम्भावयतु। प्रभावनिगूढानि तासा चरितानि वही 5, पृ० 97

5 तत प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रेण सप्रतिवचना भवितुमिच्छामि। वही, 2 पृ० 27

6 प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वापि माम। वही, 2 11

7 तिरस्तेन कोपवशात् प्रभावविहिता वही, 4 9

8 चित्रलेखा—सखि, विश्वसिहि मद। ननु भगवता देवगुरुणा अपराजिता नाम शिखाबन्धनविद्यामुपदिशता त्रिदशपरिपन्थिनामलङ्घनीये कृत स्व। वही, 2 पृ० 24

सच्ची प्रेमिका भी है। दिव्यता उसके व्यक्तित्व का बाह्य परिच्छद मात्र है, अन्तश्चेतना की दृष्टि से वह एक सच्ची मानवी है।

पुरुरवा पुरूरवा शास्त्रीय दृष्टि से प्रख्यातवंशोत्पन्न धीरोदात्त नायक है। उसके व्यक्तित्व में मानवीय और अतिमानवीय द्विविध तत्त्वों का समिश्रण है। वह इला का पुत्र,[1] सोमवंश में उत्पन्न,[2] तथा सूर्य का दौहित्र व चन्द्रमा का पौत्र[3] कहा गया है। ये उल्लेख उन पौराणिक कथाओं की ओर संकेत करते हैं जिनमें वह चन्द्रमा के पुत्र बुध तथा वैवस्वत मनु की पुत्री इला से उत्पन्न बताया गया है।[4] इस दृष्टि से पुरुरवा एक पुराकथात्मक व्यक्ति है। वह सुरपक्षपाती एवं आकाश में अप्रतिहत गति रखने वाला है।[5] नाटक के प्रारम्भ में वह सूर्यलोक में भगवान् सूर्य का उपस्थान कर अपने रथ से पृथ्वी की ओर आता बताया गया है।[6] प्रथम अंक का सारा घटनाचक्र पहले अन्तरिक्ष में और फिर दिव्य हेमकूट पर्वत पर घटित हुआ है जो पुरुरवा के अतिमानवीय व्यक्तित्व का सूचक है। वह एक वीर योद्धा व साहसी पुरुष है। मेनका के शब्दों में युद्ध उपस्थित होने पर देवराज महेन्द्र उसे सबहुमान पृथ्वीलोक से बुलाकर अपनी विजयिनी सेना का नेतृत्व सौंपते हैं।[7] असुरों के विरुद्ध युद्धों में वह देवों का प्रमुख सहायक है। नाटक के पहले ही दृश्य में उसकी वीरता और ओजस्विता का प्रभावशाली चित्र अंकित किया गया है। असुर केशी के चंगुल से उर्वशी की रक्षा कर वह उसका हृदय जीत लेता है। इस प्रकार नाटककार ने पुरुरवा के अतिमानवीय विक्रम को ही नाटकीय प्रणय-वृत्त के विकास का प्रमुख आधार बनाया है। प्रेम-कथा के सूत्रपात, विकास और परिणति में पुरुरवा के अलौकिक विक्रम की अदृश्य पृष्ठभूमि और प्रेरणा नितांत स्पष्ट हैं। महेन्द्र अपने रणसहायक पुरूरवा के पूर्व उपकारों का स्मरण करके ही भरत द्वारा शापित उर्वशी को उसके पास जाकर रहने की अनुमति देता है। हम देखते हैं कि पुरूरवा का पराक्रम ही अन्ततः उसे इन्द्र से उर्वशी को स्थायी रूप में पाने का अधिकारी बनाता है।

---

1 वही 5 7

2 असरस —सदशमनत्मामवशमभवस्य। वही, 1 प० 3

3 वही 4 38

4 देखिए विष्णुपुराण 4 6 34

5 विक्रमो० 1 प० 2

6 राजा–अलमावर्दितन। सूर्योपस्थानात प्रतिनिवृत्त पुरूरवस मामुपत्य कथ्यता कुतो भवत्य परित्रातव्या इति। वही, 1 पृ० 3

7 मनका–मा ते सगसा भवतु। ननु उपस्थितसप्रहारो महेन्द्र मध्यमलोकात सबहुमानमानाय्य तमेव विजयसेनामुखे नियोजयति। वही, 1 पृ० 4

भरतमुनि ने नाटक के लक्षणों में नायक को 'दिव्याश्रयोपेत' कहा है। इसकी व्याख्या में अभिनवगुप्त ने बताया है कि देवचरित दु:खरहित और प्रयत्न-पक्ष से शून्य होता है, अत: नाटक में देवता नायक नहीं होना चाहिए। हा, नायक के सहायक के रूप में उसका समावेश किया जा सकता है। विक्रमोवशीय में यही बात देखने को मिलती है। इसका नायक पुरूरवा देववशज होने पर भी एक पार्थिव राजा है, अत उसे मानव कोटि का नायक कहना ही उचित है। यद्यपि वह अपने पराक्रम द्वारा उर्वशी के प्रेम का अधिकारी बना है फिर भी यह स्पष्ट है कि महेन्द्र के अनुग्रहपूर्ण *साहाय्य से ही वह उर्वशी को स्थायी रूप से पाने में समर्थ हुआ है। अत शास्त्रीय* दृष्टि से वह एक 'दिव्याश्रयोपेत' नायक है।

नाटकीय वस्तु-विन्यास में पुरूरवा के अतिमानवीय विक्रम को विशेष स्थान देते हुए भी कालिदास ने उसे पृष्ठभूमि में ही रखा है। नाटककार का प्रमुख ध्येय पुरूरवा को एक प्रेमी के रूप में ही अकित करना है। समग्र नाटक में उसका यही पक्ष प्रधान रूप से उभरता है। चतुर्थ अक में पुरूरवा का यह प्रणयी रूप चरम उत्कर्ष पर पहुच गया है। पुरूरवा को अप्सरा उर्वशी का योग्य प्रेमी सिद्ध करने के लिए ही सभवत पुरूरवा के मानव-व्यक्तित्व में एक अलौकिक पक्ष का समावेश किया गया है। ऋग्वेद व शतपथ ब्राह्मण के पुरूरवा में इस अलौकिक पक्ष का अभाव है, अत वह उर्वशी के सामने बड़ा दीन-हीन और निरुपाय प्रतीत होता है। वहा वह उर्वशी का समकक्ष नहीं दिखाई देता। सभवत उर्वशी इसीलिये उसे मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग में मिलने का आश्वासन देती है[1] या गन्धर्वत्व-प्राप्ति के लिये प्रेरित करती है।[2] मत्स्यपुराण पद्मपुराण, कथासरित्सागर आदि में पुरूरवा के व्यक्तित्व को मानवीय धरातल से ऊपर उठाने का प्रयत्न स्पष्टतया परिलक्षित होता है। कालिदास ने पुराणों का अनुसरण करते हुए पुरूरवा के व्यक्तित्व को मानवत्व *और दिव्यत्व की मिलन-भूमि बनाया है। उसकी उत्कट प्रणय-भावना, सौन्दर्य-प्रेम* तथा सहृदयता उसके चरित्र व व्यक्तित्व की मानवीय विभूतिया है। दूसरी ओर उसकी विक्रममहिमा एव अभिजन उसके व्यक्तित्व का दिव्य परिपार्श्व है जो उसे देवताओं का मित्र तथा उर्वशी का प्रणय-पात्र बनाता है। हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार उर्वशी के प्रेम ने उसकी दिव्यता को मानवीय महिमा प्रदान की है उसी प्रकार पुरूरवा की वीरता ने उसकी मानवीयता को दिव्य गरिमा से विभूषित किया है।

---

1 ऋग्वेद 10, 95 18

2 शतपथ 11 5 1

दिव्यता और मानवता का यह द्वैत उर्वशी के समान पुरूरवा के भी व्यक्तित्व का सबसे बड़ा आकर्षण है। पर यह द्वैत परस्पर प्रतियोगी नहीं, अपितु पूरक और उपकारक है। इस प्रकार 'विक्रमोर्वशीय' में एक दिव्य अंगना और पार्थिव मनुष्य का ही मिलन नहीं हुआ है, अपितु उनमें से प्रत्येक के व्यक्तित्व में दिव्य और मर्त्य तत्त्वों का समन्वय हुआ है। पुरूरवा और उर्वशी व्यक्ति ही नहीं, प्रतीक भी हैं। उर्वशी स्वर्ग की अजरता, अमरता, शाश्वत सौन्दर्य और यौवन की प्रतीक है और पुरूरवा उस दिव्य सौन्दर्य और यौवन के रसिक पार्थिव मनुष्य का। पृथ्वी को चिरकाल से स्वर्ग की चाह रही है और स्वर्ग को पृथ्वी की। दोनों एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। हमारी प्रत्येक कल्पना और स्वप्न को एक पार्थिव धरातल की अपेक्षा है और हमारी पार्थिव वास्तविकताएं अपनी क्षुद्र सीमाओं का अतिक्रमण कर किसी रहस्यमय लोक का साक्षात्कार करना चाहती हैं। मर्त्य मनुष्य अपने क्षणभंगुर जीवन में उस दिव्यता का स्पर्श और अधिकाधिक साहचर्य पाना चाहता है जिसे कालिदास ने उर्वशी के प्रति पुरूरवा की उत्कट कामना में व्यक्त किया है।

चित्ररथ नाटक में चित्ररथ का व्यक्तित्व गन्धर्व-सम्बन्धी पौराणिक कल्पनाओं पर आधारित है। वैदिक साहित्य और पौराणिक साहित्य की कथाओं में अप्सराओं के साथ गन्धर्वों का निकट सम्बन्ध माना गया है।[1] सम्भवतः इसी बात को दृष्टि में रखकर यहां नाटककार ने इस पात्र की योजना की है। शतपथ ब्राह्मण में उर्वशी के स्वर्ग लौटने में गन्धर्वों की जो छलपूर्ण भूमिका[2] वर्णित है, सम्भव है कालिदास को उसी से इस पात्र का संकेत मिला हो। यदि ऐसा हो तो भी यह स्पष्ट है कि कालिदास ने गन्धर्वराज को एक सर्वथा भिन्न परिस्थिति में तथा भिन्न उद्देश्य से नाटकीय कथा में स्थान दिया है।

नारद महर्षि नारद पौराणिक साहित्य के एक अतीव रोचक पात्र हैं जिनमें अनेक परस्पर विरोधी तत्त्वों का एकत्र समावेश है। वे एक ऋषि, भक्त, देवों व मनुष्यों के संदेशवाहक, भ्रमण-प्रेमी, कलह-प्रेमी एवं सबकी खोज-खबर रखने वाले दिव्य मुनि के रूप में पुराणों और लोककथाओं में प्रसिद्ध रहे हैं। नाटक के अन्त में इन्द्र के संदेशवाहक व प्रतिनिधि के रूप में वे स्वर्ग से पृथ्वी पर आते हैं। कालिदास

---

1 देखिए—मैक्डानल-कृत 'वैदिक माइथॉलॉजी' पृ० 134–137

2 शतपथ ब्राह्मण के अनुसार गन्धर्वों को उर्वशी का पुरूरवा के पास रहना अच्छा नहीं लगा। अतः उन्होंने उसे वापस स्वर्ग लाने के लिये एक कूट योजना बनाई। उन्होंने रात को चुपचाप आकर उर्वशी के मेमने चुरा लिये जिन्हें वह पुत्र के समान चाहती थी। ज्योंही नग्न पुरूरवा मेमनों को बचाने के लिए उठा, गन्धर्वों ने विद्युत् का प्रकाश उत्पन्न कर दिया। उर्वशी पुरूरवा को नग्न देखकर अपनी पूर्व शर्त के अनुसार तुरन्त उसे छोड़कर स्वर्ग लौट गई।

ने नाट्यशास्त्र के विधानानुसार नाटक को सुखान्त बनाने के लिए दिव्य अनुग्रह और आशीर्वाद की मांगलिक प्रतिमूर्ति के रूप मे उन्हे प्रस्तुत किया है।

बृहत्कथा पर आधारित कथासरित्सागर की उर्वशी-पुरूरवा कथा[1] मे नारद विष्णु के संदेशवाहक के रूप मे इन्द्र के पास जाकर उर्वशी को सौंपने के लिए प्रेरित करते हैं। संभव है कालिदास ने बृहत्कथा के इसी प्रसग से नाटक की प्रणय-कथा मे नारद के समावेश का संकेत ग्रहण किया हो। यदि ऐसा हो तो कालिदास पर लोक-कथा की परम्परा का भी प्रभाव सिद्ध होता है।

चित्रलेखा उर्वशी की अंतरंग सखी चित्रलेखा मे अप्सरा-सुलभ सभी विशेषताए है। वह आकाश मे विचरण करने मे समर्थ है तथा तिरस्करिणी विद्या द्वारा स्वयं को अदृश्य रख सकती है। प्रणिधान मे स्थित होकर वह सुदूर देश और काल की घटनाओं का अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ है। अप्सरा की अति-प्राकृतिक विशेषताओं से युक्त होने पर भी उसका चरित्र मूलत एक मानव चरित्र है। हमें उसमे मालविकाग्निमित्र की बकुलावलिका और शाकुन्तल की प्रियंवदा की झलक देखने को मिलती है। चतुर्थ अंक मे उर्वशी के लता-रूप मे बदल जाने पर चित्रलेखा और सहजन्या दोनो सहचरी के वियोग मे व्याकुल हंसी-युगल के रूपक द्वारा अपनी मनोव्यथा प्रकट करती हैं।[2] कालिदास ने यहा संभवत शतपथ की कथा में उर्वशी व उसकी सखियो के कुरुक्षेत्र के सरोवर मे जलचर पक्षियो के रूप मे तैरने के उल्लेख से इस कल्पना का संकेत ग्रहण किया होगा। संक्षेप मे, चित्रलेखा का व्यक्तित्व उर्वशी के समान ही दिव्य और मानवीय तत्त्वों का समन्वय प्रस्तुत करता है।

अन्य पात्र इनके अतिरिक्त सहजन्या, मेनका, रंभा आदि अप्सराओं को भी नाटककार ने पात्रों के रूप मे अंकित किया है तथा उनमे अप्सरा-सुलभ अतिप्राकृत विशेषताए बतायी हैं।

केशी, महेन्द्र व भरतमुनि का भी नाटकीय वस्तु के उत्थान व विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान है, पर नाटककार ने उन्हे दृश्य कथा मे स्थान नहीं दिया है। नाटकीय कथा में इन पात्रो का महत्त्व पहले बताया जा चुका है।

अतिप्राकृत लोकविश्वास

मानव-जगत् की गतिविधियो मे भवितव्यता, विधि या भाग्य की प्रभावशाली

---

1 3, 3 4–30

2 सहचरीदु खालीढं सरोवर स्निग्धम्।
बाष्पापवल्गितनयन ताम्यति हंसीयुगलम्॥ विक्रमा0 4 2

भूमिका का उल्लेख किया गया है, विशेष रूप से उर्वशी के पुरूरवा पर कुपित होकर कुमारवन मे प्रविष्ट होने और वहा लता के रूप मे परिवर्तित होने के प्रसग मे।[1] इसी प्रकार भावी शुभ के सूचक के रूप मे अहेतुक 'मन निर्वृति' (मानसिक उल्लास) तथा बाहुस्फुरण जैसे निमित्तो का निर्देश किया गया है।[2]

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

हम बता चुके है कि विक्रमोर्वशीय की कथावस्तु आद्यन्त अतिप्राकृत तत्त्वो से पूर्ण है तथा इसके अधिकाश पात्र भी अलौकिक हैं। यही कारण है कि इस नाटक का अगी रस शृगार प्राय सर्वत्र अद्भुत रस से सपुष्ट है। नाटक के प्रारभ मे शृगार की पृष्ठभूमि के रूप मे पुरूरवा की अद्भुत वीरता का ओजस्वी चित्र अकित किया गया है। प्रथम अक मे उवशी का दिव्य सौन्दर्य, आकाश से हेमकूट पर्वत पर चित्ररथ का अवतरण तथा अप्सराओ को लेकर उसका पुन आकाश मे उत्पतन आदि प्रसग विस्मयभाव को व्यजित करते हुए नाटक के प्रधान रस शृगार को परिपुष्ट करते हैं। इसी अक मे पुरूरवा के वायव्यास्त्र का उसके तूणीर में प्रत्यावर्तन उसकी अलौकिक वीरता का व्यजक है। द्वितीय अक मे उर्वशी व चित्रलेखा का आकाशगमन, पुरूरवा के प्रमदवन मे उनकी अदृश्य उपस्थिति, उवशी द्वारा स्वप्रभाव से भूर्जपत्र का निर्माण आदि प्रसग विस्मय भाव के व्यजक हैं। तृतीय अक के विष्कभक मे उर्वशी के शापित होने का प्रसग महेन्द्र के अनुग्रह से प्रेमी-प्रेमिका के मिलन मे पर्यवसित होता है, अत वह शृगार का ही पोषक है, करुण का नही। इसी अक मे उवशी का पुरूरवा के हर्म्य-पृष्ठ पर अवतरण तथा वहा अदृश्य रहकर विदूषक व महारानी औशीनरी के साथ उसके वार्तालाप का श्रवण शृगार की व्यजना मे सहायक है। चतुर्थ अक मे कुमार कार्तिकेय के नियम से उर्वशी का लता-रूप मे परिवतन अद्भुत रस का व्यजक है जो यहा विप्रलभ का अग है। द्वितीय अध्याय मे हम बता चुके हैं[3] कि अभिनवगुप्त के मत मे विक्रमोवशीय के चतुर्थ अक मे विप्रलभ शृगार है, करुण रस नही। यद्यपि कुमार कार्तिकेय के नियम से उवशी का रूप परिवर्तित हो गया है, पर पुरूरवा इस बात से सवथा अनभिज्ञ है। यदि उसे यह ज्ञात होता तो शाप व देवता-नियम आदि के अप्रतिकार्य होने से पुरूरवा को शोक की अनुभूति होती, रति की नहीं। दोनो मे मूल अन्तर यह है कि प्रथम मे इष्ट व्यक्ति या वस्तु का नाश हो

---

1 असहना खलु सा। दूरारूढश्चास्या प्रणय। तदभवितव्यतात्र बलवती। (विक्रमो0 4, पृ0 63) सवथा नास्ति विधेरलघनीय नाम येन तादृशस्यानुरागस्य एष परिणाम सवृत्त (वही, 4, पृ0 63) सवथा मदीयाना भाग्यविपर्ययाणामय प्रभाव (वही 4, पृ0 77)

2 वही, 2 9, 3 9

3 दे0 प्रस्तुत प्रबध, पृ0 82–83

जाने से उसकी पुन प्राप्ति की कोई आशा नहीं रहती और द्वितीय में या तो इष्ट-नाश नहीं होता या होने पर भी उसकी प्राप्ति की आशा रहती है। चतुर्थ अक में ही सगमनीय मणि के रहस्यमय प्रभाव से लताभूत उवशी का मूल रूप में परिवतन अद्भुत रस का व्यजक है। यह परिवर्तन नायक-नायिका के पुर्नमिलन का आधार है, अत यहा भी अद्भुत रस (विस्मयरूप सचारिभाव) सयोग शृगार का अग है। पचम अक में पुरूरवा का अपने पुत्र आयु के साथ विस्मयजनक रूप में मिलन होना है, किन्तु यह मिलन अपने साथ दुख की छाया लेकर उपस्थित होता है। इन्द्र के पूर्व आदेश के अनुसार उर्वशी के लौटने की घडी आ जाती है। किन्तु तभी नारद जी महेन्द्र का सदेश लेकर विद्युत्-सपात के समान आकाश से उतरते है। इस सदेश से नायक व नायिका का स्थायी मिलन होता है। इस प्रकार यहा निर्वहण सधि में अभिव्यक्त अद्भुत रस नाटक के अगी शृगार रस का पोषक बन गया है।

अभिज्ञानशाकुन्तल

विक्रमोर्वशीय के समान यह नाटक भी अनेक अतिप्राकृत तत्त्वो से युक्त है। कथा और चरित्रों के विन्यास में ये तत्त्व विशेष रूप में देखे जा सकते है। विक्रमोर्वशीय के सदृश इसमें भी शाप की लोकप्रिय कथानक-रूढि प्रयुक्त हुई है। दोनो में ही शाप-प्रसग कथावस्तु का महत्त्वपूर्ण अग है। नाटकीय कथा का विकास और परिणति बहुत-कुछ उसी पर आधारित हैं। दोनो में शाप ऋषि या मुनि के द्वारा दिया गया है। दोनो में ही नायिका की भूल जो उसके प्रगाढ प्रेम का परिणाम है शाप का कारण है। किन्तु इस विषय में दोनों के बीच एक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है। जहा विक्रमोर्वशीय में शाप नायक और नायिका के मिलन का हेतु है वहा शाकुन्तल में वह नायक के मन में विस्मृति को जन्म देकर दोनो के बीच वियोग का आधार बनता है। जिस प्रकार विक्रमोर्वशीय में सगमनीय मणि वियुक्त प्रेमियो का पुर्नमिलन कराती है, उसी प्रकार शाकुन्तल में मुद्रिका की प्राप्ति राजा के मन में शकुन्तला की स्मृति जाग्रत कर उनके पुर्नमिलन में सहायक होती है। दोनो ही नाटकों में देवताओं की सहानुभूति और सहायता का प्रेमी-प्रेमिका के स्थायी पुर्नमिलन में योगदान रहा है। दोनो में ही असुरों के विरुद्ध देवो की सहायतार्थ नायक के स्वर्ग जाने की बात कही गई है। देवो और मनुष्यों के बीच परस्पर हितैषिता और सहायता के मधुर सम्बन्ध दोनो नाटको में समान रूप से चित्रित है। पात्रो की दृष्टि में भी दोनो में पर्याप्त साम्य है। उर्वशी स्वय अप्सरा है तो शकुन्तला अप्सरा-पुत्री होने के कारण साधारण मानवियो से उच्चतर है। पुरूरवा के समान दुष्यन्त भी इन्द्र के मित्र और युद्धसहायक हैं तथा असुरो से युद्ध के निमित्त स्वर्ग बुलाये जाते है। इस प्रकार अतिप्राकृतिक तत्त्वों की दृष्टि से दोनो नाटको में पर्याप्त समानता है।

किन्तु समग्र रूप मे देखने पर यह स्पष्ट है कि विक्रमोर्वशीय की तुलना मे शाकुन्तल मे अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग अपेक्षाकृत सीमित एव अधिक विवेकपूर्ण रूप मे हुआ है।[1] इसकी विषय-वस्तु विक्रमोर्वशीय की तुलना मे अधिक लौकिक और मानवीय है। कालिदास मानवीय कार्यकलापो मे भाग्य, नियति और देवताओ के हस्तक्षेप को स्वीकार करते हैं, पर ये दैवी शक्तिया मानव-जगत् मे सीधे हस्तक्षेप नही करती। वे प्राय मानवीय चरित्र व आचरण के माध्यम से ही उसे प्रभावित करती हैं। श्री हेनरी डब्ल्यू वेल्स के अनुसार "शाकुन्तल स्पष्टत धरती और मनुष्य का नाटक अधिक है, विक्रमोर्वशीय स्वर्ग और देवताओ का। शकुन्तला स्वय अधिक से अधिक एक अवर देवता है जो एक अप्सरा और मनुष्य से उत्पन्न हुई है। वह नितान्त मानवी है एव कन्यामुलभ गुणो से युक्त है। तथा दुष्यन्त एक विशुद्ध राजा है। इसके विपरीत पुरूरवा, ऐसा लगता है, अपने जीवन का अधिकतर भाग दिव्य भवनो मे बिताता है और उर्वशी जन्मना एक विशुद्ध अप्सरा है जो नारायण ऋषि की ऊरु मे जनमी है।[2]"

शाकुन्तल की कथावस्तु महाभारत के आदिपर्व[3] मे आए शकुन्तलोपाख्यान पर आधारित है। कालिदास ने मूल कथा के कलेवर का बहुत-कुछ बदल दिया है। कथा के ब्यौरे ही नही, उसका मूल स्वर और प्रतिपाद्य भी उनके हाथो रूपान्तरित हो गया हैं। वीरयुग की एक सीधी, खरी किन्तु अनगढ कहानी को नाटककार ने एक सौन्दर्यमयी कलामूर्ति म ढाल दिया है। उसकी प्रतिभा के चमत्कारपूर्ण सस्पर्श से कथा और चरित्र दोनो नयी आभा मे प्रदीप्त हो उठे है। नाटक के वस्तु विधान म सबसे महत्त्वपूर्ण उद्भावना दुर्वासा-शाप और मुद्रिका का प्रसग है जिसने महाभारत की मूल कथा को सवथा बदल दिया है। इस नूतन कल्पना द्वारा कालिदास ने जहा दुष्यन्त के चरित्र का परिष्कार किया है, वहा मानवीय प्रेम के अनेक नूतन व मार्मिक पक्षो का भी उद्घाटन किया है। पाचवें, छठे और सातवे अको की घटनावली दुर्वासा-शाप और मुद्रिका-प्रसग का ही स्वाभाविक विकास व विस्तार है। कालिदास ने जिस बिन्दु पर ले जाकर नाटकीय कथा का समापन किया है, वह भी अपने आप म

---

1 कीथ का विचार है कि विक्रमोर्वशीय मे 'अतिप्राकृत' का आधिक्य है पर शाकुन्तल म उसका परिमाण सीमित कर दिया गया है। इसम अन्तिम अक, जहा शास्त्र अद्भुत के प्रयोग की न केवल अनुमति देता है अपितु उसकी माग भी करता है, से पूव अतिप्राकृतिक का प्रयोग नगण्य सा हुआ है। उनके मतानुसार मारीच का दिव्य आश्रम भाग्य द्वारा कठोरतापूर्वक वियोजित प्रेमियो के पुनर्मिलन के लिए सवथा उपयुक्त स्थान है। देखिए 'दि सस्कृत ड्रामा, पृ0 159'

2 क्लासिकल ड्रामा ऑव इडिया, पृ0 59–60

3 अध्याय 68–74

अद्वितीय है। कण्व का शकुन्तला के प्रतिकूल दैव के शमनार्थ सोमतीर्थ-गमन, मुनियों के निमन्त्रण पर राजा का यज्ञरक्षार्थ आश्रम में निवास, तीर्थ यात्रा से लौटते ही कण्व द्वारा गर्भवती शकुन्तला की पति-गृह के लिये विदाई, मेनका द्वारा पति-परित्यक्ता शकुन्तला का संरक्षण, हेमकूट पर्वत पर मारीच के आश्रम में शकुन्तला के पुत्र का जन्म, देवों द्वारा असुरों के साथ युद्ध के लिये दुष्यन्त का आह्वान, स्वर्ग से लौटते समय मारीच के आश्रम में दुष्यन्त का पत्नी व पुत्र के साथ पुर्नमिलन इत्यादि अनेकानेक नूतन उद्भावनाओं और परिवर्तनों द्वारा कालिदास ने अपनी प्रकृष्ट नाट्य-प्रतिभा का ज्वलन्त प्रमाण उपस्थित किया है। दूसरे, तीसरे, छठे और सातवें अङ्को की वस्तु कालिदास की मौलिक देन है। शेष अङ्को में भी उसने अपने विशिष्ट नाटकीय प्रयोजनों की दृष्टि से मूल कथा में अनेक हेरफेर किये हैं। चरित्र-चित्रण में भी कालिदास ने नूतन दृष्टि का परिचय दिया है। महाभारत का दुष्यन्त एक कामी और लंपट पुरुष प्रतीत होता है जिसे कालिदास ने एक वीर, उदार, प्रजापालक, धर्मभीरु एवं कोमल-हृदय प्रेमी का व्यक्तित्व प्रदान किया है। महाभारत की शकुन्तला स्वार्थ को प्रेम से भी ऊपर स्थान देने वाली नारी है। उसके चरित्र में तेजस्विता, खरापन और चातुर्य तो है, परन्तु उसमें नारीसुलभ गुणों का अभाव खटकता है। कालिदास ने शकुन्तला को नारीत्व की समस्त विभूतियों से विभूषित कर उसे मौलिक व अप्रतिम चरित्र बनाया है। दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय को कवि ने दैहिक वासना और स्वार्थनिष्ठा के छिछले स्तर से उठाकर मानसिक व आत्मिक सम्मिलन की भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है। साथ ही उसने पात्रों की मनोवृत्ति व आचरण को उनके परिवेश, शील और संस्कार के अनुरूप ढालने का भी प्रशंसनीय कार्य किया है। महाभारत की शकुन्तला का व्यवहार आश्रम में पली ऋषि-कन्या के अनुरूप नहीं है। इसी प्रकार दुष्यन्त का आचरण भी उसके राजत्व की गरिमा से मेल नहीं खाता। कालिदास ने पात्रों की ऐसी चारित्रिक विसंगतियों को दूर कर उन्हें सर्वथा नया रूप दे दिया है। जहां मूल आख्यान में चार ही पात्र थे (शकुन्तला, दुष्यन्त, कण्व और सर्वदमन) वहां कालिदास ने प्रियंवदा, अनसूया, गौतमी, दुर्वासा, मारीच, शाङ्गरव, शारद्वत, विदूषक, मातलि, इन्द्र, हंसपदिका, वसुमती, सानुमती, धीवर, सिपाही आदि अनेकानेक नये पात्रों की यथास्थान सृष्टि की है।

महाभारत के अनुसार शकुन्तला महर्षि विश्वामित्र और अप्सरा मेनका की पुत्री थी। कालिदास ने भी शकुन्तला का अप्सरा-पुत्रीत्व स्वीकार किया है। पर जहां महाभारतकार ने उसके अमानुषी-प्रभव का उल्लेख मात्र किया है, वहां कालिदास ने वस्तु-विधान और शकुन्तला की व्यक्तित्व-परिकल्पना में उसका भरपूर उपयोग भी किया है। महाभारत की शकुन्तला अप्सरा-पुत्री होने पर भी मात्र

मानवी रह गई है, पर कालिदास ने नाटक के उत्तर भाग मे उसके व्यक्तित्व के दिव्य पक्ष और सम्बन्ध का निर्वाह करते हुए प्रणयकथा को दैवी शक्तियों के साथ जोड दिया है।

महाभारत मे बताया गया है कि जब कण्व वन से फल लेकर आश्रम मे लौटे तब उन्होंने दिव्य दृष्टि से यह जान लिया कि शकुन्तला ने उनकी अनुपस्थिति मे दुष्यन्त के साथ गांधर्व विधि से विवाह किया है तथा वह गर्भवती है।[1] शाकुन्तल के अनुसार जब महर्षि कण्व तीर्थ यात्रा से लौटकर आये तब अग्निशाला मे प्रविष्ट होने पर एक अशरीरिणी वाणी ने उन्हे उक्त सूचना दी। इस प्रकार कालिदास ने दिव्य दृष्टि के स्थान पर अशरीरिणी वाणी के अभिप्राय का प्रयोग किया है। ये दोनो ही भारतीय साहित्य के बहुप्रयुक्त अभिप्राय रहे है। निश्चय ही कालिदास ने अशरीरिणी वाक् का अभिप्राय अपने पूर्ववर्ती साहित्य या लोककथाओ से ग्रहण किया होगा।

महाभारत के अनुसार महर्षि कण्व ने दुष्यन्त व शकुन्तला के विवाह का समर्थन कर अपनी पुत्री से कहा कि मैं दुष्यन्त पर प्रसन्न हू, तुम मुझसे अभीष्ट वर मागो। पिता के आग्रह पर शकुन्तला ने दुष्यन्त की धर्मिष्ठता व राज्य से अस्खलन का वरदान मागा।[2] कालिदास ने शाकुन्तल मे इस वरदान का उल्लेख नही किया।

महाभारतकार ने शकुन्तला के पुत्र भरत के सबध मे कुछ अतिप्राकृत तत्वों का उल्लेख किया है—(१) भरत का शकुन्तला के गर्भ मे तीन वर्ष रहने के बाद जन्म हुआ[3] (२) वह बाल्यकाल से ही अमानुष शक्ति से सम्पन्न था। कालिदास ने इनमे से प्रथम का तो उल्लेख नही किया, पर बालक भरत की अतिमानवीय शक्ति का सप्तम अक मे वर्णन किया है।

महाभारत के अनुसार जब दुष्यन्त ने जान-बूझ कर शकुन्तला और भरत के साथ अपने सबध को अस्वीकार किया और वे दोनो लौटने लगे तब एक दिव्य वाणी ने राजा को बताया कि "शकुन्तला ने तुमसे जो कहा वह सत्य है, तुम अपने पुत्र को स्वीकार करो तथा शकुन्तला का भी निरादर न करो। तुमने ही उसमे यह गर्भ स्थापित किया था।"[4] किसी देवदूत की इस आकाशवाणी को सुनकर राजा ने अपने पुरोहित और अमात्य आदि को कहा कि मुझे पहले से पता था कि ये मेरे पुत्र और

---

1 विज्ञायाथ च ता कण्वो दिव्यज्ञानो महातपा।
उवाच भगवान् प्रीत पश्यन् दिव्येन चक्षुषा॥ महा० भा० आ० प०, 73 25

2 आ० प० 73–74

3 वही, 74 1–2

4 वही, 74 109–114

पत्नी हैं, तथापि शकुन्तला के कहने भर से मैं उसे स्वीकार कर लेता तो लोग मुझे शका की दृष्टि से देखते।[1] उसने शकुन्तला से भी कहा कि मैंने लोकपरोक्ष रूप में तुमसे विवाह किया था, अत तुम्हारी शुद्धि के लिए मुझे तुम्हारे प्रति निर्मम होना पडा।[2]

कालिदास ने शाकुन्तल में इस प्रसग को बिल्कुल बदल दिया है। यहा भी राजा के द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान किया गया है, परन्तु जान-बूझकर नहीं, दुर्वासा के शाप से उत्पन्न विस्मृति के कारण। महाभारतकार ने दिव्य वाणी के द्वारा शकुन्तला और दुष्यन्त का राजसभा में ही स्थायी पुनर्मिलन करा दिया है, पर कालिदास ने उनके मिलन में शाप की बाधा उपस्थित कर उन्हें विरह की अश्रुपूर्ण वेदना, अनुताप और ग्लानि का अनुभव कराते हुए वात्सल्य-मण्डित गभीर व प्रशान्त प्रेम की दिव्य भूमि में पहुचाया है जहा वे एक दूसरे को अपने वास्तविक रूप में पाने और अपनाने में समर्थ होते हैं।

कालिदास ने महाभारत के मूल आख्यान में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन या परिवर्धन किये हैं वे पद्मपुराण में भी उसी रूप में मिलते हैं। दुर्वासा का शाप, शचीतीर्थ में अगूठी का खोना, शापज विस्मृति के कारण दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान, मेनका द्वारा शकुन्तला को आकाश में उठाकर ले जाना, अगूठी के धीवर से प्राप्त होने पर राजा की शकुन्तला-विषयक स्मृति का उद्बोध, देवों द्वारा युद्ध के सहायतार्थ दुष्यन्त का निमन्त्रण, दुष्यन्त की स्वर्ग से लौटते हुए हेमकूट पर्वत पर मारीचाश्रम में अद्भुत पराक्रमशाली बालक से भेंट और तदनन्तर शकुन्तला के साथ समागम—ये सब प्रसग पद्मपुराण में शाकुन्तल के समान ही हैं। कथा की समानता के अलावा दोनों में अनेक स्थलों पर भाषा, अभिव्यक्ति एव भावों का भी साम्य है।[3] पद्मपुराण की रचना व सम्पादन का काल कालिदास के बाद का माना गया है।[4] अत पुराणकार ही कालिदास के ऋणी हैं, कालिदास पुराणकार के नहीं। वस्तुत पद्मपुराण के लेखक ने इस आख्यान के निर्माण में महाभारत व शाकुन्तल दोनों से सामग्री ली है।[5] यह भी उल्लेखनीय है कि पद्मपुराण के सभी सस्करणों में

---

1 आ0प0 74 116–118

2 कृतो लोकपरोक्षोऽय सम्बन्धो वै त्वया सह।
तस्मादृतमया देवि त्वच्छुद्ध्यर्थ विचारितम्॥ वही 74 122

3 महाभारत व पद्मपुराण की सबधित कथाओं में लगभग सौ श्लोक शब्दश समान हैं। पद्मपुराण में शकुन्तला व दुष्यन्त की प्रथम भेंट व गाधर्व विवाह तक का वृत्तान्त महाभारत के समान है, किन्तु आगे का अश शाकुन्तल की कथावस्तु का अनुगमन करता है।

4 द0 श्री पी0वी0 काणे हिस्ट्री आव् धर्मशास्त्र, भाग 5, खण्ड 2, पृ0 893 तथा 910

5 द0 श्री वी0वी0 मिराशी व श्री एन0आर0 नवलेकर कालिदास, पृ0 304–306

शकुन्तलोपाख्यान नही मिलता। 'आनदाश्रम ग्रन्थमाला' मे प्रकाशित पद्मपुराण म यह आख्यान नही मिलता। इससे प्रतीत होता है कि पद्मपुराण मे यह आख्यान बहुत बाद मे समाविष्ट किया गया होगा। अत कतिपय विद्वानो का यह मत कि कालिदास ने अपने नाटक की कथा पद्मपुराण मे ली,[1] स्वीकार करने योग्य नही है।

कथावस्तु मे अतिप्राकृत तत्त्व

शास्त्रीय दृष्टि से अभिज्ञानशाकुन्तल एक नाटक है। इसकी वस्तु व नायक दोनो प्रख्यात है। विक्रमोर्वशीय के समान इसमे भी नायक के दिव्य आश्रय की कल्पना की गई है। वस्तु व पात्रो के विधान मे नाटककार ने पौराणिक कल्पनाओ का भरपूर उपयोग किया है। समस्त नाटक पौराणिक विश्वासो से ओतप्रोत है। हम बता चुके है कि कालिदास का युग पौराणिक धम व उसकी आस्थाओ का युग था। अत नाटककार का उनसे प्रभावित होना नितान्त स्वाभाविक था। प्रस्तुत नाटक मे प्रयुक्त अधिकाश अतिप्राकृत तत्त्व तत्कालीन पौराणिक विश्वासो पर ही आधारित है। विक्रमोर्वशीय के समान इस नाटक का घटनाचक्र भी पृथ्वी से स्वर्ग तक फला हुआ है। जमन महाकवि गेटे का कथन सर्वथा समीचीन है कि शाकुन्तल मे पृथ्वी और स्वग दोनो सयुक्त है। इस नाटक की वस्तु और पात्र दोनो के विधान मे दिव्य व मर्त्य का यह मणिकाचन योग देखा जा सकता है।

शकुन्तला का प्रतिकूल दैव ऋषि की भविष्य दृष्टि कालिदास के अनुसार जब दुष्यन्त कण्व के आश्रम मे गया तब वे शकुन्तला के प्रतिकूल दैव के शमन के लिए सोमतीर्थ की यात्रा पर गये हुए थे।[2] महाभारत की कथा के अनुसार कण्व उस समय फल लाने के लिए वन म गए थ।[3] आश्रम म कण्व की अनुपस्थिति के कारण के बारे मे मूल कथा म किया गया यह परिवतन नाटकीय कथा के विकास व चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अतीव महत्त्वपूण है। कण्व की दीघ अनुपस्थिति के कारण ही आश्रम की यज्ञ-क्रियाओ मे राक्षसो का विघ्न होता है, जिसके निवारण के लिए राजा को वहा रहने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। राजा का आश्रम मे निवास शकुन्तला के साथ उसके प्रणय-सबध के विकास व गान्धर्व विवाह मे सहायक होता है। जहा महाभारत मे नायक-नायिका का परिचय, परिणय व सहवास कण्व की

---

1 देखिए डा० विटरनित्स कृत ए हिस्ट्री ऑव इडियन लिट्रेचर भाग 1, खण्ड 2, पृ० 473 तथा पादटिप्पणी स० 5

2 वैखानस —इदानीमेव दुहितर शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्या प्रतिकूल शमयितु सोमतीर्थ गत । अभि० शाकु० 1, पृ० 22
(निणयसागर प्रेस से राघव भट्ट की टीका सहित प्रकाशित, 11 वा सस्करण, बम्बई 1947)

3 आ०प० 71 9

कुछ ही घण्टों की अनुपस्थिति में सम्पन्न हो गये हैं, वहा कालिदास ने महर्षि को लंबे समय के लिए तीर्थयात्रा पर भेजकर उक्त घटनाक्रम को क्रमश स्वाभाविक रीति से विकसित होने का अवसर दिया है। इस परिवर्तन द्वारा कालिदास ने दुष्यन्त व शकुन्तला के चरित्रों को भी आमूलचूल बदल दिया है। जहा महाभारत का दुष्यन्त कण्व के वन मे लौटने से पहले ही अपना वासनावेग शान्त कर तथा भोली आश्रम-कन्या को झूठा आश्वासन देकर राजधानी लौट आता है, वहा नाटक का दुष्यन्त प्रणय-पथ पर क्रमश आगे बढ़ा है, जिससे उसका आचरण लम्पटपुरुष का नही, प्रेमी का आचरण दिखायी देता है। इसी प्रकार नाटक की शकुन्तला भी भावी पुत्र के राज्याधिकार[1] के लिए नही, अपने हृदय की सहज प्रेरणा से राजा की ओर आकृष्ट होकर कन्यासुलभ शील व सकोच की कितनी ही देहरियो को पार कर विवाह व शारीरिक मिलन की परिणति पर पहुचती है। इस प्रकार कण्व को तीर्थ यात्रा पर भेजकर नाटककार ने प्रणय-कथा व उसके प्रमुख पात्रों के आचरण को सर्वथा नये रूप मे ढाल दिया है।

शकुन्तला का प्रतिकूल दैव क्या है यह हम नहीं जानते। सभवत उसके पूर्व जन्मो के कर्मों ने ही उसके प्रतिकूल दैव को जन्म दिया है। त्रिकालज्ञ कण्व ऋषि ने अपनी भविष्य-दृष्टि से शकुन्तला के जीवन के भावी अनर्थ को साक्षात् देख लिया है तथा उसके शमन के लिए वे कष्ट-साध्य तीर्थयात्रा पर निकल गये है। यह विवरण प्रारम्भ मे ही कण्व के व्यक्तित्व का अलौकिक पीठिका पर स्थापित कर देता है।

'प्रतिकूल दैव' के उल्लेख द्वारा कुशल नाटककार ने दुर्वासा के शाप और उसके कारण शकुन्तला के जीवन मे आने वाली भावी विपत्तियो का पूर्वाभास करा दिया है। यहा यह भी स्पष्ट है कि कालिदास 'दैव' या भाग्य की शक्ति को सर्वथा असमाधेय और क्रूर नही मानते। उनके विचार मे प्रतिकूल दैव का शमन किया जा सकता है। सभवत कण्व के प्रयासो से ही शकुन्तला का प्रतिकूल दैव अन्ततोगत्वा शान्त होता है। यह दैव-शक्ति आपातत कठोर और हृदयहीन प्रतीत होने पर भी मूलत मानव-हितैषी और मगलमय है। वह उसके पथ को कटकाकीर्ण बनाती है, पर उसे सर्वथा पददलित नही करती। यहा नाटककार ने शकुन्तला के प्रतिकूल दैव तथा उसके शमनार्थ महर्षि कण्व की तीर्थयात्रा के उल्लेख द्वारा नाटक के भावी दुखद घटनाचक्र तथा उसकी सुखद परिणति का पूर्व सकेत दे दिया है।

---

1 महाभारत मे शकुन्तला ने इसी शर्त पर विवाह करना स्वीकार किया है कि दुष्यन्त उसके पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाएगा। द० आ०प० 73 16–17

विघ्न की बात दुष्यन्त को आश्रम मे पहुचाने का एक व्याज मात्र प्रतीत न हो। साथ ही इस उल्लेख द्वारा दुष्यन्त की अवसन्न मन स्थिति को दिशान्तर भी दिया गया है। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कालिदास ने राक्षस-विघ्न की अतिप्राकृत कल्पना का नाटक की प्रणयकथा के विकास के लिए अतीव निपुणतापूर्ण विनियोग किया है।

दुर्वासा-शाप और अभिज्ञानाभरण दुर्वासा-शाप अभिज्ञान-शाकुन्तल का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रसग है। नाटक का समस्त घटनाचक्र इस प्रसग से प्रभावित है। वस्तुत यह नाटक की प्रणयकथा को एक नयी दिशा मे मोडने वाली घटना है। कालिदास ने शाप और अभिज्ञानाभरण की दो भिन्न और स्वतत्र कथानक-रूढियों को परस्पर सबद्ध कर वस्तु विधान का अपूर्व कौशल प्रकट किया है। यह बताया जा चुका है कि महाभारत मे दुर्वासा-शाप और मुद्रिका का यह प्रसग प्राप्त नही होता। पद्मपुराण मे यह प्रसग इसी रूप मे आया है, पर सभवत उसमे यह नाटक से ही लिया गया है। अत शकुन्तला और दुष्यन्त के प्राचीन आख्यान मे शाप और अगूठी का वृत्तान्त गुम्फित कर इसे सर्वथा नूतनतम रूप और अभिप्राय प्रदान करने का सम्पूर्ण श्रेय कालिदास की सर्जनात्मक प्रतिभा को ही है।

दुर्वासा द्वारा शकुन्तला को शाप दिये जाने की घटना चतुर्थ अक के विष्कम्भक मे आयी है। शकुन्तला की सखिया अनसूया और प्रियवदा उटज के पास बगीचे में पुष्पचयन के लिए फूल तोड रही है। उनकी बातचीत से पता चलता है कि शकुन्तला और दुष्यन्त का गान्धर्व विवाह हो चुका है तथा ऋषियो का यज्ञ समाप्त होने पर राजा आश्रम से विदा होकर उसी दिन अपनी राजधानी लौटा है। शकुन्तला उटज के पास बैठी हुई उसी के ध्यान मे तल्लीन है। तभी नेपथ्य स किसी अतिथि का स्वर सुनाई देता है—अयमह भो। प्रियतम की मधुर स्मृतियों मे खोई शकुन्तला इन शब्दो को नही सुन पाती। इस पर क्रुद्ध अतिथि का शाप गूज उठता है—"अरी अतिथि का परिभव करने वाली। तू अनन्य हृदय से जिसके चिन्तन मे सुध-बुध खोकर अतिथि का अपमान कर रही है, वह याद दिलाने पर भी तुम्हे उसी तरह भूल जायेगा, जैसे कोई पागल व्यक्ति अपनी पहले कही बातो को याद नहीं कर सकता।"[1]

---

1 (नेपथ्ये) आ अतिथिपरिभाविनि।
विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधन वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वा न स बोधितोऽपि सन्
कथा प्रमत्त प्रथम कृतामिव ॥ वही, ४ १

शकुन्तला ने यह कठोरशाप वचन नहीं सुना पर उसकी सखियां इसे सुनकर स्तब्ध रह गई। उन्होंने देखा कि क्रोध की साक्षात् मूर्ति दुर्वासा ऋषि शाप देकर जल्दी-जल्दी लौटे जा रहे हैं। प्रियंवदा दौड़कर ऋषि के पास गई और शाप-वचन वापस लेने के लिए उन्हें बहुत मनाया। प्रियंवदा के बहुत अनुनय करने पर उन्होंने शाप में बस इतनी-सी ढील दी—"मेरे वचन अन्यथा नहीं हो सकते, पर अभिज्ञाना-भरण दिखाने पर शाप समाप्त हो जायेगा।" यह कह कर ऋषि अन्तर्धान हो गए।[1] सखियों को याद आया कि दुष्यन्त जाते समय शकुन्तला को अपनी अंगूठी दे गये हैं। उसे दिखाने से वह शापमुक्त हो जायेगी। इस प्रकार मन की चिन्ता को किसी तरह दबाकर वे उटज में आईं। उन्होंने देखा कि शकुन्तला पूर्ववत् प्रियतम की चिन्ता में लीन है। उस समय उसे दुर्वासा के आने और शाप देने का तो क्या, अपने आप का भी भान न था। दोनों सखियों ने निश्चय किया कि शाप का यह वृत्तान्त केवल उन्हीं तक सीमित रहेगा।[2]

शाप भारतीय साहित्य की एक अतीव लोकप्रिय कथानक-रूढ़ि रहा है। रामायण, महाभारत, पुराण व लोककथाओं में इस कथानक-रूढ़ि का व्यापक प्रयोग मिलता है। शाप एक प्रकार का व्यक्तिगत दण्ड-विधान है। शाप देने वाले में सत्य, न्याय, धर्म, तपस्या या योग की विशेष शक्ति मानी जाती है जिसके प्रभाव से वह दोषी व्यक्ति को तत्काल दण्ड देने में समर्थ होता है। निश्चय ही कालिदास ने शाप की कथानक-रूढ़ि अपने पूर्ववर्ती साहित्य व लोककथाओं में ली है, पर शाकुन्तल के कथानक में उसके विनियोग की पद्धति व उद्देश्य उनके अपने हैं। कालिदास की अन्य कृतियों में भी इस कथानक-रूढ़ि का प्रयोग हुआ है। मेघदूत का यक्ष 'स्वाधिकारप्रमत्त' होने के कारण वर्षभोग्य विरह-शाप का भागी बनता है।[3] रघुवंश का दिलीप ऋतुस्नाता पत्नी से मिलने की उतावली में कामधेनु के प्रति अवज्ञा दिखाने के कारण अनपत्यता के शाप का पात्र बनता है।[4] अज-पत्नी इन्दुमती जो पूर्वजन्म में अप्सरा थी, किसी ऋषि का तप भंग करने के अपराध में शापवशात् मर्त्यलोक में जन्म लेती है।[5] राजा दशरथ को श्रवणकुमार के पिता द्वारा पुत्र-शोक

---

1 प्रियंवदा—गतो मे वचनमयथाभवितुं नार्हति। किन्त्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यत इति मन्त्रयन् स्वयमन्तर्हितः। वही, 4 पृ० 120

2. अनसूया—प्रियंवदे! द्वयोरेव ननु नौ मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु। रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी। वही, 4 पृ० 121

3 पूर्वमेघ, 1

4 रघुवंश, 1 75–77

5 वही, 8 80–82.

में मरने का शाप दिया गया है।[1] हम देखते हैं कि उक्त सभी प्रसगो में शाप किसी नैतिक त्रुटि या अपराध के लिए दड के रूप में दिया गया है तथा उसकी निवृत्ति की कोई अवधि निश्चित कर दी गई है या उसका उपाय बता दिया गया है। हम यह भी देखते हैं कि उक्त सभी प्रसगो में शाप आपातत दुखद व दारुण होते हुए भी परिणाम की दृष्टि से मगलमय सिद्ध होता है।

अभिज्ञान शाकुन्तल के शाप-प्रसग के विषय में निम्नलिखित बातें ध्यातव्य हैं—(१) शाप के कारण दुष्यन्त शकुन्तला को तथा उसके साथ अपने प्रेम व विवाह के समस्त वृत्तान्त को पूरी तरह भूल जाता है। (२) दुर्वासा ने शाप के साथ उसकी निवृत्ति का उपाय भी बता दिया है जिससे प्रेमी-प्रेमिका के भावी पुनर्मिलन का गूढ सकेत मिलता है। (३) शकुन्तला व दुष्यन्त दोनो ही शाप की बात से अपरिचित हैं। इसकी सर्वप्रथम अवगति उन्हें सप्तम अक में मारीच से होती है। (४) केवल शकुन्तला की सखियाँ–अनसूया व प्रियवदा–शाप-वृत्तान्त से परिचित हैं। किन्तु वे शकुन्तला या किसी अन्य व्यक्ति को इसके बारे में कुछ नहीं बताती। यहा तक कि तीर्थयात्रा से लौटे कण्व को भी वे इसकी सूचना नहीं देती। केवल शकुन्तला के प्रस्थान के समय वे एक चलते ढग से उसे इतना-सा कहती है कि यदि राजा तुम्हें पहचानने में विलब करे तो उसे उसकी अगूठी दिखा देना।[2] उनके इस कथन से शकुन्तला पल भर के लिए काप जाती है, पर उसे क्या पता था कि दुष्यन्त सचमुच ही उसे नहीं पहचानेगा और ऐसे अवसर पर अगूठी भी उसके भाग्य के साथ खिलवाड करेगी।

मुद्रिका या अभिज्ञानाभरण की कल्पना के लिए कालिदास सभवत रामायण के ऋणी हैं। रामायण के अनुसार राम ने हनुमान को स्वनामाकित अगूठी देकर लका भेजा था जिसमें सीता उन्हें पति के दूत के रूप में पहचान सकें।[3] सीता भी प्रत्यभिज्ञान के लिए अपना चूडामणि हनुमान के द्वारा राम के पास भेजती है।[4] इससे स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य में प्रत्यभिज्ञान के रूप में आभूषण की कथानक-रूढि बहुत पहले से चली आ रही थी। कालिदास ने इसी परम्परागत कथानक-रूढि को यहा नूतन रूप में प्रयुक्त किया है। विक्रमोर्वशीय में सगमनीय मणि व माल-

---

1 रघुवश 9 79

2 सख्यौ—सखि ! यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत् ततस्तस्यै
इदमात्मनामधेयाङ्कितमगुलीयक दर्शय। अभि० शाकु० 5, पृ० 146

3 किष्किन्धाकाड, 44,12–13

4 सुन्दरकाण्ड, 39 1–2

विकाग्निमित्र में रानी धारिणी की नागमुद्रांकित अंगूठी में भी प्रत्यभिज्ञान का तत्त्व देखा जा सकता है।[1]

वाल्टर रूबेन के मतानुसार अभिज्ञानशाकुन्तल का आधार वह प्रसिद्ध लोक-कथा है जिसमें अपने घर से बहुत दूर भटका हुआ कोई व्यक्ति किसी सुन्दरी कन्या से प्रेम करता है तथा उसे अपनी अंगूठी देकर शीघ्र घर लौट आता है। अंगूठी देने का उद्देश्य यह है कि वह सुन्दरी उस व्यक्ति को अपनी तथा अपने भावी शिशु की पहचान करा सके।[2]

बौद्धों के कट्ठहारि जातक की कथा अभिज्ञानशाकुन्तल के कथानक से कुछ बातों में साम्य रखती है तथा उसमें अभिज्ञान के रूप में अंगूठी का प्रयोग भी मिलता है। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि कालिदास ने अपने नाटक में मुद्रिका-सम्बन्धी वृत्त की प्रेरणा उक्त जातक से ली होगी। किन्तु विचार करने पर यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। शाकुन्तल में मुद्रिका-प्रसंग कथावस्तु का अभिन्न अंग है, पर जातक में ऐसा नहीं है। शाकुन्तल में बताया गया है कि जब दुष्यन्त आश्रम से विदा होने लगा तो शकुन्तला ने पूछा कि अब मुझे आपका समाचार कितने समय बाद मिलेगा। इस पर राजा ने अपनी स्वनामांकित अंगूठी शकुन्तला की अंगुली में पहनाते हुए कहा कि मेरे नाम के एक-एक अक्षर को प्रतिदिन पढ़ते हुए जब तुम अन्तिम अक्षर पर पहुंच जाओगी तब तक मेरे अन्तःपुर में तुम्हें लिवाने वाला व्यक्ति यहां आ पहुंचेगा।[3] इससे स्पष्ट है कि शाकुन्तल में अंगूठी सूचक प्रत्यभिज्ञान के लिए नहीं, अपितु प्रणय-चिह्न के रूप में तथा शकुन्तला को अन्तःपुर में लिवाने की अवधि सूचित करने के लिए उसे दी गई है। उसका प्रत्यभिज्ञानत्व तो दुर्वासा के शाप का परिणाम है। दुर्वासा ने अपने शाप में छूट देते हुए यह कहा था कि जब शकुन्तला अभिज्ञानाभरण दिखायेगी तो शाप निवृत्त हो जाएगा। शकुन्तला के पास दुष्यन्त का एकमात्र अभिज्ञानाभरण अंगूठी ही थी, अत दुर्वासा के कथनानुसार उसी के दर्शन से शाप की निवृत्ति होकर दुष्यन्त के मन में शकुन्तला की स्मृति जागती है। इस प्रकार मूलतः अभिज्ञान न होते हुए भी दुष्यन्त

1 हम बता चुके हैं कि भास ने अविमारक में अद्भुत अंगूठी के अभिप्राय का प्रयोग किया है, पर अदृश्यता के साधन के रूप में ही अभिज्ञान के रूप में नहीं। अतः भास की इस कल्पना का कालिदास पर प्रभाव सिद्ध नहीं होता।

2 कालिदास : दि ह्यूमन मीनिंग आव् हिज वर्क्स पृ० 50

3 राजा—पश्चादिमां मुद्रिकां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम्।

तावत्प्रिये ! मदवरोधगृहप्रवेशं नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥

अभि०

की अगूठी नाटक मे अभिज्ञान बन गई है। किन्तु कट्ठहारी जातक मे राजा ब्रह्मदत्त द्वारा प्रदत्त अगूठी अभिज्ञान के रूप मे दी जाने पर भी वन्य सुन्दरी के प्रत्यभिज्ञान का प्रयोजन पूरा नही करती। अत जातक की कथा को नाटक के मुद्रिकावृत्त का मूलस्रोत मानना उचित प्रतीत नही होता। तथापि इसमे सन्देह नही कि मुद्रिका-रूप अभिज्ञान का अभिप्राय भारतीय साहित्य मे प्राचीन काल से ही लोकप्रिय था। कालिदास ने नाटक मे इसी परम्परागत अभिप्राय को अपने विशिष्ट कलात्मक उद्देश्यो के लिए सवथा नए रूप मे गुम्फित किया है। मुद्रिका के दर्शन मे शाप निवृत्ति की बात सभवत कालिदास की मौलिक कल्पना है। मुद्रिका के मत्स्य के पेट मे पहुचने और वहा से पुन प्राप्त होने की बात कालिदास की अपनी सूझ है या उन्होंने किसी अन्य स्रोत से यह कल्पना ग्रहण की, इस बारे मे निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन है। यह कहा गया है कि यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (ई० पू० पचम शती) ने पोलीक्रीटस नामक किसी राजा के बारे मे यह बताया है कि उसने अपने भाग्य की परीक्षा के लिए अपनी एक रत्नजडित अगूठी समुद्र मे फेंक दी थी। सयोग की बात कि कुछ दिन बाद उसकी रसोई मे लाये गये एक मत्स्य के पेट मे से वह अगूठी प्राप्त हो गई।[1] कुछ विद्वानो का मत है कि कालिदास ने मत्स्य के उदर से अगूठी के मिलने की बात इसी यूनानी कथा से ली होगी। किन्तु कालिदास को यह कथा विदित थी या नही और थी तो किस स्रोत से यह उनके पास पहुची, इस बारे मे हम निश्चय के साथ कुछ भी कहने की स्थिति मे नही है। हम तो इतना ही कह सकते हैं कि नाटककार ने चाहे किसी भी स्रोत से यह कल्पना ली हो, उन्होंने नाटक मे इसका अतीव कलात्मक विनियोग किया है।

जैसा कि कहा जा चुका है दुर्वासा-शाप अभिज्ञान शाकुन्तल की वस्तु-योजना का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रसग है। तृतीय अक के आगे की सारी कथावस्तु इस प्रसग म प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुडी हुई है। पचम से सप्तम अक तक का नाटकीय काय व्यापार समग्रतया इसी पर आधारित है। चतुर्थ अक के विदाई-प्रसग को शाप की पृष्ठभूमि ने अत्यधिक करुण व हृदयस्पर्शी बना दिया है। प्रथम अक मे शकुन्तला के प्रतिकूल दैव का उल्लेख इसी शाप-प्रसग का पूर्व सकेत प्रतीत होता है। इस प्रकार दुर्वासा के शाप की घटना लगभग पूरे ही नाटक पर छाई हुई है।

इस शाप-प्रसग द्वारा कवि ने महाभारत की प्रेमकथा को एक नया स्वरूप और दिशा प्रदान की है। इसके अभाव मे नाटकीय कथा महाभारत की कथा के समान एक सीधी और सपाट कथा रह जाती। उसमे जीवन की विषमताओ व भाग्य के आघातो से जूझने वाले मनुष्य का चरित्र अकित नही होता। कालिदास ने इस

1 दे० श्री मिराशी व श्री नवलेकर द्वारा रचित 'कालिदास' पृ० 297

नाटक मे मानवीय प्रणय की जिन सम-विषम व सरल-वक्र सरणियो का चित्रण किया है वह बहुत-कुछ शाप की घटना पर निर्भर है।

शाप की योजना का एक उद्देश्य दुष्यन्त के चरित्र को नैतिक दृष्टि से निर्दोष बनाना है। महाभारत के दुष्यन्त का आचरण नैतिक कसौटी पर खरा नही उतरता। वह जानबूझ कर परिणीता पत्नी का प्रत्याख्यान करता है। इस आचरण की दृष्टि से वह एक लम्पट व अनुत्तरदायी व्यक्ति प्रतीत होता है। कालिदास ने शाप की कल्पना द्वारा दुष्यन्त को इस गम्भीर चरित्र-भ्रंश से बचा लिया है। महाभारत के दुष्यन्त के समान वह भी शकुन्तला का प्रत्याख्यान करता है, पर जान-बूझ कर नही। नाटक मे उसका यह आचरण शाप का परिणाम है, न कि ऐच्छिक कृत्य। नाटक मे शापजन्य विस्मृति के कारण शकुन्तला को वह परस्त्री के रूप मे ही देखता है तथा उसी दृष्टि से धर्म व मर्यादा के अनुसार उसके साथ व्यवहार करता है। 'अनार्य परदारव्यवहार' 'अनिर्वचनीय परकलत्रम्' आदि कथन उसकी शाप-ग्रस्त मन स्थिति के परिचायक हैं। इस प्रकार कालिदास ने शाप की योजना द्वारा दुष्यन्त को पत्नी का प्रत्याख्यान करने पर भी उसके नैतिक दायित्व से मुक्त रखा है तथा उसे एक प्रजापालक, मर्यादावादी व धार्मिक राजा का आदर्श व्यक्तित्व प्रदान किया है।

यह भी द्रष्टव्य है कि कालिदास ने शाप को नितान्त यान्त्रिक नही बनाया है। शाप के कारण राजा शकुन्तला को भूल गया है, पर उसके हृदय का प्रेम-स्रोत सूखा नही है, वह केवल कुछ समय के लिए तिरोहित हो गया है। इस तिरोहित दशा मे भी वह बीच-बीच मे अपनी झलक दिखाये बिना नहीं रहता। रानी हसपदिका की उपालभपूर्ण करुण रागिनी[1] सुनकर दुष्यन्त का हृदय इष्टजन का विरह न होने पर भी किसी अज्ञात प्रेम-वेदना से कराह उठता है।[2] शकुन्तला के अवगुण्ठन-युक्त मुख को देखकर एक क्षण उसका मन सशय-ग्रस्त हो जाता है। वह निश्चय नही कर पाता कि शकुन्तला के साथ उसका विवाह हुआ था या नही।[3] इसी प्रकार शकुन्तला की अकृत्रिम क्रोधमुद्रा देखकर उसका हृदय पुन सशय मे पड जाता है।[4] पचम अक के अत मे शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के हृदय की प्रेमवेदना विस्मृति के कठोर आवरण को भी चीरकर उसे अपने अस्तित्व का विश्वास दिलाती है—

---

1 अभि० शाकु० 5 1

2 राजा—(आत्मगतम्) किं नु खलु गीतार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि। अथवा रम्याणि वीक्ष्य ... भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि। वही 5 2, पृ० 152

3 वही, 5 19

4 राजा—(आत्मगतम्) मदिग्धबुद्धि मा कुर्वन्नकैतव इवास्या कोपो लक्ष्यते।

वही, 5 पृ० 175

वाम प्रत्यादिष्टा स्मरामि न परिग्रह मुनेस्तनयाम् ।
बलवत्तु दूयमान प्रत्याययतीव मे हृदयम् ।। अभि० शाकु० ५ ३१

यहाँ कालिदास ने दुष्यन्त के हृदय के दबे-बिसरे प्रेम की झलक दिखाकर हमें सूचित किया है कि चाहे शाप ने उसकी स्मृति को आच्छादित कर दिया हो, पर शकुन्तला के प्रति उसके प्रेम में कोई कमी नहीं हुई है। उसके अन्तरतम में विस्मृति के घने आवरणों के नीचे वही प्रेम का अथाह समुद्र हिलोरे मार रहा है। शाप-निवृत्ति के पश्चात् इसी प्रेम के आधार पर दोनों प्रेमियों का पुनर्मिलन होता है।

चतुर्थ अंक में हम देखते हैं कि शकुन्तला समस्त आश्रमवासियों की स्नेहपूर्ण विदाई, मंगलकामनाओं और आशीर्वादों में अभिषिक्त होकर अपने पति के घर जा रही है। उसका मन आशाओं, उमंगों और भविष्य के सपनों से भरा है। किन्तु तभी अनभ्र वज्रपात होता है। जिस शाप का उसे पता भी नहीं है, अदृश्य रूप में उसका दारुण परिपाक आरम्भ हो चुका है। स्वीकार करना तो दूर, राजा उसे पहचानने में भी मना कर देता है। पिता कण्व के आशीवचन, सखियों की मंगलकामनाएं, तपोवन-देवताओं के आशीर्वाद एवं आश्रमवासियों के स्वस्तिवचन सब व्यर्थ हो जाते हैं। कराल दुर्दैव का एक ही अदृश्य प्रहार शकुन्तला के सुख-सपनों को सहसा ध्वस्त कर डालता है। उसकी दूराधिरोहिणी आशाएं[1] धूलिसात् हो जाती हैं। प्रतिकूल दैव शाप के रूप में प्रकट होकर उसका सब कुछ छीन लेता है, वह कहीं की भी नहीं रहती। न पति उसे अपनाता है और न पिता कण्व का आश्रम ही उसे वापस आश्रय देने को उद्यत है। निराधार और निराश्रय होकर वह करुण स्वर में पुकार उठती है—'भगवति वसुधे ! देहि मे विवरम् ।' मानव के इस आकस्मिक भाग्य-विपर्यय की दारुण व्यथा को कालिदास शाप की कल्पना द्वारा ही अंकित करने में समर्थ हुए हैं।

पंचम अंक में राजा दुष्यन्त और आश्रमवासियों के संघर्ष का दृश्य शाप की कल्पना के कारण ही अतीव नाटकीय व प्रभावशाली बन सका है। नाटककार ने बड़ी कुशलता से दोनों ही पक्षों के प्रति पाठक की सहानुभूति को जाग्रत रखा है। हम दोनों में से किसी भी पक्ष को दोषी नहीं ठहरा सकते। दोनों के ही तर, अपनी-अपनी दृष्टि से, बिलकुल सही हैं। दुष्यन्त की स्मृति शाप के कारण आच्छादित है, अतः वह शकुन्तला को परायी स्त्री मानते हुए उसके साथ निर्मम व्यवहार करता है। दूसरी ओर राजा के व्यवहार को छलपूर्ण समझकर आश्रम-वासियों ने उसे जो कटुवचन कहे हैं, वे भी अनुचित नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार नाटककार ने दोनों

---

1 शकुन्तला—(अपवार्य) आर्यस्य परिणय एव सन्देहः । कुत इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा ।
वही, 5 पृ० 170

पक्षों के बीच बड़े ही कोमल सन्तुलन का निर्वाह किया है। प्रेक्षक जानता है कि शकुन्तला, गौतमी, शाङ्र्गरव व शारद्वत को दुर्वासा के शाप का पता नहीं है। उधर राजा भी शाप के विषय में अनभिज्ञ है। अतः दोनों ही पक्ष स्वयं को सही समझते हुए तथा एक-दूसरे को वंचक मानते हुए तीक्ष्ण व अपमानकारी वचन कहने में संकोच नहीं करते। यह स्पष्ट है कि इस उत्कृष्ट नाटकीय दृश्य की योजना शाप के अतिप्राकृत प्रभाव की कल्पना पर ही आधारित है।

कालिदास उस प्रेम को मानव के लिए कल्याणकारी नहीं मानते जो मात्र इन्द्रियाकर्षण और कामवासना से अपना जीवन ग्रहण करता है। साथ ही जो प्रेम व्यक्ति को समष्टि के प्रति कर्त्तव्यों से विमुख बनाकर अपना एक ऐकान्तिक संसार बसाने का यत्न करता है उसे भी कालिदास शुभ नहीं मानते। ऐसे प्रेम पर दुर्वासा के शाप के रूप में निष्ठुर प्रहार कर नाटककार ने उसके परिष्कार और उन्नयन का मार्ग प्रशस्त किया है।

प्रथम तीन अंकों में दुष्यन्त व शकुन्तला के आचरण पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि उनका प्रेम स्वस्थ व सुदृढ़ नींव पर आधारित नहीं है। दुष्यन्त महर्षि कण्व के प्रति भक्ति निवेदित करने के लिए आश्रम में प्रविष्ट होता है,[1] पर लता-वृक्षों को सींचती हुई नवयुवती कन्याओं को देखकर उसका भक्तिभाव न जाने कहाँ विलीन हो जाता है? उसे इन वनलताओं में उद्यानलताओं से भी अधिक सौन्दर्य दिखाई देता है।[2] वह लता-कुंज के पीछे छिपकर उनके शरीर-सौष्ठव को निरखने और अस्फुट हास-परिहासों को सुनने में तनिक भी संकोच का अनुभव नहीं करता। शकुन्तला व उसकी सखियों को अपना झूठा परिचय देते हुए भी उसे किसी नैतिक बाधा का अनुभव नहीं होता। यहाँ तक कि शकुन्तला को आश्रम के कार्यों में नियुक्त करने के लिए वह महर्षि कण्व को 'असाधुदर्शी' तक कह देता है।[3] किन्तु उसका सबसे बड़ा नैतिक अपराध कण्व की अनुपस्थिति में शकुन्तला के साथ गुप्त परिणय करना है। उसने न कण्व के लौटने की प्रतीक्षा की और न गौतमी या अन्य किसी आश्रमवासी से अनुमति मांगी। कण्व जैसे महान् तपस्वी की इससे अधिक अवज्ञा और क्या हो सकती थी? शकुन्तला की परवशता[4] को जानते हुए भी उसने

---

1 राजा—भवतु। तामेव द्रक्ष्यामि। सा खलु विदितभक्तिं मां महर्षेः करिष्यति।
अभि०शाकु० 1 पृ० 23

2 वही 1,15

3 राजा—(आत्मगतम्) कथमियं सा कण्वदुहिता। असाधुदर्शी खलु तत्रभवान्काश्यपः य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते। वही 1 पृ० 27

4 शकुन्तला—पौरव! रक्ष विनयम्। मदनसंतप्तापि न खल्वात्मनः प्रभवामि।
वही 3 पृ० 103

उसे पत्नी रूप मे अविलम्ब प्राप्त करने का आग्रह नही छोडा । उसने उसे समझा-बुझाकर गान्धर्व विवाह के लिए सहमत कर ही लिया । इस प्रकार कण्व के पवित्र तपोवन को उसने अपनी कामवासना द्वारा दूषित किया । दूसरी ओर शकुन्तला का आचरण भी आश्रम-जीवन की मर्यादाओ के अनुरूप नही कहा जा सकता । दुष्यन्त को देखने के क्षण मे ही वह तपोवन-विरोधी विकार से ग्रस्त हो गई ।[1] निश्चय ही नवयौवन अवस्था, राजा के प्रभावशाली व्यक्तित्व का जादू तथा उसकी शिराओ म प्रवाहित अप्सरा मेनका व तपोभ्रष्ट विश्वामित्र का रक्त आश्रम मे सिखाये गये शील और सयम के पाठो से अधिक प्रबल सिद्ध हुए । शकुन्तला से सबसे बडी भूल यह हुई कि पिता कण्व उसे जो दायित्व सौप गये थे उसका निर्वाह करने मे वह असफल सिद्ध हुई । महर्षि उसे अतिथि-सत्कार के लिए नियुक्त करके गये थे ।[2] हम देखते हैं कि एक अतिथि का तो उसने इतना सत्कार किया कि उसे अपना सर्वस्व ही दे डाला, पर दूसरे अतिथि के उपस्थित होने का भी उसे पता न चला । वह अपने प्रेम व पति की चिन्ता मे इतनी बेसुध हो गई कि उसे आश्रम-जीवन के पावन कर्त्तव्य विस्मृत हो गये । इस प्रकार दुष्यन्त व शकुन्तला दोनो ही तपोवन की पवित्र मर्यादाओ को भग करने के दोषी है । उनका प्रेम शारीरिक उद्रेको पर आधारित है । वह वस्तुत काम है, प्रेम नही । ऐन्द्रिय लालसा और मासल सुख ही उसके सवस्व हैं, उसमे आवेग और अधीरता है, आत्मिक शान्ति और स्निग्धता नही । कालिदास की दृष्टि मे ऐसा प्रेम मानव-जीवन के उद्देश्यो को पूर्ण नही कर सकता । इसीलिए कवि ने उसे शापित कर दोनो प्रेमियो को अपनी अन्त प्रकृति के परिष्कार व पवित्र प्रेम की साधना के लिए अवसर दिया है । हम देखते हैं कि शाप द्वारा वियुक्त होकर दुष्यन्त व शकुन्तला एक दूसरे के लिए आसू बहाते हुए दीर्घकाल तक मौन कष्ट सहते हैं । दुख व पश्चात्ताप की अविरल अश्रुधारा उनके प्रेम के दूषित अश को प्रक्षालित कर उन्हे आत्मिक प्रणय की उदात्त पीठिका पर प्रतिष्ठित कर देती है । सप्तम अक के दुष्यन्त व शकुन्तला प्रथम तीन अको के दुष्यन्त व शकुन्तला से भिन्न हैं । दुख ने उनके स्वभाव व दृष्टिकोण को कितना बदल दिया है ? भाग्य के दारुण आघातो ने उनको कितना धीर, गभीर, परिपक्व और अन्तर्मुखी बना दिया है ? अब दैहिक आकर्षणों का उनके लिए कोई महत्त्व नही है । उनका प्रेम वासना की पामुलता से मुक्त होकर आत्मिक पवित्रता की दिव्यभूमि पर पहुच गया है । मारीच के तपोवन मे दुष्यन्त व

---

1 शकुन्तला—(आत्मगतम्) किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि सवृत्ता । वही, 1 पृ० 38

2 वैखानस —इदानीमेव दुहितर शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्या प्रतिकूल शमयितु सोमतीर्थ गत । वही, 1 पृ० 22

शकुन्तला का पुर्नमिलन प्रेम की इसी मंगलमयी परिणति का प्रतीक है। इस प्रेम में सत्य, शिव और सौन्दर्य तीनों समन्वित है। ऐसा तप पूत पवित्र प्रेम ही मानव के कल्याणमय जीवन का सुदृढ़ आधार बन सकता है, यही कालिदास का सन्देश है। रवीन्द्रनाथ के अनुसार "इस नाटक में कालिदास ने उद्दाम वासना की ज्वालाओं को पश्चात्तापशील हृदय के आंसुओं से निर्वापित किया है।" उनके विचार में "यौवन के एक तीव्र व आकस्मिक आवेग ने शकुन्तला को दुष्यन्त के हाथों में सौंप दिया पर यह उसकी वास्तविक व पूर्ण प्राप्ति नहीं थी। उसे अनुराग व तपस्या के मार्ग से ही प्राप्त किया जा सकता था। कालिदास ने इसीलिए दोनों प्रेमियों से दीर्घ व कठिन तपस्या करायी है जिससे वे एक दूसरे को सच्चे रूप में तथा सदा के लिए पा सकें।"[1]

इस प्रकार दुर्वासा का शाप बाह्यतः निष्ठुर होते हुए भी एक प्रच्छन्न वरदान है। भला ऋषि-हृदय से निकला शाप अशुभ परिणाम वाला कैसे हो सकता है? श्री उमाशंकर जोशी के शब्दों में—"दुर्वासा के शाप से दुष्यन्त व शकुन्तला के लिए आत्मशोधन की एक विकट प्रक्रिया आरंभ होती है और मारीच ऋषि के आश्रम में दोनों का मिलन होता है तब यह प्रक्रिया पूरी होती है। इस प्रकार दोनों को आत्म-शुद्धि के मार्ग पर ले जाने वाला शाप निष्ठुर वेश में छिपा हुआ आशीर्वाद ही है।"[2]

श्री द्विजेन्द्रलाल राय ने प्रस्तुत नाटक में दुर्वासा शाप व मुद्रिका-सम्बन्धी वृत्त की योजना के औचित्य पर सदेह प्रकट किया है तथा उसे कालिदास की नाट्यकला की शक्ति न मानकर अक्षमता का परिचायक कहा है।[3] उनका मत है कि कालिदास ने दुष्यन्त के चरित्र को दोष-मुक्त करने के लिए ही शाप की कल्पना की है। उनके विचार में इस कल्पना में कुछ भी सौन्दर्य नहीं है। शाप द्वारा स्मृति का लोप एक अघटनीय बात है। ऐसी अस्वाभाविक कल्पना के लिए नाटक में स्थान नहीं हो सकता। उनका यह भी कहना है कि दुर्वासा के अतिथि रूप में आने की घटना का नाटक की प्रणय-कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। "यदि उपाख्यान भाग के किसी भी अंश के साथ कुछ भी सम्बन्ध रखकर दुर्वासा के आगमन की कल्पना होती तो उसमें नाटककार की निपुणता प्रकट होती। दुर्वासा का आना उपाख्यान भाग के बिल्कुल बाहर की बात है।"[4] श्री राय के विचार में शकुन्तला शाप की उचित पात्र न थी। "अगर दुर्वासा शकुन्तला की मानसिक अवस्था को जानते होते तो उसे शाप

---

1 श्री देवधर द्वारा संपादित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की प्रस्तावना में उद्धृत, पृ० 24

2 श्री और सौरभ, पृ० 101

3 दे० कालिदास और भवभूति, पृ० 148–154

4 वही, पृ० 150–151

के बदले आशीर्वाद देकर चले जाना ही उनका कर्तव्य था।[1] इस कल्पना द्वारा कालिदास ने दुष्यन्त को अवश्य कुछ बचा लिया है लेकिन दुर्वासा की हत्या कर डाली है।"[2] इसी प्रकार अभिज्ञान द्वारा शाप की निवृत्ति को श्री राय "लड़कपन की पराकाष्ठा मानते हैं।"[3] उनके अनुसार इन कल्पनाओं द्वारा कालिदास ने नाटक की समस्त गतिविधि के सूत्र मानो दुर्वासा के हाथो मे सौप दिये है।[4]

ग्रोल्डेनबर्ग ने शाकुन्तल की तीव्र आलोचना करते हुए यह मत प्रकट किया है कि इसमे शाप और अन्ध दैवयोग (Blind Chance) ही समस्त नाटकीय व्यापार का विधाता है तथा मनुष्य उनके हाथ का खिलौना मात्र बन गया है।[5]

श्री राय व ग्रोल्डेनबर्ग के उक्त आक्षेप स्पष्टत पूर्वग्रहो पर आधारित है। उन्होंने कालिदास के नाटक को आधुनिक मान्यताओं व मानदण्डो की कसौटी पर परखने का यत्न किया है जो उचित नही है। किसी भी कृति को हम उसके ऐतिहासिक व सास्कृतिक सदर्भ से पृथक कर उसका सही मूल्याकन नही कर सकते। सच तो यह है कि प्रत्येक कृति के साथ धर्म, दर्शन, लोकविश्वास व साहित्य की एक विशेष पृष्ठभूमि होती है जिसे जाने बिना उसके सौन्दर्य का रसास्वादन नही किया जा सकता। पश्चिमी विद्वानो को इसीलिए भारत के प्राचीन साहित्य की अन्तश्चेतना को समझने मे कठिनाई का अनुभव होता है। वे उस पर या तो पश्चिमी साहित्य के *प्रतिमानों को लागू करते हैं या भारतीय साहित्य की सास्कृतिक पृष्ठभूमि के प्रति* निष्ठा न होने से उसमे दोष ही दोष देखने लगते हैं। यही हाल उन भारतीय विद्वानो का है जो पश्चिमी साहित्य के सस्कारो या पाश्चात्य सस्कृतज्ञो के चश्मे से इस साहित्य का अध्ययन करते है। इस पृष्ठभूमि मे शाकुन्तल के विषय मे प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् विटरनित्स का यह वक्तव्य पठनीय है—

'पश्चिम के लोग जैसा समझते है उस अर्थ मे कालिदास के काव्य मे नाटक का सर्वथा अभाव है। जो व्यक्ति यूनानी त्रासदी के मानदड मे विचारपूर्वक रचित इस कल्पनात्मक नाटक की गभीरता को चाहने की इच्छा करेगा वह इसके अतुलनीय सौन्दर्य को तनिक भी हृदयगम करने मे समर्थ नही हो सकता। इस विस्मयजनक काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का पूरी तरह जानने और उसका आस्वादन करने के लिए *यह नितान्त आवश्यक है कि इसका अध्येता स्वय को क्षणभर के लिए भारतीय*

1 द० कालिदास और भवभूति पृ० 151
2 वही, पृ० 153
3 वही
4 वही पृ० 154
5 द० एम० विटरनित्सकृत 'हिस्ट्री आव इण्डियन लिट्रेचर' भाग 3, खड 1, पृ० 241

अन्तरात्मा में निमज्जित करदे, उन सब बातों में विश्वास करे जिनमें भारतीय करते हैं, तथा शाप की प्रभविष्णुता देवों व मनुष्यों के आध्यात्मिक समागम व तपोवन में खोने और पुन पाने के चमत्कारों में निष्ठावान् हो।"[1]

ओल्डेनबर्ग की आलोचना का खंडन करते हुए विटरनित्स ने कहा है कि भारतीय धारणा के अनुसार सम्मान्य महर्षि के प्रति अपराध एक गंभीर पाप है तथा उसका दिया शाप निश्चित और अमोघ माना जाता है। इसी प्रकार अंगूठी के खोने व पुन प्राप्त होने की बात भी 'अन्ध दैवयोग' नहीं है, अपितु जैसा कि भारतीय लोग समझते हैं, दैवी योजना व मानवीय आचरण (पुत्र जन्म का) द्वारा निर्धारित 'नियति' है।[2]

माना कि दुर्वासा का प्रतिशिल्प में आगमन नाटक की मुख्य कथा का अविभाज्य अंग नहीं है—वह एक संयोग मात्र है—तथापि संयोग या दैवयोग को हम मानव-जीवन से सर्वथा बहिष्कृत नहीं कर सकते। हमारा अनुभव प्रमाण है कि आकस्मिक व असंबद्ध घटनाएं भी कभी-कभी जीवन की दिशा और गति को पूरी तरह बदल देती है। इसी प्रकार शाप द्वारा स्मृति का लोप तथा अंगूठी के दर्शन से उसका पुन उद्बोध जैसी कल्पनाएं चाहे आधुनिक दृष्टि से अविश्वसनीय व असंगत लगे, पर कालिदास के युग में लोग निश्चय ही उनमें विश्वास करते होंगे। कम से कम पौराणिक कथाओं में ऐसी घटनाओं की योजना को वे स्वाभाविक मानते होंगे। हम बता चुके हैं कि कालिदास का युग पौराणिक धर्म की आस्थाओं से अनुप्राणित था, इन्हीं आस्थाओं के आधार पर उन्होंने शाप तथा दुष्यन्त की स्वर्गयात्रा जैसी अतिप्राकृत कल्पनाओं को नाटक में ग्रहण किया होगा। ये कल्पनाएं आज हमें असत्य प्रतीत होती है, पर कालिदास के समय में वे एक जीवित धर्म व लोकवार्ताओं की अंग थीं। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो ये कल्पनाएं आज भी निरर्थक नहीं कही जा सकती। इन कल्पनाओं के आवरण के भीतर नाटककार ने मानव-जीवन के मार्मिक भाव-सत्यों को विन्यस्त किया है। इस विषय में हनरी डब्ल्यू वेल्स का यह कथन द्रष्टव्य है—"विस्मृति का शाप जो शकुन्तला की क्षणिक आत्मलीनता का परिणाम है तथा जो दुष्यन्त को भी दारुण दुःख का अनुभव कराता है, एक शुद्ध लोकवार्ता है। वह तार्किक चिन्तन तथा अनुभव की विषयनिष्ठ दृष्टि का विरोधी है। यह नाटक एक स्वप्न है—पर एक अपरिमेय मूल्य का स्वप्न जो भावात्मक जीवन की गम्भीर मीमांसा द्वारा मन को पवित्र करने के लिए निर्मित किया गया है।"[3]

---

1 वही भाग 3, खंड 1, पृ0 241
2 वही, पृ0 241
3 दे0 श्री वेल्स द्वारा संपादित 'सिक्स संस्कृत प्लेज' पृ0 197–198

यह सत्य है कि शाकुन्तल में नाटकीय व्यापार की प्रगति व विकास में प्रेम-कथा से बाहर की शक्तियों का बहुत बड़ा हाथ है। इन शक्तियों में प्रतिकूल दैव, प्राक्तन कर्म, शाप, ऋषियों व देवों का अनुग्रह आदि को गिन सकते हैं। ये शक्तियाँ ही मानव की पथ-प्रदर्शक व सूत्रधार दिखायी देती हैं, इनके समक्ष वह नितान्त शक्तिहीन व असहाय प्रतीत होता है। 'चरित्र ही नियति है' यह विचारधारा आधुनिक युग की देन है प्राचीन काल में तो यही माना जाता था कि मनुष्य का जीवन कर्म, भाग्य या दैवी शक्तियों द्वारा अधिशासित है। कालिदास के काव्यों में भी प्राचीन काल की यह विचारधारा प्रकट हुई है, पर यह उल्लेखनीय है कि भारतीय परम्परा में दैवी शक्ति स्वेच्छाचारी, अनैतिक व अविवेकी नहीं मानी गई। वह सदैव धर्म और नीति का ही पक्ष लेती है। स्थूल दृष्टि से देखने पर वह निर्दय और कठोर प्रतीत हो सकती है, पर परिणाम की दृष्टि से वह सदैव मंगलमय ही होती है। दुर्वासा के शाप के विषय में भी यह बात कही जा सकती है।

यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि कालिदास ने शाप को सदैव बाह्य शक्तियों द्वारा निर्धारित 'नियति' के रूप में नहीं लिया है, अपितु अपने पात्रों के चरित्र व आचरण में भी उसका आधार बनाया है। शकुन्तला अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा व अतिशय आसक्ति के कारण शाप की भागी बनी। दुष्यन्त ने भी अपने अनुचित आचरण के द्वारा आश्रम की मर्यादा का अतिक्रमण किया, इसीलिए शकुन्तला के शाप का प्रभाव उस पर भी पड़ा। अतः शाप के लिए एकान्ततः दुर्वासा को या शकुन्तला के प्रतिकूल दैव को दोष नहीं दिया जा सकता, वे स्वयं भी उसके लिए उतने ही उत्तरदायी हैं। इस दृष्टि से देखने पर शाप नाटक की प्रणय-कथा में बाहर से किया गया हस्तक्षेप नहीं लगता अपितु प्रेमियों की आचरणगत त्रुटियों का ही एक दुःखद परिणाम कहा जा सकता है।

दुष्यन्त शाप के कारण शकुन्तला को सर्वथा भूल गया, इस विस्मृति का आधार, कालिदास के अनुसार, दुष्यन्त के स्वभाव में भी विद्यमान था। पंचम अंक के आरम्भ में हंसपदिका ने राजा को उसकी भ्रमरवृत्ति के लिए मार्मिक उपालम्भ दिया है। इस प्रकार शाप को आचरण व स्वभाव से सम्बद्ध कर कालिदास ने उसे अधिक विश्वसनीय और सत्यनिष्ठ बना दिया है। इस दृष्टि से नाटक में उत्पन्न विस्मृति कोई रहस्यमय तत्त्व नहीं रह जाती, वह मानव के स्वभावगत दोष की ही एक अतिरंजित पौराणिक कल्पना बन जाती है।

अशरीरिणी वाणी महर्षि कण्व जिस दिन तीर्थयात्रा से लौटकर आये उसी दिन अग्निशरण में प्रविष्ट होने पर एक शरीररहित छन्दोमयी वाणी[1] ने उन्हें यह सूचना दी—

---

1 अनसूया—अद्य किल सुविहितमाननकारणरम्य वृत्तान्तं।
प्रियंवदा—अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या। अभि० शाकु० 4 पृ० 126

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।
अवेहि तनयां ब्रह्मन् अग्निगर्भां शमीमिव ।। अभि०शाकु० ४ ३

'शरीर विना' द्वारा नाटककार ने उक्त वाणी की दिव्यता का निर्देश किया है । महर्षि को जो वाणी सुनाई दी वह किसी शरीरधारी के मुख से निसृत नहीं हुई थी वरन् किसी अदृश्य दैवी शक्ति द्वारा उच्चारित थी । इसी दृष्टि से वह अशरीरिणी कही गयी है । किन्तु कवि ने हमे यह नहीं बताया कि वह दैवी शक्ति कौन थी तथा उसने किस उद्देश्य से महर्षि को सबोधित किया ? सभवत अग्निशरण में महर्षि द्वारा आराधित अग्नि देव ने ही उन्हें यह सूचना दी होगी । इससे यह सकेत भी मिलता है कि महर्षि कण्व की तप शक्ति इतनी बढ-चढी हुई थी कि भूत, भविष्य व वर्तमान की कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रह सकती था । प्रथम अक मे यह बताया गया है कि महर्षि ने शकुन्तला के प्रतिकूल दैव को पहले ही जान लिया था तथा उसके शमन के लिए वे सोमतीर्थ की यात्रा पर गये थे । उनकी अनुपस्थिति मे शकुन्तला के जीवन म जो परिवर्तन हुए उनकी जानकारी ऋषि को होनी ही चाहिए । किन्तु उन्हे यह जानकारी कौन दे ? स्वय शकुन्तला और उसकी सखियो के अतिरिक्त आश्रम मे किसी को भी उसके गान्धर्व-विवाह का पता नहीं है ? किन्तु इन तीनों मे से कोई उन्हे सूचना दे, इसकी तो आशा ही नहीं की जा सकती ? ऐसी स्थिति मे दो ही विकल्प रह जाते हैं । या तो ऋषि अपने दिव्य ज्ञान से विगत वृत्तान्त को जानें या किसी देवता आदि के द्वारा उन्हें सूचना दी जाए । जैसा कि कहा जा चुका है, महाभारतकार ने इस प्रसग मे 'दिव्यज्ञान' का सहारा लिया है और कालिदास ने 'अशरीरिणी वाणी' का । सभवत अशरीरिणी वाणी की यह कल्पना कवि ने महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से ही ली है ।[1] तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि महाभारतकार की तुलना मे कालिदास ने इसके प्रयोग मे अधिक निपुणता का परिचय दिया है । अग्निहोत्रशाला जैसे पवित्र स्थान मे कण्व जैसे तप पूत ऋषि को अशरीरिणी वाणी का सुनाई देना तनिक भी अस्वाभाविक नहीं लगता । यह घटना महर्षि कण्व की आध्यात्मिक सिद्धियों का भी सकेत देती है ।

कथावस्तु के विकास की दृष्टि से अशरीरिणी वाणी द्वारा कण्व को दी गयी सूचना अतीव महत्वपूर्ण है । चतुर्थ अक मे शकुन्तला का पतिगृह के लिए प्रस्थान इसी सूचना का सीधा परिणाम है । अशरीरिणी वाणी ने शकुन्तला की गर्भावस्था की जिन शब्दो मे सूचना दी है उनसे दुष्यन्त व शकुन्तला के विवाह का अनुमोदन भी

---

1 एतावदुक्त्वा राजान प्रातिष्ठत शकुन्तला ।
अथान्तरिक्षाद् दुष्यन्त वागुवाचाशरीरिणी ॥   म०भा० 74 109

रम्यान्तर कमलिनीहरितै सरोभि-
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखताप ।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्या
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्था ॥ अभि० शाकु० ४ १०

इस प्रकार कण्व के तपोवन में मानव और प्रकृति एक ही विराट् जीवन-धारा के अविभाज्य अंग बन गये हैं। उनके पृथक् अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्रकृति और मानव के आत्मैक्य का विश्वसाहित्य में शायद ही किसी अन्य कवि ने इतना मार्मिक साक्षात्कार किया हो।

कालिदास ने शकुन्तला को प्रकृति-कन्या के रूप में चित्रित किया है। उसका व्यक्तित्व व जीवन तपोवन की विराट् प्रकृति का ही अंग है। वृक्षों और लताओं के प्रति उसके हृदय में सोदर-स्नेह है।[1] केसरवृक्ष चंचल पल्लवांगुलियों से उसे अपनी ओर आने का संकेत करता है।[2] वनज्योत्स्ना उसकी स्निग्ध भगिनी है। आश्रम से चलते समय वह उसे गले लगा कर उससे विदा लेती है।[3] उसका पुत्रकृतक मृग उसका वस्त्राचल पकड़ कर अपना मूक स्नेह प्रकट करता है।[4] गर्भमन्थरा उटजपर्यन्तचारिणी मृगी के सुख-प्रसव के लिए शकुन्तला की चिन्ता कितनी मर्मस्पर्शी है।[5] वह वृक्षों को जल पिलाये बिना स्वयं नहीं पीती, मंडन-रसिक होने पर भी स्नेहवशात् उनके पल्लव नहीं तोड़ती, उनके प्रथम पुष्पोद्भवकाल में वह हर्ष से नाच उठती है।[6] शकुन्तला के इस स्नेह का प्रकृति ने भी पूरा प्रतिदान किया है। उसकी विदाई की वेला में मृगियां अर्धचर्वित दर्भ-कवल उगल देती हैं, मयूर अपना नृत्य भूल जाते हैं और लताएं पाण्डुपत्र गिराकर मानो अश्रुमोचन करती हैं।[7] आश्रम के प्राकृतिक जीवन के साथ यह हृदय-संवाद केवल शकुन्तला की ही विशेषता नहीं है, अपितु वहां का प्रत्येक प्राणी मानव व प्रकृति की इस विराट् अद्वैत जीवनलीला में समान रूप से सम्मिलित है। कण्व की दृष्टि में शकुन्तला व नवमालिका दोनों में कोई अन्तर नहीं है। उन्होंने पहले दोनों के ही योग्यवरण के लिए संकल्प किया था। प्रथम ने आत्मसदृश दुष्यन्त का स्वयं वरण कर लिया तो दूसरी (नवमालिका) ने भी

1 वही 2, पृ० 27
2 वही, 1 पृ० 30
3 वही, 4 पृ० 137–138
4 वही, 4 13
5 वही, 4 पृ० 139
6 वही, 4 5
7 वही, 4 11

आम्रवृक्ष का आश्रय ग्रहण किया है। अब कण्व दोनों के ही विषय में समान रूप से वीतचिन्त हैं।[1]

कालिदास ने वनदेवताओं द्वारा शकुन्तला को वस्त्र, आभूषण आदि का उपहार दिलाकर उसके प्रकृतिकन्यात्व को पूर्ण परिणति पर पहुंचा दिया है। इस कल्पना में कालिदास के प्रकृति-दर्शन की बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। श्री उमाशंकर जोशी के शब्दों में—"पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणी-सृष्टि, यहां तक कि वनस्पति भी, मनुष्य के जीवन में कैसे गुंथ गयी है, प्रकृति के विरुद्ध जाने वाला मानव नहीं, किन्तु प्रकृति के साथ एकराग होकर जीने वाला मानव परस्पर स्नेह से छलकता कैसा धन्य जीवन जीता है, इसका कवि ने इस चौथे अंक में प्रत्यक्ष दर्शन कराया है।"[2]

पतिगृह के लिए प्रस्थित शकुन्तला पर पिता कण्व मातृ-सदृश गौतमी स्नेहमयी सखियां प्रियंवदा और अनसूया एवं जड़ व मूक समझे जाने वाले वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी आदि आश्रम के सभी चराचर निवासी अपने हृदय का स्नेह उंडेल देते हैं। वनदेवताओं के उपहार इसी विराट् स्नेहवर्षण और करुणा-प्रवाह के अंग हैं। शकुन्तला को यहां जितना स्नेह मिला है उतना ही दारुण आघात उसे आगे लगने वाला है। दुर्वासा का शाप इस स्नेहसिक्त प्रेममयी नारी के मनोरथों पर वज्राघात करने के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है। जिस अनुपात में उस पर स्नेह और आशीर्वादों की वृष्टि की जा रही है उसी अनुपात में आगे स्थिति विपर्यय व स्वप्न-भंग की दारुण यातना उसे भोगनी है। पंचम अंक में शकुन्तला के प्रत्याख्यान को अधिकाधिक कारुणिक बनाने के लिए चतुर्थ अंक में उसे चतुरस्र स्नेह और आशीर्वचनों का भाजन बनाया गया है।

प्रियंवदा ने ठीक ही कहा है कि वनदेवताओं की अभ्युपपत्ति शकुन्तला को पतिगृह में प्राप्त होने वाली राजलक्ष्मी की सूचक है।[3] यद्यपि सम्प्रति शकुन्तला के भाग्याकाश पर शाप की भयावह काली घटा मंडरा रही है, पर उसके स्निग्ध परिजनों की शुभकामनाएं व आशीषें व्यर्थ होने वाली नहीं हैं। उनकी शक्ति से शकुन्तला के सुख-सौभाग्य का प्रतिबन्धक दुर्दैव एक दिन अवश्य निराकृत हो सकेगा। देवता स्वयं जिस पर अनुग्रहशील हैं, उसका कल्याण कब तक बाधित रह सकता है? वनदेवताओं

---

1 वही, 4.12

2 श्री और सौरभ, पृ० 115

3 प्रियंवदा (शकुन्तला विलोक्य)—

हला, अनयाभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीरिति।

अभि० शाकु० 4, पृ० 131

की अन्युपपत्ति हमें विश्वास दिलाती है कि दुर्वासा के शाप के कारण शकुन्तला को चाहे जितना भी कष्ट भोगना पड़े, अन्ततोगत्वा उसे अपने पति के घर में सुख व समृद्धि की प्राप्ति अवश्य होगी ।

स्त्री-संस्थान ज्योति पंचम अंक में शकुन्तला के प्रत्याख्यान के बाद एक आश्चर्यजनक घटना हुई । राजपुरोहित सोमरात शकुन्तला को आश्रय देने के लिए अपने घर ले जा रहा था और वह अपने भाग्य को कोसती हुई बाहु उठाकर करुण क्रन्दन कर रही थी । तभी मार्ग में अप्सरस्तीर्थ के पास स्त्री के आकार की एक ज्योति उसे उठाकर ले गई ।[1] यह घटना नाटक की दृश्य-कथा में नहीं आई, अपितु पुरोहित द्वारा दुष्यन्त को इसकी सूचना मात्र दी गयी है । इस अद्भुत घटना को सुनकर राजा इतना ही कहता है—"हम इस विषय का पहले ही निराकरण कर चुके हैं, अब (इस विषय में) वृथा तर्क करने से क्या मिलेगा ?" इस प्रकार वह बाहर से तो उदासीनता दिखाता है, पर उसका हृदय भीतर ही भीतर कुलबुलाता हुआ मानो उसे शकुन्तला के साथ सम्बन्ध का विश्वास दिलाता है ।[2] शकुन्तला को सहसा उठाकर ले जाने वाली यह ज्योति कौन थी वह उसे किस प्रयोजन से और कहाँ ले गई इस बारे में नाटककार ने प्रस्तुत प्रसंग में हमें कुछ नहीं बताया । छठे अंक में सानुमती[3] व दुष्यन्त[4] के कथनों से प्रेक्षकों को यह आभास मिलता है कि शकुन्तला को ले जाने वाली स्त्रीसंस्थान ज्योति संभवतः उसकी माँ मेनका या उसकी सहचारिणी कोई अन्य अप्सरा रही होगी । किन्तु इस रहस्य का पूर्ण उद्घाटन नाटककार ने अंतिम अंक में दुष्यन्त व शकुन्तला के पुनर्मिलन के पश्चात् महर्षि मारीच के मुख से कराया है ।[5] अतः इस विषय में प्रेक्षक के मन में नाटक के अन्त तक औत्सुक्य व कौतूहल का भाव बना रहता है ।

---

1 पुरोहित —स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारात्
उत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ॥ वही 5 30

2 वही 5 31

3 सानुमती—सा खलु कस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि ।
मेनकासम्बन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला । तया च
दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वास्मि वही 6 पृ0 189

4 राजा—कः पश्चिमतामन्य परामृष्टुमुत्सहते ? मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति
श्रुतवानस्मि । तत्सहचारिणीभिः सखी ते हृतेति मे हृदयमाशङ्कते ।
वही 6 पृ0 202

5 मारीच —प्रसवकालेऽप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका
दाक्षायणीमुपगता वही, 7 पृ0 260

उक्त अद्भुत प्रसग मे 'स्त्रीसस्थान ज्योति' द्वारा नाटककार ने अप्सरा के ज्योतिर्मय व्यक्तित्व की ओर सकेत किया है। मेनका का शरीर इतना अधिक ज्योति-सवलित था कि पुरोहित को उसका सामान्य स्त्री-आकार ही दिखाई दिया, विशिष्ट मुखाकृति नही। इससे स्पष्ट है कि नाटककार के मेनका के वास्तविक परिचय को छिपाने के लिए ही उसे 'स्त्रीसस्थान ज्योति' के रूप मे उपस्थित किया है। इस युक्ति से कौतूहल व आश्चय की भावना को पराकाष्ठा पर पहुचाया गया है। यदि मेनका पहचान ली गयी होती तो इस भावना को ऐसा उत्थान नही मिलता।

महाभारत म मेनका का शकुन्तला की जननी के रूप म उल्लेख मिलता है, पर वहा दुष्यन्त व शकुन्तला की प्रेमकथा मे उसे कोई भूमिका नही दी गयी है। कालिदास ने पुत्री को जनमते ही त्याग देने वाली इस निष्ठुर अप्सरा मे अपनी मानववादी दृष्टि के अनुसार मातृ-हृदय की प्रतिष्ठापना का सुन्दर प्रयास किया है। यद्यपि मेनका नाटक की दृश्य कथा मे अवतीर्ण नही होती, पर उसे जो अप्रत्यक्ष भूमिका दी गयी है, वह वस्तु-विकास का दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व रखती है। सभी ओर से निरस्कृत व लाछित शकुन्तला को वह अपने स्नेहमय सरक्षण मे लेकर हेमकूट पर स्थित महर्षि मारीच के आश्रम मे पहुचा देती है जहा कठोर विरह-साधना के रूप मे उसके जीवन का एक नया अध्याय आरभ होता है। इस प्रसग के साथ नाटक की लौकिक प्रणयकथा अतिमानवीय शक्तियो के साथ सम्बद्ध हो जाती है। शकुन्तला मारीच के जिस आश्रम मे पहुचाई गई है वह दिव्य-भूमि है। नाटककार ने इसी दिव्य-भूमि म बिछुडे हुये प्रेमियों का सप्तम अक मे पुर्नमिलन कराया है। इस पुर्नमिलन की पृष्ठभूमि के रूप मे दुष्यन्त असुरो से युद्ध करने के लिए स्वर्ग बुलाये जाते हैं और वहा म लौटते समय देवताओ की योजना के अनुसार मार्ग म इसी स्थान पर दोनो प्रेमियो का पुर्नमिलन होता है। नाटकीय कथा की दिव्य लोक म यह परिणति वासनात्मक पार्थिव प्रेम के पवित्र आत्मिक प्रेम के रूप म उन्नयन और विकास की सूचक है। प्रेम की इस आध्यात्मिक परिणति का आरभ, जहा तक शकुन्तला का सम्बन्ध है, उसके मारीच आश्रम की दिव्य-भूमि म पहुचने के साथ होता है। अत स्त्री-सस्थान ज्योति के द्वारा शकुन्तला का पार्थिव लोक से दिव्य लोक मे ले जाये जाने की घटना नाटक की पार्थिव प्रेमकथा के गुणात्मक परिवर्तन व उत्क्रान्ति की द्योतक है।

यह घटना एक अन्य दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। पचम अक मे नाटकीय सघर्ष के चरम स्थिति पर पहुचने तथा शकुन्तला का निर्ममतापूर्वक प्रत्याख्यान किये जाने से उत्पन्न नाटक के तनावपूर्ण वातावरण तथा प्रेक्षक की विक्षुब्ध मन स्थिति को इस घटना द्वारा आश्चर्यपूर्ण विश्रान्ति प्रदान की गई है। यह घटना नाटक के प्रेक्षक

को एक सुखद विस्मय से भरकर शकुन्तला के भाग्य व भवितव्य के प्रति आश्वस्त बना देती है। श्री उमाशंकर जोशी के मत में "जहां मनुष्यों की न्यायतुला पूरी तरह कार्यक्षम नहीं हुई वहां अतिमानव शक्ति न्यायतुला को अपने हाथ में ले लेती है और पांचवें अंक की यातना के अंत में हमें थोड़ी राहत मिलती है।"[1]

श्री वाल्टर रूबेन का विचार है कि "यहां कालिदास ने राजा के पुत्र की वास्तविकता को सिद्ध करने वाले अशरीरिणी वाणी के प्राचीन चमत्कार[2] के स्थान पर शकुन्तला के अकस्मात् उठाकर ले जाये जाने के नये चमत्कार का प्रयोग किया है। इस प्रकार की अद्भुत घटना कुछ असंगत-सी लगती है, हम यह ज्यादा पसन्द करते कि नाटकीय व्यापार अद्भुत तत्त्व के हस्तक्षेप के बिना ही विकसित होता। किन्तु भारतीय लोग परियों और अप्सराओं के दिव्य जगत् में विश्वास करते थे, और शकुन्तला की मां इसी जगत् से सम्बन्ध रखती थी। वह और उस जैसी अन्य (अप्सरायें) शकुन्तला के भाग्यकृत दुःख को कम करने की इच्छुक थी। वह अपने हस्तक्षेप द्वारा उसके प्रतीक्षाकाल को, अंगूठी के दर्शन से दुष्यन्त की स्मृति के लौटने तक, सुखद बनाना चाहती थी।"[3]

तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्यता षष्ठ अंक में मेनका की सखी अप्सरा सानुमती तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य होकर राजा दुष्यन्त के प्रमदवन में आती है। उसके आगमन का उद्देश्य दुष्यन्त के वृत्तान्त का ज्ञान प्राप्त करना है। उसे मेनका ने इस कार्य के लिए आदेश दिया है। मेनका की पुत्री होने के कारण शकुन्तला उसकी भी परम स्नेहपात्र है। यद्यपि वह अपनी प्रणिधान शक्ति से सब कुछ जान सकती है तथापि मेनका की इच्छानुसार राजा की दशा का प्रत्यक्ष अवलोकन करने के लिए वह स्वयं उपस्थित होती है।[4]

सानुमती पहले परभृतिका व मधुकरिका नामक उद्यानपालिकाओं के समीप अदृश्य रूप में उपस्थित होकर कंचुकी के साथ उनका वार्तालाप सुनती है।[5] इस वार्तालाप से उसे विदित होता है कि राजा दुष्यन्त को अपनी अंगूठी देखने में

---

1 श्री और सौरभ, पृ० 92

2 श्री रूबेन का अभिप्राय महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में वर्णित दिव्यवाणी के अद्भुत प्रसंग से है।

3 कालिदास—दि ह्यूमन मीनिंग ऑव् हिज़ वर्क्स, पृ० 55–56

4 अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं ज्ञातुम्। किन्तु सख्या आदरो मया मानयितव्यः।
अभि० शाकु० 6, पृ० 189

5 भवतु, अनयोरुद्यानपालिकयोस्तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये।
वही 6 पृ० 189

शकुन्तला-सम्बन्धी समस्त वृत्तान्त स्मरण हो आया, तभी से वह पश्चात्ताप की आग में जल रहा है।[1] इसी दुःख के कारण उसने वसन्तोत्सव पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। कुछ ही देर बाद राजा दुष्यन्त अपने मित्र विदूषक के साथ मनोविनोद के लिए प्रमदवन में आता है। सानुमती अदृश्य रूप में राजा का अनुगमन करती हुई विदूषक के साथ उसका अन्तरंग वार्तालाप सुनती है और उसकी उत्कट विरह-दशा को निकट से देखती है। शकुन्तला के विरह में राजा को पश्चात्ताप के आँसू बहाने और उन्माद की सीमा तक व्याकुल होते देखकर उसे यह सन्तोष होता है कि शकुन्तला राजा द्वारा अपमानित होकर भी उसके प्रेम में जो दुःख भोग रही है वह व्यर्थ नहीं है।[2] वह निश्चय करती है कि लौटकर शकुन्तला को दुष्यन्त के बहुमुख अनुराग की सूचना देगी।[3] जब राजा सार्थवाह धनमित्र-सम्बन्धी प्रसंग से अपनी अनपत्यता का स्मरण कर दुःखावेग से मूर्च्छित हो जाता है तब एक बार सानुमती के मन में इच्छा होती है कि वह दुष्यन्त को शकुन्तला व उसके पुत्र का समाचार दे दे पर तभी उसे स्मरण होता है कि इन्द्र की माता अदिति ने शकुन्तला को सान्त्वना देते हुए कहा था कि यज्ञभाग के लिए उत्सुक देवगण शीघ्र ही कुछ ऐसा करेंगे जिससे दुष्यन्त अपनी धर्मपत्नी का अभिनन्दन करेगा।[4] इसलिए वह शकुन्तला को दुष्यन्त का वृत्तान्त बताकर आश्वस्त करने के लिए लौट जाती है।

हम बता चुके हैं कि कालिदास ने तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्यता की कल्पना का विक्रमोर्वशीय में भी प्रयोग किया है। अप्सराएँ दिव्य प्राणी हैं जिनमें परम्परा से अनेक प्रकार की अतिप्राकृतिक शक्तियाँ मानी गई हैं, जैसे आकाश में उड़ना, एक लोक से दूसरे लोक में जाना, प्रणिधान द्वारा दूरस्थ विषयों का ज्ञान प्राप्त करना तथा तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य होना आदि। तिरस्करिणी विद्या अन्तर्धान होने की विद्या का नाम है। यहाँ कवि ने सानुमती के अप्सरा होने के कारण उसमें आकाश में उड़ने, प्रणिधान द्वारा दूरवर्ती विषयों का ज्ञान करने तथा तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य होने की शक्तियाँ मानी हैं।[5]

---

1 कञ्चुकी (प्रकाशम्) यदैव खलु स्वाङ्गुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात्प्रत्यादिष्टेति।
तदाप्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो देवः। वही, 6 पृ० 194

2 सानुमती—स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानितापि अस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति।
वही, 6 पृ० 197

3 सानुमती—यथार्थमिमं द्रक्ष्यामि तावदनया प्रतिकृतिम।
ततोऽस्या भर्तुर्बहुमुखमनुराग निवेदयिष्यामि। वही, 6 पृ० 200

4 सानुमती— अथवा श्रुतं मया शकुन्तला समाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखात्
यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति यथाचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताभिनन्दिष्यतीति।
वही, 6 पृ० 222

5 देखिए वही, पृ० 188-189

यहां नाटककार ने दुष्यन्त के प्रमदवन में सानुमती के आने व राजा की विरह दशा का अदृश्य रूप में अवलोकन करने की जो कल्पना की है वह नाटकीय दृष्टि से साभिप्राय है। नाटककार को सप्तम अंक में दुष्यन्त व शकुन्तला का पुनर्मिलन कराना है, इसके लिए यह आवश्यक है कि दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला के हृदय की उच्छिन्न आस्था को पुनः जमाया जाये। यह आस्था तभी पुनः संस्थापित हो सकती है जब शकुन्तला को अपने प्रति दुष्यन्त के प्रेम की पूर्ण प्रतीति हो। अप्सरा सानुमती की भूमिका नाटक में इसी आवश्यकता की पूर्ति करती है। हम अनुमान कर सकते हैं कि उसने शकुन्तला को दुष्यन्त का सारा वृत्तान्त सुनाया होगा। और उससे पति द्वारा तिरस्कृता शकुन्तला को पर्याप्त सान्त्वना मिली होगी। 'दुष्यन्त मेरे प्रत्याख्यान के लिए पश्चात्ताप के आंसू बहा रहा है' यह जानकर शकुन्तला को अपनी घोर निराशा की घड़ी में भी आशा की किरण दिखाई दी होगी। इसी आशा के सबल से उसने मारीच के आश्रम में पुत्र का पालन करते हुए अपनी विपत्ति के दिन बिताये होंगे। इस प्रकार सानुमती शकुन्तला की उस मनोभूमि को तैयार करती है[1] जिसके आधार पर सप्तम अंक में उसका दुष्यन्त के साथ मिलन सम्भव होता है।

सानुमती की अदृश्यता इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि वह इसके द्वारा राजा के अत्यन्त निकट उपस्थित होकर उसके पश्चात्तापशील विरहविधुर हृदय का साक्षात् दर्शन कर सकी जो अन्यथा सम्भव नहीं था।

पार्थिव राजा का स्वर्गगमन छठे अंक के अंतिम भाग में इन्द्र का सारथि मातलि दुष्यन्त को लेने के लिए स्वर्ग से आता है। कालनेमि से उत्पन्न दुर्जय नामक दानवगण के साथ युद्ध में देवसेना का नेतृत्व करने के लिए दुष्यन्त को इन्द्र ने स्वर्ग बुलाया है। मातलि इसी उद्देश्य से दुष्यन्त के पास आता है, पर उसे विरह-सन्तप्त अवस्था में देखकर युद्धोचित मन स्थिति में लाने के लिए वह एक कौतुक खड़ा कर देता है। वह अदृष्ट रूप में विदूषक माढव्य को पकड़ कर मेघप्रतिच्छन्द नामक प्रासाद की अग्रभूमि में ले जाता है तथा उसकी गर्दन मरोड़ने लगता है। माढव्य अपनी रक्षा के लिए चीख पड़ता है तथा इस सारी घटना में मातलि स्वयं तो तिरस्करिणी विद्या से अदृश्य रहता ही है[2] वह अपने प्रभाव से माढव्य को भी अदृश्य बना देता है।[3] राजा को उत्तेजित करने के लिए वह विदूषक को चुनौती देता है।[4] दुष्यन्त जो

---

1 शकुन्तला—विचारकालेऽपि प्रकृतिस्था सखदमनस्यौषधि श्रुत्वा न मे आशासीदात्मना मागधेयेषु। अथवा यथा सानुमत्याख्यातं तथा सम्भाव्यत एतत्।
अभि० शाकु० 7, पृ० 250

2 प्रतिहारी—अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्य प्रासादस्याग्रभूमिमारोपित।
वही, 6, पृ० 223

3 (नेपथ्ये) अविहा। अहमत्रभवन्तं पश्यामि। त्वं मां न पश्यसि? वही, 6 पृ० 226

4 वही, 6 27

पहले शकुन्तला के विरह मे सुध-बुध खोये हुए था, इस चुनौती से विक्षुब्ध होकर उस अदृश्य सत्त्व के वध के लिए अपने धनुष पर बाण चढा लेता है । तभी मातलि विदूषक को छोडकर राजा के सामने प्रकट हो जाता है और उसे इन्द्र का सदेश सुनाता है ।[1] दुष्यन्त इन्द्र के आदेश को शिरोधार्य कर उसके द्वारा भेजे गये रथ मे स्वर्ग के लिए प्रस्थान करता है ।

उक्त प्रसग मे निम्नलिखित अतिप्राकृत तत्त्वो का समावेश है —

(१) असुरो के साथ युद्धार्थ पार्थिव राजा का स्वर्गगमन ।

(२) इन्द्रसारथि मातलि द्वारा अदृश्य रूप मे विदूषक माढव्य का पीडन ।

(३) मातलि के प्रभाव से माढव्य की अदृश्यता ।

असुरो से युद्ध करने के लिए मानव राजा के स्वर्ग जाने की कल्पना स्पष्टत एक पौराणिक कल्पना है । पौराणिक साहित्य मे असुरो व देवो के युद्धो की अनेक कथाए आयी हैं । वैदिक साहित्य मे भी असुरो के साथ इन्द्र के युद्धो का वर्णन मिलता है, पर वहा इन्द्र व असुर विभिन्न प्राकृतिक शक्तियो के प्रतिनिधि है । रामायण, महाभारत व पुराणो के काल तक आते-आते वैदिक पुराकथाओ का इस सीमा तक मानवीकरण हुआ कि उनका मूल प्राकृतिक आधार व अर्थ प्राय आच्छन्न हो गया । कालिदास ने अपने काव्यों म जिन पुराकथात्मक कल्पनाओ का उपयोग किया है, उनका स्रोत परवर्ती पौराणिक साहित्य ही है, वैदिक साहित्य नही ।

पौराणिक कथाओ मे देवो व असुरो की शत्रुता प्रसिद्ध रही है । भौतिक बल की दृष्टि से असुर प्राय देवो से अधिक शक्तिशाली माने गये हैं । यही कारण है कि देवता लाग उनसे सदैव भयभीत रहते हैं । असुरो के वध के लिए उन्हे अनेक अवसरो पर विष्णु या ब्रह्मा की शरण मे जाना पडता है । विष्णु देवो की प्रार्थना पर विभिन्न अवतार ग्रहण कर असुरो का सहार करते हैं । कभी-कभी देवराज इन्द्र पृथ्वी के शक्तिशाली राजाओ को असुरो के विरुद्ध युद्ध मे देवसेना का नेतृत्व करने के लिए निमत्रित करते हैं । इनकी सहायता मे इन्द्र असुरो पर विजय पाने मे समर्थ होता है । कालिदास ने विक्रमोर्वशीय व शाकुन्तल दोनो मे ही अपने नायको को महेन्द्र

---

1 मातलि —राजन्

कृता शरव्य हरिणा तवासुरा
शरासन तेषु विकृष्यतामिदम् । वही, 6 29

— — —

सख्युस्ते किल शतक्रतोरजय्यस्तस्य त्व रणशिरसि स्मृतो निहन्ता ।
उच्छेत्तु प्रभवति यन्न सप्तसप्तिस्तन्नैश तिमिरमपाकरोति चन्द्र ॥ वही, 6 30

स भवानात्तशस्त्र एव इदानीं तमैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम । वही 6 पृ० 228

का मित्र व रणसहायक बताया है । हम देख चुके हैं कि विक्रमोर्वशीय मे नायक नायिका का स्थायी मिलन इन्द्र के अनुग्रह से होता है और यह अनुग्रह वस्तुत पुरूरवा के द्वारा असुरों के विरुद्ध युद्धों मे पहले दिखाये गये और भविष्य मे दिखाये जाने वाले पराक्रम का ही सीधा परिणाम है।

शाकुन्तल मे भी कालिदास ने दुष्यन्त को इन्द्र का सखा[1] और असुरो के विरुद्ध युद्धो मे उसका सहायक[2] बताया है। दूसरे अक मे ऋषिकुमार ने बताया है कि असुरो से वर रखने वाली सुरयुवतिया या तो इन्द्र के वज्र से असुर-विजय की आशा रखती हैं या दुष्यन्त के प्रत्यचा युक्त धनुष से ।[3] दुष्यन्त की इसी वीरता के कारण उसकी उपस्थिति मात्र से कण्वाश्रम के यज्ञ-कार्यों मे विघ्न डालने वाले राक्षस वहा से भाग छूटते है। इस प्रकार नाटककार ने दूसरे अक मे ही असुरो से युद्ध करने के लिए दुष्यन्त के स्वर्गगमन की योग्य पृष्ठभूमि का निर्माण कर दिया है। इसलिए जब छठे अक मे मातलि इन्द्र की ओर से उसे युद्धार्थ स्वर्ग चलने का निमत्रण देने आता है तो कथावस्तु का अतिमानवीय दिशा मे यह विकास हमे अस्वाभाविक नहीं लगता। आज के प्रेक्षक या पाठक को दुष्यन्त के स्वर्ग जाने की बात बडी असगत लग सकती है, पर यदि हम कालिदास के युग की पौराणिक आस्थाओ को दृष्टि मे रखे तो यह कल्पना हमे इतनी अनर्गल नही लगेगी। ऐसी कल्पनाए पौराणिक धर्म व पुराकथाओ की अभिन्न अग थी, अत कालिदास के समकालीन प्रेक्षको को उनमे कुछ भी अनौचित्य नहीं दिखाई दिया होगा। यह भी द्रष्टव्य है कि कालिदास ने समुचित पृष्ठभूमि के साथ इस घटना की योजना की है । सानुमती के कथन से प्रेक्षको को ज्ञात हो चुका है कि शकुन्तला किसी दिव्य स्थान मे अपनी माता मेनका के सरक्षण मे रह रही है। यज्ञभाग के लिए उत्सुक देवगण शीघ्र ही कुछ ऐसा करने वाले हैं जिससे बिछुडे हुए दम्पती का शीघ्र पुनर्मिलन होगा ।[4] इस पृष्ठभूमि मे दुष्यन्त का स्वर्गगमन कथावस्तु का एक आवश्यक व प्रत्याशित विकास प्रतीत होता है। प्रेक्षको को इस घटना से आभास मिलता है कि देवता लोग वियुक्त दम्पती के मिलन के लिए जो उपाय करने वाले हैं, यह उसी का आरभ है। शकुन्तला पहले से ही किसी दिव्य लोक या स्थान मे है तो दुष्यन्त का स्वर्गगमन दोनो के पुनर्मिलन की दिशा मे ही कथावस्तु का स्वाभाविक विकास है।

दुष्यन्त के स्वर्गगमन की कल्पना एक अन्य दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इसके

---

1 द्वितीय —गौतम । अय स बलभित्सखा दुष्यन्त । वही, 2 पृ० 78
2 वही, 6 29,30
3 वही, 2 15
4 वही, 6 पृ० 222

द्वारा कालिदास ने देवों व मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में भारतीय धारणा को बड़ी सुन्दर रीति से प्रकट किया है। यह ठीक है कि मनुष्य को अपने अभीष्टों की प्राप्ति के लिए देवों की सहायता व अनुग्रह की आवश्यकता है, पर देवता लोग भी कुछ बातों में मनुष्यों पर निर्भर हैं। उन्हें भी असुरों के विरुद्ध युद्धों में मानवीय पराक्रम की अपेक्षा रहती है। भोगपरायण और मुक्तान्वयी होने से वे युद्ध-कुशल नहीं हैं, अतः स्वयं अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते।[1] इस प्रकार देवों व मनुष्यों के सम्बन्ध परस्पर-निर्भरता के हैं, शासक व शासित के या स्वामी व अनुगामी के नहीं।[2] यदि कुछ बातों में देवता मनुष्य से श्रेष्ठतर हैं तो दूसरी कुछ बातों में मनुष्य उनसे भी श्रेष्ठतर स्थिति में है। अतः दोनों समकक्ष और समान हैं—एक श्रेष्ठ और दूसरा हीन नहीं। इस विचारधारा को कालिदास ने विक्रमोर्वशीय व शाकुन्तल दोनों में प्रतिपादित किया है। दुष्यन्त व शकुन्तला के पुनर्मिलन में देवता लोग योग देते हैं, पर यह योगदान दुष्यन्त के द्वारा उन पर किये गये उपकार का प्रत्युपकार मात्र है। देवताओं ने दोनों का मिलन कराया, पर उसका मूल्य भी तो उन्होंने प्राप्त किया। दुष्यन्त ने पहले त्रिदशकण्टक दुर्जय नामक असुरगण को नष्ट किया तभी वह देव-अनुग्रह का योग्य पात्र बना। अतः कालिदास की दृष्टि में देव-माहात्म्य मनुष्य के गौरव का विरोधी नहीं, अपितु प्रकारान्तर से उसका सम्मान ही है। देव और मनुष्य का सम्बन्ध विरोध और संघर्ष पर नहीं, प्रत्युत साहाय्य और सहयोग पर आधारित है। देवगण मनुष्यों से अपना यज्ञभाग पाने के लिए उत्सुक रहते हैं।[3] मनुष्य उन्हें यज्ञों में आहुतियाँ देकर प्रसन्न करते हैं। प्रसन्न होने पर वे उन पर अपना अनुग्रह प्रदर्शित करते हैं। दुष्यन्त के प्रति मारीच के निम्न शब्दों में कालिदास ने अपनी इसी मान्यता को वाणी दी है—"इन्द्र तुम्हारी प्रजाओं पर प्रचुर वृष्टि करे और तुम भी यज्ञों का विस्तार कर इन्द्र को प्रसन्न करो। इस प्रकार तुम दोनों सैकड़ों युग-परिवर्तनों तक उभय लोकों का उपकार करने वाले प्रशंसनीय पारस्परिक कृत्य करते रहो।"[4]

---

1 द० वही 6 30, 7 3

2 अभि० शाकु० 7 4 में दुष्यन्त ने देवों के लिए 'ईश्वर' व स्वयं के लिए 'नियोज्य' शब्द का प्रयोग किया है पर इस कथन में दुष्यन्त के शिष्टाचार की ही अधिक अभिव्यक्ति हुई है। इससे पूर्ववर्ती श्लोक में मातलि ने दुष्यन्त की पुरुहूतसखी (नृसि०) से समता का संकेत दिया है तथा 6 29 में स्वयं को 'सुहृत्' की कोटि में रखा है।

3 सानुमती— श्रुतं मया शकुन्तलामाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखात् यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति यथाचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताऽभिनन्दिष्यति।
अभि० शाकु० 6 पृ० 222

4 मारीच—अपि च
तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं प्रीणयस्व।
युगशतपरिवर्तानेवमन्योन्यकृत्यैर्नयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः॥ वही, 7 34
(श्री एम०आर० काले द्वारा सम्पादित संस्करण)

इससे स्पष्ट है कि कालिदास ने अपने युग में प्रचलित पौराणिक धर्म व उसकी अतिप्राकृतिक आस्थाओं को जिस रूप में ग्रहण किया है वह मनुष्य की महिमा को बढ़ाता ही है, घटाता नहीं। यह ठीक है कि कालिदास अपने नाटक की प्रणय-कथा को अतिमानव लोक में ले गये हैं पर इससे उसकी मूल मानवीय गरिमा को कोई क्षति नहीं पहुँची है, अपितु उसकी श्रीवृद्धि ही हुई है। शकुन्तला और दुष्यन्त का दिव्य लोकों में गमन और वहाँ दैवी योजना के अनुसार उनका मिलन वस्तुतः मानव के ही चारित्रिक उत्कर्ष, आत्मपरिष्कार और ऊर्ध्वगमन का प्रतीक है।

उक्त प्रसंग में दूसरा अतिप्राकृतिक तत्त्व है मातलि की अदृश्यता। मातलि देवराज इन्द्र का सारथि होने से एक दिव्य प्राणी है, अतः उसमें भी अप्सरा आदि के समान तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य होने की शक्ति है। मातलि जब तक दुष्यन्त के सामने प्रकट नहीं होता तब तक राजा उसे एक 'अदृष्ट सत्त्व' समझता है। संभवतः 'अदृष्ट सत्त्व' से उसका आशय राक्षस, भूत, प्रेत आदि से है। इससे विदित होता है कि कालिदास के युग में लोग ऐसे सत्त्वों के अस्तित्व में विश्वास करते थे।

दुष्यन्त का स्वर्ग से अवतरण सप्तम अंक का आरम्भ दुष्यन्त के स्वर्ग से अवतरण के दृश्य से होता है। वह इन्द्र के रथ पर आरूढ़ होकर मातलि से वार्तालाप करता हुआ आकाश-मार्ग से पृथ्वी की ओर लौट रहा है। स्वर्ग से प्रस्थान के समय इन्द्र ने दुष्यन्त का जो कल्पनातीत सत्कार किया उससे उसका हृदय गद्‌गद हो रहा है।[1] वह अनुभव करता है कि मैंने देवताओं के लिए जो कार्य किया उसकी तुलना में वह सत्कार बहुत अधिक था। मातलि बताता है कि इन्द्र भी दुष्यन्त की तरह यही अनुभव करते हैं कि मैं दुष्यन्त के उपकार का उचित प्रत्युपकार नहीं कर सका।[2]

स्वर्ग से पृथ्वी की ओर आते समय सर्वप्रथम परिवह नामक वायु का मार्ग आता है। इस मार्ग में आकाश गंगा की स्थिति बतायी गयी है। वह रश्मियों को विभक्त कर ग्रह-नक्षत्रों को अपने-अपने पथ पर संचालित करता है तथा भगवान् विष्णु (वामन अवतार) के द्वितीय पदनिक्षेप से तमोरहित है।[3] इस मार्ग में चलते समय दुष्यन्त की अन्तरात्मा बाह्य इन्द्रियों सहित प्रसन्नता का अनुभव करती है।[4] कुछ और चलने पर रथ मेघों के मार्ग में पहुँच जाता है।[5] रथ के वेगपूर्वक उतरने से

---

1 वही, 7 2
2 वही, 7 1
3 वही, 7 6
4 वही, 7 पृ० 235
5 वही 7 7

वहाँ से मनुष्यलोक अतीव आश्चर्यजनक दिखाई देता है। दुष्यन्त को लगता है कि पृथ्वी मानो अकस्मात् प्रकट होते हुए पर्वतों के शिखरों पर से उतर रही है। पहले वृक्ष पत्तों में छिपे हुए थे, पर अब उनके स्कन्ध प्रकट हो रहे हैं। नदियाँ, जिनका जल सूक्ष्मता के कारण पहले नहीं दिखायी दे रहा था, अब विस्तार के कारण स्पष्टतः दिखायी दे रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई उस पृथ्वी को ऊपर फेंकता हुआ-सा उसको ओर ला रहा है। तदनन्तर दुष्यन्त को पूर्व व पश्चिम समुद्र में डूबा हुआ तथा स्वर्ण-रस प्रवाहित करने वाला एक पर्वत दिखायी देता है। मातलि बताता है कि यह किंपुरुषों का हेमकूट नामक पर्वत है जो तप सिद्धि का क्षेत्र है। इस पर्वत पर ब्रह्मा के पुत्र मारीचि से उत्पन्न प्रजापति जो देवों और असुरों के पिता हैं, अपनी पत्नी सहित तप करते हैं।[1] दुष्यन्त ऋषि की प्रदक्षिणा करने की इच्छा प्रकट करता है, अतः मातलि रथ को हेमकूट पर्वत पर रोक देता है। रथ के उतरने पर भी उसका भूमि से स्पर्श नहीं होता, इसलिए पहिया की नेमि शब्द नहीं करती, न धूल ही उड़ती है और न घोड़ों की रास ही खींचनी पड़ती है। अतः रथ पर्वत पर उतर जाने पर भी उतरा हुआ प्रतीत नहीं होता।[2]

दुष्यन्त की उक्त यात्रा स्पष्टतः एक अतिप्राकृत घटना है। नाटककार का वास्तविक उद्देश्य दुष्यन्त को हेमकूट पर्वत पर स्थित मारीच ऋषि के आश्रम में पहुँचाना है जहाँ शकुन्तला अपने पुत्र सहित रह रही है। दुष्यन्त का स्वर्गगमन और प्रत्यावर्तन इसी उद्देश्य के साधन हैं। स्वर्ग से हेमकूट तक की दुष्यन्त की रथयात्रा नाटकीय कथा की पौराणिक प्रकृति के अनुकूल है। पुराणों में देवताओं के रथों व विमानों की ऐसी यात्राओं के अनेक वर्णन आये हैं।

दिव्य तपोवन हेमकूट पर्वत पर स्थित मारीच ऋषि का तपोवन स्वर्ग से भी अधिक आनन्दप्रद है। वहाँ आने पर दुष्यन्त अनुभव करता है मानो उसने अमृत-सरोवर में अवगाहन किया हो।[3] इस तपोवन में मुनि लोग श्रेष्ठ कल्पवृक्ष के वन में वायु द्वारा प्राण धारण करते हैं, स्वर्णिम कमलों के पराग से पिंजर हुए जल में

---

1 स्वायम्भुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः।
सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति॥   वही 7.9

2 राजा—(सविस्मयम्)
उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः।
अभूतलस्पर्शतयानिरुद्धतस्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते॥   वही, 7.10

3 राजा—स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।
वही 7, पृ० 239

धर्मार्थ स्नान क्रिया सम्पन्न करते हैं, रत्नशिलाओं पर बैठकर ध्यान करते हैं तथा देवस्त्रियों के सामीप्य में संयम धारण करते हैं। इस प्रकार अन्य मुनिजन तप द्वारा जिन वस्तुओं की इच्छा करते हैं, ये मुनि लोग उन्हीं के बीच रहते हुए तपस्या में निरत हैं।[1] इस आश्रम में हिंस्र जन्तु भी पालतू पशुओं के समान विनीत हैं। शकुन्तला का पुत्र सर्वदमन सिंहशिशु को, जिसने अपनी मां का स्तनपान आधा ही किया है, खेलने के लिए बलपूर्वक अपनी ओर खींच रहा है और उसके दांत गिनने के लिए उसका मुंह खोल रहा है।[2]

मारीच के तपोवन का यह वर्णन एक ओर उसकी दिव्यता का सूचक है और दूसरी ओर ऋषि के आध्यात्मिक प्रभाव का जिसके कारण सिंह जैसे भयानक जन्तुओं के साथ मानव शिशु क्रीडा करते हैं।

रक्षाकरंडक मारीच ऋषि ने सर्वदमन के जातकर्म संस्कार के समय अपराजिता नामक औषधि दी थी जो एक रक्षाकरंडक के रूप में सर्वदमन की कलाई पर बांध दी गई थी। उसके भूमि पर गिर जाने पर यदि सर्वदमन व उसके माता-पिता के सिवा कोई अन्य व्यक्ति उसे उठा लेता तो वह रक्षाकरंडक सर्प बनकर उसे डस लेता था। ऐसा पहले कई बार हो चुका था।[3] सर्वदमन जब सिंह शिशु के केसर पकड़कर उसे खींच रहा था, तब उसकी कलाई पर से रक्षा-करंडक नीचे गिर गया। दुष्यन्त ने अनजान में उसे भूमि पर से उठा लिया तो भी वह सर्प नहीं बना। इससे यह सिद्ध हो गया कि सर्वदमन दुष्यन्त का ही पुत्र है।

उक्त प्रसंग में रक्षाकरंडक की सर्परूप में विक्रिया की बात कही गयी है। संभवतः मारीच ऋषि ने उसे अभिमंत्रित कर उसमें किसी अलौकिक शक्ति का आधान किया है। यहां नाटककार ने पुत्र के प्रत्यभिज्ञान के साधन के रूप में इस अतिप्राकृत तत्त्व की योजना की है। इससे दुष्यन्त को निश्चय हो जाता है कि सर्वदमन उसी का पुत्र है।

अतिप्राकृत तत्त्व

शाकुन्तल में दिव्य, अर्धदिव्य व मानव तीनों प्रकार के पात्रों का समावेश

---

1 वही 7 12

2 वही 7 पृ० 241

3 प्रथमा—शृणोतु महाराजः। एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता। एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वा परो भूमिपतितां न गृह्णाति।
राजा—अथ गृह्णाति।
प्रथमा—ततस्तं सर्पो भूत्वा दशति।
राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया।
उभे—अनेकशः। वही, 7 पृ० 249

मिलता है। सानुमती, मातलि, मारीच व अदिति दिव्य पात्र हैं। मेनका व इन्द्र नाटक में साक्षात् उपस्थित नहीं होते, पर वस्तु-विकास में उनकी भूमिका अतीव महत्त्वपूर्ण है। इन दिव्य पात्रों के चित्रण में कालिदास ने अनेक अतिमानवीय विशेषताओं का उल्लेख किया है। शकुन्तला अप्सरा व मानव ऋषि की पुत्री होने के कारण अर्धदिव्य व अर्धमानव की कोटि में रखी जा सकती है पर नाटक में उसके व्यक्तित्व का मानवपक्ष ही सर्वोपरि रहा है। दुष्यन्त कण्व व दुर्वासा मानव होते हुए भी कुछ दृष्टियों से अतिमानव हैं। दुष्यन्त प्रेमी के रूप में तो पूर्णतया मानव है, पर एक वीर योद्धा के रूप में उसका व्यक्तित्व अतिमानवीय सीमाओं का स्पर्श करता है। कण्व एक वीतराग ऋषि व स्नेहमय पिता हैं पर आध्यात्मिक साधना से प्राप्त सिद्धियों ने उनके व्यक्तित्व को अलौकिकता से मंडित कर दिया है। दुर्वासा की शाप देने की शक्ति उन्हें अतिमानव की कोटि में रख देती है। इस प्रकार नाटककार ने अपने कुछ मानव पात्रों को आंशिक रूप से अतिप्राकृत बना दिया है। किन्तु नाटककार का ध्येय मानव-संवेदनाओं व चरित्र का ही सौंदर्य अंकित करना है, अतिप्राकृत तत्त्व इसी उद्देश्य के अंग या साधन के रूप में प्रयुक्त हैं। अतः इन तत्त्वों के कारण नाटक के मानवीय मूल्य व महत्त्व को कोई क्षति नहीं पहुंचती।

दुष्यन्त शास्त्रीय दृष्टि से दुष्यन्त एक प्रख्यात व धीरोदात्त नायक है। मानव होते हुए भी उसके व्यक्तित्व का एक पक्ष अतिमानवीय है जिसका विस्तृत विवरण पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है। यह अतिमानवीय पक्ष नाटककार के युग की पौराणिक कल्पनाओं पर आधारित है। यह भी द्रष्टव्य है कि दुष्यन्त के इस पक्ष को नाटककार ने मुख्य प्रणय-कथा के अंग के रूप में ही निबद्ध किया है। हम देख चुके हैं कि यज्ञविघ्न के निवारण के लिए दुष्यन्त का कण्व के आश्रम में निवास नाटक के प्रणयवृत्त के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार असुरों से युद्ध करने के लिए दुष्यन्त का स्वर्गगमन भी हमकूट पर दोनों वियुक्त प्रेमियों के पुनर्मिलन की पृष्ठभूमि मात्र है।

शकुन्तला के विषय में दुष्यन्त की विस्मृति तथा अंगुलीयक के दर्शन से स्मृति का पुनर्जागरण—ये दोनों बातें अतिप्राकृत हैं परन्तु इनके पीछे दुर्वासा के शाप का प्रभाव माना गया है। तथापि नाटककार ने दुष्यन्त के चरित्र में भी उनका आधार दिखाने का यत्न किया है। हम बता चुके हैं कि दुर्वासा के शाप की कल्पना द्वारा कालिदास ने दुष्यन्त के चरित्र का परिष्कार व उन्नयन किया है।

शकुन्तला शकुन्तला वैसे तो एक मानवी प्रेमिका है, पर उसकी दिव्य उत्पत्ति उसके व्यक्तित्व के एक अतिमानवीय परिपार्श्व की सूचक है। महाभारत के

समान नाटक में भी वह स्वर्गीय अप्सरा मेनका की पुत्री बतायी गयी है।[1] शकुन्तला का दिव्य सौन्दर्य उसके मातृपक्ष का ही दाय है। दुष्यन्त के शब्दों में —

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥ १.२२

शकुन्तला के अप्सरा-पुत्री होने के कारण ही अंतिम अंकों में नाटक की प्रणयकथा दिव्य प्राणियों व स्थानों से सम्बद्ध हो गयी है। नाटकीय कथा का यह अतिमानवीय पक्ष एक दृष्टि से शकुन्तला के दिव्य प्रभव का ही सीधा परिणाम है तथा वासना-प्रधान पार्थिव प्रेम के दिव्य आत्मिक प्रेम में विकास का द्योतक है।

मारीच और अदिति ये दिव्य ऋषि दम्पती हैं जिनके चित्रण में नाटककार ने पौराणिक कल्पनाओं का उपयोग किया है। मारीच व अदिति क्रमशः ब्रह्मा के मानस-पुत्र मरीची व दक्ष के पुत्र-पुत्री हैं, अतः उनके और ब्रह्मा के बीच केवल एक पीढ़ी का अन्तर है। यही दिव्य-युगल द्वादश रूपों (आदित्यों) में विभक्त तेज (सूर्य) का, यज्ञ भाग के अधिपति त्रिभुवनपालक इन्द्र का तथा वामन के रूप में अवतीर्ण परम पुरुष विष्णु का जन्मदाता है।[2] मारीच ऋषि सुरों व असुरों के गुरु (पिता) और प्रजापति कहे गये हैं।[3] कालिदास ने उनकी समाधि दशा का पौराणिक शैली में वर्णन किया है।[4]

मारीच ऋषि आध्यात्मिक शक्ति के चरमोत्कर्ष के प्रतीक हैं। वे मांगल्य व अनुग्रह की साक्षात् प्रतिमा हैं। उनके आश्रम में शान्ति, पवित्रता और श्रेय का नित्य अधिवास है। दुष्यन्त को वहां स्वर्ग से भी अधिक आनन्द की अनुभूति होती है। ऋषि के दर्शन से पहले ही उसके मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।[5] उन्हें अपनी आध्यात्मिक शक्ति से तीनों कालों का ज्ञान है। जब मेनका पति-परित्यक्ता शकुन्तला को अदिति के पास लेकर आती है तब वे ध्यान द्वारा जान जाते हैं कि दुष्यन्त ने शाप के कारण शकुन्तला का परित्याग किया है तथा वह शाप अंगुलीयक के दर्शन की अवधि तक है।[6] वे भविष्यवाणी करते हैं कि शकुन्तला का पुत्र अपने रथ से

---

1 राजा—परस्ताज्जायते एव । सवर्णास्वर समवेषा ।
अनसूया—अथ किम् । अभि० शाकु० 1, पृ० 42

2 वही, 7.27

3 वही, 7.9

4 वही 7.11

5 राजा—भगवन् । प्रागभिप्रेतसिद्धिः । पश्चाद्दर्शनम् । अतोऽपूर्व खलु वोऽनुग्रहः ।
वही 7 पृ० 259

6 मारीच—वही, 7 पृ० 260

समुद्रों को पार कर सप्तद्वीपा वसुधा का अप्रतिरथ स्वामी बनेगा तथा प्रजाओं के भरण-पोषण के कारण भरत के नाम से विख्यात होगा।[1] मारीच के प्रभाव से ही सर्वदमन के रक्षाकरण्डक में सर्परूप में परिवर्तित होने की सामर्थ्य है।

कण्व कण्व भविष्यद्द्रष्टा व सिद्धिमान्[2] महर्षि हैं। वे शकुन्तला के जीवन में आने वाली विपत्तियों को पहले से ही जान लेते हैं और उसके प्रतिकूल दैव के शमनार्थ उचित उपाय करते हैं। अग्निशरण में प्रविष्ट होने पर एवं अशरीरिणी वाणी उन्हें शकुन्तला के गर्भवती होने की सूचना देती है। यह घटना उनकी लोकोत्तर तप शक्ति की सूचक है। कण्व के प्रभाव से ही वनदेवता शकुन्तला को वस्त्र व आभूषण आदि का उपहार देते हैं।[3] उन्हें मानसिक सिद्धियां भी प्राप्त हैं।[4] उनकी आध्यात्मिक साधना का ही प्रभाव है कि तपोवन में मनुष्य, पशु पक्षी, वृक्ष, वनलताएं तथा वनदेवता आदि एक ही परिवार के सदस्यों के समान जीवन व्यतीत करते हैं। राक्षस लोग उनसे इतना डरते हैं कि वे उनकी अनुपस्थिति में ही आश्रम में विघ्न पैदा करने का साहस करते हैं।[5]

यहां प्रश्न उठता है कि महर्षि कण्व को दुर्वासा के शाप का पता है या नहीं? चतुर्थ अंक में उन्होंने शकुन्तला को जिस स्नेह से विदा किया है और इस अवसर पर जो उपदेश और सदेश दिये हैं, उनसे प्रतीत होता है कि वे शाप के विषय में अनभिज्ञ हैं। अशरीरिणी वाणी ने भी उन्हें शकुन्तला के गर्भवती होने की ही सूचना दी है, शाप की नहीं। यदि कण्व चाहते तो वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति से दुर्वासा के शाप की बात जान सकते थे, पर उन्होंने इस विषय में कोई जिज्ञासा नहीं दिखाई। शकुन्तला का दैव प्रतिकूल है यह तो उन्होंने जान लिया था, पर वह प्रतिकूलता किन-किन विशेष रूपों में प्रकट होगी इस विषय में जानने का प्रयत्न शायद उन्होंने नहीं किया। विरक्त और निरीह स्वभाव के होने के कारण उन्होंने ऐसे सांसारिक विषयों में रुचि लेना ठीक नहीं समझा होगा। अथवा वे शकुन्तला के कर्मविपाक के मार्ग में बाधक नहीं बनना चाहते होंगे। उसकी तीक्ष्णता को कुछ कम करना ही उन्हें अभीष्ट रहा होगा। यही कारण है कि उन्होंने शकुन्तला के भविष्य

---

1 वही 7 33

2 ऋषय —स्वाधीनकुशला सिद्धिमन्त वही 5 पृ० 163

3 गौतमी—वत्स नारद। कुत एतत्।
प्रथम—तातकाश्यपप्रभावात्। वही, 4 पृ० 130

4 गौतमी—कि मानसीसिद्धि। वही,

5 उभौ—तत्रभवत कण्वस्य महर्षेरसांनिध्याद् रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति
वही, 3 पृ० 79

को बहुत अधिक जानने का प्रयत्न नहीं किया और उसे अपने भाग्य पर ही छोड़ दिया। सप्तम अंक में मारीच के कथन से ज्ञात होता है कि कण्व को अपने तप के प्रभाव से शकुन्तला व दुष्यन्त के पुनर्मिलन की बात प्रत्यक्ष है,[1] तथापि मारीच ऋषि शकुन्तला की शाप-निवृत्ति तथा पति द्वारा उसके ग्रहण किये जाने की सूचना देने के लिए अपने शिष्य गालव को आकाश मार्ग से कण्व के पास भेजते हैं।[2] इससे प्रतीत होता है कि कण्व अपनी सिद्धियों द्वारा सब कुछ जानने की सामर्थ्य रखते हैं, पर उस सामर्थ्य का वे उपयोग भी करें, यह आवश्यक नहीं। सम्भवतः इसी दृष्टि से मारीच ने कण्व के पास उक्त सूचना भेजी है।

कण्व के लोकोत्तर व्यक्तित्व का संकेत देते हुए यह भी स्पष्ट है कि नाटककार ने उनके वात्सल्यमय पितृत्व, सर्वभूतस्नेह, औदार्य, क्षमाशीलता आदि मानवीय गुणों को ही प्रधानता दी है।

दुर्वासा दुर्वासा नाटक में साक्षात् उपस्थित नहीं होते, केवल चतुर्थ अंक के विष्कम्भक में नेपथ्य से उनका शापमात्र सुनाई देता है। जहाँ कण्व उदार, दयालु व क्षमाशील हैं, वहाँ दुर्वासा असहिष्णु, क्रोधी और निर्मम। उनकी शाप देने तथा अन्तर्हित होने की शक्ति उनके व्यक्तित्व को अलौकिक पीठिका पर स्थापित कर देती है। शाप के फलस्वरूप दुष्यन्त शकुन्तला को पूरी तरह भूल जाता है और अंगुलीयक के दर्शन से ही उसकी स्मृति पुनरुद्बुद्ध होती है। दुर्वासा का शाप आपाततः निष्ठुर होते हुए भी प्रेमी-प्रेमिका के व्यक्तित्व के आन्तरिक विकास व प्रेम के परिष्कार का साधन होने से परिणाम की दृष्टि से शुभ ही सिद्ध होता है। इस प्रकार उनकी क्रोधोद्दीप्त निष्ठुर मुद्रा में भी एक मंगलमय आशीर्वाद छिपा हुआ है।

नाटक में मातलि, सानुमती व मेनका आदि दिव्य पात्रों की भूमिका व उनके व्यक्तित्व की अलौकिक विशेषताओं पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। अप्सरा मेनका में मातृ-हृदय की प्रतिष्ठापना कालिदास की अपनी सूझ है। नाटक में इन्द्र की भूमिका महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अप्रत्यक्ष है। इस दृष्टि से उसकी विक्रमोर्वशीय से तुलना की जा सकती है। चतुर्थ अंक में वनदेवताओं से सम्बन्धित उल्लेख काव्यात्मक होने के साथ-साथ तत्कालीन लोकविश्वासों से भी प्रभावित हैं। भारतीय परम्परा में वृक्ष-लता, वन, पर्वत, नदी आदि को सदा से चेतनाधिष्ठित मानने की प्रवृत्ति रही है।

---

1 मारीच—तप प्रभावात्प्रत्यक्ष सर्वमेव तत्रभवत। वही, 7 पृ० 262

2 मारीच—गालव। इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात्तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेद्य यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीता इति।

वही, 7 पृ० 263

'वनदेवता' की कल्पना इसी प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखती है। प्रकृति के विभिन्न पदार्थों में दैवी तत्त्व की अनुभूति वैदिक काल से ही भारतीय धर्म की एक प्रधान विशेषता रही है।

अतिप्राकृत लोकविश्वास

शकुन प्रस्तुत नाटक मे भावी शुभ या अशुभ के सूचक के रूप मे कतिपय शकुनों का उल्लेख मिलता है। प्रथम अंक मे बताया गया है कि जब राजा दुष्यन्त कण्व के तपोवन मे प्रविष्ट होने लगा तब उसकी दक्षिण बाहु मे स्फुरण हुआ। शकुनशास्त्र व लोकप्रचलित विश्वास के अनुसार पुरुष के लिए दक्षिण भुजा का स्पन्दन शुभ माना जाता है। दुष्यन्त सोचने लगा कि यह आश्रम तो त्यागी-विरागियों का शान्त स्थान है, भला यहा बाहु-स्फुरण का फल क्या हो सकता है? अथवा होनहार तो होकर ही रहता है। उसके लिए क्या नगर, क्या तपोवन? भवितव्य के प्रकट होने के लिए द्वार कहा नहीं है? कहीं भी उसका अस्थान नहीं है।[1]

उक्त शकुन द्वारा नाटककार ने दुष्यन्त व शकुन्तला के प्रेम व परिणय की भावी घटना का पूर्वाभास देकर पात्र व प्रेक्षक दोनों के मन म 'भवितव्य' के प्रति औत्सुक्य व प्रत्याशा का भाव जाग्रत किया है। यहा यह संकेत भी निहित है कि नाटक के भावी घटनाक्रम के पीछे किसी दैवी शक्ति की पूर्वनिश्चित योजना काम कर रही है। लेकिन नाटककार ने इसे एक अस्पष्ट संकेत ही रहने दिया है जिससे नाटक म मानवचरित्र का महत्त्व कम नहीं होता।

पचम अंक मे दुष्यन्त के सामने उपस्थित होने पर शकुन्तला के दक्षिण नेत्र म स्फुरण होता है जो स्त्रियों के लिए अशुभ माना गया है।[2] इसके द्वारा नाटककार ने पात्र व सामाजिक को शकुन्तला के (प्रत्याख्यान रूप) भावी अनिष्ट की पूर्व सूचना दे दी है। यहा भी आभास मिलता है कि कोई अलौकिक शक्ति शारीरिक विकार आदि के द्वारा भावी मंगल या अमंगल की सूचना देकर मनुष्य को उसके लिए पहले ही सन्नद्ध कर देती है।

सप्तम अंक मे मारीच के तपोवन मे प्रविष्ट होते समय दुष्यन्त की बाहु मे पुन स्फुरण होता है। इस अवसर पर दुष्यन्त के कथन म उसकी परिवर्तित मन-

---

1 राजा-(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारम्। यावत्प्रविशामि।
(प्रविश्य, निमित्त सूचयन्)
शान्तमिदमाश्रमपद स्फुरति च बाहु कुत फलमिहास्य।
अथवा भवितव्याना द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥ अभि० शाकु० 1, 14

2 शकुन्तला-(दुर्निमित्त सूचयन्ती) अम्मो किं वामेतरमे नयन विस्फुरति।
गौतमी-प्रतिहतममगलम्। सुखानि ते भर्तृकुलदेवता वितरन्तु, वही, 5 प० 162

स्थिति विदित होती है। प्रथम अंक मे कण्व के तपोवन मे प्रविष्ट होते समय उसका मन भवितव्य के प्रति आशा, उमंग और विश्वास से भरा था। तब शान्त आश्रम पद में बाहु-स्फुरण की फल-प्राप्ति की संभावना न होते हुए भी वह शुभ भवितव्य के प्रति आशावान् था, पर सप्तम अंक मे परिस्थितियो ने दुष्यन्त के दृष्टिकोण को बिलकुल बदल दिया है। वह निराशा के स्वर मे कहता है—

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ॥ ७।१३

यद्यपि बाहु-स्पन्दन मनोरथ-पूर्ति की सूचना दे रहा है फिर भी दुष्यन्त को इसकी आशा नहीं है। शकुन्तला के रूप मे श्रेय स्वयं उसके द्वार पर आया, पर उसने उसे ठुकरा दिया, अब वह श्रेय दुःख में बदल गया है।

यहां कुशल नाटककार ने शकुन के द्वारा दुष्यन्त की मनःस्थिति का परिचय देते हुए शकुन्तला के साथ उसके भावी मिलन का भी पूर्व संकेत दे दिया है जिससे सप्तम अंक के आगामी घटनाक्रम के प्रति प्रेक्षकों के मन मे औत्सुक्य जाग्रत हो जाता है।

दैव और कर्मविपाक कालिदास ने मानव-व्यापारो को अदृश्य रूप मे प्रभावित व संचालित करने वाली शक्ति के रूप मे प्रस्तुत नाटक मे दैव,[1] भवितव्यता,[2] विधि,[3] भागधेय,[4] कर्मविपाक आदि का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। नाटक के प्रारम्भ मे ही शकुन्तला के प्रतिकूल दैव के शमनार्थ महर्षि कण्व के तीर्थयात्रा पर जाने की बात कही गयी है। इससे प्रेक्षकों को संकेत मिलता है कि शकुन्तला के जीवन मे कोई गंभीर दैवी विपत्ति आने वाली है। आगे हम देखते है कि दुर्वासा के शाप के रूप मे शकुन्तला के सुखस्वप्न पर प्रतिकूल दैव का दारुण वज्रपात होता है। दैवी विधान की अटलता के समक्ष मनुष्य की सभी योजनायें निरर्थक हो जाती हैं। कठोर नियति का एक ही झटका उसे आकाश मे से धरती पर ला पटकता है। दुष्यन्त के हृदय मे शकुन्तला के प्रति अगाध प्रेम होने पर भी शापजन्य विस्मृति के कारण वह उसे निर्ममतापूर्वक ठुकरा देता है। एक अज्ञात शाप दोनों प्रेमियों के मिलन में

---

1 इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। (1 पृ० 22) गुणवते कन्या प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः कल्पः। तं यदि दैवमेव संपादयति नाप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः। (4 पृ० 117)

2 अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र (1.14) अथवा भवितव्यता खलु बलवती। (6, पृ० 200)

3 अत्र तावद् विधिना दर्शितं प्रभुत्वम्। अपरं ते कथयिष्यामि। (5 पृ० 173)

4 चिरात्कालेऽपि प्रकृतिस्था सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न मे आशासीदात्मनो भागधेयेषु (7, पृ० 250), वत्स! ते भागधेयानि पृच्छ। (7 पृ० 252)

एक दुर्लंघ्य अन्तराय बन कर खडा हो जाता है । अगूठी को दिखाने से शाप की निवृत्ति हो सकती है, पर वह भी शकुन्तला की अगुली से निकलकर कही गिर जाती है। शाप का न शकुन्तला को पता है न दुष्यन्त को। पर उसके कारण दोनो को ही दु सह दु ख भोगना पडता है। अत मे दैव की प्रतिकूलता शान्त होने पर हेमकूट की दिव्यभूमि मे दोनो वियुक्त प्रेमियो का आकस्मिक पुनर्मिलन होता है । इस प्रकार नाटकीय कथा के माध्यम से नाटककार ने मानवजीवन की गतिविधियो मे दैव या भाग्य की अदृश्य किन्तु प्रभावशाली भूमिका का मार्मिक सकेत दिया है ।

किन्तु यह स्मरणीय है कि भारतीय विचारधारा दैव या भाग्य को मानव कार्यकलापो मे बाहर से हस्तक्षेप करने वाली शक्ति नही मानती, अपितु उसकी दृष्टि मे वह प्राणी के अपने ही कर्मों से उद्भूत एक ऐसी शक्ति है जो उन कर्मों के अनुसार ही उसके भावी जीवनक्रम को निर्धारित व नियन्त्रित करती है। इस दृष्टि से शकुन्तला व दुष्यन्त के प्रणय-जीवन के दैवकृत उतार-चढाव वस्तुत उनके पूर्व कर्मों के ही विपाक हैं । सप्तम अक मे शकुन्तला ने पादो म गिरकर क्षमा मागने वाले दुष्यन्त को दोषमुक्त कर अपने सुचरित-प्रतिबन्धक परिणामोन्मुख पूर्व कर्मों को ही अपने दु ख व दुर्भाग्य का कारण माना है—"उत्तिष्ठतु आर्यपुत्र । नून मे सुचरित-प्रतिबन्धक पुराकृत तेषु दिवसेषु परिणाममुखमासीद् येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरस सवृत्त ।[1] यहा नाटककार ने कर्मविपाक की लोकप्रचलित धारणा का सहारा लेकर शकुन्तला के क्षमाशील व उदार हृदय की भव्य भाकी दिखाई है। जिस दुष्यन्त के हाथो शकुन्तला को अपमानित व लाछित होना पडा था उसके विरुद्ध वह एक शब्द भी नही कहती, अपितु अपने पुराकृत को ही समस्त कष्टो का मूल कारण मानकर मन का समाधान कर लेती है।

भारतीय विचारधारा मे दैव या भाग्य की कल्पना एक नैतिक शक्ति के रूप मे की गई है। यह शक्ति मनुष्य के शुभ या अशुभ कर्मों से उद्भूत होकर उनके अनुसार ही उसे सुख या दु ख का भोग कराती है। इसलिए वह कोई अधशक्ति नही है अपितु विश्व की नैतिक व्यवस्था का सरक्षण करने वाली एक विवेकयुक्त शक्ति है। वह मनुष्य को नैतिक त्रुटियो के लिए दड देती है और दु खो का भोग कराकर उसकी असत् प्रकृति का परिष्कार करते हुए विश्व की मगलमयी नैतिक व्यवस्था के साथ उसका सामजस्य स्थापित करती है। अभिज्ञानशाकुन्तल मे दुर्वासा-शापरूप दैवी विपत्ति की यही भूमिका है।

मानव-नियति के विधान मे दैव, भाग्य व प्राक्तन कर्म की भूमिका का सकेत

---

1 वही, 7 पृ० 253

देते हुए भी कालिदास ने इन्हें पृष्ठभूमि में ही रखा है। नाटक का अधिकांश घटनाक्रम मानवीय इच्छा, आचरण व कर्तृत्व का ही अनुगमन करता है। दुर्वासा का शाप जो पात्रों के अधिकांश कष्ट-क्लेशों का मुख्य स्रोत है, अतिथि के प्रति शकुन्तला की उपेक्षा का ही सीधा परिणाम है। शाप के रूप में मानवीय प्रणयकथा में दैव या भाग्य का हस्तक्षेप अवश्य हुआ है, पर उसका आधार दुष्यन्त व शकुन्तला की आचरणगत त्रुटियाँ है। इस प्रकार दैव मानवीय चरित्र और आचरण के माध्यम से ही नाटक की प्रणयकथा को प्रभावित करता है, मानव-निरपेक्ष बाह्य शक्ति के रूप में नहीं।

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

अभिज्ञानशाकुन्तल का मुख्य रस शृंगार है जिसके संयोग व वियोग दोनों पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं। शास्त्रीय दृष्टि से इसमें चित्रित वियोग 'शापज वियोग' कहा जायेगा, क्योंकि दुर्वासा-शाप के कारण ही शकुन्तला व दुष्यन्त एक दूसरे से बिछुड़ते हैं। नाटककार ने शृंगार रस के अंग के रूप में करुण, भयानक, अद्‌भुत आदि रसों की भी योजना की है। नाटक में प्रयुक्त अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व अद्‌भुत रस की निष्पत्ति में सहायक होते है, किन्तु कुछ तत्त्व भयानक, करुण आदि के भी व्यंजक हैं।

प्रथम अंक में शकुन्तला के दिव्य उद्‌भव व लोकोत्तर सौन्दर्य का वर्णन सामाजिकों के हृदय में विस्मय का भाव जाग्रत करता है। यह विस्मय रति का पोषक होने से शृंगार रस का अंग है। तृतीय अंक के अंत में यज्ञवेदिका के चारों ओर मंडराने वाले छायाकार राक्षसों का वर्णन भयानक रस को अभिव्यक्त करता है। द्वितीय अध्याय में हम बता चुके हैं कि भरत ने सत्त्व-दर्शन को भयानक रस के विभावों में गिना है। चतुर्थ अंक में अशरीरिणी वाणी द्वारा कण्व को शकुन्तला के गर्भवती होने की सूचना तथा वनदेवताओं द्वारा शकुन्तला को वस्त्र-आभूषण व आशीर्वाद दिए जाने के प्रसंग अद्‌भुत रस के अभिव्यंजक हैं। पंचम अंक में दुर्वासा के शाप के प्रभाव से राजा दुष्यन्त की विस्मृति तथा शकुन्तला के निष्ठुर प्रत्याख्यान में करुण रस की मार्मिक व्यंजना हुई है। पंचम अंक में स्त्रीसंस्थान ज्योति द्वारा शकुन्तला को उठाकर आकाश में ले जाने की घटना अद्‌भुत रस का स्थल है। इस घटना से जाग्रत विस्मयभाव शकुन्तला के प्रत्याख्यान के दृश्य की करुणा का एक सुखद विश्रान्ति प्रदान करता है। षष्ठ अंक में मातलि द्वारा किया गया कौतुक अद्‌भुत, भयानक, बीभत्स व रौद्र आदि अनेक रसों का उन्मीलन करता है। इस प्रसंग में मातलि व विदूषक की अदृश्यता अद्‌भुत रस की, मातलि द्वारा विदूषक के रक्तपान की घोषणा बीभत्स की तथा अदृश्य सत्त्व की धृष्टता से दुष्यन्त के क्रोध की जागृति रौद्र रस की व्यंजक है।

सप्तम अक मे निर्वहण सन्धि के अन्तर्गत नाटककार ने अद्भुत रस की बडी प्रभावशाली योजना की है। सारा ही अक विभिन्न प्रकार के अद्भुत तत्त्वो से युक्त है। इन्द्र के रथ मे स्थित दुष्यन्त की पृथ्वी की ओर यात्रा, सुदूर आकाश से पृथ्वी के आश्चर्यजनक रूप का दर्शन, हेमकूट पर उतरने पर भी इन्द्र के रथ का भूमि को न छूना, मारीच के तपोवन का लोकोत्तर स्वरूप एव प्रभाव, एक विशेष स्थिति मे भरत के रक्षासूत्र के सर्प बनकर डसने का उल्लेख, महर्षि मारीच का अलौकिक व्यक्तित्व व उनकी अतिप्राकृत सिद्धिया (ध्यान द्वारा दुर्वासा के शाप का ज्ञान भरत के चक्रवर्तित्व की भविष्यवाणी, कण्व के विषय मे यह ज्ञान कि वे अपने तप-प्रभाव से शकुन्तला के विषय मे सब कुछ जानते हैं आदि) तथा मारीच की आज्ञा से उनके शिष्य गालव का कण्व को सदेश देने के लिए आकाश मार्ग से गमन आदि अलौकिक तत्त्व अद्भुत रस के व्यजक हैं। इन तत्त्वो के कारण नाटक का अन्त अतीव चमत्कारपूर्ण बन गया है।

निष्कर्ष

हमने पिछले पृष्ठो मे कालिदास के तीनो नाटको मे प्रयुक्त अतिप्राकृतिक तत्त्वो का परिचय देते हुए उनके नाटकीय विनियोग की विशेषताओ का विवेचन किया। इस विवेचन से स्पष्ट है कि कालिदास ने अपने नाटको मे जिन अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग किया है वे उनके युग की धार्मिक आस्थाओ, पौराणिक कल्पनाओ व लोकविश्वासो के अग हैं। किन्तु नाटककार का ध्येय इन आस्थाओ व विश्वासो की अभिव्यक्ति मात्र नही है अपितु नाटक की कलात्मक सरचना के अविभाज्य अग के रूप मे उनका प्रयोग करना है। उनका प्रयोग सवत्र किसी न किसी प्रयोजन से किया गया है। कही उनका उद्देश्य कथा को आगे बढाना है तो कही उसे अभीष्ट दिशा मे परिवर्तित करना। कही उनके द्वारा नाटकीय कथा को जटिल बनाया गया है तो कही उसकी उलझी हुई ग्रथियो को सुलझाया गया है। नाटक को चमत्कारपूर्ण परिणति पर पहुचाने के लिए भी नाटककार ने उनका उपयोग किया है। विक्रमोर्वशीय व शाकुन्तल मे इन तत्त्वो द्वारा कथावस्तु व चरित्रो को पौराणिक साचे मे ढाला गया है। कालिदास ने अपने प्रेम-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए भी अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग किया है। शाकुन्तल मे दुर्वासा-शाप के द्वारा प्रेमी-प्रेमिका को वियुक्त कर नाटककार ने प्रेम के आदर्श स्वरूप का चित्रण किया है। विक्रमोर्वशीय मे पुरूरवा के विरह-चित्रण के लिए कुमार के नियम व उर्वशी के रूप-परिवर्तन की कल्पना की गयी है। परम्परागत चरित्रो का परिष्कार करना भी इन तत्त्वो के प्रयोग का एक उद्देश्य रहा है। शाकुन्तल मे दुर्वासा-शाप की कल्पना द्वारा नाटककार ने महाभारतीय दुष्यन्त के चरित्र का कायाकल्प कर दिया है।

नाटको मे रस-सवेदना को समृद्ध बनाने मे भी इन तत्त्वो का विशिष्ट योगदान है। अधिकतर अतिप्राकृत तत्त्व अद्भुत रस के व्यजक हैं। कही-कही वे भयानक, वीर, करुण, रौद्र आदि रसो को भी अभिव्यक्त करते हैं। इन तत्त्वो के विनियोग से कालिदास के नाटको मे विस्मय, रहस्य व कौतूहल की भावनाओ को तीव्र उत्थान मिला है। अनेक स्थलो पर इन तत्त्वो द्वारा नाटककार ने नैतिक व मनोवैज्ञानिक प्रभाव की सृष्टि की है।

कुछ अतिप्राकृत तत्त्वो द्वारा कालिदास ने प्रकृति और मानव की आन्तरिक एकता तथा उनके एकरस अखड जीवन की झाकी दिखायी है। मालविकाग्निमित्र मे अशोक-दोहद की कल्पना विक्रमोर्वशीय मे उर्वशी का लता रूप मे परिवतन, शाकुन्तल मे वनदेवताओ द्वारा शकुन्तला को वस्त्र व आभूषण आदि का उपहार तथा उनके आशीर्वाद इसी उद्देश्य के साधक हैं। इन तत्त्वो मे प्रकृति और मानव के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे कालिदास की जीवन-दृष्टि व्यक्त हुई है। कालिदास मानव को मानवेतर सृष्टि से पृथक् करके नही देखते, वे उसे विराट् सृष्टि का ही एक अग मानते है। इस सृष्टि मे देवता, असुर, राक्षस, पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति आदि सभी हैं। मनुष्य इन सबके साथ विभिन्न सम्बन्धो से जुडा है। कालिदास ने मनुष्य को उक्त सभी के बीच मे रखकर उनके प्रति उसके राग-विरागो का चित्रण करते हुए समस्त सृष्टि के साथ उसके जीवन का सामजस्य दिखाया है। कालिदास की दृष्टि म मनुष्य की नियति शेष सृष्टि से पृथक नही है, अपितु सबकी नियति के साथ सम्बद्ध है। यही कारण है कि इन नाटको मे प्राकृत और अतिप्राकृत की भेद रेखा स्पष्ट नही हैं। प्राकृतिक जगत् अतिप्राकृतिक लोक मे विलीन हो जाता है और अतिप्राकृतिक प्राकृतिक मे। अतिप्राकृतिक घटनायें प्राकृतिक क्रिया-कलापो मे इस प्रकार घुलमिल गई है कि वे उन्ही का सहज व स्वाभाविक अग प्रतीत होती हैं। एक ओर दिव्य जगत् के प्राणी मानव जगत मे अवतीर्ण होकर उसके कार्यकलापो मे भाग लेते हैं या उनकी समस्याओ को सुलझाने के लिए सहयोग व साहाय्य का हाथ बढाते हैं तो दूसरी ओर मानवलोक के प्राणी भी देवो की सहायतार्थ दिव्य लोको म जाते हैं। इस प्रकार कालिदास के नाटको मे प्राकृत और अतिप्राकृत की सीमाए एक-दूसरे मे ओझल हो गई हैं।

मानव-जीवन मे भाग्य, अदृष्ट या कर्म की अपरिहार्य शक्ति का दशन कराने के लिए भी कालिदास ने कुछ अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग किया है। मालविकाग्नि-मित्र मे सिद्धादेश साधु की भविष्यवाणी, विक्रमोर्वशीय मे भरतमुनि का शाप व कुमार कार्तिकेय के नियम से उर्वशी का लता रूप मे परिवर्तन तथा शाकुन्तल में दुर्वासा के शाप से शकुन्तला का प्रत्याख्यान आदि प्रसग मानव-जीवन मे अदृष्ट तथा कर्म की शक्तिशाली भूमिका का सकेत देते हैं।

कालिदास के नाटकों में कथावस्तु का विकास व उसकी सुखान्त परिणति प्राय अतिप्राकृत तत्त्वों पर निर्भर रहती है। मालविकाग्निमित्र-जैसे नाटक में भी जिसकी वस्तु व पात्रों की योजना सर्वथा लौकिक है, कालिदास ने प्रेमी-प्रेमिका की मनोरथ-पूर्ति को अशोक वृक्ष की दोहदपूर्ति पर निर्भर बना दिया है। विक्रमोर्वशीय में भी प्रणयकथा का विकास नायक व नायिका के चरित्र व प्रयत्नों की अपेक्षा भरत-मुनि के शाप, महेन्द्र के अनुग्रह, कुमार कार्तिकेय के नियम तथा सगमनीय मणि के रहस्यमय प्रभाव आदि पर आधारित दिखाई देता है। इसी प्रकार शाकुन्तल में दुर्वासा का शाप, रहस्यमय अगूठी एव देवो व ऋषियो के अनुग्रह आदि के सहारे प्रणय-कथा का विकास हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि कालिदास ने अपने पात्रों की नियति के सूत्र किसी सीमा तक दैवी शक्तियो के हाथो मे सौंप दिये है। इन्ही की सहायता, सहयोग या हस्तक्षेप से मानवजगत् की समस्याओ का समाधान होता है। अतिमानवीय शक्तियों की इस सर्वोपरिता के कारण कालिदास के नाटकों के मानव-पात्र कभी-कभी बडे निरुपाय व निरीह प्रतीत होते हैं। पर इस स्थिति के लिए हम कालिदास को दोष नही दे सकते। उन्हे अपनी सस्कृति, धर्म, दर्शन व पौराणिक विश्वासो की जो परम्परा मिली थी उसे वे अस्वीकार कैसे कर सकते थे? कालिदास का युग व समाज पौराणिक धर्म व उसके अलौकिक विश्वासो को स्वीकार करता था। उनके समय मे पौराणिक धर्म एक जीवित-जाग्रत धर्म था जिसकी आस्थाओ से समस्त लोकचेतना अनुप्राणित थी। पौराणिक विश्व-दृष्टि के अनुयायी होने के कारण कालिदास विश्व मे एक दैवी व्यवस्था की सर्वोपरिता स्वीकार करते थे। उनके अनुसार यह दैवी व्यवस्था मानव-हितैषी तथा न्याय व नीति की सरक्षक है। मनुष्य का जीवन देवताओ की सहायता या अनुग्रह के बिना अपूर्ण है। मनुष्य विश्व मे अकेला नही है, उसके कर्म व प्रयत्नो की सफलता विश्व का नियमन करने वाली अतिमानवीय शक्तियो के अनुमोदन पर निर्भर है। उसका जीवन-क्रम किन्ही दैवी नियमो द्वारा पूर्व निर्धारित है। उसके वर्तमान जीवन के सुख-दु खो का रहस्य उसके पूर्व जन्म के कर्मों मे निहित है। इस प्रकार कालिदास मानवीय कार्यकलापों को सृष्टि की एकाकी घटना नही मानते अपितु वे उन्हें किसी विश्वव्यापी ईश्वरीय या दैवी व्यवस्था का अग स्वीकार करते हैं।

कीथ ने कालिदास की कृतियो को प्रशसनीय मानते हुए भी उन पर यह दोषारोपण किया है कि "कालिदास ने अपने नाटकों व महाकाव्यो मे जीवन व नियति की गहरी समस्याओ के प्रति कोई रुचि नही दिखाई है। उनके मतानुसार ब्राह्मण जीवन-दर्शन के प्रति कालिदास की एकान्त निष्ठा ने उनकी रुचियो पर एक सकुचित सीमा आरोपित कर दी थी। मनुष्य अपने ही कर्म द्वारा निर्मित एक न्यायशील भाग्य से शासित है, अपने इस विश्वास के कारण वे जगत् को एक दु खान्त

दृश्य के रूप में देखने, अधिकांश मनुष्यों के दुर्भाग्य के प्रति सहानुभूति अनुभव करने या विश्व में अन्याय के प्रभुत्व को समझने में समर्थ थे ।"[1]

कीथ का यह आरोप स्पष्टतः पूर्वग्रहों पर आधारित है । इस विषय में हेनरी डब्ल्यू वेल्स का यह मत उल्लेखनीय है कि कीथ ने संस्कृत नाटक पर जो लिखा उसमें उनके अनेक पूर्वग्रह व्यक्त हुए हैं जो इन नाटकों के प्रति उदार व सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण में बाधक रहे हैं । उनके विचार में कीथ का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण रूढ़िवादी है जिसके कारण वे यूनानी ट्रेजेडी को ही गंभीर नाटक का एकमात्र आदर्श मानते हैं तथा अरस्तू के नाट्य-सिद्धान्तों को ही नाट्यालोचन की सर्वोत्तम कसौटी के रूप में देखते हैं ।[2]

कीथ का यह कथन किसी सीमा तक ठीक है कि कालिदास की कृतियों का विषयक्षेत्र सीमित है किन्तु इसके लिए उनका ब्राह्मण जीवन-दर्शन को दोष देना उचित नहीं है । कालिदास ने संभवतः अपने समय के सहृदय पाठकों व श्रोताओं की रुचि को ध्यान में रखकर ही अपनी रचनाओं की विषय-वस्तु का चयन किया होगा। उनके नाटकों का प्रधान प्रतिपाद्य 'प्रेम' है । यह स्पष्ट है कि उन्होंने प्रेम को जीवन का कोई एकांगी भाव नहीं माना है, अपितु उसे एक सर्वव्यापी भाव मानते हुए उसके माध्यम से अपना सम्पूर्ण जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया है । कालिदास के साहित्य की जो भी सीमाएं हैं वे उनकी प्रतिभा की सीमाएं नहीं हैं, अपितु उनके युग की परिस्थितियों, प्रवृत्तियों व रुचियों की सीमाएं प्रतीत होती हैं । कालिदास भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग के कवि हैं, यही कारण है कि उनकी कृतियों में द्वन्द्व, विक्षोभ और संघर्ष का नहीं, अपितु शान्ति, समृद्धि, आशावादिता व सुस्थिरता का स्वर प्रधान है। कीथ ने ग्रीक जीवन-दर्शन के प्रकाश में कालिदास के मूल्यांकन का प्रयत्न किया है, जो उचित नहीं है । कालिदास की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि नितान्त भिन्न थी, अतः कीथ का ऐसा प्रयत्न उनकी निष्पक्ष दृष्टि का सूचक नहीं है । यदि ग्रीक जीवन-दृष्टि की तुला पर संस्कृत नाटक दोषपूर्ण लगते हैं तो भारतीय जीवन-दर्शन की तुला पर रखकर तोलने पर ग्रीक-नाटक भी हमें वैसे ही लगेंगे । हम बता चुके हैं कि कालिदास भी मानव-जीवन में भाग्य व दैव की प्रभविष्णु भूमिका स्वीकार करते हैं, पर वे यूनानियों के समान उसे स्वेच्छाचारी, अनियन्त्रित और विवेकहीन नहीं मानते । कालिदास ने अपने नाटकों में भाग्यकृत दुःखात स्थितियों का चित्रण न किया हो ऐसा नहीं है, पर उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे यूनानी जीवन-दर्शन व

1 संस्कृत ड्रामा, पृ० 160

2 क्लासिकल ड्रामा, ऑव् इंडिया, पृ० 2

नाट्यादर्शों के अनुसार जीवन को एक दु खान्त दृश्य के रूप मे चित्रित करते। ईश्वर, देवता व अदृष्ट के साथ मानव-जीवन के सम्बन्ध के विषय मे कालिदास से पहले भारत मे पर्याप्त चिन्तन हो चुका था तथा इस विषय मे भारतीय विचारधारा कुछ सर्वमान्य निष्कर्षों पर पहुच चुकी थी। इस विचारधारा का सार यही था कि मनुष्य अपने जीवन मे जो भी सुख-दु ख भोगता है वे उसके अपने ही पूर्व कर्मों के परिणाम है, उसके लिए किसी और को दोष नही दिया जा सकता। उसके अपने प्राक्तन आचरण ही उसकी नियति है। ईश्वर, देवता व भाग्य मनुष्य को वही देते है जिसे उसने अपने कर्मों द्वारा अर्जित किया है। इस विचारधारा में यह आश्वासन छिपा है कि मनुष्य को वर्तमान मे चाहे कितने भी दु ख भोगने पड रहे हो, वह शुभ कर्मों द्वारा अपने भावी जीवन को अपने आदर्शों व अभिलाषाओं के अनुकूल बना सकता है। सस्कृत नाटक मे सुखान्तता का नियम इसी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति है। यह जीवन-दर्शन मनुष्य को भविष्य के प्रति आशावान् बनाकर सत्कर्मों के लिए प्रेरणा देता है, उसे निराशा के गह्वर मे नही ढकेलता। अत यह कहना ठीक नही है कि कालिदास ने जीवन और भाग्य की समस्याओ का विवेचन नहीं किया। उन्होंने जहा भी सभव हुआ है भारतीय जीवन-दृष्टि के अनुसार इन समस्याओ का चित्रण किया है। कीथ की सीमा यही है कि वे ग्रीक नाटकों की दृष्टि से रखकर कालिदास से मानव व नियति सबधी किन्ही विशेष समस्याओं का विशेष दृष्टि से विवेचन चाहते है, पर उनका ऐसा आग्रह उचित नहीं कहा जा सकता। वस्तुत भारतीय व पाश्चात्य नाटको मे जीवन को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से देखा गया है। इन दृष्टिकोणों के पीछे पूर्व व पश्चिम की अपनी-अपनी सास्कृतिक परम्परा व इतिहास की परिस्थितिया रही है। अत एक की उपलब्धियो के प्रकाश में दूसरे को परखकर उसके महत्त्व का नकारना न्यायपूर्ण दृष्टिकोण नही है।

यद्यपि कालिदास ने अपने नाटकों मे—विशेष रूप से विक्रमोर्वशीय व शाकुन्तल मे—अतिमानवीय तत्त्वो का यथेच्छ प्रयोग किया है, पर हमे यह नही भूलना चाहिए कि इन नाटकों का मूल स्वर सर्वथा मानवीय है। ये तत्त्व केवल साधन के रूप म प्रयुक्त हुए हैं, साध्य तो मानव-जीवन और उसकी सवेदनाए ही हैं। यह इसी से स्पष्ट है कि कालिदास ने तीनो नाटको म मानवीय प्रणय को ही केन्द्र म रखा है तथा अतिप्राकृत तत्त्व उसके सौन्दर्योद्घाटन की नाटकीय युक्तिया मात्र हैं। यही कारण है कि नाटककार ने इन तत्त्वो को अधिकतर सूक्ष्म रूप में ही निबद्ध किया है। उदाहरणार्थ, शाकुन्तल मे राक्षसविघ्न की मौखिक चर्चा मात्र आई है तथा यज्ञवेदिका के चारो ओर डरावनी छायाओ के रूप मे उनके मडराने की नेपथ्य से केवल सूचना दी गयी है। जिस दुर्वासा के शाप के कारण प्रेमी-प्रेमिका को असह्य व्यथा सहनी पडी, उसे भी कालिदास ने सामाजिकों के सामने साक्षात् प्रस्तुत नही

किया। इसी प्रकार अग्निशरण में अशरीरिणी वाणी के गूँजने वन-देवताओं के उपहार देने व स्त्रीसम्थान ज्योति-सवधी अतिप्राकृत प्रसग भी केवल सूचित किये गये हैं। इसमें स्पष्ट है कि रगमच पर अतिप्राकृत घटनाओं की प्रस्तुति का नाटककार ने यथासभव परिहार किया है। विक्रमोवशीय मे भरतमुनि का शाप, इन्द्र का अनुग्रह उर्वशी का रूप-परिवतन आदि प्रसग भी सूच्य कथावस्तु के अग हैं। हम बता चुके हैं कि मालविकाग्निमित्र मे अशोक-दोहद की रमणीय कल्पना, जिसके मूल मे एक अतिप्राकृत विश्वास निहित है, वस्तुत नाटक की मानवीय प्रणय-कथा का ही एक प्राकृतिक प्रतिरूप है। इन उदाहरणों से सिद्ध है कि कालिदास ने अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग अपने नाटकों की मानवीय कथा को अधिक मर्मस्पर्शी व प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से ही किया है। यह ठीक है कि उनके कारण नाटकों मे एक अवास्तविक वातावरण की सृष्टि हुई है, पर यह अवास्तविकता नाटककार की कला का एक छद्म या आवरण मात्र है जिसके भीतर उसने मानव-जीवन के गभीर व मार्मिक पक्षों का विधान किया है। यही कारण है कि कालिदास ने जिन धार्मिक व पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग किया था आज उनमें वैसी श्रद्धा न रहने पर भी उनकी कृतियों का मानवीय महत्त्व व मूल्य अक्षुण्ण है।

---

५ | शूद्रक और विशाखदत्त के नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

संस्कृत के सामाजिक नाटकों की परंपरा में शूद्रक का मृच्छकटिक और विशाखदत्त का मुद्राराक्षस मूर्धन्य कृतियां हैं। शास्त्रीय दृष्टि से प्रथम 'प्रकरण' है और द्वितीय 'नाटक'। प्रथम में उज्जयिनी के दरिद्र ब्राह्मण व्यापारी चारुदत्त व गणिका वसन्तसेना की प्रणय-कथा दस अंकों में प्रस्तुत की गयी है। मुख्य कथा के साथ राजनैतिक विद्रोह का प्रासंगिक वृत्त गुम्फित कर नाटककार ने वस्तुविधान का अपूर्व प्रावीण्य प्रकट किया है। मुद्राराक्षस में चाणक्य और राक्षस दो विरोधी राजनीतिज्ञों के राजनैतिक दावपेंचों से भरे संघर्ष तथा उसमें चाणक्य की कुटिल व सुप्रयुक्त नीतियों की सफलता की कहानी सात अंकों में निबद्ध की गयी है। चाणक्य का उद्देश्य दिवंगत नन्दों के स्वामिभक्त व सुयोग्य अमात्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार कराना है। उसकी सभी नीतियां व कार्य इसी उद्देश्य की ओर उन्मुख हैं। नाटकीय वृत्त की लक्ष्योन्मुख, तर्कसम्मत व संश्लिष्ट योजना की दृष्टि से मुद्राराक्षस एक अद्वितीय कृति है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में शृंगार रस का अभाव इसकी एक विरल विशेषता है। यह एकान्तत पुरुषप्रधान नाटक है, केवल अंतिम अंक में एक स्त्री पात्र को नगण्य भूमिका दी गयी है।

मृच्छकटिक व मुद्राराक्षस के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतैक्य का अभाव है तथापि इनकी गणना संस्कृत के अपेक्षाकृत प्राचीन नाटकों में की जाती है।[1] इनके रचयिता शूद्रक व विशाखदत्त के विषय में हमारी जानकारी प्रस्तावनाओं

---

1 विभिन्न विद्वानों ने ई० पू० द्वितीय शतक से लेकर षष्ठ शतक ई० के बीच मृच्छकटिक का रचनाकाल स्थिर किया है। कुछ इसे कालिदास के पहले की कृति मानते हैं तो कुछ बाद की। मुद्राराक्षस के रचनाकाल के विषय में मुख्यतः दो मत अधिक प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार विशाखदत्त गुप्तसम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन थे जिनका उल्लेख मुद्राराक्षस के भरतवाक्य में किया गया है। इस मत के अनुसार विशाखदत्त कालिदास के कनिष्ठ समकालीन सिद्ध होते हैं। मुद्राराक्षस की कुछ प्रतियों में भरतवाक्य के अन्तर्गत चन्द्रगुप्त के स्थान पर अवन्तिवर्मा पाठ मिलता है जिसे विद्वानों ने मौखरि अवन्तिवर्मा से अभिन्न माना है तथा इसके आधार पर विशाखदत्त का स्थितिकाल छठी शताब्दी के अन्तिम चरण में स्वीकार किया है। मृच्छकटिक व मुद्राराक्षस के रचनाकाल के विषय में दे० कीथ संस्कृत ड्रामा पृ० 128–131 तथा पृ० 204 कोनो इंडियन ड्रामा पृ० 89–93 तथा 112–113, दे व दासगुप्त हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर पृ० 239–242 तथा पृ० 262–264

मे बतायी गई बातो से आगे नही जाती । शूद्रक को कुछ विद्वानो ने ऐतिहासिक राजा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, पर अन्य विद्वान् उसे मात्र एक पौराणिक व्यक्ति मानते हैं । भास के चारुदत्त के साथ मृच्छकटिक का सम्बन्ध भी विवाद का ज्वलन्त विषय रहा है । पर अब अधिकाश विद्वान् इस बात पर सहमत प्रतीत होते है कि मृच्छकटिक चारुदत्त का ही परिबृंहित रूप है ।[1] किन्तु 'चारुदत्त' का ऋणी होने पर भी मृच्छकटिक को अनेक दृष्टियो से एक मौलिक व महान् नाटक होने का गौरव प्राप्त है ।

यद्यपि ये दोनो ही नाटक सामाजिक विषयवस्तु पर आधारित हैं, पर मृच्छकटिक का सामाजिक फलक मुद्राराक्षस से अधिक विस्तृत है । तत्कालीन लोक-जीवन के विभिन्न स्तरो व पक्षो का—विशेष रूप से मध्यम व निम्न वर्गों का—जैसा विशद व व्यापक चित्रण इसमे हुआ है वैसा सस्कृत के किसी अन्य नाटक मे नही । मुद्राराक्षस भी राजनैतिक यथार्थवादी नाटक के रूप मे एक अप्रतिम कृति है । नाटक के रूप मे उसकी सरचनात्मक उपलब्धिया प्रथम कोटि की हैं । ये दोनो नाटक अनेक दृष्टियो से समानता लिये हुए हैं । दोनो के कथानक घटनाबहुल और गतिशील हैं, पात्र जीवन्त, व्यक्तित्वसम्पन्न और प्रामाणिक हैं तथा नाटकीय वातावरण ऐहिक और मानवीय । सस्कृत नाटक के क्षेत्र मे शूद्रक और विशाखदत्त दोनो ही लीक छोड कर चलने वाले तथा नूतन मार्ग के अन्वेषक नाटककार हैं । नाटक को काव्यात्मक कल्पना और भावना के वायव्य लोक मे उतार कर लोक-जीवन की कठोर भूमि पर स्थापित करने मे इन दोनो का अपूर्व योगदान रहा है । सस्कृत के विस्तृत नाट्य-साहित्य मे ये दो कृतिया ही ऐसी है जो नाटक के भारतीय व पाश्चात्य उभय मानदण्डो पर समान रूप से खरी उतरती हैं । इसीलिए पाश्चात्य विद्वानो ने इन दोनो की मुक्तकठ से प्रशसा की है ।[2]

सस्कृत मे नाटक और प्रकरण—रूपक की इन दो प्रतिनिधि विधाओ मे प्रकृति

---

1 द० ए०डी० पुसालकर भास ए स्टडी, पृ० 155–178

2 आथर विलियम राइडर के विचार मे "शाकुन्तल और उत्तररामचरित केवल भारत मे ही लिखे जा सकते थे, किन्तु भारतीय नाटककारो की दीर्घ परम्परा मे एकमात्र शूद्रक ही सर्वदेशीय प्रकृति के हैं । शकुन्तला एक हिन्दू कन्या है और माधव हिन्दू नायक, पर सस्थानक मैत्रेय व मदनिका विश्वनागरिक हैं ।" दे० मृच्छकटिक के आथर राईडर कृत अग्रेजी अनुवाद 'दि लिटिल क्ले कार्ट' की भूमिका पृ० 16 (हावर्ड आरियन्टल सिरीज, नवम भाग, हावर्ड यूनिवर्सिटी, 1905) हनरी वेल्स के मतानुसार 'मृच्छकटिक एक ऐसा रथ है जिसमे आसीन होकर सस्कृत नाट्य प्रतिभा विश्व के सुदूरतम स्थानों तक विचरण करती है । दे० क्लासिकल सस्कृत प्लेज, पृ० 43 कीथ ने मुद्राराक्षस को सस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटको में से माना है जिसका भारत मे समुचित सम्मान नही हो सका । दे० सस्कृत ड्रामा, पृ० 205

और उद्देश्य की दृष्टि से प्रारंभ से ही अन्तर रहा है। संभवत ये संस्कृत-नाट्य की दो स्वतंत्र धाराओं के चरम विकसित रूप हैं।[1] इसीलिए इनमें कथावस्तु, पात्र तथा समग्र नाटकीय वातावरण की दृष्टि से प्रभूत अन्तर पाया जाता है। नाटक प्राय महाकाव्यों, पुराणों व लोक-कथाओं का प्रख्यात कथाओं को लेकर लिखे गये हैं, जबकि प्रकरण की वस्तु उत्पाद्य और समसामयिक होती है। नाटक प्राय पुराण-कथाओं व महाकाव्यों के अतीत, दूरवर्ती, अलौकिक व अतिमानवीय वातावरण में श्वास लेते हैं जबकि प्रकरण का सर्वस्व है सन्निकृष्ट, प्रस्तुत व सामयिक जीवन के परिचित व दैनन्दिन परिदृश्य का चित्रण। अत प्रकरण की सामाजिक व यथार्थोन्मुखी वस्तु में अतिप्राकृत तत्त्वों के लिए बहुल कम अवकाश रहता है। यह बात मृच्छकटिक पर पूरी तरह लागू होती है। दूसरी ओर मुद्राराक्षस नाटक होते हुए भी परम्परागत नाटकों की धार्मिक व पौराणिक कल्पनाओं तथा अतिमानवीय संदर्भों से सर्वथा रहित है। उसके अर्ध-ऐतिहासिक प्रख्यात कथानक में नाटककार ने संभवत अपने समकालीन राजनैतिक जीवन की निर्मम यथार्थताओं का ही प्रकारान्तर से चित्रण किया है। उसका ध्येय चाणक्य और राक्षस के नीति-निष्णात मानव-व्यक्तित्व को ही प्रकाश में लाना है, अत मृच्छकटिक के समान इसमें भी अलौकिक तत्त्वों का अभाव सर्वथा युक्तिसंगत है।

अतिप्राकृत लोकविश्वास

कथा व पात्रों के रूप में अतिप्राकृतिक तत्त्वों का विनियोग न होने पर भी कतिपय लोकविश्वासों से सूचित ये तत्त्व इन नाटकों में भी आ गये हैं। सिद्धादेश, शकुन व दैव-संबंधी विश्वास इसी कोटि में आते हैं। सिद्धादेश भविष्यज्ञान का, शकुन मानवीय व प्राकृतिक जगत में निहित दैवी संकेतों का तथा दैवविषयक विश्वास मानव-क्रियकलापों को अदृश्य रूप से संचालित करने वाली किसी दैवी शक्ति का बोधक कहा जा सकता है।

सिद्धादेश मृच्छकटिक के अनुसार किसी सिद्ध पुरुष ने गोपालदारक आर्यक के बारे में यह आदेश (भविष्यवाणी) किया है कि वह राजा बनेगा। इस भविष्य-वाणी में विश्वास करके ही दर्दुरक व शर्विलक जैसे उज्जयिनी के असन्तुष्ट नवयुवक उसके गुप्त दल में सम्मिलित हो जाते हैं तथा राजा पालक भी संत्रस्त होकर उसे कारागार में डलवा देता है।[2] इस प्रकार राजनैतिक विद्रोह के प्रासंगिक वृत्त के

---

1 द0 वी0 राघवन दि सोशल प्ले इन संस्कृत, पृ0 2

2 दर्दुरक ' कथितं च मम प्रियवयस्येन शर्विलकेन, यथा किल आर्यकनामा गोपालदारक सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति'' इति। सर्वश्चास्मद्विधो जनस्तमनुसरति। तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि। (इति निष्क्रान्त) मृच्छ0, 4, पृ0 63 (निर्णय सागर प्रेस, अष्टम संस्करण बंबई, 1950) (नेपथ्ये) क काSत्र भो। राष्ट्रिय समाज्ञापयति—'एष खल्वार्यको गोपालदारको राजा भविष्यतीति' सिद्धादेश-प्रत्यय-परित्रस्तेन पालकेन राज्ञा घोषादानीय घोरे बन्धनागारे बद्ध वही, 4, पृ0112

विन्यास तथा मुख्य कथा के साथ उसके एकसूत्रीकरण में 'सिद्धादेश' को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है । यह उल्लेखनीय है कि भास ने स्वप्नवासवदत्त में, कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में तथा हर्ष ने रत्नावली में सिद्धादेश का एक कथानक-रूढ़ि के रूप में प्रयोग किया है । ऋषि, मुनि, योगी आदि सिद्धपुरुषों के वचनों की सत्यता में अनन्य आस्था भारतीय आस्तिकता का सदा से ही एक अंग रही है । नाटककार ने यहां इसी आस्था का नाटकीय विनियोग किया है ।

शकुन मृच्छकटिक में भावी अशुभ के सूचक के रूप में कतिपय शकुनों का वर्णन मिलता है । नवम अंक में जब चारुदत्त न्यायालय में बुलाया जाता है तब मार्ग में उसे अनेक प्रकार के अपशकुन दिखाई देते हैं, जैसे एक कौआ सूखे वृक्ष पर बैठा हुआ कर्कश ध्वनि में काव-काव कर रहा है, चारुदत्त की बायीं आंख फड़क रही है, एक विकराल विषधर मार्ग में पड़ा हुआ है, भूमि गीली नहीं है फिर भी चारुदत्त का पांव फिसल रहा है और उसका वामभुज बार-बार कांप रहा है । चारुदत्त के विचार में ये अपशकुन उसकी महाघोर मृत्यु की असंदिग्ध सूचना दे रहे हैं ।[1] यहां यह विश्वास व्यक्त हुआ है कि कोई ऐसी अज्ञात शक्ति है जो मनुष्य को शारीरिक विकारों व प्राकृतिक जगत् के विशिष्ट लक्षणों या परिवर्तनों द्वारा भावी शुभ या अशुभ का आभास देकर पहले से ही उसके विषय में सावधान कर देती है ।

विधि या दैव मानव-व्यापारों की परिचालक व नियामक शक्ति के रूप में विधि या दैव की धारणा भारतीय जीवन-दृष्टि का चिरन्तन अंग रही है । मृच्छकटिक व मुद्राराक्षस दोनों में ही इस विश्वास का चित्रण मिलता है । प्रथम में चारुदत्त, वसन्तसेना, आर्यक, पालक, शकार आदि पात्रों के आकस्मिक स्थिति-परिवर्तन का दृश्य उपस्थित कर नाटककार ने मानवजीवन की सम-विषम गतियों में विधि की प्रभविष्णु भूमिका का मार्मिक निर्देश किया है । वह विधि कूपयन्त्रघटिका के समान किसी को ऊपर ले जाता है तो किसी को नीचे, किसी को रीता करता है तो किसी को परिपूर्ण । इस प्रकार वह लोक में परस्पर-विरुद्ध स्थितियों का एक साथ बोध कराता रहता है ।[2]

मुद्राराक्षस में चाणक्य की कुटिल नीतियों के समक्ष बार-बार पराभूत होकर राक्षस अपनी असफलता और स्थितिविपर्यय के लिए दैव को दोषी ठहराता है । उसके विचार में महाशक्तिशाली नन्दों का विनाश मनुष्य के प्रयत्नों को छिन्न-भिन्न करने

---

1 वही, 9, 10–13

2 कांश्चित् तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्नतिं
कांश्चित्पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलान् ।
अन्योन्यप्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधयन्
नेष क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः ॥ वही, 10 59

वाले विधि का ही भिन्नाम है।[1] नन्दकुल का वास्तविक शत्रु ब्राह्मण चाणक्य नहीं, अपितु दैव है।[2] राक्षस अपने बुद्धिविशिख से नन्दों के शत्रु चन्द्रगुप्त का मर्मभेदन करना चाहता है, पर उसे शंका है कि कहीं अदृश्य दैव पुनः उसका वर्म न बन जाये।[3] मलयकेतु ने राक्षस का जीवन में जो अविश्वास किया उसका भी कारण दैव को माना गया है। दैव से आहत व्यक्ति की बुद्धि पूर्णतया विपर्यस्त हो जाया करती है।[4] इससे प्रतीत होता है कि विशाखदेव 'दैववाद' को निराश व श्रमफल व्यक्ति का जीवन दर्शन मानते हैं। यह स्वाभाविक ही है कि सफलता की सीढ़ियां पर अप्रतिहत चढ़ने वाला चाणक्य दैववाद को अज्ञों के जीवन दर्शन में अधिक नहीं मानता— "दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति।" (मुद्रा० ३, पृ० ६२)।

मृच्छकटिक के तृतीय अंक में चारुदत्त के घर में चोरी करने के लिए प्रविष्ट हुआ शर्विलक एक ऐसे अभिमन्त्रित बीज का प्रयोग करता है जो भूमि पर डालते ही, यदि उसके भीतर धन छिपा हो फूल जाता है तथा गुप्त धन की सूचना दे देता है।[5] टीकाकार पृथ्वीधर के अनुसार चौरशास्त्र की प्रसिद्धि के आधार पर नाटककार ने यह बात प्रस्तुत की है।[6]

नाट्यशास्त्रीय ग्रंथों से विशाखदत्त की दो अन्य कृतियों का पता चलता है जिनकी अप्राप्ति संस्कृत नाटक साहित्य की महती क्षति कही जा सकती है। इनमें से एक 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक प्रकरण था जिसमें गुप्तकालीन इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना का चित्रण किया गया था। गुप्तनरेश रामगुप्त को शकराज के हाथों पराजित होकर एक अपमानपूर्ण सन्धि के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस सन्धि के अनुसार रामगुप्त की रानी ध्रुवदेवी शकराज को समर्पित की जाती है। रामगुप्त का छोटा भाई कुमार चन्द्रगुप्त, जो आगे चलकर भारतीय इतिहास में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ, इस गर्हित सन्धि को सहन नहीं कर पाता। वह ध्रुवदेवी के

---

1 तस्यैव विपुल त्रिधे विनमित पुंसा प्रयत्नच्छिद ॥ मुद्राराक्षस, 5 21 (श्री सी० आर० देवधर व वी० एम० बेडेकर द्वारा सपादित प्रथम संस्करण बम्बई, 1948)

2 दैवं हि नन्दकुलशत्रुरसौ न विप्र ॥ वही, 6 7

3 तस्यैव बुद्धिविशिखेन भिनद्मि मर्म वर्मीभवेद् यदि न दैवमदृश्यमानम्। वही, 2 8

4 दैवोपहतस्य बुद्धिरथवा सर्वा विपर्यस्यति ॥ वही, 6 8

5 तत्समानि नाम शर्विलकस्य भविष्ठ द्रव्यम्। भवतु बीजं प्रक्षिपामि। (तथा कृत्वा) निक्षिप्त बीज न क्वचित् स्फारीभवति। अये परमार्थदरिद्रोऽयम्। भवतु, गच्छामि। मृच्छ० 3, पृ० 86

6 अभिमन्त्रितो बीजविशेषोऽन्तर्धनसहितभूतले क्षिप्तो बहुलीभवति इति चौरशास्त्रप्रसिद्धिः। वही, 3, पृ० 86 पर पृथ्वीधर की टीका।

वेष मे शकराज के शिविर मे जाकर उसका वध कर देता है। यद्यपि आगे की कथा पूरी तरह स्पष्ट नही है, पर नाटक का अत चन्द्रगुप्त द्वारा कायर व क्लीब रामगुप्त के वध तथा ध्रुवदेवी के साथ विवाह के रूप मे होता है।[1] नाट्यशास्त्र के विभिन्न ग्रथो मे इस नाटक के जो छुटपुट विवरण मिलते हैं उनमे केवल एक ही अतिप्राकृत तत्त्व का उल्लेख प्राप्त होता है। रामगुप्त द्वारा की गयी सधि से जब ध्रुवदेवी अपमान, भय और वितृष्णा के भावो से स्वय को आहत अनुभव करती है, तभी रात हो चुकी होती है और चन्द्रगुप्त इस समस्या के समाधान के लिए वेतालसाधना[2] की बात सोचता है। श्मशान मे रहने वाले भूत, प्रेत, पिशाच, वेताल आदि अतिप्राकृत प्राणियो को प्रसन्न कर अपनी उद्देश्य-सिद्धि मे उनकी सहायता लेने की बात भारतीय लोककथाओ की एक बहुप्रयुक्त कथानक रूढि रही है जिस पर तत्कालीन शैवधर्म का प्रभाव है। कथासरित्सागर मे वेताल, पिशाच, प्रेत आदि की साधना के अनेक प्रसग आये हैं।[3] भवभूति ने मालतीमाधव के पचम अक मे लोककथाओ से गृहीत इस कथानक रूढि का बडा ही सुन्दर प्रयोग किया है। यद्यपि 'देवीचन्द्रगुप्त' मे कुमार चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी के सम्मान की रक्षा के लिए अन्तत वेताल-साधना का मार्ग नही अपनाता, तथापि उसका उल्लेख मात्र तत्कालीन लोकविश्वास का सूचक है। विशाखदत्त ने राजा उदयन की प्रणयकथा के आधार पर 'अभिसारिकावचितक' नामक एक नाटक और लिखा था पर नाट्यशास्त्र के ग्रथो मे इससे सबधित जो विवरण मिले है उनमे किसी अतिप्राकृत तत्त्व का उल्लेख नही मिलता। इसी प्रकार शूद्रक के 'पद्मप्राभृतक' भाण मे भी ऐसा कोई उल्लेखनीय तत्त्व उपलब्ध नही होता।

निष्कर्ष

मृच्छकटिक और मुद्राराक्षस दोनो मे अतिप्राकृत तत्त्वो का लगभग अभाव है। इनमे न कथा के अन्तर्गत कोई अलौकिक घटना आई है और न इनका कोई पात्र ही अतिमानुषिक है। हमने ऊपर जिन दो चार तत्त्वो का उल्लेख किया उनका नाटकीय दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नही है। केवल तत्कालीन समाज के प्रचलित विश्वासो के रूप मे ही उनका विन्यास किया गया है। ये विश्वास किसी अतिप्राकृत घटना, तथ्य या पात्र को प्रत्यक्ष उपस्थित नही करते, केवल उनका सकेत मात्र देते हैं। अत उनके कारण इन नाटको के दैनन्दिन यथार्थ वातावरण पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पडता। यह कहने की आवश्यकता नही कि अतिप्राकृत तत्त्वो का स्थूल व प्रत्यक्ष समावेश इन नाटको की सामाजिक विषयवस्तु व यथार्थचेतना के अनुकूल नही होता। अत इस विषय मे शूद्रक और विशाखदत्त ने जो सयम प्रदर्शित किया है वह उनकी नाट्य-प्रतिभा का एक ज्वलन्त प्रमाण है।

— —

1 दे० वी० राघवन—कृत 'दि सोशल प्ले इन सस्कृत' मे इस नाटक की कथावस्तु का विवरण, पृ० 8–11

2 वे वनि ना (शकपतिना ?) पर कृच्छम् आपन्ति रामगुप्तस्क धावारम् अनुजिघृ उपायान्तरगोचरे प्रतीकारे निशि वेतालसाधनमध्यवस्यन कुमारगुप्त आत्रेयण विदूषकेन उक्त (उक्त) वी० राघवन भोजराजस्य शृगारप्रकाश' पृ० 860 पर उद्धृत।

3 दे० कथासरित्सागर 3 4 154-156, 18 2 3 70

६

हर्ष के नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

हर्षदेव (सम्राट् हर्षवर्धन, शासनकाल ६०६ से ६४८ ई०) के तीन रूपकों[1] में से दो—प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाएं हैं और तृतीय कृति नागानन्द एक नाटक। प्रथम दो में लोककथाओं में विख्यात ललित एवं विलासी वत्सराज उदयन के अन्तःपुर के प्रणय-प्रसंग अंकित हैं। विषयवस्तु, घटनाविन्यास, पात्र-चित्रण, भाव-व्यंजना तथा नाट्यपद्धति की दृष्टि से ये दोनों नाटिकाएं परस्पर प्रतिरूप-सी लगती हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण पात्र—जैसे—वत्सराज, वासवदत्ता, कांचनमाला, यौगन्धरायण और वसन्तक दोनों में समान हैं। नायिकाओं—आरण्यका और सागरिका—में भी नाम मात्र का अन्तर है, उनके व्यक्तित्व, स्वभाव व जीवन की परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य है। तथापि कवित्व व नाट्यकला की दृष्टि से रत्नावली प्रियदर्शिका से उत्कृष्टतर कृति है। रत्नावली में नाटककार ने प्रियदर्शिका की विषयवस्तु को ही अधिक परिष्कृत व कलात्मक रूप में पुनर्निबद्ध किया है। नागानन्द—विशेष रूप से उसका उत्तरार्ध—संस्कृत नाटक साहित्य की एक विशिष्ट उपलब्धि है जिसमें हर्ष ने पुराणों व लोककथाओं में वर्णित गरुड व नागों के वैर की पारम्परिक कथा के आधार पर बौद्धों के सर्वभूतकरुणा व आत्मोत्सर्ग के आदर्श का बड़ा ही प्रभावशाली चित्र अंकित किया है।

---

1 इन तीनों की प्रस्तावनाएं आपस में काफी मिलती-जुलती हुई हैं तथा वस्तुविधान, चरित्र-चित्रण व नाट्यपद्धति की दृष्टि से इनमें इतना साम्य है कि इनके एक ही व्यक्ति द्वारा प्रणीत होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। मम्मट के एक कथन (काव्यप्रकाश, 1 2 की वृत्ति) के आधार पर परवर्ती टीकाकारों ने इन रूपकों—विशेषतः रत्नावली के हर्षकृत होने में सन्देह व्यक्त किया है, परन्तु यह साक्ष्य बहुत बाद का तथा भ्रान्तिमूलक होने के कारण प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इत्सिंग (7वीं शती ई0) तथा दामोदरगुप्त (9 वीं शती ई0) के साक्ष्यों से सिद्ध है कि इनके समय में इन रूपकों के हर्षकर्तृत्व में कोई सन्देह नहीं था। (दे0 हिस्ट्री आव संस्कृत लिट्रेचर दे व दासगुप्त, पृ0 255-256)।

नागानन्द की तुलना मे प्रियदर्शिका और रत्नावली मे अतिप्राकृत तत्त्वों क स्वभावत सीमित प्रयोग हुआ है । नागानन्द मे आधारकथा की पौराणिक प्रकृ पात्रों की दिव्यता तथा नाटककार के धार्मिक व नीतिवादी दृष्टिकोण के कारण इन तत्त्वो के समावेश के लिए अधिक अवकाश रहा है । नाटिकाओ मे इन तत्त्वों का विशेषत निवहण सधि के अन्तर्गत प्रयोग हुआ है जिसका उद्देश्य नाट्यशास्त्रीय विधान के अनुसार अद्भुत रस की योजना द्वारा नाटक के अत को चमत्कारपूर्ण बनाना है । नाटककार ने सिद्धादेश, शकुन, दोहद, दैव आदि से सबधित कुछ कथानक-रूढियो व लोकविश्वासो का भी इन नाटिकाओ मे कहीं-कहीं विनियोग किया है, पर उनका नाटकीय दृष्टि से महत्त्व नगण्य है । ये तत्त्व अधिकतर नाटिकाओं की पृष्ठभूमि मे ही रहे हैं, उन्हे कथावस्तु का सार्थक अग नही बनाया जा सका है ।

प्रियदर्शिका

मत्रविद्या द्वारा विषचिकित्सा प्रियदर्शिका सभवत हर्ष की प्रथम कृति है। इसके चतुर्थ अक मे मत्र विद्या द्वारा विषचिकित्सा के रूप मे एक विशिष्ट अतिप्राकृत तत्त्व की योजना मिलती हे । ईर्ष्यालु वासवदत्ता द्वारा बन्दी बनायी गई आरण्यका प्रणय मे निराश होकर आत्महत्या के लिए विषपान कर लेती है । वत्सराज उदयन कभी नागलोक गये थे और वहा से विषनिवारण की विद्या सीख कर आये थे।[1] वासवदत्ता की आज्ञा से आरण्यका मूर्च्छित व मरणासन्न दशा मे चिकित्सा के लिए वत्सराज के पास लायी जाती है । वत्सराज अपनी मत्रविद्या के अलौकिक प्रभाव[2] से उसे पूर्णतया स्वस्थ कर देते है ।[3]

मन्त्र-तन्त्र आदि गुह्य विद्याओ मे प्राप्त होने वाली अलौकिक सिद्धियों म भारतीयो का प्राचीनकाल से ही विश्वास रहा हे । आज बीसवी शताब्दी मे भी यह विश्वास सर्वथा निर्मूल नही हुआ है । अत हम सोच सकते हैं कि श्री हर्ष के समय मे मत्रविद्या की प्रभविष्णुता मे सामान्य जनो की कितनी गहरी आस्था रही होगी ।

---

1 मनोरमे लब्धिहैवानय ताम । नागलोकादगृहीतविषविद्य आर्यपुत्रोऽत्र कुशल । प्रि० द० 4, पृ० 98 (चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1955) ।

2 उदयन म विषचिकित्सा की मान्त्रिक शक्ति की कल्पना सभवत हर्ष की अपनी उद्भावना है क्योंकि उदयनकथा के किसी भी स्रोत मे इसका उल्लेख नही मिलता । दे० डा० नीति अडवर कृत 'दि स्टोरी ऑव किंग उदयन', पृ० 60

3 (राजा प्रसत्य प्रियदर्शनाया उपरि हस्त निधाय मन्त्रस्मरण नाटयति)
(प्रियदर्शिका शनैरुत्तिष्ठति)
वासवदत्ता—आर्यपुत्र दिष्ट्या प्रत्युज्जीविता मे भगिनी ।
विजयसेन—अहो देवस्य विद्याप्रभाव । प्रि० द० 4, पृ० 102-103

प्रस्तुत प्रसंग की योजना का संकेत संभव है श्री हर्ष को कालिदास के *मालविकाग्निमित्र* से मिला हो जिसमें उद्कुंभविधान तथा नागमुद्रांकित अंगूठी के द्वारा सर्पविष के निवारण की बात कही गयी है। यहां इस अद्भुत तत्त्व द्वारा लेखक ने अपने नायक के व्यक्तित्व की असाधारणता का संकेत देते हुए उसे अपनी प्रेमिका के प्राण-रक्षक के रूप में गौरवान्वित किया है। नाटककार ने इस प्रसंग को आरण्यका की वास्तविकता के रहस्योद्घाटन एवं नाटक की सुखद समाप्ति के साथ सन्निविष्ट कर दिया है जिससे उसकी वस्तुयोजना की प्रवीणता प्रकट होती है। हम बता चुके हैं कि भरत ने नाटक की निर्वहण संधि में अद्भुत रस की योजना पर विशेष बल दिया है। संस्कृत नाटक में यह योजना प्रायः अतिप्राकृत तत्त्वों के रूप में ही होती है। ये तत्त्व तत्कालीन लोकविश्वासों के अविभाज्य अंग थे अतः इनकी योजना में नाटककार के सामने प्रेक्षकों के मन में अविश्वास या संशय जाग्रत करने का खतरा नहीं था।

रत्नावली

इस नाटिका में निम्नलिखित अतिप्राकृतिक तत्त्वों का प्रयोग मिलता है—(१) सिद्धादेश (२) मानव-व्यापारों में विधि की भूमिका (३) मंत्रादि द्वारा लताओं में पुष्पोद्गम तथा (४) ऐन्द्रजालिक चमत्कार। इनमें से कथावस्तु की दृष्टि से प्रथम व चतुर्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

सिद्धादेश इसका शाब्दिक अर्थ है सिद्ध पुरुष का आदेश या कथन। इस शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न किसी सिद्ध पुरुष द्वारा की गई भविष्य-वाणी के अर्थ में होता है। भारतीय परम्परा में ऋषि, मुनि, योगी, साधु, सन्त आदि सिद्धिसम्पन्न व्यक्तियों में भूत भविष्य व वर्तमान तीनों कालों के विषयों को जानने की शक्ति मानी जाती रही है। यह विश्वास किया जाता है कि वे किसी के विषय में जो भी भविष्यवाणी कर देते हैं वह अक्षरशः सिद्ध सत्य होती है। श्री हर्ष ने प्रस्तुत नाटिका में इसी लोकविश्वास के आधार पर, मुख्य प्रणयकथा की आधारभूमि तैयार करने की दृष्टि से, सिद्धादेश के अभिप्राय का समावेश किया है। यह भारतीय लोककथाओं व उनसे अनुप्राणित शिष्ट साहित्य का एक बहुप्रयुक्त अभिप्राय रहा है। भास ने स्वप्नवासवदत्त में, कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में तथा शूद्रक ने मृच्छकटिक में इसका उपयोग किया है, यह हम पहले बतला चुके हैं। हर्ष ने संभवतः स्वप्नवासवदत्त व मालविकाग्निमित्र से इसका संकेत ग्रहण किया होगा। यह इसी से स्पष्ट है कि इन दोनों नाटकों के समान रत्नावली में भी पात्रविशेष के किसी कार्य, आचरण या नाटकीय वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण अथवा औचित्यप्रदर्शन के लिए इसका प्रयोग किया गया है।

रत्नावली के विषय में किसी सिद्धपुरुष ने यह भविष्यवाणी की थी कि उसका विवाह जिस व्यक्ति के साथ होगा वह एक सार्वभौम राजा बनेगा।[1] इस सिद्धादेश की बात जानकर तथा उसमें विश्वास करके ही मंत्री यौगन्धरायण ने सिंहलेश्वर से वत्सराज के लिए रत्नावली की याचना की थी। स्वामिभक्त यौगन्धरायण वत्सराज को एक चक्रवर्ती राजा के रूप में देखना चाहता है। इसीलिए उसने वासवदत्ता की मृत्यु का झूठा प्रवाद फैलाकर भी रत्नावली को वत्सराज के लिए प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

श्री हर्ष ने सिद्धादेश के अभिप्राय को एक विशेष प्रयोजन से प्रयुक्त किया है। इसके द्वारा उसने वत्सराज के अन्तःपुर में रत्नावली (सागरिका) की उपस्थिति की तर्कसंगत व्याख्या के साथ-साथ प्रणयकथा की पृष्ठभूमि में स्वामिभक्त व दूरदर्शी मंत्री की नीतिपूर्ण भूमिका का भी निर्देश किया है। यौगन्धरायण की इस भूमिका की पूरी शक्ति व व्याप्ति का सामाजिक को नाटक के अन्तिम अंक में बोध होता है।[2] श्री हर्ष को यौगन्धरायण की उक्त भूमिका का संकेत शायद परम्परागत लोककथाओं तथा भास के उदयन-सम्बन्धी नाटकों से मिला होगा।

मानव-व्यापारों में विधि की भूमिका भारतीय विचारधारा मानव-कार्यकलापों में विधि या भाग्य की भूमिका को चिरकाल से स्वीकार करती आयी है। विधि, अदृष्ट या भाग्य की अपरिहार्य शक्ति में विश्वास एक औसत भारतीय के जीवन-दर्शन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। रत्नावली में श्री हर्ष ने भी अपने युग के लोगों में प्रचलित इस सर्वमान्य विश्वास को चित्रित किया है। वे विधि या भाग्य को मानव-व्यापारों का अदृश्य रूप से संचालन व नियमन करने वाली शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार के द्वारा कहे गये ये शब्द द्रष्टव्य हैं—

"अनुकूल विधि अन्य द्वीप से, समुद्र के मध्य से या दिगन्त से भी अभिमत वस्तु को लाकर उसके साथ तत्क्षण संयोग करा देता है।[3]

---

1 यौगन्धरायण —(कृताञ्जलि) देव श्रूयताम्। इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धेनादिष्टा यथा योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति। तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थं बहुशः प्रार्थ्यमानेनापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता तदा लावाणके दग्धा देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः।
(रत्नावली, 4, पृ० 203 (चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1964)

2 वही, 4 पृ० 203–204

3 द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥ वही, 1 6

यहाँ लेखक ने रत्नावली नाटिका के मुख्य प्रणय-वृत्त तथा उसकी पृष्ठभूमि में स्थित घटनाक्रम को ध्यान में रखते हुए मानव-व्यापारों में अनुकूल विधि की अदृश्य व महत्वपूर्ण भूमिका की ओर इंगित किया है। सूत्रधार के उक्त कथन के अनन्तर यौगन्धरायण 'एवमेतत्, क सन्देह' कहता हुआ रंगमंच पर प्रवेश करता है तथा सूत्रधार के शब्दों को दुहराता हुआ इस सदर्भ में समुद्र में विपद्ग्रस्त हुई रत्नावली के सकुशल कौशाम्बी लाये जाने का उल्लेख करता है। विगत घटनाओं पर विचार करते हुए वह विश्वासपूर्वक कहता है—"मैंने स्वामी के अभ्युदय के लिए जो कार्य आरम्भ किया था उसमें दैव ने मुझे सहायता दी है। अतः उसकी सफलता में मुझे कोई सन्देह नहीं है। यदि भय है तो यही कि मैंने राजा की अनुमति लिये बिना स्वेच्छानुसार आचरण किया है।"[1]

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि नाटककार ने नाटिका की मानवीय कथा को, एक विशिष्ट जीवन-दर्शन का भागीदार होने के कारण, विधि या भाग्य की लोकोत्तर व रहस्यमय शक्ति के साथ जोड़ दिया है, यद्यपि इसकी नाटकीय दृष्टि से कोई आवश्यकता नहीं थी।

मंत्र, मणि आदि द्वारा लताओं में अकालिक पुष्पोद्गम द्वितीय अंक के प्रवेशक में निपुणिका नामक दासी बताती है कि वत्सराज ने श्रीपर्वत से आये श्रीखण्डदास नामक किसी धार्मिक पुरुष से वृक्षों व लताओं में अकाल में ही पुष्प उत्पन्न करने की विद्या या क्रिया सीखी है जिसके द्वारा वे अपनी प्रिय नवमालिका लता में पुष्पोद्गम करेंगे।[2] आगे इसी अंक में बताया गया है कि उदयन द्वारा अनुष्ठित दोहद नवमालिका में पुष्पोत्पत्ति कराने में पूरी तरह सफल रहा। इस प्रसंग में वत्सराज ने मंत्र, मणि व औषधियों के अचिन्त्य प्रभाव का इस प्रकार वर्णन किया है—"भगवान् विष्णु के कंठ में मणि को देख कर ही शत्रुओं ने पलायन किया था, सर्पगण मंत्रबल से ही पाताल में निवास करते हैं तथा मेघनाद द्वारा आहत लक्ष्मण व वीर वानरगण महौषधि की गन्ध से ही पुनर्जीवित हुए थे।"[3] किन्तु इस विवरण से यह स्पष्ट नहीं होता कि इन तीनों में से किस उपाय द्वारा वत्सराज ने नवमालिका का दोहद सम्पन्न किया? इस सदर्भ में श्रीपर्वत व वहाँ से आये धार्मिक के उल्लेख से प्रतीत होता है कि उसने मंत्रविद्या द्वारा ही नवमालिका में पुष्प उत्पन्न किये होंगे। सम्भवतः हर्ष के युग में श्रीपर्वत तंत्र, मंत्र, योग आदि गुह्य विद्याओं व

---

1 वही, 1 7

2 वही, 2 पृ० 55

3 राजा—वयस्य क सन्देह। अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः।
कंठे श्रीपुरुषोत्तमस्य ... गन्ध पुनर्जीविता ॥ वही, 2 पृ० 71-72

साधनाओं के केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। भवभूति ने जो हर्ष के कुछ ही परवर्ती है, मालतीमाधव में श्रीपर्वत की उक्त ख्याति का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

वृक्षों व लताओं में पुष्पोद्गम वस्तुतः प्राकृतिक प्रक्रिया से होता है, किन्तु उक्त प्रसंग में मन्त्र आदि के अचिन्त्य प्रभाव को उसका कारण बताया गया है। इस दृष्टि से यह प्रसंग अतिप्राकृत कहा जायेगा। भारतीय परम्परा में योग, मन्त्र, तन्त्र मणि, औषधि आदि से प्राप्त होने वाली सिद्धियों में लोगों का अगाध विश्वास रहा है। योगदर्शन[1] व तन्त्र-साहित्य में वर्णित नानाविध विभूतियों व सिद्धियों के वर्णन से इसका समर्थन होता है।

यह स्मरणीय है कि वृक्षदोहद द्वारा पुष्पविकास की कल्पना कालिदास के मालविकाग्निमित्र में भी आयी है जिसके स्वरूप व मूल आधार का हम विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में 'दोहद' के अभिप्राय को नाटक के वृत्त के साथ जिस प्रकार सश्लिष्ट कर उसका अभिन्न अंग बना दिया है वैसा प्रस्तुत नाटिका में नहीं दिखाई देता। यहाँ इस प्रसंग की योजना का उद्देश्य केवल वत्सराज के व्यक्तित्व के एक असाधारण पक्ष को प्रकाश में लाना है।

ऐन्द्रजालिक चमत्कार चतुर्थ अंक में उज्जयिनी से आया सर्वसिद्धि नामक ऐन्द्रजालिक वत्सराज व वासवदत्ता के समक्ष इन्द्रजाल के दृश्य प्रस्तुत करता है। उसकी प्रतिज्ञा है कि वह अपने गुरु से सीखे मन्त्रों के प्रभाव से सब कुछ दिखा सकता है।[2] वह वत्सराज से पूछता है कि क्या पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल में अग्नि तथा मध्याह्न में सन्ध्या का दृश्य दिखाऊं ?[3] इन्द्रजाल के प्रवर्तक इन्द्र और मायाकुशल शम्बर को[4] सबसे प्रणाम करवा कर वह आकाश में ब्रह्मा, शंकर, विष्णु, इन्द्र तथा देवताओं व अप्सराओं को प्रत्यक्ष दिखाता है।[5] ब्रह्मा कमल पर

---

1 जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः। योगसूत्र 4 1

2 मम प्रतिज्ञा यद् यद् हृदयेनेष्टं सद्रष्टुम्।
तत्तद् दर्शयाम्यहं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण॥ रत्ना० 4 9

3 ऐन्द्र०—वही, 4 8

4 प्रणमत चरणाविन्द्रस्येन्द्रजालकर्मनिबद्धनाम्नः।
तथैव शम्बरस्य माया सुप्रतिष्ठितयशसः॥ वही, 4 7

5 ऐन्द्र०—यत् देव आज्ञापयति। (इति बहुविधं नाट्यं कृत्वा पिच्छिकां भ्रमयन्)
हरिहरब्रह्मप्रमुखान्देवान्दर्शयामि देवराजं च
गगने सिद्धचारणवधूसार्थं च नृत्यन्तम्॥ वही, 4 10

बैठे हुए हैं, शिवजी के मस्तक पर चन्द्रमा शोभित है, विष्णु अपनी भुजाओं में धनुष, असि, गदा व शंख लिये हुए हैं एवं दिव्य नारियाँ (अप्सराएँ) जिनके चंचल चरण नूपुरों से झंकृत हैं, आकाश में नाच रही हैं। इस दृश्य को देखकर वासवदत्ता चकित रह जाती है।[1] इसी समय उदयन को सिंहलराज के मंत्री वसुभूति व कंचुकी बाभ्रव्य के आगमन की सूचना दी जाती है। ऐसी स्थिति में ऐन्द्रजालिक को कुछ समय के लिए अपना कार्यक्रम स्थगित रखने के लिए कहा जाता है। सर्वसिद्धि जाते समय वत्सराज से कहता है कि आपको अभी मेरा एक इन्द्रजाल और देखना है। जब उदयन वसुभूति व बाभ्रव्य से बात कर रहा था, तभी सहसा राजप्रासाद से आग की लपटें निकलती दिखाई देती हैं।[2] वासवदत्ता की प्रार्थना पर उदयन उस आग में घुसकर बन्दिनी सागरिका को बन्धनमुक्त करके ले आता है। तभी आग सहसा शान्त हो जाती है तथा सभी वस्तुएं यथापूर्व दिखाई देती हैं।[3] यह आग वस्तुतः ऐन्द्रजालिक दृश्य है[4] जिसके पीछे यौगन्धरायण की कूट योजना काम कर रही है। यौगन्धरायण ने रत्नावली की बन्धन-मुक्ति तथा वसुभूति व बाभ्रव्य द्वारा उसके प्रत्यभिज्ञान के लिए इन्द्रजाल का प्रयोग कराया है[5] जिसमें वह पूर्णतया सफल रहता है। इसमें नाटक के सुखान्त में ऐन्द्रजालिक दृश्य की सोद्देश्य भूमिका नितान्त स्पष्ट है। इसका एक अन्य प्रयोजन वत्सराज को एक साहसी वीर पुरुष एवं अपनी प्रेमिका के प्राणरक्षक के रूप में अंकित करना भी है। साथ ही इस दृश्य द्वारा नाटककार ने अद्भुतरस की सृष्टि करते हुए नाटिका के अन्तिम भाग को अति विस्मयावह बना दिया है।

नागानन्द

पाँच अंकों के इस नाटक में विद्याधर राजकुमार जीमूतवाहन के प्रेम, परिणय व अनुपम आत्मत्याग की कथा निबद्ध की गई है। नाटक की प्रस्तावना से विदित होता है कि इसकी कथा 'विद्याधर जातक' से ली गई है, किन्तु यह जातक

---

1 वही, 4 11

2 वही 14–15

3 अहो महदाश्चर्यम्। क्वासौ गता हुतवहसंदर्भस्थमनदेव पुरः (वासवदत्ता दृष्ट्वा) कथमवन्ति-नृपात्मजेयम। वही 4 पृ० 195

4 विदूषक—भो मा सन्देहं कुरु। इन्द्रजालमेवेदम। भणितं तेन दास्याः पुत्रेणैन्द्रजालिकेन यथैको मम पुनः खेलोऽवश्य द्रष्टव्य इति। तन्नदर्शितम्। वही, 4 पृ० 196

5 राजा—ऐन्द्रजालिकवृत्तान्तोऽपि मन्त्र त्वत्प्रयोगात्।
यौगन्धरायण— देव एवम्। अन्यथान्तःपुर बद्धाया अस्याः कुतो देवस्य दर्शनम्। अनष्टायाश्च वसुभूतिना कुतः परिज्ञानम्। वही 4, पृ० 204

अब उपलब्ध नहीं होता। जीमूतवाहन के आत्मोत्सर्ग की कथा गुणाढ्यकृत बृहत्कथा में भी रही होगी, क्योंकि बृहत्कथामंजरी[1] व कथासरित्सागर[2] दोनों में यह कथा आई है तथा उसका स्वरूप नाटक की वस्तु से काफी मिलता-जुलता हुआ है। संभव है हर्ष ने विद्याधर जातक के साथ-साथ बृहत्कथा का भी उपयोग किया हो जो उसके समय में उपलब्ध रही होगी।

नागानन्द के प्रथम तीन अंकों में जीमूतवाहन व मलयवती के प्रणय व परिणय का वृत्त गुम्फित है और अंतिम दो अंकों में जीमूतवाहन के आत्मबलिदान का। इस प्रकार नाटकीय वस्तु दो खंडों में विभक्त हो गई है जिनके बीच का सम्बन्ध सूत्र पर्याप्त दृढ़ नहीं है। प्रथम तीन अंक वस्तु व अन्तश्चेतना की दृष्टि से रत्नावली व प्रियदर्शिका का ही रूपान्तर प्रतीत होते हैं। किन्तु चतुर्थ व पंचम अंकों में नाटक की कहानी ने एक नयी दिशा ग्रहण की है। प्रथम की तुलना में यह दूसरा भाग अधिक गंभीर है तथा धार्मिक व दार्शनिक विचारणाओं से पूर्ण है।[3] इसमें जीमूतवाहन के चरित्र में 'बोधिसत्त्व' के आदर्श को मूर्त रूप दिया गया है। वेल्स के मत में नाटककार ने दोनों भागों को अनेक युक्तियों से सफलतापूर्वक सग्रथित किया है। प्रथम अंक में नायिका मलयवती अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए गौरी की स्तुति करती हुई दिखायी गयी है तथा अन्तिम अंक में उसी की प्रार्थना से गौरी साक्षात् प्रकट होकर तथा जीमूतवाहन को प्रत्युज्जीवित कर नाटक की सुखद परिणति में सहायक होती है। इस प्रकार गौरी का अनुग्रह नाटक के दोनों खण्डों का एक सम्बन्ध-सूत्र कहा जा सकता है। श्री वेल्स के अनुसार "नाटक का प्रथम भाग दूसरे के बिना बहुत हल्का है और दूसरा प्रथम के बिना अतीव भयावह। ये दोनों खण्ड मिलकर शारीरिक व सार्वभौम प्रेम तथा विषयोपभोग व आत्मविसर्जन के सामंजस्य के सिद्धान्त एवं आस्था की अभिव्यक्ति हैं। उनके विचार में यह सामंजस्य पश्चिम की तार्किक व व्यावहारिक मनीषा के लिए एक अन्तर्विरोध प्रस्तुत कर सकता है, किन्तु प्राच्य समाधि के लिए यह एक सम्पूर्ण सन्तुलन की स्थिति है।"[4]

नागानन्द में वस्तु व पात्र दोनों की सृष्टि में अतिप्राकृतिक तत्त्वों का संयोजन हुआ है। चतुर्थ अंक तक के घटनाक्रम में कोई विशेष अतिप्राकृतिक तत्त्व नहीं मिलता, किन्तु पंचम अंक में निर्वहण संधि के अन्तर्गत कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का समायोजन किया गया है। ये तत्त्व नाटक की सुखान्तता की प्रक्रिया के अंग के रूप में विन्यस्त हैं।

---

1 द० तृतीयलम्बक, पृ० 107–111
2 दे० चतुर्थलम्बक, द्वितीय तरंग, 16–54, 203–256
3 दे० हनरी डब्ल्यू वेल्स दि क्लासिकल ड्रामा आव् इण्डिया, पृ० 60
4 वही, पृ० 61

दैवी साहाय्य मृत जीमूतवाहन का प्रत्युज्जीवन भारतीय नाट्यशास्त्र के सर्वमान्य विधान के अनुसार नाटक को सुखान्त बनाने के लिए हर्ष ने गौरी को नायक के दिव्य सहाय के रूप में प्रस्तुत किया है। गौरी की इस भूमिका का आधार उसने प्रथम अंक में ही निर्मित कर दिया है। गौरी ने मलयवती को स्वप्न में यह वर दिया था कि विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा उसका पति होगा।[1] इस वरदान के अनुसार मलयवती का विद्याधर राजकुमार जीमूतवाहन के साथ विवाह हुआ। किन्तु जीमूतवाहन अपने राज्य में उदासीन था तथा मातंग नामक एक अन्य विद्याधर ने उसके राज्य को छीन लिया था, इसलिए वह विद्याधर-चक्रवर्ती नहीं बन सका। अतः जब गरुड द्वारा घायल किये जाने पर जीमूतवाहन की मृत्यु हो गई तब मलयवती ने भगवती गौरी को उपालभ देते हुए कहा—"भगवति गौरि ! त्वया आज्ञप्त, यथा विद्याधर-चक्रवर्ती भर्ता ते भविष्यति इति, तत् कथं मम मन्दभाग्यायाः कृते त्वमलीकवादिनी संवृत्ता।[2]" मलयवती के इतना कहते ही गौरी साक्षात् प्रकट हुई। उसने मलयवती से कहा कि मैं अलीकभाषिणी कैसे हो सकती हूँ ? तदनन्तर उसने जीमूतवाहन पर अपने कमण्डलु का जल छिड़कते हुए कहा—

निजेन जीवितेनापि जगतामुपकारिणा।
परितुष्टास्मि ते वत्स ! जीव जीमूतवाहन ॥ ५.३८

गौरी के इन शब्दों के साथ ही मृत जीमूतवाहन जीवित होकर उठ बैठा। इतना ही नहीं गौरी ने उसे विद्याधर-चक्रवर्ती के पद पर भी अभिषिक्त किया।[3] चक्रवर्ती जीमूतवाहन को उसने काञ्चन चक्र, चतुर्दन्त धवलगज, श्याम अश्व तथा मलयवती—ये चार रत्न प्रदान किये।[4] तदनन्तर गौरी की प्रेरणा से ही मातंगदेव आदि विद्याधर-पतियों ने जीमूतवाहन को प्रणाम किया।[5] इस प्रकार जीमूतवाहन ने नाग शंखचूड़ की रक्षा के लिए जो आत्माहुति दी, भगवती गौरी के अनुग्रह से उसे अविलम्ब उसका शुभ फल मिल गया।

गरुड द्वारा अमृतवृष्टि व नागों का पुनरुज्जीवन जब गरुड को विदित हुआ कि मैं जिस व्यक्ति को खा रहा हूँ वह नाग नहीं, अपितु विद्याधरकुमार जीमूत-

---

1 नायिका—हञ्जे ! जानामि अद्य स्वप्ने एतामेव वीणां वादयन्ती भगवत्या गौर्या भणितास्मि—मलयवति ! परितुष्टास्मि तवानेन वीणाविज्ञानातिशयेन, अनया चालनन्तुच्छया असाधारणया ममोपरि भक्त्या ! तद् विद्याधर चक्रवर्ती अचिरेणैव ते पाणिग्रहणं निर्वर्तयिष्यति। नागानन्द, 1, पृ० 41–42 (चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी, 1956)।

2 वही, 5 पृ० 231

3 वही, 5 37

4 वही, 5 38

5 वही, 5 237

वाहन है तो उसे हार्दिक पश्चात्ताप हुआ। उसने आग मे जलकर अपने पाप का प्रायश्चित करने का निश्चय किया, किन्तु मरणासन्न जीमूतवाहन ने उसे ऐसा करने से रोका। उसके उपदेश से गरुड ने प्राणिवध से विरत होने की प्रतिज्ञा की तथा नागो को अभय प्रदान किया।[1]

आहत जीमूतवाहन की मृत्यु होने पर उसकी शोकाकुल वृद्धा मा ने लोकपालो से प्रार्थना की—"भगवन्तो लोकपाला कथमप्यमृतेन सिक्त्वा पुत्रक मे जीवयत।"[2] इस बात को सुनकर पश्चात्ताप-दग्ध गरुड को स्मरण हुआ कि मैं इन्द्र के पास से अमृत लाकर न केवल जीमूतवाहन को ही अपितु पूर्वभक्षित अस्थिशेष नागो को भी पुनर्जीवित कर सकता हू।[3] यह सब सोचकर वह अमृत लाने के लिए स्वर्ग चला गया। इसी बीच गौरी ने प्रकट होकर मृत जीमूतवाहन को पुनर्जीवित किया। तब तक गरुड भी अमृत लेकर आ पहुचा। उसके द्वारा बरसाये गये अमृत से भी सभी मृत सर्प पुनरुज्जीवित होकर समुद्र की ओर रेगने लगे। इस प्रकार गरुड ने पूर्व भक्षित नागो को नया जीवन देकर अपने पाप का प्रायश्चित किया।[4]

भारतीय परम्परा मे अमृत नवजीवन व अमरता देने वाला दिव्य पेय माना गया है। पौराणिक कथाओ के अनुसार अमृत व विष दोनो समुद्र से निकले थे। अमृत का देवो ने पान किया और विष असुरो को दिया गया। देवो की अमरता का रहस्य उनका अमृतपान ही माना गया है। यहा नाटककार ने नागो के पुनर्जीवन के लिए इसी पौराणिक पेय की जीवनदायिनी शक्ति का नाटक की सुखान्तता के लिए उपयोग किया है।

नाटक के इस अन्तिम भाग मे गौरी के दिव्य हस्तक्षेप के विषय मे डा० दे ने अपना निम्न अभिमत व्यक्त किया है—"नाटक का पर्यवसान भी दुर्बल है, क्योकि (जीमूतवाहन का) महान् आत्म-बलिदान एक सच्चे दुखान्त की ओर इगित करता है किन्तु उसे सुखान्त मे बदलने तथा सद्गुणो को पुरस्कृत करने के लिए दिव्य हस्तक्षेप की जो योजना की गई है वह एक अविश्वासोत्पादक कृत्रिम युक्ति है। इस नाटक का नायक एक विद्याधर और नायिका सिद्धकन्या है, अत इसके वातावरण मे अति-प्राकृत तत्त्वो का प्रयोग विसगत नही लगता किन्तु इन तत्त्वो ने अतिम दुखान्त

---

1 वही, 5 26–27

2. वही, 5 पृ० 227

3 गरुड—(सहर्षमात्मगतम्) अरे! अमृतमजीननान् साधु स्मृतम। मन्ये प्रमृष्टमयश तद् यावत् त्रिदशपतिमभ्यर्थ्य तदविसृष्टेनामृतवर्षेण न केवल जीमूतवाहनम् एतानपि पूर्वमक्षितानस्थिशेषानाशीविषान् प्रत्युज्जीवयामि। वही, 5, पृ० 228

4 वही, 5 36

जटिलता का एक बहुत आसान समाधान प्रस्तुत किया है जिससे उसके प्रभाव की गरिमा को क्षति पहुँची है"।[1] डा० दे के इस मत से हम सहमत हैं किन्तु हमें यह भी सोचना होगा कि हर्ष भारतीय परम्परा के नाटककार होने के नाते नाटक को दुःखान्त नहीं बना सकते थे। यही कारण है कि उन्होंने गरुड की अमानवीय निर्घृणता तथा जीमूतवाहन के त्याग व बलिदान का इतना अंकित करने के बाद गरुड का हृदय-परिवर्तन दिखाते हुए जीमूतवाहन को अपने उदात्त सद्गुणों के लिए गौरी के हाथों तत्क्षण पुरस्कृत भी करा दिया है। इससे नाटक का अन्त कृत्रिम होते हुए भी एक विशेष धार्मिक व नैतिक आस्था का व्यंजक हो गया है। भारतीय परम्परा जीवन में पाप या अशुभ की सत्ता स्वीकार करती है पर उसमें शुभ को अभिभूत करने का सामर्थ्य नहीं मानती। दूसरे शब्दों में अन्तिम विजय का अधिकार वह उसे नहीं देती। गरुड ने अपने दुष्कर्मों के लिए जो पश्चात्ताप व प्रायश्चित्त किया उसमें उसकी क्रूर प्रकृति पूरी तरह प्रक्षालित हो गयी। श्री वेल्स के शब्दों में 'अन्त में उसकी (गरुड की) उदात्तमयता का अभिनन्दन किया गया है उसकी बुराइयों की निन्दा नहीं।"[2] उनके विचार में—'भारतीय नाटक सकल्पयुक्त शिव का ही अभिनन्दन करता है, वह अशिव को स्वीकार करता है पर उसका अधिक साहसपूर्ण सामना करने की बात उसे अस्वीकार्य है।"[3] हर्ष ने नागानन्द के अन्त में दैवी हस्तक्षेप व अमृत-वृष्टि द्वारा जीमूतवाहन व नागों को पुनरुज्जीवित करा कर भारतीय संस्कृति का यही सनातन दृष्टिकोण व्यक्त किया है। इस दृष्टिकोण को हम चाहें तो संस्कृत नाटक की एक शक्ति या उपलब्धि के रूप में देख सकते हैं या दार्शनिक व नैतिक आग्रहों के लिए कलाकार के निरीह आत्मसमर्पण के रूप में। इसमें सन्देह नहीं कि इन विचारसरणि के कारण संस्कृत नाटक जहाँ शुद्ध नीतिवादी व दार्शनिक दृष्टि से उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है वहाँ यथार्थ की कसौटी पर उसे बहुत कुछ खोना भी पड़ा है। यह बात संस्कृत के बड़े से बड़े नाटककार—कालिदास, शूद्रक, भवभूति—के विषय में भी उतनी ही सत्य है जितनी हर्ष जैसे द्वितीय श्रेणी के नाटककार के विषय में।

अतिप्राकृतिक पात्र नागानन्द के प्राय सभी पात्र देवजाति के हैं। नायक जीमूतवाहन एक विद्याधर है और नायिका मलयवती सिद्ध जाति की। देवयोनि के होने पर भी ये व्यक्तित्व और कार्य की दृष्टि से मानव हैं। जीमूतवाहन के व्यक्तित्व में नाटककार ने बोधिसत्त्व के आदर्श का मूर्तिमान् किया है। प्रारम्भ में वह राज्य-सुख से उदासीन, विषयों से विरक्त तथा माता-पिता की सेवा में तत्पर बताया गया

---

1 हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 259-260

2 दि क्लासिकल ड्रामा ऑव् इण्डिया पृ0 17

3 वही, पृ0 18

है। बाद मे वह एक प्रेमी के रूप मे हमारे सामने आता है। किन्तु उसके चरित्र का उज्ज्वलतम पक्ष चतुर्थ व पचम अको मे उद्घाटित हुआ है जहाँ वह भूतदया की भावना से प्रेरित होकर नाग शख-चूड की रक्षा के लिए अपना जीवन न्यौछावर कर देता है। उसकी महासत्त्वता तब पराकाष्ठा पर पहुच जाती है जब वह गरड द्वारा अपने अग-प्रत्यगो के खाये जाने पर भी मुसकराता रहता है।[1] यह उचित ही है कि गरुड उसकी महाकरुणा, आत्मबलिदान और महासत्त्वता से प्रभावित होकर अपने पापो के लिए सच्चे मन मे प्रायश्चित करता है। जीमूतवाहन का अप्रतिम आत्मत्याग उसके व्यक्तित्व को एक महामानव या अतिमानव की कोटि मे स्थापित कर देता है।

नायिका मलयवती पहले एक प्रेमिका और फिर पतिप्राणा पत्नी के रूप में हमारे सामने आती है। दिव्य सिद्धकन्या होने पर भी उसका व्यक्तित्व सर्वांशत मानवीय है। गरुड एक पुराकथात्मक विशालकाय पक्षी है जिसकी नागो के साथ शत्रुता महाकाव्यो व पुराणो की अनेक कथाओ का विषय रही है। इन कथाओ के अनुसार वह काश्यप और विनता का पुत्र तथा भगवान् विष्णु का वाहन और ध्वज है।[2] आकार की दृष्टि से वह मनुष्य और पक्षी का मिलाजुला रूप प्रस्तुत करता है। नागानन्द मे गरड के विषय मे कहा गया है कि पहले वह अपने पखो की वायु से समुद्र के जल को हटा कर वेग से पाताल मे चला जाता था और वहाँ नागो को पकड कर अपना आहार बनाता था। उसके इस कार्य से समस्त नाग जाति के विनाश की आशका से त्रस्त होकर वासुकि ने गरड से प्रार्थना की कि हमारी सन्तति का विच्छेद होने से तुम्हारे ही स्वार्थ की हानि होगी। अत हम तुम्हारे लिए प्रतिदिन एक नाग भेज दिया करेंगे। इस समझौते के अनुसार वासुकि प्रतिदिन एक नाग दक्षिण समुद्र के तट पर भेज देता है। गरुड भी प्रतिदिन वहाँ आकर उसे अपना आहार बनाता है।[3]

चतुर्थ अक मे गरड की एक विराट् आकार वाले पक्षी के रूप मे कल्पना की गई है। जब वह आकाश मे उडता है तो वायु का वेग प्रचण्ड हो जाता है, उसके पखो से आकाश ढक जाता है, समुद्र का जल वेला लाघ कर पृथ्वी को प्लावित करने लगता है। द्वादश आदित्यो के समान दीप्तिशाली वह अपनी शरीर-कान्ति से दिशाओं को कपिश बना देता है।[4] वध्य शिला पर रक्त वस्त्र ओढ़ कर बैठे जीमूतवाहन का

---

1 वही, 5 15
2 महाभारत, आ० प० अध्याय 23 से 34
3 नागानन्द 4 पृ० 143-145
4 वही, 4 22

अपनी चोच में दबाकर वह आकाश में उड जाता है तथा मलय पर्वत के शिखर पर बैठ कर उसके अ गों को काट-काट कर खाता है।

नाटककार ने इस क्रूरकर्मा पौराणिक पक्षी में भी परितापशील मानव-हृदय की प्रतिष्ठापना का स्तुत्य प्रयास किया है। अपने पापो के लिए पश्चात्ताप करता हुआ वह नागो को पुनर्जीवित करने हेतु स्वर्ग से अमृत लेकर आता है तथा आकाश से ही उसकी वृष्टि कर उन्हें नया जीवन प्रदान करता है। गरुड के व्यक्तित्व व चरित्र के उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हर्ष ने उसके पौराणिक स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए उसे आत्मग्लानि से ग्रस्त मनुष्य की सवेदनाओ से भी विभूषित किया है।

शखचूड, जिसकी प्राणरक्षा के लिए जीमूतवाहन ने आत्मबलिदान किया, नाग जाति का व्यक्ति है। नाटककार ने उसके चरित्र को मानवीय धरातल पर अकित करते हुए उसके नाग-व्यक्तित्व को भी दृष्टि में रखा है। पचम अक में शखचूड गरुड को अपने नागत्व का विश्वास दिलाने के लिए निम्नलिखित चिह्न दिखाता है[1]—(१) वक्ष स्थल पर स्वस्तिक (२) केचुली (३) दो जिह्वाए, तथा (४) फण।

गौरी पात्र के रूप में नाटक के केवल अतिम अक मे उपस्थित होती है। उसके दिव्य हस्तक्षेप व अहेतुक अनुग्रह से ही नाटक की दु खान्त कारुणिक कथा सुखान्त मे परिवर्तित होती है। अभिनवगुप्त ने भरत के नाटक-लक्षण का विवेचन करते हुए नागानन्द मे गौरी को जीमूतवाहन का दिव्य आश्रय बताया है।[2]

अन्य अतिप्राकृतिक तत्त्व : *प्रस्तुत नाटक मे सिद्धलोक, विद्याधर लोक,* नागलोक, देवलोक, आदि विभिन्न लोको तथा उनके दिव्य निवासियो का उल्लेख मिलता है।[3] मलयपर्वत पर स्थित सिद्धलोक मे हरिचन्दन, सन्तानक आदि दिव्य वृक्षो की स्थिति मानी गयी है।[4] प्रथम अक मे जीमूतवाहन द्वारा याचको को

---

1 वही, 5-18

2. न च सवथादेवचरित तथा वर्णनीयम। किन्तु दिव्यानामाश्रयत्वेन प्रकरीपताकानायकादिरूपेण, उपतमुपगमोऽङ्गीकरण यत्र। तथा हि नागानन्दे भगवत्या पूर्णकरुणानिर्भराया साक्षात्करणे व्युत्पत्ति जयिते। निरन्तरभक्तिभावितानामेवन्नाम दवता प्रसीदति, तस्माद्देवाराधनपुरस्सर मुपायानुष्ठान कार्यमिति।

अभिनवभारती, नाटशा० भाग 2, पृ० 412

3 नागानन्द, 2 13 (सिद्धलोक) 4 पृ० 145 (नागलोक), 5 प० 213 (देवलोक), 1 16 (स्वर्गस्त्री, नागी, विद्याधरी सिद्धाङ्गना)

4 वही, 3 9

७ वेणीसंहार में अतिप्राकृत तत्त्व

भट्ट नारायण[1] का एकमात्र उपलब्ध यह नाटक संस्कृत के वीर रसप्रधान नाटकों में प्रमुख है और आलंकारिकों व नाट्यशास्त्र के लेखकों का विशेष प्रिय रहा है। वामन (८०० ई०) व आनन्दवर्धन (८६०-८९० ई०) ने अपने ग्रन्थों में इसके अनेक स्थल उद्धृत किये हैं, अतः इसका रचनाकाल अनुमानतः सप्तम शती ई० का उत्तरार्द्ध या अष्टम का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।[2] इस आधार पर भट्ट नारायण भवभूति के कुछ ही पूर्ववर्ती या समकालीन प्रतीत होते हैं।

वेणीसंहार के आन्तरिक साक्ष्य से विदित होता है कि भट्ट नारायण विष्णु के भक्त थे। उन्होंने कृष्ण को विष्णु से अभिन्न माना है तथा विभिन्न पात्रों के मुँह से उनके प्रति अपना भक्तिभाव व्यक्त किया है। नाटक में वर्णित कृष्ण के व्यक्तित्व की अलौकिकता के मूल में उनकी यही भावना प्रतीत होती है। दार्शनिक दृष्टि से भट्ट नारायण वेदान्त के अनुयायी कहे जा सकते हैं।[3]

वेणीसंहार की वस्तु महाभारत के युद्धपर्व की कथा पर आधारित है। नाटककार ने भीमसेन की प्रतिज्ञा व उसकी पूर्ति के वृत्त को केन्द्र में रखते हुए उसके चारों ओर नाटकीय वस्तु का सगुम्फन किया है। द्रौपदी का वेणीबंधन नाटक का मुख्य कार्य है जिसके आधार पर इसका नामकरण हुआ है।

---

1 बंगाली परम्परा के अनुसार भट्ट नारायण उन पाँच ब्राह्मणों में से एक थे जिन्हें सेन राजवंश के प्रतिष्ठापक आदिशूर ने कान्यकुब्ज से बुलाकर बंगाल में बसाया था। किन्तु डा० दे ने इस परम्परा की सत्यता में सन्देह प्रकट किया है (देखिए—हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ० 272)। भट्ट नारायण ने अपने जीवनवृत्त के विषय में हमें कुछ नहीं बताया है और न किसी अन्य स्रोत से ही इस बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी मिल सकी है। प्रस्तावना में उसने अपनी 'मृगराज' उपाधि का उल्लेख किया है, पर उसका वास्तविक आशय अज्ञात है।

2 दे० स्टेन कोनो इण्डियन ड्रामा, पृ० 124, दे व दासगुप्त हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिट्रेचर, पृ० 271–272

3 वेणीसंहार, 1 23 (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, नवम संस्करण, 1940)

नाटक का आरम्भ युधिष्ठिर के शान्तिप्रयास की सूचना के साथ होता है। श्रीकृष्ण पाडवो के दूत बनकर दुर्योधन के पास गये हैं। युधिष्ठिर पाच गाव लेकर ही सन्धि के लिए तैयार हैं, किन्तु दुर्योधन उनके सधि-प्रस्ताव को ठुकरा देता है, जिससे पाडवो के सामने युद्ध के सिवा कोई विकल्प नही रह जाता। भट्ट नारायण ने द्वितीय अक से षष्ठ अक तक महाभारत के आधार पर इस इतिहास प्रसिद्ध युद्ध की विभिन्न घटनाओ को नाटक का रूप देने का प्रयास किया है, पर इसमे वह विशेष सफल नही हो सका है। इसमे घटनाए तो बहुत हैं, पर उनकी योजना मे नाटकीय औचित्य की कमी खटकती है। महाभारत युद्ध के अधिक से अधिक विवरणो का समावेश करने के प्रयत्न मे नाटक के अनेक स्थल वर्णन-प्रधान श्रव्यकाव्य मे परिवर्तित हो गये हैं। द्वितीय अक मे दुर्योधन व भानुमती का प्रणय-प्रसग अनावश्यक है तथा तृतीय अक मे कर्ण व अश्वत्थामा का वाक्कलह अपने-आप मे प्रभावशाली होने पर भी कथा का अपरिहार्य अग नही बन सका है। अन्तिम अक मे चार्वाक नामक राक्षस द्वारा युधिष्ठिर के साथ की गई प्रवचना का प्रसग अतिरजित हो गया है तथा युधिष्ठिर के चरित्र की गरिमा के प्रतिकूल है। अत वस्तुयोजना की दृष्टि से वेणीसहार एक सफल नाटक नही कहा जा सकता, पर चरित्र-चित्रण मे नाटककार को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है। भीष्म, दुर्योधन, अश्वत्थामा, कर्ण आदि पात्र सजीव व आकर्षक हैं तथापि चरित्रचित्रण म नाटककार औचित्य का सम्यक् निर्वाह नही कर सका है। प्रतिनायक दुर्योधन का चरित्र हमे नायक के चरित्र की अपेक्षा अधिक प्रभावित करता है। पात्रो के चरित्र मे सतुलन और अनुपात की उपेक्षा का ही यह परिणाम है कि इस नाटक के नायक का प्रश्न विवाद का विषय बना हुआ है।

संस्कृत नाटक के इतिहास मे वेणीसहार एक मील के पत्थर के समान है। संस्कृत नाटक की अनेक ह्रासकालीन प्रवृत्तियो का सर्वप्रथम दर्शन इसी मे होता है। हर्ष की नाटिकाए और नाटक यदि इस ह्रासकाल की ओर सक्रान्ति के सूचक हैं तो वेणीसहार इस ह्रास की दिशा का प्रथम निर्देशक। कथावस्तु मे प्रत्यक्ष-गोचरता के स्थान पर वर्णनात्मकता, घटनाओ व पात्रो की योजना मे सयत व सन्तुलित दृष्टि का अभाव, अनाटकोचित दीर्घसमासयुक्त भाषा, कृत्रिम व अलकृत शैली, गद्य का क्रमिक ह्रास तथा पद्यो की सख्या मे वृद्धि एव दृश्यकाव्य व श्रव्यकाव्य के भेद का क्रमश लोप संस्कृत नाटक के ह्रासकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं। वेणीसहार व भवभूति के रूपको मे ये प्रवृत्तिया आरम्भिक रूप मे ही मिलती हैं किन्तु मुरारि व राजशेखर की कृतियो मे वे चरम परिणति पर पहुच गई हैं। भट्ट नारायण की सबसे बडी सफलता वीरयुग के शौर्य, पराक्रम, प्रतिशोध, क्रोध, अहकार, दभ, क्रौर्य

आदि भावों की ओजस्वी अभिव्यक्ति द्वारा नाटक में वीरयुग के वातावरण की सृष्टि में निहित है।

वेणीसंहार में अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग सीमित रूप में ही प्राप्त होता है। कुछ तत्त्व लेखक की धार्मिक भावना से प्रसूत हैं, कुछ पर मूल कथा का प्रभाव है, कुछ नाटककार की अपनी उद्भावनाएं हैं और कुछ सामान्य लोकविश्वासों की अभिव्यक्तियां हैं। नाटकीय दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृत तत्त्व भीमसेन के शरीर में राक्षसों के प्रवेश व उनके द्वारा दुःशासन के रक्तपान की कल्पना है।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

कृष्ण का विश्वरूप प्रथम अंक में बताया गया है कि दुर्योधन ने न केवल युधिष्ठिर के शान्ति-प्रस्ताव को ठुकरा दिया अपितु पाण्डवों के दूत भगवान् कृष्ण को बंदी बनाने का भी यत्न किया। किन्तु कृष्ण जो साक्षात् पुराणपुरुष विष्णु हैं अपने विश्वरूप के तेज—सम्पात से दुर्योधन को मूर्च्छित कर पाण्डवों के शिविर में सकुशल लौट गये।[1] इस घटना को नाटककार ने सूच्य रूप में निबद्ध किया है तथा इसके द्वारा कृष्ण के ईश्वरत्व का संकेत देते हुए उनके प्रति अपना भक्तिभाव प्रकट किया है। विश्वरूप की यह कल्पना महाभारत के उद्योगपर्व[2] से ली गयी है जहां कौरवों की राजसभा में कृष्ण ने अपना यह रूप दिखाया है। पहले कहा जा चुका है कि भास ने भी दूत-वाक्य में इस प्रसंग की योजना की है। और उनका भी उद्देश्य कृष्ण की ईश्वरता का निरूपण कर उनके प्रति अपनी भक्ति प्रकट करना है। किन्तु जहां भट्ट नारायण ने इसे मात्र सूच्य रूप में उपस्थित किया है वहां भास ने दृश्य-सूच्य के मिले-जुले रूप में अंकित कर इसे अधिक नाटकीय बना दिया है।

राक्षसों का अनुप्रवेश तृतीय अंक के प्रवेशक में नाटककार ने राक्षसी वसागन्धा व राक्षस रुधिरप्रिय के संवाद द्वारा युद्ध में भगदत्त, जयद्रथ, द्रुपद, भूरिश्रवा, सोमदत्त व द्रोण आदि योद्धाओं के वध की सूचना दी है। साथ ही रक्त व वसा आदि के कुंभ भरने की बात में युद्ध के बीभत्स परिणामों का लोमहर्षक चित्र अंकित किया है।

राक्षस रुधिरप्रिय बातचीत में वसागन्धा को बताता है कि स्वामिनी हिडिम्बा-देवी ने उसे युद्ध में भीमसेन के पीछे-पीछे चलने की आज्ञा दी है। इसका प्रयोजन

---

1 कञ्चुकी—तत्र स महात्मा दर्शितविश्वरूपतेजःसम्पातमूर्च्छितमवधूय कुरुकुलमस्मच्छिविरसंनिवेशमनुप्राप्तः कुमारमविच्छिन्नं द्रष्टुमिच्छति। वेणीसंहार, 1 पृ० 27–28

2 अध्याय, 131, 2-13

यह है कि भीमसेन ने दु शासन के रक्तपान की प्रतिज्ञा की है। यह रक्तपान स्वयं भीमसेन नहीं करेंगे, अपितु उनके शरीर में प्रविष्ट होकर राक्षस लोग करेंगे।[1]

नाटककार की उक्त योजना भीमसेन के चरित्र को बचाने के लिए नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भीमसेन न दु शासन के रक्तपान की प्रतिज्ञा की है, पर मनुष्य द्वारा मनुष्य का रक्तपान—और वह भी बंधु का—एक पाशविक, घृणित व नृशंस कर्म है। अत भीमसेन की प्रतिज्ञा पूर्ण करने और साथ ही उसे नररक्तपान के नैतिक दोष से बचाने के लिए नाटककार ने यह कल्पना की है।

भारतीय पुराण-कथाओं में राक्षस लोग रक्तलोलुप व मनुष्यभक्षी अतिप्राकृत प्राणियों के रूप में कल्पित किये गये हैं। इसी परंपरागत धारणा के अनुसार यहा उन्हें भीमसेन के शरीर में प्रविष्ट होकर दु शासन के रक्त का पान करते हुए बताया गया है। आपातत रक्तपान भीम ही करता है, भीम का यह कार्य स्पष्टत एक राक्षसी कृत्य है, अत नाटककार की कल्पना स्थूल व प्रतीकात्मक दोनों अर्थों में खरी है।

अमानुषी वाक तृतीय अंक के अंत में भीम द्वारा आक्रांत दु शासन की रक्षा करने के लिए ज्योंही अश्वत्थामा शस्त्र ग्रहण करने की बात सोचता है, त्यों ही उसे यह आकाशवाणी सुनाई देती है—"महात्मन भारद्वाजसूनो। न खलु सत्यवचनम् उल्लघयितुम् अर्हसि।'[2] अश्वत्थामा पहले शस्त्रत्याग की प्रतिज्ञा कर चुका है इसलिए वह शस्त्र ग्रहण कर लेता तो उसका सत्य सकल्प खंडित हो जाता। उक्त दिव्यवाणी उसे सत्यवचन से विचलित होने से बचाती है। अश्वत्थामा कहता है—"यह मुझे युद्ध में उतरने से मना कर रही है, देवता लोग सर्वथा पाडवों के पक्षपाती हैं।"[3] अश्वत्थामा के कथन से स्पष्ट है कि उसके विचार में अमानुषी वाक् देवताओं द्वारा उत्पन्न की गई है।

यहा यह सकेत निहित है कि जब मनुष्य अपने किसी सत्य निश्चय को तोड़ने का प्रयत्न करता है तो दैवी प्रेरणा उसे वैसा करने से रोकती है।[4] इस प्रकार अमानुषी वाक् की कल्पना में जहा प्राचीन युग का एक आस्तिक विश्वास प्रकट हुआ है, वहा उसमें एक मनोवैज्ञानिक सत्य की भी झलक मिलती है।

---

1 राक्षस—वसागन्धे, तेन हि स्वामिना वृकोदरेण दु शासनस्य रुधिर पातु प्रतिज्ञातम्। तच्चास्माभी राक्षसैरनुप्रविश्य पातव्यम्। वही, 3 पृ० 67

2. वही, 3 पृ० 93-94

3 अश्वत्थामा—कथमियममानुषी वाग्मामनुमनुते सग्रामावतरण मम।
सर्वथा पाण्डवपक्षपातिनो देवा। वही, 3 पृ० 94

4 कृप—वत्स, अशरीरिणी भारती भवन्तमनुनाभिरुणद्धि। वही, 3 पृ० 94

जलस्तम्भनी विद्या षष्ठ अंक से विदित होता है कि दुर्योधन अपने पक्ष के सभी बड़े योद्धाओं के मरने पर अपनी जलस्तम्भनी विद्या द्वारा समन्तपंचक के एक सरोवर के भीतर जाकर छिप गया।[1] नाटककार ने इस प्रसंग को महाभारत से लिया है। विद्याओं द्वारा अतिप्राकृत शक्तियों की प्राप्ति में भारतीयों का चिरकाल से विश्वास रहा है। कालिदास ने अपने नाटकों में तिरस्करिणी और शिखाबन्धिनी विद्याओं के अलौकिक प्रभाव का उल्लेख किया है यह हम पहले बता चुके हैं।[2]

राक्षसी रूप परिवर्तन दुर्योधन का मित्र चार्वाक नामक राक्षस एक मुनि के रूप में[3] युधिष्ठिर के पास आकर उसे गदायुद्ध में भीमसेन की मृत्यु व अर्जुन तथा दुर्योधन के बीच गदायुद्ध प्रारंभ होने की मिथ्या सूचना देता है। इस प्रसंग द्वारा नाटककार ने नाटक की सुखातता में संशय, अनिश्चितता और कौतूहल उत्पन्न करते हुए युधिष्ठिर के तीव्र भ्रातृ-प्रेम को उजागर करने का प्रयत्न किया है, पर अतिरंजित हो जाने के कारण यह प्रसंग अभीष्ट उद्देश्य को पूरा नहीं करता।

दैवी अभिनन्दन भीम द्वारा द्रौपदी की वेणी बाँध दिये जाने पर नेपथ्य में आकाशचारी सिद्धजनों का आशीर्वाद सुनाई देता है[4] युधिष्ठिर आशीर्वाद सुनकर द्रौपदी से कहते हैं—"हे देवी! आकाश में विचरण करने वाले सिद्धजन तुम्हारे वेणीसंहार का अभिनन्दन कर रहे हैं।'[5] अवलोककार धनिक ने इस स्थल में निर्वहण सन्धि का उपगूहन नामक अंग माना है[6], क्योंकि यहां सिद्धजनों के आशीष के रूप में अद्भुत अर्थ की प्राप्ति हुई है। दैवी प्रसन्नता व अभिनन्दन के साथ नाटक की सुखद परिसमाप्ति नाटककार की धार्मिक भावना की सूचक है।

अतिप्राकृत पात्र

श्रीकृष्ण वेणीसंहार में भगवान् श्रीकृष्ण तथा राक्षस व राक्षसी इन तीन अतिप्राकृतिक पात्रों का चित्रण हुआ है। जैसाकि हमने पहले कहा है, भट्ट नारायण ने कृष्ण को भगवान् विष्णु से अभिन्न माना है। प्रथम अंक में कृष्ण के दौत्य की सूचना दी गई है। सूत्रधार के अनुसार कृष्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व संहार में

---

1 पाञ्चालक— 'भो वीर वृकोदर जानाति किल सुयोधन सलिलस्तम्भनीविद्याम्। तन्नूनमेनेन त्वद्भयात्सरसीमनामधिशयितेन भवितव्यम्। वही 6 पृ० 161

2 द० प्रस्तुत प्रबंध पृ० 176, दे० चित्रकला 2 पृ० 24-25

3 राक्षस (आत्मगतम्) एषोऽपि चार्वाको नाम राक्षसः सुयोधनस्य मित्र पाण्डवान्वञ्चयितु भ्रमामि। वेणीसंहार, 6 पृ० 169

4 वही, 6 42

5 देवि, एष खलु नभस्तलचारिणा सहारोऽभिनन्दितो नभस्तलचारिणा सिद्धजनेन। वही, 6 पृ० 202

6 दे० दशरूपक 1 53 पर अवलोक

समर्थ साक्षात् विष्णु हैं जिन्होंने कौरवों और पांडवों की युद्धरूपी प्रलयाग्नि को शान्त करने के लिए पांडवों का दौत्य ग्रहण किया है।[1] इसी अंक में आगे कृष्ण द्वारा अपने विश्वरूप के प्रदर्शन का उल्लेख हुआ है।[2] सहदेव खेदपूर्वक कहता है कि दुष्ट दुर्योधन भगवान् वासुदेव का स्वरूप भी नहीं पहचानता।[3] भीम के अनुसार कृष्ण साक्षात् पुराण देव हैं जिनका योगी लोग समाधि लगाकर अपने भीतर साक्षात्कार करते हैं।[4] षष्ठ अंक में युधिष्ठिर ने भी उन्हें 'पुराणपुरुष नारायण' मानते हुए उनके सगुण व निर्गुण दोनों रूपों का वर्णन किया है।[5] कृष्ण के उक्त स्वरूप में नाटककार की भक्ति व दार्शनिक-भावना की अभिव्यक्ति हुई है।

राक्षस-दम्पती रुधिरप्रिय व वसागंधा भट्टनारायण की अपनी उद्भावनाएं हैं। राक्षस-सम्बन्धी पौराणिक कल्पनाओं का उपयोग करते हुए भी नाटककार ने राक्षस-युगल के स्नेहमय दाम्पत्य जीवन के चित्रण में उनका मानवीकरण कर दिया है। इसी प्रकार राक्षस चार्वाक एक धूर्त, वंचक व क्रूर मनुष्य की भूमिका में अवतीर्ण हुआ है।

अतिप्राकृत लोकविश्वास

प्रस्तुत नाटक में अतिप्राकृत तत्त्वों के सूचक लोकविश्वासों का भी अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। इन विश्वासों में शकुन व दैव से सम्बन्धित विश्वास प्रमुख हैं। भानुमती का स्वप्न कौरवों के भावी विनाश का सूचक माना गया है[6] तथा उसका दोष दूर करने के लिए देवपूजा, ब्राह्मणों को दान, यज्ञ, हवन आदि उपाय बताये गये हैं जो कि तत्कालीन धार्मिक भावना के सूचक हैं। युद्धभूमि में रथ के ध्वज का पतन भी एक अपशकुन बताया गया है।[7] दक्षिण या वाम नेत्र के

---

1 सूत्रधार—(आकर्ण्य सानन्दम्।) अहो नु खलु भो, भगवता सकलजगत्प्रभवस्थितिनिरोध प्रभविष्णुना विष्णुनाद्यानुगृहीतमिदं भरतकुलं सकलं च राजचक्रमनया कुरुपाण्डवराजपुत्रयोराहवकल्पान्तानलप्रशमहेतुना स्वयं सन्धिकारिणा कंसारिणा दूतेन। वही 1 पृ0 9

2 वही, 1 पृ0 27–28

3 आर्य, किमसौ दुरात्मा सुयोधनहतको वासुदेवमपि भगवन्तं स्वरूपेण न जानाति।

वही, 1 पृ0 28

4 वही, 1 23

5 वही, 6 43

6 सखी चेटी च (अन्योन्यमवलोक्य अपवार्य) अत्र नास्ति स्तोकमपि शुभसूचकम्। न खलु दृष्टिगो नकुलस्य वा दशनमहितावधे च स्वप्ने प्रशमन्ति विचक्षणा। वही, 2 पृ0 46

7 कंचुकी—देव, किंचित्। किन्तु शमनार्थमस्यानिमित्तस्य विज्ञापयितव्यो देव इति स्वामिभक्तिर्मां मुखरयति। वही, 2, पृ0 56

स्फुरण को भावी शुभ या अशुभ का सूचक माना गया है।[1] नाटक से ज्ञात होता है कि दैव की शक्ति और उनके अनुल्लंघनीय विधान में उस समय के लोगों का गहरा विश्वास था। विभिन्न अवसरों पर प्रिय या अप्रिय घटना के पीछे दैव की प्रेरणा मानी गयी है। कर्ण के अनुसार कुल विशेष में जन्म दैव के अधीन है पर पौरुष सर्वथा मनुष्य के आयत्त है।[2] दुर्योधन के दशा-विपर्यय के लिए पहले दैव को उपालम्भ दिया गया है, किन्तु फिर स्वयं दुर्योधन के कार्यों को ही उनके लिए उत्तरदायी बनाया गया है।[3] इससे स्पष्ट है कि उस समय लोगों का दृष्टिकोण एकान्ततः दैववादी न था, वे मानवीय पौरुष और कर्म में भी आस्था रखते थे। संभवतः दैववाद निराश व असफल जनों का जीवन-दर्शन था, क्योंकि नाटक में प्रायः ऐसे ही पात्रों के मुंह से दैववादी वचन कहलाये गये हैं।[4] मरणोत्तर जीवन,[5] परलोक में पुनर्मिलन,[6] श्राद्ध-तर्पण आदि कर्मों द्वारा मृतकों की प्रसन्नता,[7] देवों द्वारा दुन्दुभिवादन व पुष्पवृष्टि,[8] युद्ध में हत वीरों द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति[9] आदि अतिप्राकृत तत्वों का भी जो तत्कालीन धार्मिक व पौराणिक कल्पनाओं पर आधारित हैं, नाटक में उल्लेख हुआ है।

रस वेणीसंहार का प्रधान रस वीर है, पर रौद्र बीभत्स अद्भुत, करुण आदि रसों का भी इसमें यथास्थान चित्रण हुआ है। कृष्ण के विश्वरूप के प्रसंग में विस्मय-परिपुष्ट रतिभाव की अभिव्यक्ति हुई है। तृतीय अंक में राक्षस-राक्षसी का दृश्य बीभत्स रस का तथा राक्षसाविष्ट भीम द्वारा दुःशासन का वध व रक्तपान रौद्र

---

1 राजा—(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा) मा मनसि नैव दुर्योधनस्यानिमित्तानि हृदयक्षोभमावहन्ति। (2 पृ0 47) युधिष्ठिर —(दक्षिणाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा) पाञ्चालि, निमित्तानि मे कथयन्ति सभ्रातृवधमसि कृतार्थमिति। वही, 6 पृ0 191

2 वही 3 47

3 सुन्दरक —भदन्त। दैवनियोगोऽनुवर्त्यः। हहा दैव एकादशानामक्षौहिणीनां नाथो ज्येष्ठो भ्रातृशतस्य महाराजदुर्योधनोऽप्येवमवस्थः। अथवा तस्य खलु पाञ्चालीकेशग्रहकुसुमस्य फलं परिणमति। वही 4 पृ0 105

4 दुर्योधन—पराङ्मुखं खलु दैवमस्माकम् (5, पृ0 136) नाम्ना केवलमेतु दैवपशुना निर्णायकोऽद्य मदितो (5 9)

5 वही, 6 पृ0 188–190

6 एक क्षणं विरम वत्स! सिद्धोऽसि पानुं त्वया सह जवादनुयातोऽस्मि॥ वही, 6 30

7 वही 3 18, 6, पृ0 188–190

8 सिद्धचारणैरविमुक्तकुसुमप्रकरा प्रज्वलिता नगराम्। वही, 4 पृ0 116

9 वही, 6 32

रस का स्थल है। अमानुषी वाक् व जलस्तम्भनी विद्या द्वारा दुर्योधन का सरोवर में निवास कौतूहल व विस्मय के अभिव्यंजक हैं। षष्ठ अंक के अन्तिम भाग में आकाशस्थ सिद्धों के आशीर्वाद तथा व्यास, वाल्मीकि व राम की उपस्थिति अद्भुत रस की व्यंजक हैं। यहां शास्त्रीय निर्देश के अनुसार निर्वहण संधि में अद्भुत रस की योजना की गई है जो आरोपित व कृत्रिम है।

निष्कर्ष

अतिप्राकृतिक तत्त्वों के प्रयोग में भट्ट नारायण ने प्रायः सोद्देश्य दृष्टि का परिचय दिया है। भीम के शरीर में राक्षसों के अनुप्रवेश की कल्पना मानव-मूल्यों के प्रति नाटककार के आदर की सूचक है। तृतीय अंक का प्रवेशक एक अतीव सशक्त दृश्य प्रस्तुत करता है। अमानुषी-वाक् की योजना अश्वत्थामा के आचरण को संगति देने की चेष्टा है, पर नाटकीय दृष्टि से इसकी विशेष उपयोगिता नहीं है। जलस्तम्भनी विद्या की सहायता से दुर्योधन का जल के भीतर निवास महाभारत से गृहीत कल्पना है। अन्तिम अंक में राक्षस चार्वाक के रूप-परिवर्तन द्वारा जिस प्रसंग की सृष्टि की गई है वह सोद्देश्य होते हुए भी अतिरंजित हो गया है। श्रीकृष्ण के विश्वरूप-दर्शन में महाभारत के प्रभाव के साथ-साथ नाटककार की धार्मिक भावना भी समन्वित है। नाटक की निर्वहण संधि में दैवी अभिनन्दन तथा व्यास, वाल्मीकि व राम आदि की उपस्थिति का कथावस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः यह कल्पना निर्वहण संधि में अद्भुत रस की योजना के विषय में नाट्यशास्त्रीय निर्देश का एक अन्धपालन मात्र है।

---

८ | भवभूति के नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

संस्कृत नाटक के क्षेत्र में कालिदास के अनन्तर सबसे लोकप्रिय व प्रख्यात नाम भवभूति का ही है। लौकिक संस्कृत काव्य में वे ही एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्हें कालिदास की श्रेणी में रखा जा सकता है। एक परम्परागत सूक्ति के अनुसार तो उनका उत्तररामचरित शाकुन्तल से भी उत्कृष्ट माना गया है।[1] भवभूति की यह प्रशंसा कुछ अतिरंजित होने पर भी सर्वथा निराधार नहीं है। वस्तुतः भवभूति की प्रतिभा के कुछ ऐसे पक्ष हैं जिनमें कालिदास भी उनकी बराबरी नहीं कर सकते। मानव-हृदय के तीव्र भावोद्वेगों व विक्षुब्ध अन्तरात्मा की गम्भीर वेदनाओं का जैसा मार्मिक चित्रण भवभूति ने किया है वैसा संस्कृत के किसी भी अन्य कवि ने नहीं।

भवभूति के वैयक्तिक जीवन के विषय में हमारे ज्ञान का एकमात्र स्रोत उनके नाटक ही हैं जिनकी प्रस्तावनाओं में लेखक ने अपने जन्मस्थान, वंश, विद्या आदि का विवरण दिया है।[2] इस विवरण के अनुसार भवभूति दक्षिणापथ के पद्मपुर नगर में रहने वाले, उदुंबर नामक उन विद्वान् ब्राह्मणों के कुल में उत्पन्न हुए थे जो

---

1 उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।
उत्तररामचरित के टीकाकार घनश्याम द्वारा विक्रमार्क से उद्धृत। डॉ० श्री पी० वी० काणे द्वारा संपादित 'उत्तररामचरित' की घनश्यामकृत टीका पृ० ५.

2 महावीरचरित में यह विवरण अन्य दो नाटकों की अपेक्षा अधिक विस्तृत रूप में दिया गया है। वह इस प्रकार है— 'अस्ति दक्षिणापथे पद्मपुरं नाम नगरम्। तत्र केचित्तैत्तिरीयाः काश्यपाश्चरणगुरवः पङ्क्तिपावनाः पञ्चाग्नयो धृतव्रताः सोमपीथिन उदुम्बरनामानो ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति। तदामुष्यायणस्य तत्रभवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पञ्चमः सुगृहीतनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्तेर्नीलकण्ठस्यात्मसम्भवः श्रीकण्ठपदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जातुकर्णीपुत्रः कविर्मित्रधेयमित्यत्र भवन्तो विदाङ्कुर्वन्तु।' महावीरचरित, 1 पृ० 7–8 (निर्णयसागर प्रेस चतुर्थ संस्करण, बम्बई, 1926)।

यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अध्येता, पचाग्नि तप करने वाले, सोमपीथी, पंक्ति पावन एव काश्यप गोत्र के थे। भवभूति के पितामह का नाम भट्ट गोपाल तथा माता व पिता का क्रमश जतुकर्णी व नीलकण्ठ था। उन्होने अपने गुरु का नाम ज्ञाननिधि बताया है तथा अपनी श्रीकंठ उपाधि का उल्लेख किया है। वे अनेक शास्त्रो के उद्भट विद्वान् थे जिनमे से कुछ का विवरण नाटक की प्रस्तावनाओ मे दिया गया है। उनकी कृतिया उनके बहुमुखी वैदुष्य की ज्वलन्त प्रमाण हैं। पर यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होने शास्त्रीय ज्ञान को नाटक के लिए विशेष उपयोगी नही माना है जिसमे काव्य के प्रति उनकी सच्ची निष्ठा व्यक्त होती है।[1]

स्वय भवभूति के कथनानुसार उनके तीनो नाटको का कालप्रियनाथ के यात्रोत्सवो मे अभिनय किया गया था तथा भरतो (अभिनेताओ) के साथ उनका विशेष सौहार्द था।[2]

भवभूति के स्थितिकाल के निर्णय मे विशेष कठिनाई नही है। कल्हण ने राजतरगिणी मे वाक्पतिराज व भवभूति को कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा (लगभग ७०० से ७५० ई०) का आश्रित बताया है।[3] वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' नामक प्राकृत काव्य मे भवभूति के काव्य की प्रशसा की है।[4] गउडवहो मे ७३३ ई० के एक ग्रहण का उल्लेख मिलता है जिसके आधार पर इसका रचनाकाल लगभग ७४० ई० माना गया है।[5] अत भवभूति का समय इससे कुछ पहले अर्थात् ७००–७२५ ई० माना जा सकता है। इस स्थितिकाल का समर्थन इस बात से भी होता है कि बाणभट्ट (७वी शती पूर्वार्द्ध) ने भवभूति का उल्लेख नही किया और वामन (८०० ई०) ने उत्तररामचरित व महावीरचरित से एक-एक श्लोक उद्धृत किया है।

---

1 यदवेदाध्ययन तथोपनिषदा साख्यस्य योगस्य च
ज्ञान तत्कथनेन किं न हि तत कश्चिद्गुणो नाटके।
यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसा यच्चार्थतो गौरव
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमक पाडित्यवैदग्ध्यया॥
मालतीमाधव, 1 10 (नि० सा० प्रे०, षष्ठ सस्करण, बम्बई, 1936)

2 दे० म० च०, म० मा० तथा उ० रा० च० की प्रस्तावनाए

3 कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवित।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥ राजतर०, 4 144

4 भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु॥ (सस्कृत रूपान्तर)
गउडवहो, गाथा स० 799

5 दे० श्री पी० वी० काणे द्वारा सपादित उत्तररामचरित की भूमिका, पृ० 29

कालिदास के समान भवभूनि के भी तीन नाटक उपलब्ध होते हैं। कालिदास जहा खण्डकाव्यो व महाकाव्यो के भी प्रणेता ये वहा भवभूति की सम्पूर्ण कीर्ति का आधार उनके तीन नाटक ही हैं। इनमे से दो—महावीरचरित व उत्तर-रामचरित रामकथा पर आधारित हैं तथा तीसरा मालती व माधव की कल्पित प्रणय कथा पर। रचनाक्रम की दृष्टि से महावीरचरित भवभूति की प्रथम कृति मानी जाती है और उत्तररामचरित अन्तिम। मालतीमाधव का स्थान इन दोनो के मध्य मे है तथापि अपने अध्ययन मे हम मालतीमाधव को सवप्रथम लेगे और उसके बाद क्रमश महावीरचरित व उत्तररामचरित को जो विषयवस्तु की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हैं।

भवभूति की प्रतिभा को उनके समकालीन सहृदयो ने सभवत बहुत देर से पहचाना। प्रारम्भ मे उन्हे अवना व आलोचना का भी पात्र बनना पडा।[1] इससे उनके मन मे इतना क्षोभ हुआ कि उन तथाकथित सहृदयो की निष्पक्षता मे उनकी आस्था उठ गई। इसीलिए उन्होने यह सुखद कल्पना की है कि निरवधि काल और विपुला पृथ्वी मे कभी न कभी कोई ऐसा समानधर्मा अवश्य उत्पन्न होगा जो उनके काव्य की अन्तरात्मा को पहचान कर उनका सम्मान कर सकेगा।[2]

यद्यपि कल्हण ने भवभूति को राजा यशोवर्मा का आश्रित कवि बताया है, पर यह सदिग्ध ही है कि उन्हे कभी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हुआ हो व जीवन मे सुख, शान्ति व समृद्धि के भागी रहे हो। उनके नाटको मे जिस विक्षुब्ध मानस की अभिव्यक्ति हुई है, कम से कम उसमे यही सिद्ध होता है। ऐसा लगता है कि भवभूति को अपने जीवन मे विषम परिस्थितियो के इतने आघात झेलने पडे कि वे अतिशय गम्भीर व भावुक प्रकृति के कवि बन गये। उनके तीनो नाटको मे उनकी इसी भ्रान्त प्रकृति की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।

नाटक के क्षेत्र मे भवभूति नूतन दृष्टि लेकर अवतीर्ण हुए थे। उन्होने अपनी कृतियो मे अनेक नये प्रयोग किये हैं, जो उनकी मौलिक व स्वतत्र प्रतिभा के परिचायक हैं। दाम्पत्य-प्रणय के विषय मे एक उदात्त व आदर्शवादी दृष्टिकोण

---

1 ये नाम केचिदिह न प्रथयन्त्यवज्ञा
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्न। मा० मा० 1 8
'यथा स्त्रीणा तथा वाचा साधुत्वे दुर्जनो जन' (उ० रा० च० 1 5) मे भी सभवत उनका वैयक्तिक अनुभव बोल रहा है।

2 उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्यय निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥ मा० मा० 1 8

उनके नाटको की प्रमुख विशेषता है। उत्तररामचरित मे दाम्पत्य-प्रेम की इसी उदात्त भूमिका का दर्शन कराना उनका ध्येय रहा है।

भवभूति ने नाट्यशास्त्र के विधान के प्रतिकूल उत्तररामचरित मे करुण रस को अगी बनाया है तथा उसे सभी रसो का मूल आधार मानते हुए[1] उसकी अभिव्यक्ति को अननुभूतपूर्व पराकाष्ठा पर पहुचाया है। जीवन के प्रति इस गम्भीर व आदर्शवादी दृष्टिकोण का ही यह परिणाम है कि उन्होंने अपने किसी भी नाटक मे परम्परागत हास्यपात्र विदूषक की योजना नही की। वस्तुत हास्यरस भवभूति की गभीर व विदग्ध प्रकृति के अनुकूल नही है। इसकी क्षतिपूर्ति के रूप मे उन्होने वीर, रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि रसो के चित्रण मे विशेष रुचि दिखाई है। प्रकृति-चित्रण मे भी भवभूति की दृष्टि नूतनता लिये हुए है। जहा कालिदास व अन्य कवि प्रकृति के मधुर व कमनीय रूपो के प्रेमी हैं, वहा भवभूति को उसके विकट, भयावह व उग्र रूपों से अधिक अनुराग है। मानव-हृदय के कोमल व कारुणिक भावों की व्यजना मे वे जितने कुशल हैं उतने ही ओजस्वी, उग्र व त्रासद भावो के चित्रण मे भी।

भवभूति के नाटको मे कुछ दोषो की ओर भी इगित किया गया है, उनके वस्तु विधान मे प्राय सयम व अनुपात की उपेक्षा हुई है। उनके नाटको की कथा वस्तु अनेक वर्षो मे प्रसृत रहती है तथा कभी-कभी दो अको का कालिक अतराल बहुत अधिक होता है।[2] उनके चरित्रो मे स्थिरता, अन्तर्मुखता, निष्क्रियता तथा कदाचित् वैयक्तिकता की कमी दृष्टिगत होती है। उक्त दोष महावीरचरित व मालतीमाधव मे अधिक मुखर हैं। अनेक स्थलो पर बाह्य क्रियाशीलता स्थगित-सी हो गई है तथा वे वर्णनात्मक या प्रगीतात्मक बन गये हैं। ऐसे स्थलो मे कवि भाव-प्रवाह मे बहकर नाटकोचित सन्तुलन व सयम का ध्यान नही रख पाता।

शैली की दृष्टि से भी भवभूति के नाटको म कुछ दोष आ गये हैं। वेणी-सहार के सदभ मे हम बता चुके है कि सस्कृत नाटक के ह्रासकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति उसका श्रव्य काव्य के आदर्श की ओर उन्मुख होना है। इस प्रवृत्ति के

---

1 एको रस करुण एव निमित्तभेदाद
भिन्न पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरगमयान्विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥
उत्तररामचरित, 3 47 (नि० सा० प्रे० बम्बई, 1915)

2 महावीरचरित में लगभग चौदह वष की तथा उत्तररामचरित में बारह वर्ष की घटनाएँ सगृहीत हैं। उत्तररामचरित के प्रथम व द्वितीय अक के बीच बारह वष का व्यवधान है।

फलस्वरूप उसमे दृश्यात्मकता की मात्रा निरन्तर घटती गई और वर्णनात्मकता का पलडा भारी होता गया। इस प्रवृत्ति का सूत्रपात वेणीसहार मे हुआ तथा भवभूति के नाटको मे उसे आगे विकसित होने का अवसर मिला। श्रव्य काव्य के शैलीगत आदर्शों को अपना लेने से अभिव्यक्ति मे कृत्रिमता, क्लिष्टता व अलङ्कृति की वृद्धि हुई। दीर्घ वाक्यो व समस्त पदो की रचना की प्रवृत्ति क्रमश अतिरेक पर पहुच गई। ये दोष भवभूति के नाटकों मे भी न्यूनाधिक रूप मे देखे जा सकते हैं। इन सीमाओं के बावजूद भवभूति अपनी कृतियो मे कवित्व व नाटकत्व का जो ऊचा प्रतिमान स्थापित कर सके उसका सम्पूर्ण श्रेय उनकी मौलिक व कारयित्री प्रतिभा को है।

भवभूति की तीनो ही कृतियो मे अतिप्राकृत तत्त्वो का समावेश मिलता है। मालतीमाधव मे उनका प्रयोग अशत लोककथाओं के प्रभाव की देन है और अशत भवभूति के युग मे प्रचलित योग, तन्त्र-मन्त्र आदि की साधनाओं व उनसे अलौकिक शक्तियो की प्राप्ति मे सामान्य जनो की आस्था से प्रेरित है। दूसरी ओर महावीर-चरित व उत्तररामचरित मे ये तत्त्व राम-कथा की पौराणिक पृष्ठभूमि तथा उसके परम्परागत अतिमानवीय प्रसगो, पात्रो व विश्वासो की देन प्रतीत होते हैं। कालिदास के समान भवभूति का युग भी पौराणिक धर्म व उसके अलौकिक विश्वासो को स्वीकार करता था। उत्तररामचरित मे इन विश्वासो का नाटकीय कथानक के विकास मे विशिष्ट योगदान दिखाई देता है। वस्तुविन्यास मे चमत्कार-सृष्टि के लिए अद्भुत तत्त्वों की योजना का आग्रह भी इन नाटको मे अतिप्राकृत तत्त्वों के विधान का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिसकी हम आगे चर्चा करेंगे।

मालतीमाधव

दस अको का यह प्रकरण कथावस्तु, पात्र, रस व वातावरण की दृष्टि मे भवभूति के शेष दो नाटको से नितान्त भिन्न हैं। महावीरचरित व उत्तररामचरित की पौराणिक कथा, पात्र व परिवेश के विरुद्ध मालतीमाधव मे हम स्वय को तत्कालीन सामाजिक जीवन की जीवन्त स्थितियो, चरित्रो व वातावरण के बीच पाते हैं। प्रकरण होने के कारण इसकी कथावस्तु कल्पित व लोकसश्रय है तथा पात्र तत्कालीन समाज के उच्च-मध्य वर्ग से लिये गये हैं।[1] मालती व माधव के विघ्न-बहुल प्रणयजीवन का वृत्तान्त ही नाटक की मुख्य वस्तु है। नाटककार ने आधि-कारिक कथा के समानान्तर मकरन्द व मदयन्तिका मे सम्बद्ध एक प्रासगिक वृत्त की

---

1 अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्य लोकसश्रयम्।
अमात्यविप्रवणिजामेक कुर्याच्च नायकम्॥ द०रू० 3 39

माधव जब कृष्ण चतुर्दशी की आधी रात म श्मशान मे पहुचता है तो उसे चारो ओर भूत-प्रेतो का कोलाहल सुनाई देता है। महामास हाथ मे लिये हुए वह कटपूतना नामक शवभक्षक पिशाचो को इस प्रकार सबोधित करता है—

> अशस्त्रपूनमव्याज पुरुषागोपकल्पितम् ।
> विक्रीयते महामास गृह्यता गृह्यतामिति ।। ५ १२

इस उद्घोषणा के साथ ही श्मशान मे सभी ओर हलचल मच जाती है। सारा श्मशान-वाट भूतो मे व्याप्त हो जाता है।[1] वह देखता है कि उल्कामुख नामक पिशाचो के भीषण व दीप्त मुखो मे समस्त आकाश भरा है। उनके होठो के कोने कानो के पास तक फटे हुए हैं जिनके खुलने पर आग की लपटें चमकती दीखती हैं। उनके मुख मे से नुकीले दात बाहर निकल रहे हैं, उनके केश, नेत्र, भौह और मूछें विद्युत् के समान दीप्तिशाली है तथा उनके कृश व दीर्घ शरीर कभी दिखायी देते हैं और कभी ओझल हो जाते हैं।[2]

पिशाचो का एक समूह जल्दी जल्दी शवमास खा रहा है, उनके मुख मे अधखाये मासकवल गिर रहे हैं। उनकी काली त्वचा स्नायुओ से नद्ध है। स्नायु ग्रथियो से व्याप्त उनके शरीर ककालमात्र दिखायी देते हैं।[3]

कृश व शुष्क शरीर वाले पिशाचो के मुख-विवर मे विशाल व चपल जिह्वा जले हुए पुराने चदन वृक्ष की कोटर मे चलने वाले अजगर के समान प्रतीत होती है।[4]

एक दीन प्रेत अक मे स्थित शव की चमडी छील कर उसके विभिन्न पुष्ट अगो मे से तीव्र गन्ध युक्त मास निकाल कर खा रहा है। शव की स्नायुओ, आत व नेत्र आदि का भक्षण कर वह दात निपोरता हुआ उसकी हड्डियो के नतोनत भागो मे फसे मास को खुरच खुरच कर खा रहा है।[5]

कुछ शव-भक्षक पिशाच जलती हुई चिताओ से अधजले शवो को खीचकर उनसे निस्सृत मज्जा की धाराओ को पी रहे हैं।[6] पिशाच-अगनाओ ने अपने हाथो

---

1 माधव—कथमाघोषणानन्तरमेव सर्वत समुच्चलदुत्तालतुमुलव्यक्तकलकलाकुल प्रचलित इवाविभवदभूतसकट श्मशानवाट । मा०मा० 5, पृ० 119
2 वही 5 13
3 वही, 5 14
4 वही, 5 15
5 वही, 5 16
6 वही, 5 17

मे आनो के मागलिक कगन, कानो मे स्तम्त्रियो के हृन्दकमन के आभूपए तथा गले मे हृत्पुण्डरीको की मालायें पहन रखी हैं। रक्तपक के कुकुम मे चर्चित वे अपने प्रियतम पिशाचो के साथ कपालो के प्यालो मे भरभर कर अस्थि-रस की सुरा पी रही हैं।[1]

माधव महामास खरीदने के लिए उनका बारबार आह्वान करता है, पर वे भयभीत होकर दूर चले जाते हैं। तभी उसे श्मशान मे स्थित कराला के मन्दिर मे मालती की आर्त पुकार सुनाई देती है।[2] वह तत्क्षण वहा पहुचकर देखता है कि कापालिक अघोरघट देवी चामुण्डा को मालती की बलि देने के लिये उद्यत है। वह क्रूर अघोरघट का वध कर मालती के प्राण बचाता है।

हम अनुमान कर सकते हैं कि भवभूति ने इस श्मशान-दृश्य मे भूत-प्रेतादि के विकृत स्वरूप व बीभत्स चेष्टाओ का वर्णन तत्कालीन लोकविश्वास के आधार पर किया होगा। आज भी भूत-प्रेतो के सम्बन्ध मे इस प्रकार के विश्वास साधारण जनो मे प्रचलित हैं। सभवत इस दृश्य को कवि ने अपनी कल्पना द्वारा भी काफी सजाया-सवारा है, लेकिन तत्कालीन लोक-विश्वास ही इसका मूल आधार प्रतीत होते है।

यह स्पष्ट है कि उक्त दृश्य मे प्रेत, पिशाच आदि सामाजिको को साक्षात् दिखाई नही देते। रगमच पर केवल माधव उपस्थित है जो उन्हे दूर से देखता है। 'नेपथ्ये कलकल' इस रगमचीय निर्देश से विदित होता है कि सामाजिको को पर्दे के पीछे से उनका कोलाहल मात्र सुनाई देता है। माधव द्वारा पिशाचो की बीभत्स व भयावह क्रीडाओ का विस्तृत वर्णन भी यह सूचित करता है कि नाटककार सामाजिको को उनका केवल शाब्दिक ज्ञान कराना चाहता है, प्रत्यक्ष दर्शन नही। सभवत रगमच की सीमाओ के कारण नाटककार इस विषय मे विवश था।

मालतीमाधव की वस्तु-योजना मे इस श्मशान-दृश्य का औचित्य चिन्त्य है। इसकी लौकिक प्रणयकथा म यह दृश्य अनावश्यक व आरोपित-सा प्रतीत होता है। नाटककार मुख्य कथा के साथ इसका कोई तार्किक सम्बन्ध नही बैठा पाया है। भूत-प्रेत जैसे अतिप्राकृतिक प्राणियो से सम्बद्ध होने के कारण इस दृश्य का प्रकरण के सामाजिक वातावरण के साथ भी सामजस्य नही बैठता। नाटककार ने इसकी योजना का एकमात्र हेतु यह बताया है कि माधव अपने प्रणय म असफल व निराश होकर अतिप्राकृत शक्तियो की सहायता प्राप्त करने के लिए श्मशान मे जाता है।

---

1 वही 5 18
2 वही 5 20

किन्तु नाटक की मानवीय प्रणय-कथा मे अतिमानवीय शक्तियो की सहायता पाने की बात बिलकुल असगत लगती है। सच तो यह है कि माधव को ऐसी कोई सहायता मिलती भी नही है। तथापि यह दृश्य सर्वथा अनावश्यक व असगत भी नही कहा जा सकता। लेखक ने निस्सन्देह कुछ विशिष्ट नाटकीय प्रयोजनो की दृष्टि से इसकी योजना की है। एक प्रयोजन तो माधव के असीम साहस व शौर्य का ओजस्वी चित्र अकित करना है। लोककथाओ व रोमेटिक प्रणय कथाओ मे नायक द्वारा *किसी सकट से नायिका की रक्षा की कथानक-रूढि बहुधा प्रयुक्त होती है।* तृतीय अक मे नाटककार ने मकरन्द द्वारा मदयन्तिका की सिंह से रक्षा कराई है। यहा नाटककार ने उसी के अनुकरण पर माधव द्वारा मालती की रक्षा का साहसपूर्ण प्रसग निबद्ध किया है। प्रस्तुत श्मशान-दृश्य इसी प्रसग की पृष्ठभूमि के रूप मे अकित है। मालती की प्राणरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि माधव श्मशान-स्थित कराला के मदिर के समीप ही विद्यमान हो जिससे वह उसके आर्तनाद को सुन सके। इसी दृष्टि से माधव को पहले से ही श्मशान मे उपस्थित बताया गया है तथा इस उपस्थिति के औचित्य के लिये महामास विक्रय की बात कही गयी है। भूत, प्रेत व पिशाचो के भयानक व बीभत्स कृत्यो की पृष्ठभूमि मे कपालकुडला व अघोरघट के क्रूरतापूर्ण कार्य अतीव भयावह प्रतीत होते हैं। वस्तुत करालायतन मे निरीह *मालती की निमम हत्या का प्रयास, मूल चेतना की दृष्टि से, पूर्ववर्ती श्मशान-दृश्य* का ही विस्तार व अभिन्न अग जैसा लगता है।[1] इस दृश्य के द्वारा नाटककार ने एक ऐसे वातावरण की सृष्टि की है जिसमे माधव के साहस, निर्भीकता और शौर्य का बडा ही उदात्त चित्र उभरकर सामने आता है।

श्मशान-दृश्य की योजना मे नाटककार का दूसरा उद्देश्य बीभत्स, रौद्र व अद्भुत आदि रसो के चित्रण मे अपना नैपुण्य प्रदर्शित करना है। भवभूति कोमल भावो व रसो के चित्रण मे जितने सिद्धहस्त हैं उतने ही विकट, उग्र तथा भयावह भावो तथा रसो के आलेखन मे भी। मालती-माधव का यह दृश्य अपनी भयावह बीभत्सता मे समस्त सस्कृत-साहित्य मे अपना सानी नही रखता। कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने इसे शेक्सपीयर के मेक्बेथ मे चित्रित चुडैलो के दृश्य से भी अधिक *भयावह माना है।*[2]

भवभूति का एक अन्य प्रयोजन नाटक की शृगारिक एकरसता मे रस-वैविध्य का समावेश करना भी है। यह सर्वविदित तथ्य है कि भवभूति मे हास्यरस

---

1 करालायतनाच्चायमुच्चरन्करुणध्वनि ।
विभाव्यते ननु स्थानमनिष्टाना तदीदृशाम् ॥ मा०मा० ५ २१

2 दे० एम० विटरनित्स कृत 'हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिट्रेचर' भाग 3, खड 1, पृ० 266

की प्रतिभा बहुत कम थी । सभवत हास्यरस उनकी गुरुगाम्भीर्य व दु खन्दग्ध प्रकृति के अनुकूल न था । कीथ के मत मे भवभूति को इसीलिए हास्यपूर्ण विश्रान्ति के स्थान पर यहा अतिप्राकृत तत्त्वो से सवलित भयानक व बीभत्स प्रसगो का सहारा लेना पडा ।[1] किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह दृश्य वस्तुत विश्राति प्रदान करता है ? हास्यरस प्रकृत्या शृगाररस का पोषक होता है, पर बीभत्स व रौद्र आदि रसो के बारे मे यही बात नही कही जा सकती । अत प्रस्तुत दृश्य न केवल कथानक की दृष्टि से असम्बद्ध है, अपितु भाव व रस की दृष्टि से भी उसके प्रतिकूल है ।

सभवत नाटककार का एक उद्देश्य अपने युग मे प्रचलित कापालिक-साधना की विकृतियो का दर्शन कराना भी है । माधव का श्मशान म महामास[2] बेचने के लिए विचरण तथा अघोरघट द्वारा मत्र-साधना पूर्ण होने पर, मालती के वध का प्रयास—ये दोनो ही कृत्य तत्कालीन कापालिक-साधना की अतिवादी प्रवृत्तियो के परिचायक हैं । नाटक मे प्रणय-कथा के विकास व परिणति मे कापालिको को जो असाधारण महत्त्व दिया गया है उससे भवभूति के काल मे इस सप्रदाय के बहुप्रचलित होने की सूचना मिलती है ।[3] किन्तु यह भी स्पष्ट है कि नाटककार कापालिक साधना की बातो को नाटक की मुख्य प्रणय-कथा मे भली-भाति अन्तर्ग्रथित नही कर सका है ।

योगिनियो का आकाशगमन प्रस्तुत नाटक की वस्तु-योजना मे दूसरा अतिप्राकृत तत्त्व कपालकुण्डला व सौदामिनी नामक कापालिकाओ की आकाशगमन की सिद्धि है । पचम अक के प्रारम्भ मे कपालकुण्डला श्रीपर्वत से आकाश मे उडती हुई पद्मावती नगरी के बाहर श्मशान मे स्थित कराला के मन्दिर की ओर आती दिखाई गयी है । कवि ने उसके योगिनीरूप का बडा ही प्रभावशाली चित्र अकित किया है । वह अपनी योगशक्ति से बिना परिश्रम आकाश मे बादलो को हटाती हुई उड रही है ।[4]

---

1 सस्कृत ड्रामा, प० 192

2 त्रिपुरारि ने महामास के विषय मे 'कामानिकशाम' से यह पक्ति उद्धृत की है—यदन्त्रतठिन्न मर्मोपदेश नृमासमाद्र गवदवविन्दु यत् । उन्होंने किसी अज्ञात स्रोत स एक यह श्लोक भी उद्धृत किया है—आमनिद्धि पाकेङ्गय सहमावृपाजिनम । अपरत्रद्गतमन्याद नृमास परिकीर्तितम् ॥ दे० मालती माधव, 5 12 पर त्रिपुरारि की टीका

3 भवभूति के कुछ ही पूर्ववर्ती बाणभट्ट ने हर्षचरित म राजा पुष्पभूति व महाशैव भैरवाचार्य के वृत्तान्त मे कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि मे श्मशान म की जाने वाली वेताल साधना का भयावह व रोमाचकारी चित्रण किया है । इसी प्रकार प्रभाकरवर्धन की रुग्णता के समय उनके स्वास्थ्यलाभ के लिए राजकुमार भी खुले रूप म महामास बचते हुए बताये गए हैं । द० वासुदेवशरण अग्रवाल हर्षचरित एक सास्कृतिक अध्ययन, पृ० 58–60

4 मा० मा० 5 2–4

नवम व दशम अकों मे नाटककार ने योगिनी सौदामिनी के आकाश-गमन का दृश्य अकित किया है। सौदामिनी श्रीपर्वत पर कपालकुण्डला के चगुल से मालती को बचा कर वहा से आकाश मे उडती हुई पद्मावती नगरी के समीपवर्ती पर्वत पर उतरती है जहा माधव की विरहजन्य शोचनीय दशा से निराश होकर मकरन्द पाटलावती नदी मे कूद कर आत्महत्या करने ही वाला है। सौदामिनी मकरन्द को इस प्रयास से विमुख कर माधव को मालती का अभिज्ञान 'बकुलमाला' देती है तथा मालती की कुशलक्षेम सूचित करती है।

आकर्षिणी सिद्धि अनन्तर वह गुरुभक्ति, तप, तन्त्र व मन्त्र के अभ्यास से प्राप्त अपनी आकर्षिणी सिद्धि द्वारा माधव को उठाकर आकाश मे उड जाती है।[1] मकरन्द को अकस्मात् अधकार व वैद्युत प्रकाश का भयकर व्यतिकर-सा दिखायी देता है जो पलभर के लिए उसकी दर्शन-शक्ति को कुण्ठित कर देता है। कुछ क्षणो बाद वह देखता है कि माधव अपने पूर्व स्थान पर नही है। इस घटना से उसका मन असीम आश्चय और भय से व्याप्त हो जाता है।[2]

मालतीमाधव का यह प्रसग शाकुन्तल के पचम अक मे मेनका द्वारा शकुन्तला को आकाश मे उडाकर ले जाने की घटना से प्रभावित प्रतीत होता है।

दशम अक मे योगिनी सौदामिनी मालती व माधव को लेकर आकाश मे उडती हुई श्रीपर्वत से पद्मावती नगरी के निकटवर्ती पर्वत पर ठीक उस समय पहुच जाती है जब कामन्दकी, लवगिका, मदयन्तिका तथा भूरिवसु मालती के वियोग मे प्राण-त्याग के लिए तत्पर हैं। इस प्रकार उसकी समयोचित सहायता से सबके प्राणो की रक्षा होती है तथा नाटक की दु खोन्मुख कथा सुखमय परिणति प्राप्त करती है।

कपालकुण्डला व सौदामिनी के आकाशगमन की सिद्धि का नाटक के वस्तु-विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान है। सभवत कपालकु डला अपनी इसी शक्ति से

---

1 सौदामिनी—नास्त्यत्र खल्वेतत्। (उत्थाय) इयमिदानीमह
गुरुचर्यातपस्तन्त्रमन्त्रयोगाभियोगजाम्।
इमामाकर्षिणी सिद्धिमातनोमि शिवाय व। वही, 9 53

2 मकरन्द—आश्चयम।
व्यतिकर इव भीमस्तामसावैद्युतश्च।
क्षणमुपहतचक्षुर्वृ त्तिरुद्भूय शान्त ॥
(विलोक्य सभयम)
कथमिव न वयस्यस्तत्किमेतन्त्विमयत्।
(विचिन्त्य)
प्रभवति हि महिम्ना स्वेन योगीश्वरीयम् ॥ वही, 9 555

मालती को रात में उसके घर से उठाकर कराला के मन्दिर में पहुचाती है। बाद में वह अपनी इसी सिद्धि से मालती का अपहरण कर उसे श्रीपर्वत पर ले जाती है।

सौदामिनी भी एक सिद्ध योगिनी है जिसकी आकाशोद्गमन की शक्ति का नाटक की सुखान्तता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस शक्ति के कारण ही वह मकरन्द और माधव के प्राणों की रक्षा करती है और बाद मे मालती और माधव को यथासमय पद्मावती मे पहुचाकर भूरिवसु, कामन्दकी, लवगिका आदि को मृत्यु के कगार पर से लौटा कर लाती है। यदि उसमें आकाशगमन की सामर्थ्य न होती तो मालती और माधव का न पुनर्मिलन होता, न नाटक की दु खान्तता बचायी जा सकती। इसी शक्ति के कारण वह प्रत्येक अवसर पर ठीक समय पर उपस्थित होकर घटनाओं की कारुणिक परिणति का परिहार करती है। इस प्रकार दोना योगिनियों का नाटकीय वस्तु के विकास व फलागम मे विशिष्ट योगदान है। जहा कपालकुण्डला की यौगिक शक्तिया नाटक की प्रणय-कथा मे अनेक जटिलताओं के समावेश के लिए उत्तरदायी है वहा सौदामिनी की अलौकिक सिद्धियाँ उसके सुखपूर्ण व मगलमय पर्यवसान का मुख्य आधार है। नाटकीय कथानक क विकास मे दोनो योगिनियों की भूमिकाए परस्पर विपरीत, किन्तु महत्त्वपूर्ण हैं। कपालकुण्डला क्रूर व हृदयहीन है तो सौदामिनी दया एव परोपकार की प्रतिमूर्ति। दोनो अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न हैं, पर उन शक्तियों के प्रयोग के उद्देश्य सवथा भिन्न हैं।

भरत ने निर्वहण सधि मे अद्भुत रस की योजना का निर्देश दिया है। नवम व दशम अक मे सौदामिनी का आकाशगमन तथा उसके हस्तक्षेप से दशम अक के कारुणिक दृश्य का सुखपूर्ण पुनर्मिलन मे आकस्मिक परिवतन निर्वहण सधि के ही अग हैं।

पतञ्जलि ने योगसूत्र के विभूतिपाद मे योगियों की आकाशगमन-रूप सिद्धि का वर्णन किया है। इस सम्बन्ध मे उनका निम्न सूत्र उल्लेखनीय है—

कायाकाशयो सबधसयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्॥ ३ ४२

अर्थात् शरीर और आकाश के सम्बन्ध के विषय मे सयम (धारणा, ध्यान व समाधि) करने तथा तूलसदृश लघु वस्तुओं मे समापत्ति से योगी का शरीर इतना हल्का हो जाता है कि वह इच्छानुसार आकाश मे उड सकता है। पतञ्जलि के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए म० म० डा० गोपीनाथ कविराज ने कहा है—

"पतञ्जलि का मत है, यदि आकाश-गमन करना हो तो देह और आकाश के बीच जो परस्पर सम्बन्ध है, उसमें सयम (धारणा, ध्यान और समाधि) करके उसे आयत्त किया जाता है, आसनादि मे देह चाहे जहा रह, वहीं आकाश भी है।

दक्षिण नेत्र-स्फुरण अशुभ सूचक तथा वामाक्षि-स्पन्दन शुभ-सूचक होता है। इस प्रकार का लोक-विश्वास आज भी पाया जाता है।

प्रथम अक मे कामन्दकी कहती है कि क्या भूरिवसु और देवरात की कल्याणमय सन्तानो—मालती व माधव—का अभीष्ट विवाह-मगल सम्पन्न हो सकेगा।[1] तभी वाम नेत्र मे स्पन्दन होने पर वह कहती है—

विवृण्वतेव कल्याणमान्तरङ्गेन चक्षुषा।
स्फुरता वामकेनापि दाक्षिण्यमवलम्ब्यते ।। मा० मा० १ ११

यहा चक्षु को आन्तरङ्ग माना गया है तथा उसके माध्यम से नाटककार ने मालती व माधव के प्रणय-प्रसग की सुखान्तता का अलौकिक स्तर पर पूर्वाभास दिया है।

अष्टम अक मे कपालकुण्डला द्वारा अपहरण से पूव मालती का दक्षिण नेत्र तथा अपहरण के पश्चात् माधव का वाम-नेत्र स्फुरित होकर भावी अनर्थ की सूचना देते हैं।[2]

मालतीमाधव मे आद्यन्त दैव, विधि या विधाता की सर्वशक्तिमत्ता तथा उसके अटल विधान का बार-बार उल्लेख किया गया है।[3] साथ ही विधाता से मानवीय प्रयासो को सफलता प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गई है। इससे यह विश्वास व्यक्त होता है कि दैवी अनुग्रह के बिना मानव अपने प्रयासो मे सफल नही हो सकता। इसी प्रकार परलोक व पुनर्जन्म सम्बन्धी पारम्परिक विश्वास की भी कही-कही अभिव्यक्ति हुई है।[4]

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

भवभूति ने मालतीमाधव मे अतिप्राकृत तत्त्वो के माध्यम से विभिन्न रसो की निष्पत्ति का सफल प्रयास किया है। नाटक का मुख्य रस शृगार है, तथा उसके अग

---

1 कामन्दकी—अपि नाम कल्याणिनोर्भूरिवसुदेवरातापत्ययोरनयोर्मालतीमाधवयोरभिमत पाणिग्रहमगल स्यात्। वही, 1, पृ० 11

2 वही, 8 पृ० 194 व 8 12

3 विधातुर्व्यापार फलतु (1 17), यदि दैवमनुकूलयिष्यसि (वही, 4 पृ० 101), कोऽयं विधे प्रक्रम (5 24), हा अम्ब ! हृदये हतासि दुर्वारदैवदुर्विलसितेन (वही, 5 पृ० 125) विधाता भद्र वो वितरतु (6 7), विधातुर्वामत्वाद् विपदि परिवर्तामहे इमे (9 8), अहो आश्चर्य पुनरुक्तदारुणस्य परिणामरमणीयत्व विधे (वही, 10 पृ० 239)।

4 हा देव माधव, परलोकगतोऽपि युष्माभि स्मर्तव्योऽयं जन (वही, 5, पृ० 129) तथा मे भगवत्याशिष करोतु येन जन्मान्तरेऽपि तावत्प्रियसखीं प्रेक्षिष्ये (10, पृ० 232)

के रूप मे अद्‌भुत, बीभत्स, रौद्र, भयानक, वीर आदि रसों का पचामृत प्रस्तुत किया गया है।

पचम अक के श्मशान-दृश्य के अन्तगत भूत, प्रेत व पिशाच आदि के चित्रो मे रौद्र, अद्‌भुत व बीभत्स रसो का प्रभावशाली चित्रण हुआ है। उदाहरण के लिए मा०मा० मे जगद्धर आदि टीकाकारो ने 'पयन्तप्रतिरोधि०' (५ ११) मे गौद्र रस, 'कर्णाभ्यर्णत्रिदीण०' (५ १३) मे अद्‌भुत रस, 'एतत्पूतनचक्र०' (५ १४), पृथुचलरस-नोग्र० (५ १५) मे भयानक रस, 'उत्कृत्योत्कृत्य०' (५ १६) व निष्ठाप० (५ १७) मे बीभत्स रस तथा 'अस्त्रैः कल्पितमगलप्रतिसरा०' (५ १८) म बीभत्स का अगभूत सभोगशृगार माना है।

भरत ने 'सत्त्व-दर्शन' को भयानक रस का आलबन माना है, किन्तु केवल नीच प्रकृति के जनो को ही भय की अनुभूति होती है। माधव उत्तम प्रकृति का नायक है और वह स्वेच्छा से भूत-प्रेतो से भेंट करने के लिए श्मशान मे गया है, अत उसके भयग्रस्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्युत इस दृश्य द्वारा लेखक ने उसके सत्साहस व शौर्य का प्रभावशाली चित्र अकित किया है।

किन्तु हम मान सकते हैं कि भवभूति के समकालीन प्रेक्षकों के लिए यह दृश्य अद्‌भुतमिश्रित भयानक या बीभत्स का आलम्बन रहा होगा। आधुनिक प्रेक्षक के लिए भी यही बात कही जा सकती है।

पचम अक मे कपाल कुण्डला के तथा नवम व दशम अको मे सौदामिनी के आकाशगमन के दृश्य अद्‌भुत रस की सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

नवम अक मे जहा सौदामिनी अपनी आकर्षिणी सिद्धि द्वारा माधव को आकाश मे उडा ले जाती है तथा मकरन्द को क्षण भर के लिए अन्धकार व प्रकाश का सयोग-सा दिखाई देता है वहा भयमिश्रित अद्‌भुत की बडी प्रभावशाली योजना हुई है। नवम व दशम अको मे निर्वहण सन्धि के अन्तर्गत योगिनी सौदामिनी के चामत्कारिक कार्यों के माध्यम से अद्‌भुत रस की निष्पत्ति की गई है।

महावीरचरित

रचना-क्रम की दृष्टि से यह भवभूति की प्रथम कृति मानी गई है। इसमें विश्वामित्र के आश्रम मे शिक्षा-प्राप्ति से लेकर रावण-वध तथा राज्याभिषेक तक का राम का विस्तृत चरित अकित है। विषय-वस्तु की दृष्टि से यह नाटक भवभूति के अन्तिम व सवश्रेष्ठ नाटक उत्तररामचरित का पूर्ववृत्त प्रस्तुत करता है। इन दोनो कृतियो मे मिलाकर भवभूति ने राम की सम्पूर्ण जीवन-कथा को नाटकीय रूप दे दिया है।

महावीरचरित की वस्तु वाल्मीकि-रामायण पर आधारित है। प्रस्तावना मे नाटककार ने आदिकवि द्वारा प्रणीत पावन रामचरित मे अपनी भक्ति का उल्लेख करते हुए उसे अपनी काव्य-प्रेरणा स्वीकार किया है।[1] उन्होने यह भी कहा है कि मैंने वीर व अद्भुत रस के प्रेम के कारण धर्मद्रोहियो का दमन करने वाले रघुनन्दन का चरित निबद्ध किया है।[2]

श्री एस० के० बेल्वलकर ने रामकथा के परवर्ती विकास मे निम्नलिखित प्रवृत्तियो का उल्लेख किया है[3]—(१) अतिरंजन—जैसे राम-रावण युद्ध के प्रसग मे। (२) दैवीकरण—राम को ईश्वर का अवतार माना गया। यह प्रवृत्ति रामायण के वर्तमान रूप मे आने से पहले ही आरम्भ हो चुकी थी। (३) आदर्शीकरण—कैकेयी आदि के चरित्र को दोषमुक्त कर आदर्श रूप देने का प्रयत्न किया गया। (४) शाप-अभिप्राय—आचरण और भाग्य की व्याख्या के लिए इस अभिप्राय का उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग किया गया। उदाहरण के लिए दशरथ के पुत्र-वियोग व मृत्यु का कारण अन्धमुनि का शाप बताया गया है। (५) दार्शनिकीकरण—राम कथा को दार्शनिक व आध्यात्मिक अर्थ दिया गया। यह प्रवृत्ति अध्यात्म रामायण मे विशेष रूप से देखी जा सकती है। (६) नवीन कल्पनाए व काव्यात्मक अलकृति—जैसे राम व सीता के पूर्वराग का वर्णन, जनक की राजसभा मे राम व लक्ष्मण का परशुराम के साथ विवाद, अगद का दौत्य आदि। हम देखेंगे कि भवभूति ने राम कथा को जिस रूप मे प्रस्तुत किया है उसमे भी इनमे से कुछ प्रवृत्तिया प्रकट हुई हैं।

भवभूति ने जहा राम कथा के अनेक प्रसगो को छोड दिया है, वहा मूल कथा को कई घटनाओ को सवथा बदल देने का भी साहस दिखाया है। उन्होने ऐसे जो भी परिवतन किए हैं वे नाटकीय दृष्टि से प्राय औचित्यपूर्ण हैं। राम कथा के विभिन्न प्रसगो को उन्होने राम-रावण के पारस्परिक सघर्ष की गतिशील घटनावली के रूप मे प्रतुस्त किया है। कथा-विकास की विभिन्न अवस्थाओ का माल्यवान् की

---

1 प्राचेतसा मुनिवृषा प्रथम कवीना
  यत्पावन रघुपते प्रणिनाय वृत्तम्।
भक्तस्य तत्र समरस्त ममापि वाच
  स्तासु प्रसन्नमनस कृतिना भजन्ता ॥
महावीर चरित, 1 7 (निर्णयसागर प्रेस सस्करण, 1926)

2 वीराद्भुतप्रियतया रघुनन्दनस्य।
घमद्रुहो दमयितुश्चरित निबद्धम ॥ म० च० 1 6

3 दे० रामस लेटर हिस्ट्री ऑफ उत्तररामचरित, प्रथम भाग, पृ० 61–63

कूटनीतिक योजनाओं के क्रमिक उद्घाटन के रूप में विन्यास किया गया है। नाटकीय संघर्ष का मूल बीज रावण की सीता के साथ विवाह करने की इच्छा और कुशध्वज द्वारा रावण के प्रस्ताव का तिरस्कार है। राम द्वारा ताडका, सुबाहु आदि राक्षसों का वध, दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति आदि बातों को रावण अपने लिए चुनौती के रूप में ग्रहण करता है।

रामायण की मूल कथा में भवभूति ने नाटकीय दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए हैं। नाटक के अनुसार परशुराम माल्यवान् की प्रेरणा से राम का विरोध करते हैं। राम के वनवास के पीछे भी राक्षसों की कूट योजना है। वाली माल्यवान् की प्रेरणा से ही राम से युद्ध करता है।

नाटकीय दृष्टि से मूल कथा में परिवर्तन करने पर भी भवभूति वस्तुविधान में विशेष सफल नहीं कहे जा सकते। उन्होंने इतना विस्तृत कथाफलक ले लिया है कि अधिकांश घटनाओं को उन्हें सूच्य रूप में प्रस्तुत करना पड़ा है जिसके फलस्वरूप नाटक विस्तृत संवादों का समूह मात्र रह गया है। घटना-विन्यास में सन्तुलन व अनुपात की भी कमी है। परशुराम के महत्त्वहीन प्रसंग को दो अंकों से भी अधिक दूर तक घसीटा गया है। नाटक में प्रत्यक्ष क्रियाशीलता का लगभग अभाव है। चरित्रों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। अधिकतर चरित्र पौराणिक रूपरेखाओं से निर्मित हैं, अतः उनका स्वरूप प्रायः अतिप्राकृत है।

महावीरचरित के उपलब्ध पाठों में काफी अन्तर पाया जाता है। इस नाटक में पाँचवें अंक के ४६वें श्लोक तक का भाग ही सम्भवतः भवभूति-प्रणीत है। शेष भाग तीन पाठों के रूप में मिलता है—(१) सर्वत्र प्रचलित पाठ (२) सुब्रह्मण्य का पाठ तथा (३) विनायक का पाठ। उत्तर भारत में प्रकाशित संस्करणों में प्रायः प्रथम पाठ दिया गया है। दक्षिण भारत में उपलब्ध पाण्डुलिपियों में पंचम अंक के ४६वें श्लोक के आगे का पाठ सुब्रह्मण्य द्वारा रचित बताया गया है। यह पाठ निर्णय-सागर प्रेस से वीर राघव की टीका सहित प्रकाशित हुआ है। विनायक के पाठ में छठा और सातवाँ ये दो अंक सर्वत्र प्रचलित पाठ से अभिन्न हैं, पर पाँचवें अंक के ४६वें श्लोक से इसी अंक तक का भाग विनायक-रचित बताया गया है। इस पाठ का सम्पादन श्री टोडरमल ने किया है। डा० दे के अनुसार उक्त पूरक पाठों में से कोई भी भवभूति का मूलपाठ नहीं है, जो उनके विचार में अब लुप्त हो चुका है।[1] हमने प्रस्तुत अध्ययन में अंक ५ श्लोक ४६ से आगे 'सर्वत्र प्रचलित पाठ' को ही अपने अध्ययन का आधार बनाया है।

---

1 दे० हिस्ट्री ऑव् क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 286 की पादटिप्पणी।

कथावस्तु मे अतिप्राकृत तत्त्व

महावीरचरित की वस्तु व पात्र दोनो की योजना मे अतिप्राकृतिक तत्त्वो का समावेश हुआ है। एक तो रामकथा स्वय ही अनेक अतिप्राकृतिक तत्त्वो से पूर्ण है, फिर कथा की पौराणिक पृष्ठभूमि व वातावरण ने भी नाटककार को इन तत्त्वो की योजना का यथेच्छ अवसर दिया है। कथा का स्वरूप, देश, काल व परिवेश जितना प्राचीन व दूरवर्ती होता है, लेखक को असभव और अयथार्थ की योजना का उतना ही अधिक अवसर सुलभ रहता है। अतिप्राकृत कल्पनाए या तो धर्म, दर्शन और पौराणिकता का सम्बल ग्रहण करती हैं या लोककथाओ का, जिनकी घटनाए व पात्र मनुष्य की स्वच्छन्द व अबाधित कल्पनाओ की अभिव्यक्ति होती हैं।

नाटककार ने प्रस्तावना मे ही बता दिया है कि इस नाटक मे अप्राकृत (अलौकिक व असाधारण) पात्रो मे स्थित वीर रस आधार की भिन्नता के अनुसार सूक्ष्म व प्रस्फुट भेदो मे विभाजित किया गया है।[1] इस नाटक के अनेक पात्र किसी न किसी दृष्टि से अप्राकृत हैं। अत यह स्वाभाविक ही है कि उनके कार्यकलापो में अलौकिकता का पुट हो। भवभूति ने मुख्यत वीर व अद्भुत रस मे विशेष अभिरुचि के कारण रघुनन्दन के चरित्र को नाटक की विषयवस्तु के रूप मे ग्रहण किया है। संस्कृत नाटको मे अद्भुत रस प्राय अतिप्राकृत तत्त्वो पर आश्रित होता है, अत नाटककार प्रारम्भ से ही इस नाटक मे इन तत्त्वो के समावेश का विचार लेकर चला है, यह अनायास माना जा सकता है।

भवभूति ने कथावस्तु मे जिन अतिप्राकृत तत्त्वो का विन्यास किया है व अधिकतर रामायण पर आधारित हैं। तथापि उनके नाटकीय विनियोग म उन्होंने अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। मूल रामायण के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसग नाटक मे स्वरूप, क्रम, स्थान व उद्देश्य की दृष्टि से काफी परिवर्तित हो गये हैं। कथा व पात्रो की प्रकृति के अनुसार नाटककार ने कुछ नवीन अतिप्राकृत तत्त्वो की भी उद्भावना की है।

प्रथम अक की घटनायें महर्षि विश्वामित्र के सिद्धाश्रम मे सम्बन्ध रखती हैं। महर्षि द्वारा आयोजित यज्ञ मे भाग लेने हेतु राजा जनक के अनुज कुशध्वज सीता और उर्मिला के साथ आये हैं। राम और लक्ष्मण यज्ञ की रक्षा मे नियुक्त हैं। इसी समय रावण का दूत राक्षस सर्वमाय रावण का एक सन्देश लेकर आता है जिसमे उसने सीता के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा है। इसी पृष्ठभूमि मे प्रथम अक मे नाटककार ने कुछ अतिप्राकृत प्रसगो की योजना की है।

---

1 अप्राकृतेषु पात्रेषु यत्र वीर स्थितो रस।
भेदै सूक्ष्मैरभिव्यक्तै प्रत्याधार विभज्यते ॥ 1 3

अहल्योद्धार गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या जो व्यभिचार रूप महापाप के कारण अन्धतामिस्र से ग्रस्त थी, राम के तेज से पाप-मुक्त होकर दिव्य रूप में प्रकट होती है।[1]

ताटकावध ताटका नाम की भयंकर आकारवाली राक्षसी विश्वामित्र के आश्रम में प्रकट होकर लोगों पर आक्रमण करती है।[2] राम गुरु की आज्ञा से उसे मार गिराते हैं।

दिव्यास्त्रदान विश्वामित्र ने कृशाश्व ऋषि से जृम्भक आदि जिन दिव्य अस्त्रों के प्रयोग व संहार की मंत्रविद्या सीखी थी वे उसे राम के प्रति अर्पित व शब्दत प्रकाशित होने की आज्ञा देते हैं।[3]

विश्वामित्र की आज्ञा के साथ ही आकाश में सभी ओर दिव्यास्त्रों का अलौकिक तेज छा जाता है।[4] राम गुरु से प्रार्थना करते हैं कि दिव्यास्त्र लक्ष्मण को भी प्राप्त हों। दिव्य अस्त्रविद्या के प्रादुर्भाव से लक्ष्मण का हृदय प्रज्ञायुक्त, अप्रतर्क्य व ज्योतिर्मय हो जाता है।[5]

दिव्यास्त्र राम की प्रार्थना करते हैं।[6] राम उन्हें ध्यान करते ही उपस्थित होने की आज्ञा देकर विदा कर देते हैं।[7]

ध्यान द्वारा शिवधनुष की उपस्थिति राम के तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कुशध्वज उन्हें जामाता के रूप में चाहने लगते हैं। किन्तु अग्रज सीरध्वज जनक की प्रतिज्ञा उन्हें विघ्नरूप प्रतीत होती है। जनक ने प्रतिज्ञा की है कि जो वीर शिव का धनुष तोड़ेगा उसी के साथ सीता का विवाह होगा। विश्वामित्र के सुझाव पर कुशध्वज ध्यान द्वारा शिवधनुष का आह्वान करते हैं।[8] धनुष ध्यान करते ही सिद्धाश्रम में उपस्थित हो जाता है। राम उसे अनायास तोड़ देते हैं।[9]

---

1 (क) तस्याः पाप्मना शरीरमन्धतामिस्रमभ्ययात। सेयमद्य रामभद्रतेजसा तस्मादेनसो निरमुच्यत। म० च० 1 प० 20
(ख) राजा—भगवन् का पुनरिय देवता। वही

2 वही 1 35

3 वही 1 पृ० 31

4 वही, 1 43–44

5 वही, 1 48

6 वही, 1 49

7 वही, 1 50

8 वही, 1 52

9 वही, 1 53

सुबाहु और मारीच का सिद्धाश्रम पर आक्रमण होता है।[1] राम सुबाहु का वध कर मारीच को अति दूर फेंक देते है।[2]

यह उल्लेखनीय है कि ये सभी अतिप्राकृतिक प्रसग नेपथ्य मे घटित होते हैं। अहल्या, ताटका, दिव्यास्त्र व शिवधनुष इनमे से कोई भी रगमच पर साक्षात् उपस्थित नही होता।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नाटककार ने इन प्रसगो को राम के अप्राकृत वीर व्यक्तित्व की सिद्धि के अग के रूप मे विन्यस्त किया है। साथ ही राम के ये सभी अलौकिक कार्य रावण के मत्री माल्यवान् को एक चुनौती के रूप में प्रतीत होते है।[3] रामायण मे इन घटनाओं की योजना के पीछे ऐसा कोई उद्देश्य नही है। नाटककार ने इन्हे राम-रावण-विरोध की भूमिका के रूप मे निबद्ध कर नाटकीय उद्देश्य से सयोजित किया है।

शूर्पणखा का मथरा के शरीर मे प्रवेश यह घटना चतुर्थ अक की है। नाटक के वस्तुविधान मे इसका अत्यन्त महत्त्व है। इसके द्वारा भवभूति ने परम्परागत राम कथा म क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है।

रावण का मत्री माल्यवान् अपनी कूटनीतिक योजना[4] के अन्तगत राम लक्ष्मण और सीता को राक्षसो के क्षेत्र विन्ध्यारण्य मे लाना चाहता है। इस उद्देश्य से वह शूपणखा को दासी मन्थरा के शरीर मे प्रविष्ट होकर राम व दशरथ के पास कैकेयी के नाम से एक मिथ्या सन्देश ले जाने के लिये प्रेरित करता है। मन्थरा उस समय मिथिला के समीप होती है। वह कैकेयी का कोई सन्देश लेकर मिथिला जा रही है जहा दशरथ अपने पुत्रो के विवाह के लिये गये हुए है।[5] शूपणखा अपनी राक्षसी माया से मन्थरा के शरीर मे प्रविष्ट होकर[6] राम को ककेयी के नाम से एक कपट सन्देश देती है। इस सन्देश मे दशरथ से कैकेयी ने दो वर मागे हैं–भरत को राजसिहासन दिया जाये और राम लक्ष्मण व सीता सहित १४ वष के लिय वन

---

1 वही 1 60

2 वही, 2 1

3 वही, 1 59, 2 1–4

4 वही 4 पृ० 119–120

5 या सा राज्ञा दशरथेन प्राक्प्रतिश्रुतवरद्वया राज्ञी भरतमाता कैकेयी, तया मन्थरा नाम परिचारिका दशरथस्य वार्ताहारिणी मिथिलामयोध्यात प्रेषिता मिथिलोपकण्ठे वर्तते इति सम्प्रत्येव मम निवेदित चारै। तस्यास्त्वया शरीरमाविश्यवमेव च कर्तव्यम् (इति कर्णे कथयति)
वही, 4 पृ० 118

6 वही, 4 पृ० 150

जायें।[1] राम, जो स्वयं ही राक्षसों के वध के लिए वन जाने को उन्मुख हैं, इस सन्देश से प्रसन्न होकर उसका अविलम्ब पालन करते हैं।

उक्त प्रसंग भवभूति की अपनी उद्भावना है। रामायण के अनुसार राम विवाह के बाद अयोध्या लौटकर आये और फिर मन्थरा की प्रेरणा से कैकेयी द्वारा दशरथ से वर मांगने पर वन गये। रामायण में राम के वनगमन का नैतिक दायित्व कैकेयी पर डाला गया है, किन्तु भवभूति ने कैकेयी को उससे मुक्त कर राम के वनवास को राक्षसों की कूटयोजना का परिणाम बताया है। इस प्रकार राम के वनगमन की घटना राम रावण के संघर्ष की नाटकीय कथा का अंग बन गई है। राम को सीधे मिथिला से ही वन भेज कर कुशल नाटककार ने मूल कथा में नाटकोचित संक्षेप भी किया है। इस कल्पना में एक मात्र दोष यही है कि जहां रामायण में राम-वनवास की पृष्ठभूमि कैकेयी की मानवोचित दुर्बलता की सूचक है वहां नाटक में उक्त अतिप्राकृत कल्पना के कारण उसके इस मानवीय पक्ष की क्षति हुई है। अतः इस कल्पना को नाटकीय दृष्टि से समीचीन मानते हुए भी मानव-चरित्र की व्याख्या की दृष्टि से उत्तम नहीं कह सकते। इस कल्पना का एक आनुषंगिक फल कैकेयी के परम्परागत चरित्र को कलंक-मुक्त करना भी है। हम पहले बता चुके हैं कि भास ने भी 'प्रतिमा' में कैकेयी के चरित्र को निर्दोष सिद्ध करने के लिए एक अतिप्राकृत कल्पना की है, पर इस कार्य में न भास सफल हुए हैं और न भवभूति।

दिव्य पुरुष का आविर्भाव यह प्रसंग पंचम अंक का है। लक्ष्मण दनुकबन्ध नामक राक्षस का वध कर उसकी चिता प्रज्वलित करते हैं। चिता में से एक दिव्य पुरुष प्रकट होकर अपना परिचय देता है। इस परिचय के अनुसार वह श्री का पुत्र दनु है जो शाप के कारण राक्षस हो गया था। बाद में इन्द्र के द्वारा सिर काट जाने पर वह कबन्ध बन गया। अब राम का आश्रय पाकर वह पवित्र हो गया है।[2]

दनु राम को बताता है कि वह उन पर आक्रमण करने के लिए माल्यवान् द्वारा दण्डकारण्य में भेजा गया था। वह अपने दिव्य ज्ञान से उन्हें यह भी सूचित करता है कि माल्यवान् ने वाली को उनके वध के लिए नियुक्त किया है। वाली ने भी रावण की मैत्री के अनुरोध से उसकी प्रार्थना स्वीकार की है।

---

1 वही 4 4।

2. दिव्य पुरुष—जयतु देवः।

दनुर्नाम श्रियः पुत्रः शापाद् राक्षसतां गतः।

इन्द्रास्त्रकृत्तकबन्धः पूतोऽस्मि भवदाश्रयात्॥ वही, 5 34

तदनन्तर वह दिव्य पुरुष राम की अनुमति लेकर अपने दिव्य लोक मे चला जाता है।[1]

यहा नाटककार ने कबन्ध व वाली दोनो को माल्यवान् द्वारा प्रेरित बनाकर मूलकथा को अपने नाटकीय उद्देश्य के अनुसार ढाल लिया है। चिता से दिव्य पुरुष के प्रकट होने की बात रामायण मे भी आई है।[2]

पर्वताकार अस्थि-सचय का क्षेपण —राम पम्पासरोवर के समीप मार्ग में एक पर्वताकार अस्थि-सचय देखते हैं। यह अस्थि-सचय वाली द्वारा मारे गये दुन्दुभि राक्षस का है।[3] राम अपने पाव के अगूठे मे उसे दूर फेंक देते हैं।[4] नाटक मे यह घटना राम की अलौकिक शक्ति की सूचक है। रामायण मे भी यह प्रसग आया है, पर एक भिन्न सन्दर्भ मे। वहा सुग्रीव राम से मित्रता करने से पहले उनकी शक्ति-परीक्षा के लिए उनसे यह कार्य कराता है।[5]

पाषाण-सेतु —छठे अक मे नाटककार ने रावण और मन्दोदरी के सवाद मे कुछ घटनाओ का सूच्य रूप मे उल्लेख किया है। इनमे से एक अतिप्राकृत घटना समुद्र पर पाषाण-सेतु का निर्माण है। राम पहले समुद्र का आह्वान करते हैं किन्तु उसके उपस्थित न होने पर उस पर अस्त्र चलाते है।[6] राम के बाणो से विद्ध समुद्र-देवता प्रकट होकर क्षमायाचना करता है और सेतु बनाने का उपाय बताता है।[7] राम नल व नील नामक वानरो की सहायता से समुद्र पर पाषाण-सेतु बनवा कर सेना सहित उसे पार कर लेते हैं। यह सारा प्रसग रामायण के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

राम-रावण-युद्ध भवभूति ने वासव और चित्ररथ के सवाद द्वारा इस घटना का वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र ने रगमच पर युद्ध-दृश्य के प्रस्तुतीकरण का प्रतिषेध किया है।[8] अत भवभूति ने यहा वासव और चित्ररथ के वार्तालाप के रूप

---

1 राम —भद्र त सौजन्यम। अधुना नन्दतु महाभाग स्वेषु लोकेषु (दनुनिष्क्रान्त)
वही, 5 पृ० 186

2 अरण्यकाण्ड सर्ग 72

3 म० च० 5 38

4 राम —नवेदि (पादाङ्गुष्ठेन क्षिपति) वही, 5 39, पृ० 188

5 किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग 11 72 84

6 म० च० 6 12

7 महाराज, ततश्च पुखमात्रप्रेक्ष्यमाणतीक्ष्णशरनिकरपदमन्तितशरीरेण निष्क्रम्य सलिलान्त पततमभ्युप्य मार्ग उपदिष्ट । साहसिकेन तेन साध्ववृत्ति श्रूयत ।
वही, 6, पृ० 204-205

8 नाट्यशास्त्र, 18 38

मे युद्ध का अप्रत्यक्ष वर्णन किया है। इसमे यह सकेत भी मिलता है कि राम रावण का युद्ध केवल व्यक्तिगत घटना नही है, अपितु उसका तीनो लोको के प्राणियो के लिए महत्त्व है। त्रैलोक्य के सभी प्राणी रावण के दुश्चरित्र से कदर्थित हुए हैं, अत वे राम की विजय की प्रतीक्षा कर रहे हैं।[1] गन्धवराज चित्ररथ कुवेर द्वारा युद्ध का परिणाम जानने के लिए भेजा गया है। वासव देवताओ के प्रतिनिधि के रूप मे युद्ध के दशनार्थ स्वय आया है। राम को पैदल युद्ध करते देखकर वह अपना दिव्य रथ उनके पास भेज देता है।[2] युद्ध-वर्णन मे राम, रावण, लक्ष्मण, मेघनाद आदि दोनो पक्षो के वीरो की अलौकिक वीरता का चित्रण किया गया है। मेघनाद मन्त्र प्रभाव से अलक्ष्य गति वाले दुर्भेद्य नागपाश का प्रयोग करता है।[3] लक्ष्मण गारुडास्त्र के प्रयोग से उसे दूर हटाए, इससे पहले ही रावण शतघ्नी के प्रहार से उन्हे आहत कर देता है। हनूमान् सजीवनौषधि लाने के लिए भेजे जाते हैं, किन्तु औषधि की पहचान न होने से वे पूरे द्रोणपर्वत को ही उठा लाते हैं।[4] पवत की वायु का स्पश पाकर लक्ष्मण स्वस्थ हो जाते हैं।[5]

राम व लक्ष्मण अपने बाणो से रावण के मस्तक काट डालते हैं, पर प्रत्येक मस्तक जैसे अनन्त हो जाता है।[6] आकाश मे स्थित दिव्य ऋषिगण रावण व मेघनाद के वध के लिए जल्दी मचा रहे हैं।[7] अन्त मे राम व लक्ष्मण क्रमश ब्रह्मास्त्र तथा अच्युतास्त्र का स्मरण कर बाण चलाते है जिससे रावण व मेघनाद के मस्तक कट जाते हैं। देवगण प्रसन्न होकर आकाश से पुष्पवृष्टि करते हैं।[8]

शरीरधारिणी नगरिया सप्तम अक के विष्कभक मे लका व अलका नगरियो के सवाद द्वारा सीता की अग्नि-परीक्षा, देवो द्वारा उसके अभिनन्दन तथा विभीषण के राज्याभिषेक की सूचना दी गई है। लका और अलका का सवाद लेखक की उद्भावना है। भारतीय परम्परा मे प्रत्येक स्थान और वस्तु का एक अधिदेवता माना गया है। लका और अलका ऐसी ही अधिदेवता हैं। यह स्मरणीय है कि भास ने भी अभिषेक नाटक मे लका की स्त्रीरूप मे कल्पना की है।

---

1 म०च० 6 29

2 वासव (सावगम्) सूत सून, साग्रामिक मे रथमुपहर रामभद्राय। वही, 6, पृ० 210

3 वही, 6 48

4 क्वापि प्राज्ञ क्षणार्धात्कमपि गिरिमिमावाहरन्नाजगाम। वही, 6 51

5 वही, 6 52

6 वही, 6 61

7 वही, 6 पृ० 217

8 वही, 6 63

विमान-यात्रा विभीषण के राज्याभिषेक के बाद राम पत्नी, भाई, और इष्टमित्रो के साथ पुष्पक विमान से अयोध्या लौटते हैं। विभीषण ने पुष्पक विमान का इस प्रकार परिचय दिया है—

> अय च पुष्पकनामा स विमानराज
> अमरुद्धगतेरिष्टप्रवृत्तेर्वशवर्तिन ।
> मनोरथस्यानुगुण सर्वदा यस्य चेष्टितम् ।। म० च० ७७

अर्थात् यही वह पुष्पक विमानराज है जिसकी गति कही भी अवरुद्ध नहीं होती, जो सदैव इष्ट दिशा मे चलता है एव वशवर्ती रहता है। इसकी चेष्टा सदैव मनोरथ के अनुकूल होती है।

राम सीता को मार्ग के विभिन्न स्थान दिखलाते हैं। अगस्त्य ऋषि का आश्रम आने पर राम व अन्य लोग विमान म से ही उन्हे प्रणाम करते हैं जिसके उत्तर मे उन्हे एक अशरीरिणी वाणी के रूप मे ऋषि का आशीर्वाद सुनाई देता है।[1] सह्य पवत के आने पर विमान स्वत ऊपर उठ जाता है जिससे मध्यलोक कुछ नीचे छूट जाता है[2] तथा सूर्य निकट आ जाता है।[3] वहा से आकाश मे दिन मे भी तारे चमकने दिखाई देते हैं।[4] गधमादन पवत के समीप एक अश्वमुख किन्नर युगल आकाश मे उडता हुआ राम की स्तुति करता है।[5] विश्वामित्र के आश्रम के ऊपर से जाते समय राम को ऋषि का एक सदेश प्राप्त होता है। राम विमान को रोककर सन्देश सुनते हैं।[6] कुछ आगे चलने पर राम को हनूमान् आकर सूचना देते है कि भरत प्रजा-सहित उनकी अगवानी के लिए आ रहे है। राम पुष्पक विमान को उतरने की आज्ञा देकर भरत आदि से भेंट करते हैं।

दिव्य ऋषियो द्वारा अभिषेक राम के अभिषेक के समय उपस्थित दिव्य ऋषि विश्वामित्र की आज्ञा से अभिषेक सम्पन्न करते हैं। इस अवसर पर आकाश से

---

1 राम (आकर्ण्य) वयमशरीरिण्या गिरा परमनुगृहीतो महामुनिवदाह । वही, 7, पृ0 224

2 (निरूप्य) किमयादर्शीव गतिरस्य विमानराजस्य।
विभीषण —देव, अत्युच्च किलाय सह्य सानुमान् । एनमतिक्रम्य गम्यते किलार्यावर्त । तदतिक्रमणायेदमपि मध्यमलोकसानिध्य किंचिदुज्झति । वही, 7 पृ0 225

3 विवस्वान् प्रत्यासन्न पुष्पकारोहणेन। वही, 7 21

4 वही, 7 प0 225

5 वही, 7 पृ0 226–227.

6 वही, 7 पृ0 228

पुष्पो की वृष्टि होती है जिसे वसिष्ठ ऋषि इन्द्र द्वारा राज्याभिषेक के अनुमोदन के रूप मे ग्रहण करते हैं।[1]

पुष्पक विमान द्वारा लका से अयोध्या तक की यात्रा की मूल कल्पना रामायण पर आधारित है, पर इसके अधिकाश ब्यौरे नाटककार द्वारा उद्भावित हैं। इस यात्रा-दृश्य पर रघुवश के १३वें सर्ग का भी प्रभाव प्रतीत होता है। लेखक ने सभवत विमानयात्रा-वर्णन के मोह मे पडकर ही इस वर्णनात्मक प्रसग की योजना की है जिसका कोई नाटकीय औचित्य नही है। सप्तम अक लगभग पूरा ही श्रव्य-काव्य मे परिवर्तित हो गया है।

अतिप्राकृत पात्र

महावीरचरित के पात्रो के स्वरूप-निर्माण मे अधिकतर रामायण का ही अनुसरण किया गया है। ये पात्र मानवीय व अतिमानवीय दोनो विशेषताओ से युक्त है। तथापि नाटक की दृश्य कथा मे उनका मानव रूप ही अधिक उभरा है। उनके अतिप्राकृतिक पक्षो का चित्रण या तो अतीत घटनाओ के रूप मे हुआ है या उनका विधान नेपथ्य मे किया गया है। अनेक अतिप्राकृतिक प्रसगो की विष्कभको मे सूचना मात्र दी गई है, अत पात्रो का अतिमानवीय पक्ष सामाजिक की दृष्टि से प्राय दूर ही रहता है। नाटककार ने राक्षस, देवता, किन्नर, दिव्य ऋषि आदि मानवेतर पात्रो की भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योजना की है, पर गुणधर्मो की दृष्टि से वे अधिकतर मानव रूप मे ही उपस्थित होते है।

नाटक की प्रस्तावना मे लेखक ने कहा है कि इस नाटक मे अप्राकृत पात्रो मे वीर रस की स्थिति दिखाई गई है तथा आधार-भेद से उसे अनेक सूक्ष्म व प्रकट भेदो मे विभक्त किया गया है।[2] राम, परशुराम, वाली और रावण ये सभी वीर पुरुष अप्राकृत पात्र हैं जिनकी वीरता अपनी-अपनी विशेषताए लिये हुए है।

नाटक के नायक राम एक महान् वीर व अलौकिक पुरुष हैं। माल्यवान् के शब्दो मे "राम जन्म से ही जगत् मे एक अद्भुत व्यक्ति हैं। उसके मर्त्य होने से क्या जिसके चरित को देव व असुर गाते है।"[3]

---

1 विश्वामित्र—(दिव्यर्षिगणमुद्दिश्य) निवर्त्यता रामभद्रस्याभिषेक । (मुनयो यथोचितमाचरति।) (नेपथ्ये दुन्दुभिध्वनि) (सर्वे सविस्मय पुष्पवष्टि रूपयन्ति)
वसिष्ठ—कथ सलोकपाला भगवान्पाकशासनो रामभद्रस्याभिषेकमनुमोदते।
वही, 7 पृ० 233

2 वही 1 3

3 उत्पत्यैव हि राघव किमपि तन्मत जगत्यद्भुत
मर्त्यत्वेन किमस्य यस्य चरित देवासुरैर्गीयते। वही, 2 6

इस नाटक मे भवभूति का लक्ष्य राम की महावीरता के विभिन्न पक्षो का उद्‌घाटन करना है । वे वीर होने के साथ विनयी है, तेजस्वी होने पर भी क्षमाशील हैं । ताटका, सुबाहु, वाली, रावण आदि दुर्दान्त राक्षसो का वध उनकी अतिमानवीय शक्ति का सूचक है । उनके सभी कार्य उनकी लोकोत्तरता के परिचायक हैं । परशुराम जैसे अप्रतिम वीर को वे अनायास ही पराजित कर देते है ।

महावीरचरित मे राम का मानव रूप ही प्रधान है । उनकी अलौकिकता उनके मानवत्व का ही चरम विकास है । राम के ईश्वरीय रूप का केवल सप्तम अंक मे दो स्थलो पर उल्लेख मिलता है ।[1] हम पहले बता चुके है कि पचम अक के ४६वें श्लोक से आगे का भाग भवभूति-प्रणीत नहीं माना जाता । अत सभव है उक्त स्थलो मे राम की ईश्वरता का सकेत क्षेपककार की देन हो ।

महावीरचरित के दूसरे महत्त्वपूर्ण पात्र परशुराम रामायण से कुछ भिन्न रूप मे अकित हैं । नाटककार के अनुसार वे माल्यवान् की प्रेरणा से राम को दड देने के लिए मिथिला जाते हैं । उनके व्यक्तित्व-निर्माण मे लेखक ने पौराणिक कथाओ का सहारा लिया है । उनके शिव का शिष्य होने, इक्कीस बार क्षत्रियो का सहार करने, सहस्त्रार्जुन-जैसे अप्रतिम वीर का वध करने, कार्तिकेय को जीतने, क्रौंच पर्वत का भेदन करने तथा अश्वमेध यज्ञ मे समस्त पृथ्वी दान करने का अनेक बार उल्लेख किया गया है ।[2]

रावण का व्यक्तित्व भी पौराणिक कल्पनाओ से निर्मित है । वह देवताओ का शत्रु और विश्वविजयी बताया गया है ।[3] इन्द्र भी भयभीत होकर उसका शासन स्वीकार करता है ।[4] वह परम शिव-भक्त है । यह उल्लेख मिलता है कि एक बार उसने अपने मस्तक काट कर शिव को भेंट कर दिये थे तथा कैलाश पवत उठा लिया था ।[5] रामरावण-युद्ध के वर्णन मे बताया गया है कि राम ज्योंही उसके मस्तक काटते थे त्योंही उनके स्थान पर नये निकल आते थे ।[6]

---

1 (क) अलका—अयि किमत्राश्चयम
इद हि तत्त्व परमार्थभाजामय हि साक्षात्पुरुष पुराण ।
विधा विभिन्ना प्रकृति विलपा लातु मुनि स्वेन सनाऽवतीर्णा ॥ वही, 7 2
(ख) (नेपथ्ये) यत्पुराणमेव पु सोऽभिव्यक्तिपर्यायनिष्ठ मह माक्षान्नियन ।
वही, पृ० 226

2 वही, 2 13, 16, 17 18, 19, 34, 36, 3 37, 45

3 वही, 1 31, 33

4 वही, 1 29

5 वही, 6 14, 15

6 वही, 6 61

रावण-सम्बन्धी उक्त सभी अतिप्राकृत तथ्य सूच्य रूप मे आये हैं तथा उनमे से अधिकतर का नाटकीय कथा से कोई सम्बन्ध नही है। नाटक मे तो वह एक अहकारी, कामुक, उद्धत और अदूरदर्शी व्यक्ति के रूप मे हमारे समक्ष आता है। उसका अतिमानवीय पक्ष केवल उसकी अहकारोक्तियो मे व्यक्त हुआ है।

विश्वामित्र और वसिष्ठ दोनो तत्त्वज्ञानी ऋषि हैं।[1] इनसे सम्बन्धित पौराणिक कथाओ का अनेक स्थलो पर उल्लेख मिलता है।[2] राम को दिव्यास्त्रो का दान तथा आकाश मे पुष्पक विमान से जाते हुए उनके पास पृथ्वीतल से ही सदेश-प्रेषण आदि प्रसग विश्वामित्र की अलौकिकता के द्योतक हैं। उनके व्यक्तित्व के अलौकिक प्रभाव का भी उल्लेख किया गया है।[3] वसिष्ठ के कथनानुसार उनमे क्षात्र तेज है जिसमे ब्राह्म तेज और आ मिला है। लोकोत्तर चमत्कार के निधान उनकी कौनसी बात अद्भुत नही है।[4] वसिष्ठ अपने आन्तर चक्षु से जान लेते हैं कि राम को वन भेजने मे कैकेयी का नही शूर्पणखा का हाथ था।[5] वे ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले योगी हैं।[6] नाटक मे इन दोनो का चरित्र अधिकतर मानवीय रूप मे अकित है।

दशरथ इन्द्र के प्रिय मित्र और असुरो के विरुद्ध युद्ध मे देवसेना का नेतृत्व करने वाले बताए गए हैं।[7] किन्तु नाटक मे वे एक वीर व निर्भीक राजा तथा पुत्र-वत्सल पिता के रूप मे ही हमारे सामने आते हैं। राजा जनक ब्रह्मज्ञानी एव धार्मिक व्यक्ति है जो परशुराम का औद्धत्य सहन नही कर पाते और अतिवृद्ध होने पर भी उनके विरुद्ध शस्त्र उठाने को तत्पर हो जाते हैं। सम्पाति और जटायु दोनो भाई 'मन्वन्तरपुराण' गृद्ध है।[8] नाटककार ने चौथे और पाचवें अको के कथासूत्रो को जोडने के लिए पचम अक के विष्कभक मे इनका सवाद प्रस्तुत किया है।

---

1 राजा— प्रकृष्टकल्याणोदर्कमगमा ह्येत भवन्ति भगवन्त सयमधा साक्षात्कृतब्रह्माणा महर्षय। वही, 1 पृ0 12

2 न खलु विश्वामित्रादपेमहत्त्वेन कश्चिदपर प्रकृष्यो। यस्य भगवतस्तौशकव शौन शेप रभास्तम्भन चेत्यपरिमरमाश्चयजातमाख्यानविद आचक्षत। वही 1, पृ0 11
और भी देखिए—वही 3 7, 4 16

3 वही, 1 12

4 वही 7 39

5 अरुधती—वत्स, अल शक्या। आयमिश्रैरयमयस्तदैवान्तरेण चक्षुषा साक्षात्कृत। वही, 7 पृ0 230

6 वही 3 पृ0 86–88

7 वही, 4 18

8 वदयमार्यो मन्वन्तरपुराणो सपाति। अहो मातस्नेह। वही, 5 पृ0 168

बाली रावण का मित्र है जो माल्यवान् की प्रेरणा से राम के वध के लिए मातंग-आश्रम में आकर उन पर आक्रमण करता है। नाटक में उसका चरित्र एक महान् वीर, उदार-हृदय भ्राता तथा महामना मित्र का आदर्श प्रस्तुत करता है। वह इन्द्र का पुत्र कहा गया है। उसके सम्बन्ध में यह पौराणिक कथा भी दी गई है कि उसने एक बार युद्ध के लिए आये रावण को काख में दबाकर सातों समुद्रों में सन्ध्याकार्य पूरा किया और बाद में मैत्री की याचना करने पर उसे छोड़ा।[1]

नाटक में हनूमान् की भूमिका अतीव संक्षिप्त है। रामायण के अनुसार उनकी दैवी उत्पत्ति तथा अलौकिक कार्यों का उल्लेख किया गया है।[2] अशोक वाटिका में वे 'मर्कटपरमाणु' का रूप धारण कर सीता से भेंट करते हैं।[3] लक्ष्मण के मूर्च्छित होने पर वे सम्पूर्ण द्रोण पर्वत को उठा लाते हैं। उनमें आकाशगमन की शक्ति है। उनके व्यक्तित्व निर्माण में नाटककार ने स्पष्टतः रामायण की अतिमानवीय कल्पनाओं का उपयोग किया है।

इनके अतिरिक्त वासव, चित्ररथ, मातलि और किन्नर-मिथुन आदि कुछ दिव्य पात्र भी नाटक में आये हैं, पर उनकी भूमिका नगण्य है। रावण का मन्त्री माल्यवान् एक महत्त्वपूर्ण पात्र है, पर उसके व्यक्तित्व में कोई अलौकिक बात नहीं है। उसका चरित्र मुख्यतः एक स्वामिभक्त व कूटनीतिज्ञ अमात्य के रूप में अंकित है।

स्त्री पात्रों में सीता, शूर्पणखा, मन्दोदरी व त्रिजटा आदि गणनीय हैं। शूर्पणखा के अलावा अन्य स्त्री पात्रों की भूमिका नाटक में विशेष प्रभावकारी नहीं है। शूर्पणखा में परकाय-प्रवेश की अलौकिक शक्ति बताई गयी है। सप्तम अंक में लंका और अलका नगरियों का मानवीकरण किया गया है, पर नाटक में इनकी भूमिका कुछ सूचनाएं मात्र देने तक सीमित है।

अतिप्राकृत लोक-विश्वास

शकुन अशुभ निमित्त के रूप में केवल एक स्थान पर वाम नेत्र के स्फुरण का उल्लेख मिलता है।[4]

---

1 वही 5 37

2 लक्ष्मण—हनूमान्हनूमानिति महानयं वीरवादः। अत्रभवतो जातमात्रस्य सततपरिभ्रान्त्येनानुष्ठ्याश्चर्याणि श्रूयन्ते। अपि च किल।
यत्त्वचलक्षणं वीर्यं यद् वायौ वा समुन्नतम्।
यद् वालिनि महाबाहौ तच्च वीरे हनूमति ॥ वही, 5 31

3 वही, 6 पृ० 200

4 माल्यवान्—(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयन्)
किं नो विधिरिद्ध वचनेऽप्यक्षमो दुर्विपाकः। वही, 6 7

कर्म-विपाक रावण की मृत्यु व उसके कुल का नाश उसके दुष्कर्मों का विपाक बताया गया है।[1]

भवितव्य की प्रबलता भवितव्य होकर ही रहता है, वह किसी भी तरह टाला नहीं जा सकता, इस भाग्यवादी विश्वास के आधार पर रावण के पतन और विनाश की व्याख्या की गई है। रावण एक उदात्त ऋषिकुल में उत्पन्न हुआ, फिर भी उसकी बुद्धि पाप में ही प्रवृत्त रही, जिससे उसका विनाश हुआ।[2]

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

महावीरचरित का प्रधान रस 'वीर' है। प्रस्तावना में ही नाटककार ने बता दिया है कि इस नाटक में "अप्राकृत पात्रों में स्थित वीर रस अपने सूक्ष्म व स्फुट भेदों द्वारा प्रत्येक आधार में भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है।" उसने यह भी कहा है कि 'मैंने वीर व अद्भुत रसों के विशेष प्रेम के कारण धर्मद्रोही रावण का दमन करने वाले रघुनन्दन का अद्भुत चरित इसमें निबद्ध किया है।' इससे स्पष्ट है कि इस नाटक में भवभूति ने रामचरित को वीर व अद्भुत रसों की निष्पत्ति की दृष्टि से ही उपन्यस्त किया है। वस्तु योजना व पात्र-चित्रण में नाटककार की यह दृष्टि सर्वत्र देखी जा सकती है।

'महावीरचरितम्' की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गई है—'महावीरस्य चरितं वर्ण्यते यत्र तत् नाटकम्' अथवा 'महावीराणां चरितानि वर्ण्यन्ते यत्र तत्'। सम्भवतः नाटककार को दोनों ही व्युत्पत्तियाँ अभिप्रेत हैं। नाटक में मुख्यतः राम की महावीरता के विभिन्न उपादानों व पक्षों का चित्रण किया गया है। उनका ही वीर व्यक्तित्व नाटक में सर्वप्रधान रूप में उभरा है। इस दृष्टि से यह नाटक महावीर राम का जीवनचरित है। पर नाटककार का उद्देश्य विभिन्न अप्राकृत वीर पात्रों में वीर रस के विभिन्न रूपों का सौन्दर्य दिखाना भी है। इसी दृष्टि से नाटककार ने परशुराम, जटायु, वाली, हनुमान्, रावण आदि वीर पुरुषों की अवतारणा की है तथा उनमें वीरता की विभिन्न भंगिमाओं के दर्शन कराये हैं। इन वीरों में से कुछ (परशुराम, वाली, रावण) राम के हाथों पराजित होते हैं और कुछ (जटायु, हनुमान, लक्ष्मण, सुग्रीव) उन्हीं के पक्ष में अपनी वीरता प्रदर्शित करते हैं, अतएव इन वीरों का पराक्रम अन्ततः राम के ही महावीरत्व को उत्कर्ष प्रदान करता है।

वीर व अद्भुत मित्ररस माने गये हैं। भरत ने वीर रस से अद्भुत की उत्पत्ति मानी है, यह हम पहले बता चुके हैं। महावीरचरित भरत की उक्त

---

1 वनरा—यद्दुचितममुना तं राक्षसाना विनेत्रा।
निहितमयमेष कर्मणस्तस्य पाकः ॥ वही, 7 1
और भी दे० 6 6

2. वही, 6 8

मान्यता के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। राक्षसी ताटका का वध, शिवधनुष का भग, सुबाहु और मारीच का दमन, परशुराम जैसे त्रिभुवन-प्रसिद्ध वीर पर विजय तथा बाली व रावण जैसे अलौकिक वीरो का वध आदि राम के कार्य जहा उनकी महावीरता के व्यजक हैं, वहा वे प्रेक्षको के लिए अद्भुत रस के आलबन भी है। इन सभी प्रसगो मे अद्भुत रस वीर रस के अग के रूप मे उसकी सौन्दर्य-वृद्धि का हेतु है। नाटक के कुछ अन्य प्रसग जसे राम के प्रभाव मे अहल्या का उद्धार तथा उसे दिव्य रूप की प्राप्ति, दिव्यास्त्रो का प्रादुर्भाव व उनके द्वारा राम की स्तुति, ध्यान मात्र से शिवधनुष की उपस्थिति, शूर्पणखा का मन्थरा के शरीर में आवेश, दनुकबन्ध की चिता मे से दिव्य पुरुष का आविर्भाव, राम द्वारा दुन्दुभि के अस्थि-सचय का पादागुष्ठ से क्षेपण, हनुमान् का द्रोणपर्वत उठाकर उपस्थित होना, पुष्पक विमान द्वारा राम की लका से अयोध्या तक की यात्रा, मार्ग मे विमानस्थ राम को अगस्त्य व विश्वामित्र के सदेशो की प्राप्ति, विभिन्न अवसरो पर आकाश से पुष्पवृष्टि व दुन्दुभि-वादन आदि अद्भुत रस के व्यजक हैं। पर यह ध्यातव्य है कि अद्भुत रस के ये प्रसग सर्वत्र वीर रस के अग के रूप मे ही निबद्ध हैं स्वतन्त्र रूप मे नही। नाटककार का अन्तिम लक्ष्य तो राम व अन्य पात्रो की महावीरता को ही उजागर करना है। इससे स्पष्ट है कि नाटक मे आये अतिप्राकृत तत्त्व अद्भुत रस की निष्पत्ति कराते हुए अन्त मे अगी 'वीर रस' के प्रति अग बन गए है।

उत्तररामचरित

'उत्तररामचरित' भवभूति के कवित्व व नाट्यकला के चरम परिपाक का प्रतिनिधि है। स्वय नाटककार ने इसे "शब्दब्रह्मविद् प्राज्ञ कवि की परिणत वाणी" कहा है।[1] यह अपने नाटकीय गुणो के लिए तो प्रशसनीय है ही, उससे भी अधिक यह अपने काव्यात्मक व प्रगीतात्मक तत्त्वो के लिए प्रसिद्ध रहा है। करुण रस का जैसा मार्मिक परिपाक इसमे हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

उत्तररामचरित मे भवभूति ने दाम्पत्य-प्रेम को महिमान्वित किया है। उनका दाम्पत्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण अतीव उदात्त है। मालती-माधव मे उन्होने नवविवाहित माधव व मालती के प्रति कामन्दकी के मुह से कहलाया गया है—"स्त्रियो के लिए पति और पुरुषो के लिए धर्मपत्नी ही प्रिय मित्र, समग्र बधुसमूह, समस्त अभिलाष,

---

1 शब्दब्रह्मविद॰ कवे परिणता प्राज्ञस्य वाणीमिमाम्। उत्तररामचरित, 7 21
(निर्णयसागर सस्करण, 1955)

धन-सम्पत्ति अथवा जीवन हैं, यह तुम दोनो वत्सो को अन्योन्य विदित हो ।"[1]

उत्तररामचरित मे भवभूति का दाम्पत्यविषयक दृष्टिकोण और अधिक परिष्कृत रूप मे प्रकट हुआ है—"सुख और दुःख मे द्वैतरहित, जीवन की सभी दशाओ मे अनुगत, हृदय के लिए विश्राम-स्थान, वृद्धावस्था मे भी रसपूर्ण तथा कालधर्मानुसार बाह्य आवरणो के उतर जाने पर स्नेह-सार मे परिणत प्रेम को यदि कोई पा सके तो वह सुपुरुष बडा भाग्यशाली है ।"[2] यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भवभूति ने उत्तररामचरित मे सीतानिर्वासन का कारुणिक कथा के माध्यम से दाम्पत्य-प्रणय की इसी गम्भीर व उदात्त भाव-भूमि का हृदयस्पर्शी दर्शन कराया है ।

उत्तररामचरित मानवीय प्रेम व पारिवारिक जीवन के मूल्यो तथा उसके करुण भावोद्वेगो का नाटक है, अत उसमे नाटककार ने अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग उसी सीमा तक किया है जहा तक वे कृति के मानवीय मूल्य व अर्थ को समृद्ध बनाने मे योग देते हैं ।

उत्तररामचरित की प्रधान घटना सीता-परित्याग और राम व सीता का पुर्नमिलन है । कथा के मूल सूत्र रामायण से लिये गये हैं, पर उनकी योजना मे नाटककार ने अपन विशिष्ट जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति तथा कलात्मक उद्देश्यो की सिद्धि के लिये विविध परिवर्तन व परिवर्धन किये हैं । सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन रामायण की दुःखान्त कथा का सुखान्तीकरण है । प्रथम अक मे चित्र-दर्शन, तृतीय अक मे अदृश्य सीता की कल्पना, चतुर्थ अक मे कौसल्या, जनक, अरुन्धती आदि का वाल्मीकि-आश्रम मे प्रवास, पचम व षष्ठ अको मे लव और चन्द्रकेतु का युद्ध तथा सप्तम अक मे गर्भाक की योजना भवभूति की अपनी उद्भावनाए हैं । इनमे से कुछ पर पद्मपुराण, शाकुन्तल आदि का प्रभाव प्रतीत होता है ।[3]

---

1 प्रेयो मित्र बन्धुता वा समग्रा
सर्वे कामा शेवधिर्जीवित वा ।
स्त्रीणा भर्ता धर्मदाराश्च पुसा
मित्यन्योन्य वत्सयोर्ज्ञातमस्तु ॥ मा० मा० 6 18

2. अद्वैत सुखदुःखयोरनुगत सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्न हार्यो रस ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थित
भद्र प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येक हि तत्प्राप्यते ॥ उ० रा० च०, 1 39

3 पद्मपुराण के पातालखण्ड मे वर्णित रामकथा (अध्याय 1 से 68) में लव और कुश का भरत के पुत्र पुष्कल के साथ युद्ध तथा निर्वासित सीता के साथ राम का पुनर्मिलन बताया गया है । श्री बेल्वलकर के विचार मे रामायण की दुःखान्त कथा को सुखान्त रूप देने की प्रेरणा भवभूति को पद्मपुराण से या रामकथा के उसने मिलते जुलते किसी अन्य रूप से मिली होगी । (दे० रामस लेटर हिन्दी ऑर उत्तररामचरित भूमिका प० 57) इसी प्रकार पृथ्वी-माता के सरक्षण मे सीता के पाताल जाने की घटना पर शाकुन्तल मे 'स्त्रीसस्थान ज्योति' (मेनका) द्वारा शकुन्तला को आश्रय देने के प्रसग का प्रभाव माना गया है । (देखिए—द्विजेन्द्रलाल राय कृत 'कालिदास और भवभूति' पृ० 155) ।

प्रथम अंक मे सीता-परित्याग की बाह्य परिस्थिति व आन्तरिक मनोभूमि प्रस्तुत की गई हैं। दूसरे से सातवें अंक तक नाटककार का साध्य राम व सीता का पुनर्मिलन है। तृतीय अंक मे उनके हृदयो का मिलन कराया गया है जिसकी पीठिका पर सप्तम अंक मे उनका बाह्य पुनर्मिलन संभव होता है। द्वितीय अंक तृतीय अंक की भावभूमि पर पहुचाने वाला सोपान है और चतुर्थ, पचम व षष्ठ अंक अंतिम मिलन मे गुरुजनो व अपत्यो की भूमिका प्रस्तुत करते हैं।

राम व सीता की जीवन-धाराए जो पहले परस्पर मिलकर व एकाकार होकर एक ही दिशा मे समगति से बह रही थी, परित्याग की घटना से एक-दूसरे से विलग हो जाती हैं। नाटककार का प्रमुख ध्येय इन दोनो वियुक्त धाराओ को एकीकृत कर पुन पूर्व अवस्था मे स्थापित करना है। राम और सीता के एकरस व एकराग जीवन मे लोकनिन्दा के कारण जो समस्या उत्पन्न हुई उसका समाधान भवभूति ने अपने स्वतत्र दृष्टिकोण से किया है। सीता-परित्याग के नैतिक औचित्य अनौचित्य का विचार उन्हे अभीष्ट नही है, यद्यपि समस्या के इस पक्ष से वे पूर्णतया तटस्थ नहीं रह सके हैं। उन्होने इसे राम व सीता के जीवन की एक मनोवैज्ञानिक या भावात्मक समस्या के रूप म ग्रहण किया है और इसी स्तर पर इसके समाधान की चेष्टा की है। उनके विचार मे यदि सीता को राम के प्रेममय हृदय का दर्शन करा दिया जाये तो उसके मन का परित्याग-शल्य निकल जायेगा जिससे दोनो के जीवन-प्रवाहो मे आया बिलगाव समाप्त हो सकेगा। तीसरे अंक मे अदृश्य सीता की कल्पना द्वारा भवभूति ने इसी लक्ष्य को पाने का प्रयास किया है।

कथावस्तु मे अतिप्राकृत तत्त्व

उत्तररामचरित की कथा मे आए अतिप्राकृत प्रसगो मे से कुछ का स्रोत रामायण है तथा कुछ कवि-कल्पित हैं जिन पर रघुवंश व शाकुन्तल आदि का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव प्रतीत होता है। वस्तु-विधान मे नाटककार ने पौराणिक कल्पनाओ का प्रभूत उपयोग किया है जिससे नाटक के अनेक स्थल पौराणिकता के अतिमानवीय लोक मे सक्रान्त हो गये हैं तथापि उसकी अन्तश्चेतना मे आद्यन्त मानवीय स्वर ही प्रधान है। अतिप्राकृत कल्पनाए उस अन्तश्चेतना का बहिरग या उस तक पहुचने का माध्यम मात्र है।

सीता का पाताल-प्रवास राम द्वारा परित्यक्ता सीता को जब लक्ष्मण हिंस्र जन्तुओ से पूर्ण निर्जन वन मे छोड आते हैं, तब वह जीवन मे निराश होकर गगा मे कूद पडती है। वही उसके दो पुत्रो का जन्म होता है। भागीरथी और पृथ्वी उनकी रक्षा करती हैं और तीनो को पाताल लोक मे ले जाती हैं। जब दोनो बालक स्तन्य पान छोड देते हैं तब भागीरथी उन्हें शिक्षा-दीक्षा के लिये महर्षि वाल्मीकि को सौंप

देती है[1] सीता बारह वर्ष तक पाताल में निवास करती है। इस बीच केवल एक बार जब राम शम्बूक-वध के प्रसंग में दण्डकारण्य में आते हैं, वह भगवती भागीरथी की प्रेरणा व प्रभाव से अदृश्य रूप में पृथ्वी लोक में आती है।

रामायण में भी सीता के पाताल-गमन से मिलता-जुलता उसके पृथ्वी में समाने का प्रसंग आया है,[2] पर वहां अवसर दूसरा है। नाटक में सीता-परित्याग के समय उसका पाताल जाना बताया गया है, जबकि रामायण में परित्याग के अनेक वर्षों के बाद अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर सीता के पृथ्वी में समाने की बात आई है। दोनों प्रसंगों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहां नाटक की सीता कुछ काल के लिए ही पाताल में प्रवास करती है, वहां रामायण में वह सदा के लिए पृथ्वी में समा जाती है। दूसरे, भवभूति ने इस प्रसंग में पृथ्वी के साथ साथ भागीरथी को भी सीता की संरक्षिका के रूप में दिखाया है जबकि रामायण में उसका इस प्रसंग में उल्लेख नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि भवभूति ने सीता के पाताल-प्रवेश की मूल कल्पना ली तो रामायण से ही है, पर नाटकीय प्रयोजन की दृष्टि से उसका सर्वथा नये रूप में संयोजन किया है। भवभूति को नाटक के अन्त में राम व सीता का पुनर्मिलन कराना है, अतः वे उसे अस्थायी रूप से ही पाताल भेजते हैं। भारतीय परम्परा में दुःखान्त नाटक की स्वीकृति न होने से भवभूति को उक्त परिवर्तन करना पड़ा है।

सीता का सुदीर्घ पातालवास लोगों के मन में इस भ्रम को जन्म देता है कि सीता मर चुकी है, उसे वन में हिंस्र पशुओं ने खा डाला है। तृतीय अंक में वासन्ती

---

1 तमसा—तत्सर्वं श्रूयताम्। अस्ति खलु वाल्मीकितपोवनोपकण्ठात्परित्यज्य निवृत्ते सति लक्ष्मणे सीतादेवी प्राप्तप्रसववेदनमतिदुःखसंवेगादात्मानं गङ्गाप्रवाहे निक्षिप्तवती। तदैव तत्र दारकद्वयं च प्रसूता भगवतीभ्यां पृथ्वीभागीरथीभ्यामुभाभ्यामभ्युपपन्ना रसातलं च नीता। स्तन्यत्यागात्परेण दारकद्वयं च तस्य प्राचेतसस्य महर्षेर्गङ्गादेव्या समर्पितं स्वयम्।

उ० रा० च० 3, पृ० 68

2 तथा शपन्त्या वैदेह्या प्रादुरासीत् तदद्भुतम्।
भूतलादुत्थितं दिव्यं सिंहासनमनुत्तमम्॥
ध्रियमाणं शिरोभिस्तु नागैरमितविक्रमैः।
दिव्यं दिव्येन वपुषा दिव्यरत्नविभूषितैः॥
तस्मिंस्तु धरणी देवी बाहुभ्यां गृह्य मैथिलीम्।
स्वागतेनाभिनन्द्यैनामासने चोपवेशयत्॥
तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशन्तीं रसातलम्।
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत्॥ उत्तरकाण्ड, अ० 97 17–20

के प्रश्न के उत्तर मे राम ने अपनी यही धारणा व्यक्त की है।[1] नाटक मे राम, जनक, कौशल्या आदि के शोकोद्गार सीता की मृत्यु की भ्रान्ति पर ही आधारित हैं।[2] सीता के अज्ञात पातालवास की कल्पना द्वारा भवभूति इस भ्रम को सप्तम अक के गर्भांक तक बनाये रखते हैं। गर्भांक से ही राम, लक्ष्मण तथा चराचर भूतग्राम को सीता की निर्वासनोत्तर नियति का पहली बार पता चलता है। उत्तररामचरित मे करुण रस का प्राधान्य सीता की मृत्युविषयक भ्रान्ति का ही सीधा परिणाम है, और इस भ्रान्ति को जीवित रखने मे सीता का पाताल-प्रवास प्रमुख आधार है।

पौराणिक कथाओ मे सीता पृथ्वी की पुत्री बताई गई हैं, अत उसका पातालवास अपनी मा के घर मे आश्रय लेना है जो कि विपत्ति के समय प्रत्येक पुत्री के लिए स्वाभाविक है। शाकुन्तल मे भी पति-परित्यक्ता शकुन्तला को माता मेनका के अक मे आश्रय मिला है। श्री द्विजेन्द्रलाल राय ने सीता के पातालवास की कल्पना को शाकुन्तल के उक्त प्रसग का अनुकरण माना है,[3] पर हमारे मत मे इस पर रामायण का अधिक प्रभाव है।

घटनाक्रम की दृष्टि से सीता के पातालगमन का प्रसग प्रथम व द्वितीय अक के मध्य म आना चाहिए। पर नाटककार ने इसका प्रथम उल्लेख तृतीय अक के विष्कभक मे सूच्य रूप मे किया है और फिर सप्तम अक मे इस घटना को गर्भांक के रूप मे अभिनीत कराया है। तृतीय अक का उल्लेख केवल प्रेक्षकों के लिए है और सप्तम अक का गर्भांक राम आदि के लिए। इस प्रकार की कौशलपूर्ण योजना से सामाजिक तो सीता के जीवित होने की बात जान लेते हैं, पर राम आदि गर्भांक पर्यन्त इससे अपरिचित रहते हैं।

अदृश्य सीता तृतीय अक मे भवभूति ने राम और सीता के हृदय-मिलन के लिए सीता को पचवटी मे राम के समीप अदृश्य रूप मे उपस्थित किया है। लोपामुद्रा और भागीरथी आशकित हैं कि पचवटी मे आने पर राम विगत वनवास में सीता के साहचर्य के साक्षी वृक्षो, लताओ व पशुपक्षियो आदि को देखकर अपने शोक को नियन्त्रण मे नही रख सकेंगे।[4] इस आशका मे भागीरथी सीता को पुष्प चयन

---

1 राम —सखि, किमत्र मन्तव्यम्।
   त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टे-
   स्तस्याः परिस्फुरितगर्भभरालसायाः।
   ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा
   क्रव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता ॥ उ० रा० च०, 3 28

2 वही 3 44, 4 5, 4 17 4 पृ० 112

3 कालिदास और भवभूति, पृ० 155

4 उ० रा० च०, 3 पृ 67-68

के बहाने अपने दैवी प्रभाव द्वारा अदृश्य बनाकर पंचवटी में भेजती है, जहां कुछ ही समय पश्चात् राम आने वाले हैं। भागीरथी ने सीता से कहा है कि मेरे प्रभाव से तुम्हें पृथ्वीतल पर मर्त्य तो क्या वनदेवता भी नहीं देख सकेंगे।[1] उन्होंने तमसा से भी कहा कि वह पुष्प-चयन के समय सीता के साथ रहे। इस प्रकार अदृश्य सीता को तमसा के अतिरिक्त कोई भी नहीं देख सकता।

राम अपने विमान से पंचवटी के वन में उतरते हैं और सीता की स्मृति जगाने वाले दृश्यों व वस्तुओं को देखकर शोक के आवेग से दो बार मूर्च्छित हो जाते हैं और अदृश्य सीता अपने पाणि स्पर्श से उन्हें चैतन्य प्रदान करती है।[2] राम सीता के स्पर्श को पहचान कर उसकी निकट उपस्थिति का अनुभव करते हैं, पर उन्हें सीता कहीं भी नहीं दिखाई देती।[3] दूसरी बार की मूर्च्छा के बाद राम सीता के अदृश्य हाथ को पकड़ लेते हैं।[4] पर सीता उन्हें छुड़ा कर दूर हट जाती है। वे पुनः सीता को आई हुई जानकर चारों ओर देखते हैं, किन्तु कुछ नहीं दिखाई देने पर वे उस स्पर्शानुभूति को मानसिक परिकल्पनाओं से निर्मित भ्रम-मात्र समझते हैं।[5] इस प्रकार राम की मनःस्थिति यथार्थ व भ्रम के बीच झूलती रहती है और उनकी शोकानुभूति तीव्र से तीव्रतर होती जाती है। सीता राम के हृदय में अपने लिए अगाध प्रेम का साक्षात् परिचय पाकर अपने परित्याग के अपमान और रोष

---

1 तमसा—भगवत्या भागीरथ्या 'वत्से देवयजनसंभवे सीते, अद्य खल्वायुष्मतोः कुशलवयोर्द्वादशस्य जन्मवत्सरस्य सङ्ख्यामङ्गलग्रन्थिरभिवर्तते। तदात्मनः पुराणश्वशुरमेतावतो मानवस्य राजर्षिवंशस्य सवितारं सवितारमपहतपाप्मानं देवं स्वहस्तोपचितैः पुष्पैरुपतिष्ठस्व। न त्वामवनिपृष्ठवर्तिनीमस्मत्प्रभावाद् वनदेवता अपि द्रक्ष्यन्ति किमुत मर्त्याः' इति।
वही, 3 पृ० 69

2 वही, 3 11, 39

3 राम—सखि किमन्यत्। पुनरपि प्राप्ता जानकी।
वासन्ती—अयि देव रामभद्र क्व सा।
राम—(स्पर्शसुखमभिनीय) पश्य नन्विय पुरत एव। वही, पृ० 91
राम—(सत्रासोऽवलोक्य) हा कथं नास्त्येव। नन्वकरुणे वैदेहि। वही पृ० 93

4 राम—स एवायं तस्यास्तदितरकरौपम्यसुभगो।
मया लब्धः पाणिर्ललितलवलीकन्दलनिभः॥ वही, 3 40

5 राम—अथवा कुतः प्रियतमा। नूनं सङ्कल्पाभ्यासपाटवोपादान एष भ्रमो रामभद्रस्य।
वही, 3 पृ० 77

राम—कथं नास्त्येव। कथमपथा नामन्यापि न पश्येत्।
अपि खलु स्वप्न एष स्यात्। न चास्मि सुप्तः।
कुतो रामस्य निद्रा। सर्वथापि स एवैष भगवाननेक
वारपरिकल्पितो विप्रलम्भः पुनः पुनरनुबध्नाति माम्। वही, 3 पृ 93-94

दिङनाग के 'कुन्दमाला' नाटक मे भी अदृश्य सीता की कल्पना प्रयुक्त हुई है तथा उत्तररामचरित की सीता के साथ उसका पर्याप्त साम्य भी है। जहा उत्तर रामचरित मे भगवती भागीरथी के प्रभाव से सीता को अदृश्यता प्राप्त हुई है, वहा कुन्दमाला मे महर्षि वाल्मीकि ने अपने तप प्रभाव से यह व्यवस्था की है कि उनके आश्रम की स्त्रियो को तलैया (दीर्घिका) पर कोई भी पुरुष नही देख सकेगा।[1] सीता राम की दृष्टि से बचने के लिये अपना अधिकाश समय दीर्घिका के तट पर अदृश्य रूप मे बिताती है।[2] राम घूमते-घामते हुए वहा पहुच जाते हैं। वे स्वय सीता को तो नही देख पाते पर उन्हे जल मे उसका प्रतिबिम्ब दिखाई दे जाता है। उन्हे विश्वास हो जाता है कि प्रतिकृति (प्रतिबिम्ब) की मूल प्रकृति वास्तविक सीता भी निकट ही होगी।[3] पर सीता उन्हे कही भी दिखाई नही देती। वे सीता के विरह मे व्याकुल होकर मूर्च्छित हो जाते है। अदृश्य सीता राम की इस दशा को देखकर अपने पर नियन्त्रण नही रख पाती। वह मूर्च्छित राम को आलिगन प्रदान कर होश मे लाती है। राम को सीता की उपस्थिति का भान होता है, पर वह दृष्टिगोचर नही होती। वे पुन मूर्च्छित हो जाते हैं। सीता अपने उत्तरीय से हवा करके उन्हे होश मे लाती है।[4] राम उत्तरीय के छोर को पकड लेते हैं। सीता अपना उत्तरीय छोडकर दूर हट जाती है।[5] बाद मे राम अपना उत्तरीय उतार कर ऊपर की ओर फेंकते है जिसे अदृश्य सीता ले लेती है। इससे राम सीता की निकट उपस्थिति के विषय मे आश्वस्त हो जाते है।[6] सन्ध्या होने पर सीता आश्रम मे लौट जाती है। तभी विदूषक कौशिक वहा आकर राम को बताता है कि तिलोत्तमा नाम की अप्सरा सीता का रूप धारण कर उसके विषय मे आपका मनोभाव जानना चाहती है, ऐसी बात मैंने सुबह मुनि कन्याओ व अप्सराओ के मुह से सुनी है।

---

1 तदा भगवता वाल्मीकिना निध्याननिश्चलनयनेन मुहूर्तं निध्याय भणितम्–एतस्या दीर्घिकाया वर्तमान स्त्रीजन पुरुषनयनानामगोचरो भविष्यतीति। कुन्दमाला, 4 पृ० 49 (कुन्दमाला आव दिङनाग, डा० कालीकुमारदत्त द्वारा सपादित, कलकत्ता, 1964)

2. तत प्रभृति सीता रामस्य दर्शनपथ परिहरन्ती दीर्घिकातीरे सकल दिवस अतिवाहयति।
वही, 4 पृ० 49

3 वैदेह्या क्वापि गच्छन्त्या दीर्घिकातीरवर्त्मना।
अन्तर्गतजलच्छाया मया सैवेति वीक्षिता ॥
तदस्या प्रतिकृतेर्मूलप्रकृतिमन्वेषयामि। वही, 4 14

4 वही, 4 पृ० 59

5 वही, 4 पृ० 61–62.

6 वही, 4 पृ 63

विदूषक की इस सूचना से राम को विश्वास हो जाता है कि उन्होंने जल मे जिसकी छाया देखी थी तथा जिसकी निकट उपस्थिति की कल्पना की थी, वह तिलोत्तमा ही रही होगी।[1]

कुन्दमाला के उक्त प्रसग की उत्तररामचरित के तृतीय अक की घटनावली के साथ काफी समानता है। दोनो मे सीता अदृश्य रूप मे उपस्थित होकर मूर्च्छित राम को अपने स्पर्श द्वारा सज्ञा प्रदान करती है। दोनो मे राम को सीता के सान्निध्य का भान होता है, पर अन्त मे वे इस निश्चय पर पहुचते हैं कि वह भान एक भ्रममात्र था। दोनो मे ही अदृश्य सीता राम की विरह-व्यथा को साक्षात् देखकर अपने परित्याग की कटु वेदना को भूल जाती है और राम को अपना स्पर्श प्रदान कर होश मे लाती है। इस प्रकार सीता की अदृश्य उपस्थिति राम के साथ उसका हृदय सवाद पुन स्थापित कर देती है जिसके आधार पर दोनो ही नाटको के अतिम अको मे उनका पुनर्मिलन सभव होता है। यह स्पष्ट है कि उत्तररामचरित और कुन्दमाला मे परस्पर इतना साम्य है कि उनमे से एक पर दूसरे का प्रभाव मानना आवश्यक है। पर प्रश्न यह है कि दोनो मे से कौन किससे प्रभावित हुआ ? कुन्दमाला उत्तररामचरित से पहले का नाटक है या बाद का इस विषय मे विद्वानो मे अत्यधिक मतभेद है। उत्तररामचरित कवित्व व नाटकत्व की दृष्टि मे नि सन्देह कुन्दमाला से श्रेष्ठतर कृति है। अत यही मानना अधिक सगत है कि दिङ्नाग ने ही उत्तररामचरित से प्रभावित होकर अपने नाटक की रचना की होगी।

उत्तररामचरित के तृतीय अक की पुष्पिका म इसे 'छाया अक' नाम दिया गया है। पर हम देखते हैं कि इस अक म सीता अदृश्य रूप मे उपस्थित हुई है, न कि छाया के रूप मे। हा, कुन्दमाला म अवश्य राम को दीर्घिका के जल मे सीता की छाया दिखाई देती है, अत उसके चतुर्थ अक को 'छाया अक' कहा जा सकता है। किन्तु उत्तररामचरित के तृतीय अक का यह नामकरण बहुत उपयुक्त नही है। डा० कालीकुमारदत्त का विचार है[2] कि भवभूति ने कुन्दमाला की छाया सीता की कल्पना से प्रभावित होकर ही उपयुक्त न होने पर भी इस अक का छाया अक' नाम रखा होगा। पर यह मत तर्कसगत नही है। कुन्दमाला मे छाया सीता की कल्पना अवश्य आई है, पर उसमे चतुर्थ अक को 'छाया अक नाम नही दिया गया। अत इस नामकरण पर कुन्दमाला का प्रभाव कैसे माना जा सकता है ? फिर यह भी तो

---

1 राम —(आत्मगतम्) सर्वथा वञ्चितोऽस्मि कामरूपिण्या तिलोत्तमया।
तर्षितेन मया मोहात प्रसन्नसलिलाशया।
अञ्जलिर्विहित पातु कान्तारमृगतृष्णिकाम्॥ वही, 4 22

2 कुन्दमाला ऑव् दिङ्नाग, खण्ड 1 पृ० 200

गर्भांक के अन्त में राम के मूर्च्छित हो जाने पर वाल्मीकि की सहमति से एक पवित्र आश्चर्य घटित होता है। भागीरथी व पृथ्वी सीता को लेकर गंगा के विक्षुब्ध जल में से प्रकट होती हैं।[1] वे सीता को अरुन्धती के सुपुर्द कर देती हैं। सीता अरुन्धती के निर्देश से मूर्च्छित राम को पाणिस्पर्श द्वारा सजीवन प्रदान करती है। राम के संज्ञा प्राप्त करने पर भागीरथी उनसे कहती है कि चित्र दर्शन के समय आपने जो प्रार्थना की थी उसे पूरा कर मैं अनृण हो गई हूँ।[2] इसी प्रकार पृथ्वी भी उनसे कहती है कि सीता के परित्याग के समय आपने मुझ से एक विनती की थी, उसे मैंने पूरा कर दिया है।[3] राम दोनों देवियों से अपने अपराध के लिये क्षमा मांगते हैं। अनन्तर अरुन्धती अयोध्या के पौरजनों को सम्बोधित कर सीता के चारित्र्य पर सन्देह करने के लिए उनकी भर्त्सना करती है। पौरजानपद सीता को प्रणाम कर उनकी पवित्रता में आस्था प्रकट करते हैं। लोकपाल और सप्तर्षिगण पुष्पवृष्टि द्वारा अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हैं।[4] अरुन्धती के कहने पर राम सीता को स्वीकार करते हैं और वाल्मीकि द्वारा लाये गये लव एवं कुश से मिलकर पूर्णकाम होते हैं।

हमने देखा कि सारा ही सप्तम अंक अतिप्राकृत घटनावली से युक्त है। इसमें भागीरथी व पृथ्वी तो दिव्य पात्र हैं ही, सीता भी अपने देवी रूप में उपस्थित हुई है। इसमें नाटककार ने अतीत और वर्तमान तथा कल्पना व यथार्थ का आश्चर्यप्रद समन्वय किया है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार यहां निर्वहण सन्धि के अन्तर्गत अतिप्राकृत वस्तुयोजना के माध्यम से अद्भुत रस की निष्पत्ति करायी गई है।

भरतमुनि ने नाटक के नायक के लिए दिव्य आश्रय का विधान किया है यह हम द्वितीय अध्याय में बता चुके हैं। भागीरथी और पृथ्वी ये दोनों राम के दिव्याश्रय हैं। इन्हीं के अनुग्रह व साहाय्य से राम व सीता का पुनर्मिलन होता है।

---

1 मथ्नाति क्षुभ्यति गाङ्गमम्भो
व्याप्तं च देवर्षिभिरन्तरिक्षम्।
आश्चर्यमार्या सह देवताभ्यां
गङ्गामहीभ्यां सलिलादुपैति॥ उत्तर 7.17

2 (नेपथ्ये) जगत्पते रामभद्र, स्मर्यतामालेख्यदर्शने मां प्रत्यात्मवचनम्। ... अपि च भागीरथी सीताया शिवानुध्यानपरा भवति। तदनृणास्मि। वही, 7 पृ० 174

3 (नेपथ्ये) उक्तमार्यपुत्रेण ... परित्याग ... भगवति वसुन्धरे श्लाघ्यां दुहितरमवेक्षस्व जानकीम्" इति। तदधुना कृतवचनास्मि। वही, 7 पृ० 174

4 लक्ष्मण—आर्य, एवमम्बयारुन्धत्या निर्भर्त्सिताः पौरजानपदाः कृत्स्नश्च भूतग्रामः आर्यां नमस्कुर्वन्ति। लोकपालाः सप्तर्षयश्च पुष्पवृष्टिभिरुपतिष्ठन्ति। वही, 7 पृ० 174

भवभूति ने रामायण की दु खान्त कथा को यहा जो सुखान्त मे परिवर्तित किया है उसका प्रमुख कारण भारतीय नाट्य-परम्परा मे दु खान्त नाटक का सम्पूर्ण निषेध है। विद्वानो का अनुमान है कि भवभूति को इस सुखान्त परिणति की प्रेरणा पद्मपुराण के पाताल खड मे वर्णित रामकथा से मिली होगी जिसमे रामायण के परम्परागत दु खान्त वृत्त को सुखान्त रूप दिया गया है।[1] पर यह स्पष्ट है कि भवभूति ने कथा को इस सुखान्त पर पहुचाने के लिए सप्तम अक मे घटनाओ की सर्वथा अभिनव योजना की है जो उनकी मौलिक प्रतिभा की परिचायक है।

ऊपर हमने उत्तररामचरित की प्रधान कथा मे आए मुख्य अतिप्राकृत प्रसगो का परिचय दिया। इसके अतिरिक्त कुछ और तत्त्वो का भी गौण प्रयोग हुआ है जिनका उल्लेख-मात्र पर्याप्त होगा। दूसरे अक के विष्कभक मे आत्रेयी द्वारा सूचना दी गई है कि ब्रह्मा ने प्रकट होकर वाल्मीकि ऋषि को रामचरित के निर्माण के लिए प्रेरित किया व अन्तर्हित हो गये। तत्पश्चात् वाल्मीकि ने शब्दब्रह्म के प्रथम विवर्त *रामायण* नामक इतिहास की रचना की।[2] इस प्रसग को षष्ठ अक मे लव-कुश द्वारा रामायण-गान की पृष्ठभूमि के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार ब्राह्मण-पुत्र की अकाल मृत्यु, अशरीरिणी वाणी[3] तथा राम द्वारा हत शम्बूक का दिव्य पुरुष मे रूपान्तरण आदि प्रसग राम के दण्डकारण्य मे जाने की पृष्ठभूमि के रूप मे मात्र सूचित किये गये हैं। श्री वेल्स के विचार मे ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु व पुनर्जीवन की घटना सीता की परित्याग-रूप मृत्यु और पुनर्मिलन-रूप प्रत्युज्जीवन की प्रतीक है।[4] रामायण म भी यह घटना आई है, पर वहा इसका ऐसा प्रतीकात्मक अर्थ नही है।

---

1 दे० श्री एस० के० बेल्वलकर कृत रामस लेटर हिस्ट्री ऑर उत्तररामचरित भूमिका, पृ० 27

2 तेन हि पुन समयेन त भगवन्तमाविर्भूतशब्दप्रकाशमृषिमुपसगम्य भगवान् भूतभावन पद्मयोनिरवोचत्-ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद्ब्रूहि रामचरितम्। अव्याहतज्योतिरार्ष ते चक्षु प्रतिभातु आद्य कविरसि इत्युक्त्वाऽन्तर्हित। अथ स भगवान् प्राचेतस प्रथम मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृश विवर्तमितिहास रामायण प्रणिनाय। वही, 2 पृ० 54-55

3 अत्रान्तरे ब्राह्मणेन मृत पुत्रमुत्क्षिप्य राजद्वारे सोरस्ताडमब्रह्मण्यमुद्घोषितम्। ततो न राजापचारमन्तरेण प्रजानामकालमृत्यु सचरतीत्यात्मदोष निरूपयति करुणामये रामभद्रे सहसैवाशरीरिणी वागुदचरत्—

शम्बूको नाम वृषल पृथिव्या तप्यते तप।
शीर्षच्छेद्य स ते राम त हत्वा जीवय द्विजम्॥ वही, 2 8

4 दे० दि क्लासिकल ड्रामा ऑव इण्डिया हेनरी डब्ल्यू वेल्स पृ० 176

पंचम व षष्ठ अंकों में लव-चन्द्रकेतु के युद्ध का प्रसंग दिव्य-शस्त्रों के प्रयोग के कारण एक अतिप्राकृत घटना में परिवर्तित हो गया है। लव जृम्भक अस्त्र द्वारा चन्द्रकेतु की सेना को स्तंभित कर देता है।[1] बाद में इन दोनों वीरों के बीच आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र व वायव्यास्त्र आदि अद्भुत अस्त्रों का प्रयोग-प्रतिप्रयोग होता है, जिसमें यह युद्ध एक जादू की सी घटना बन गया है।[2] इस युद्ध-दृश्य को आकाशचारी विद्याधर व विद्याधरी के संवाद द्वारा प्रस्तुत कर भवभूति ने नाट्यशास्त्र के उस परम्परागत निर्देश के प्रति अपना आदर व्यक्त किया है, जिसके अनुसार युद्धदृश्य का मंचीय प्रदर्शन वर्जित ठहराया गया है।

अतिप्राकृत पात्र

उत्तररामचरित में भवभूति का प्रधान लक्ष्य मानवीय प्रणय एवं दाम्पत्य जीवन की गम्भीर व उदात्त संवेदनाओं का चित्रण करना है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए नाटककार ने प्रमुख पात्रों को मानव रूप में ही उपस्थित किया है। भवभूति के राम पूर्णतया मानव हैं, भावना की ही दृष्टि से नहीं, बाह्य व्यक्तित्व व गुणों की दृष्टि से भी। वाल्मीकि के राम अनेक अवसरों पर अतिमानव रूप में प्रकट हुए हैं, पर भवभूति ने इस नाटक में राम को मानव-चरित्र की सीमाओं में रखने का विशेष प्रयत्न किया है। एक दो अपवादों को छोड़कर जहां उनके ईश्वरीय रूप का अस्पष्ट-सा संकेत दिया गया है,[3] अन्यत्र सभी स्थलों पर उनका व्यक्तित्व सर्वथा मानवीय है। भवभूति ने उन्हें एक प्राकृत मनुष्य के समान पत्नी-वियोग में शोकाकुल चित्रित किया है। नाटक में करुण रस का जो हृदय-स्पर्शी परिपाक हुआ है, वह राम के सम्वेदनशील मानव-व्यक्तित्व पर ही आधारित है। भवभूति ने उनके इस व्यक्तित्व के तीन पहलुओं को विशेष रूप से प्रकाशित किया है—राम राजा के रूप में, पति के रूप में व पिता के रूप में।

---

1 व्यतिकर इव भीमस्तामसो वैद्युतश्च
प्रणिहितमपि चक्षुर्ग्रस्तमुक्तं हिनस्ति।
अथ लिखितमिवैतत्सैन्यमस्पन्दमास्ते
नियतमजितवीर्यं जृम्भते जृम्भकास्त्रम्॥ वही 5.11

2 वही 6 प० 142–144

3 (क) अन्वेष्टव्यो यदसि भुवने लोकनाथः शरण्यो
मामन्विष्यन्निह वृषलकः योजनानां शतानि। वही, 2.13

(ख) यदत्र देवो रघुनन्दनः स्थितः। स रामायणकथानायको ब्रह्मकोशस्य गोप्ता।
वही 6 पृ० 151

सीता का व्यक्तित्व मानवीय व अतिमानवीय दोनो प्रकार के तत्त्वो से निर्मित हुआ है। वह पृथ्वी की पुत्री है[1] तथा देवताओ की यज्ञ-भूमि से उत्पन्न हुई है।[2] उसका पाताल-वास व पचवटी मे अदृश्य उपस्थिति उसके व्यक्तित्व का अतिमानवीय पक्ष है, पर यह पक्ष दिव्य अनुग्रह का परिणाम है, उसका अपना सहज अश नहीं। उसका मूल व्यक्तित्व चिरन्तन पत्नीत्व व मातृत्व के योग से बना है तथा इस रूप मे उसका चरित्र पूरी तरह मानवीय है।

इस नाटक मे कुछ दिव्य पात्रो की भी योजना मिलती है। ये सभी पात्र गौण हैं तथा नाटक की मूल मानवीय सवेदना को तीव्र करने मे सहायक हैं। इनम से अधिकतर दिव्य पात्र प्राकृतिक पदार्थों के अधिदेवता है। भागीरथी, तमसा व मुरला नदीदेवता हैं, पृथ्वी भूमिदेवता और वासन्ती वनदेवता। भागीरथी और पृथ्वी सीता को विपत्ति के समय सरक्षण देती हैं। वे ममता और करुणा की साक्षात् मूर्ति हैं। राम ने चित्रदर्शन के समय भागीरथी से और सीता-निर्वासन के समय पृथ्वी से प्रार्थना की थी कि वे सीता के कल्याण व सुरक्षा का ध्यान रखें। ये दोनो देविया राम की प्रार्थना को ध्यान म रखकर उसे दु ख की घडी मे आश्रय देती हैं तथा वियुक्त दम्पती के पुनर्मिलन के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करती हैं। भागीरथी के प्रभाव से सीता को अदृश्य रूप प्राप्त होता है जिसके कारण मर्त्य प्राणी तो क्या, वनदेवता भी उसे नहीं देख सकते। तमसा के शब्दो म 'मन्दाकिनी का ऐश्वय सभी देवताओ मे प्रकृष्टतम है।'[3] भागीरथी व पृथ्वी दोनो देवता होने के कारण प्राणियो के अन्त करण का ज्ञान पाने मे समथ हैं।[4] सप्तम अक के गर्भाक मे पृथ्वी के वात्सल्यमय रूप का चित्रण किया गया है। इन दोनो पात्रो की कल्पना मे नाटककार की धार्मिक व पौराणिक भावना अभिव्यक्त हुई है।

वासन्ती वन-देवता है और तमसा व मुरला नदीदेविया, वे अन्तश्चेतना की दृष्टि से मानव ही हैं। उनके मनोभाव, अन्त -प्रेरणाए व काय प्रकृति के मानवीकरण पर आधारित हैं। कालिदास के समान भवभूति भी प्रकृति को मानववत सचेतन व सवेदनशील मानते हैं। उनकी दृष्टि मे प्रकृति के हृदय मे मानव के प्रति असीम स्नेह और सहानुभूति है। वह सदैव मानव-कल्याण मे निरत रहती है।

---

1 विश्वम्भरा भगवती भवतीमसूत 1 9

2 देवि देवयजनसभवे प्रसीद। एष ते जीवितावधि प्रवाद। 1, पृ० 21

या देवयजन पुण्ये पुण्यशीलामजीजन। 1 51

3 तमसा—अयि वत्से सवदेवताभ्य प्रकृष्टतममैश्वर्य मन्दाकिन्या। तत्किमिति विशकसे।

वही, 3 पृ० 78

4 गगा—भगवति वसुधरे, शरीरमसि ससारस्य। तत्किमसविदानेव जामात्रे कुप्यसि।

लक्ष्मण—अध्याहृतान्त प्रकाशा देवता सत्त्वेषु। वही, 7 पृ० 168

तृतीय अंक के विष्कम्भक में राम के शोकाकुल हृदय की सान्त्वना के लिए नदीदेवियों की आकुलता मानव और प्रकृति के अन्तर्वर्ती स्नेह-सूत्र की व्यंजक है। भवभूति के विचार में विपत्ति और दुःख में मनुष्य को प्रकृति की स्नेहमय गोद में ही संरक्षण व सान्त्वना मिलती है और उसी के साक्ष्य में वह अपने हृदय के विच्छिन्न सम्बन्ध सूत्रों को पुनः जोड़ने में समर्थ होता है। सम्भवतः इसी दृष्टि से कवि ने राम को पंचवटी के प्राकृतिक अंचल में लाकर वासन्ती व तमसा की उपस्थिति में राम और सीता का भाव-मिलन कराया है।

वाल्मीकि आर्षदृष्टि-सम्पन्न ऋषि हैं।[1] नाटक में वे अन्तिम दृश्य में ही सामाजिकों के समक्ष आते हैं, पर उनके आर्षव्यक्तित्व का प्रभाव अन्य अंकों में भी अनुभव किया जा सकता है। राम के पुत्रों—लव व कुश की शिक्षा-दीक्षा का दायित्व भागीरथी ने उन्हीं को सौंपा है। ब्रह्मा के उपदेश से वे आद्य काव्य रामायण की रचना करते हैं। वे अपनी आर्ष दृष्टि से सीता-निर्वासन के बाद की परोक्ष घटनाओं को देखने में समर्थ हैं।[2] उनके द्वारा प्रणीत नाटक का भरतमुनि के निर्देशन में अप्सराओं द्वारा अभिनय किया जाता है। उनके प्रभाव से समस्त त्रैलोक्य के मर्त्य-अमर्त्य व स्थावर-जंगम प्राणी इस नाटक को देखने के लिए गंगा-तट पर एकत्र होते हैं।[3] गर्भांक के समाप्त होने पर वाल्मीकि की अभ्यनुज्ञा से एक पवित्र आश्चर्य घटित होता है[4] जिसका विवरण हम पहले दे चुके हैं। वनदेवता के शब्दों में वाल्मीकि 'पुराणब्रह्मवादी' ऋषि हैं जिनके पास मुनिजन ब्रह्मविद्या के अध्ययनार्थ आते हैं।[5]

शम्बूक एक शूद्र तपस्वी हैं जो राम द्वारा वध किये जाने पर दिव्य पुरुष में रूपान्तरित हो जाता है। तत्कालीन विचारधारा के अनुसार वह तपस्या का

---

1 ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद्ब्रूहि रामचरितम्। अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभातु। आद्यः कविरसि इत्युक्त्वान्तर्हितः। वही 2 पृ० [illegible]

2 सूत्रधार—(प्रविश्य) भो भो भूतार्थवादी स्थावरजङ्गम [illegible] चरितामरसिद्धमभिगर्भो ... धारया समस्तीति पावनं वचनामृतं कल्याणभूतं न किञ्चिदपनिबद्धम् वही 7 पृ० 163

3 लक्ष्मण—भो किं न खलु भगवता वाल्मीकिना सब्रह्मक्षत्रपौरजानपदाः प्रजाः सहास्माभि-राहूय कृत्स्न इव सदेवासुरतिर्यङ्निकायः सचराचरं भूतग्रामं स्वप्रभावेन सन्निधा-पित वही 7 पृ० 162

4 भो जगदस्यावरा प्राणभृतो मर्त्यामर्त्याः पश्यन्त्विदानीं वाल्मीकिनाभ्यनुज्ञातं पवित्रमाश्चर्यम्।
उ० रा० च०, 7 पृ० 1[illegible]2

5 वनदेवता—एते तावदस्मिन्नपि मुनयस्तमेव हि पुराणब्रह्मवादिनं प्राचेतसमृषिं ब्रह्मपारायणाये पासते। तत्कोऽयमार्यायाः प्रवास। वही 2 पृ० 52

अधिकारी नही है। यही कारण है कि उसकी तपस्या से ब्राह्मण के पुत्र की मृत्यु हो जाती है। ज्योही राम शबूक का वध करते हैं, ब्राह्मण-पुत्र पुनर्जीवित हो जाता है। शबूक का भी तप व्यर्थ नही जाता, राम उसे उग्र तप के परिपाक के रूप में वैराज नामक लोको मे निवास प्रदान करते हैं।[1]

विद्याधर व विद्याधरी को भवभूति ने लव और चन्द्रकेतु के युद्ध-वर्णन के लिए पारम्परिक पात्रो के रूप मे निबद्ध किया है। मच पर युद्धदृश्य के वर्जित होने से भवभूति ने इनकी कल्पना की है। ये आकाश मे विमान मे बैठे हुए अपने सवादों द्वारा युद्ध का वर्णन करते हैं। भास ने अभिषेक नाटक मे विद्याधर-विद्याधरी द्वारा ही रामरावण-युद्ध का वर्णन कराया है। महावीरचरित मे भवभूति ने इस उद्देश्य के लिये वासव और चित्ररथ की योजना की है और प्रस्तुत नाटक मे विद्याधर व विद्याधरी की।

लव और कुश की अलौकिक वीरता व तेजस्वी व्यक्तित्व का भवभूति ने अतीव ओजस्वी चित्र अकित किया है।[2] इन दोनो को जृम्भक आदि शस्त्र अपने रहस्यो-समेत जन्म से ही सिद्ध हैं।[3] लव और चन्द्रकेतु का युद्ध जिसमे अनेक जादुई अस्त्रो का प्रयोग किया गया है, इन दोनो वीरो के लोकान्तर व्यक्तित्व का सूचक है।

सप्तम अक के गर्भाक मे लव और कुश के जन्म के समय दिव्यास्त्रो की उपस्थिति से आकाश कलकल शब्द सहित सहसा प्रज्वलित हो उठता है।[4] ये दिव्यास्त्र नेपथ्य से सीता की स्तुति करते हुए बताते हैं कि चित्र-दर्शन के समय राम ने हमे आपके पुत्रो को सौंप दिया था, इसलिए हम उपस्थित हुए हैं।[5] फिर गगा और पृथ्वी उन्हे ध्यान करते ही उपस्थित होने की आज्ञा देकर विदा कर देती हैं।[6] दिव्यास्त्रो की सशरीर उपस्थिति की यह कल्पना रामायण पर आधारित है।[7]

---

1 राम —इयमपि प्रिय न । तदनुभूयतामुग्रस्य तपस' परिपाक ।
यत्रानन्दश्च मोदाश्च यत्र पुण्याश्च सपद ।
वैराजा नाम ते लोकास्तैजसा सन्तु ते शिवा ॥ वही, 2 12

2 उ० रा० च० 5 33, 6 9 19

3 आत्रेयी—तयो किल सरहस्यानि जृम्भकास्त्राणि जन्मसिद्धानि। वही, 2 पृ० 53

4 सीता—किमत्याबद्धकलकल प्रज्वलितमन्तरिक्षम। वहो 7 पृ० 170

5 (नेपथ्ये) देवि सीते नमस्तेऽस्तु गति न पुत्रको हि त।
आलेख्यदर्शनादेव ययोर्दाता रघूद्वह ॥ वही, 7 10

6 देव्यौ—नमो व परमास्त्रेभ्यो धन्या स्मो व परिग्रहात्।
काले ध्यातैरुपस्थेय वत्सयोर्भद्रमस्तु व ॥ वही, 7 11

7 गम्यतामिति तानाह यथेष्ट रघुनन्दन।
मानसा कार्यकालेषु साहाय्य मे करिष्यथ ॥
अथ ते राममामन्त्र्य कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
एवमस्त्विति काकुत्स्थमुक्त्वा जग्मुर्यथागतम् ॥ बालकाड, 28 14–15

इस कल्पना को भवभूति ने महावीरचरित व उत्तररामचरित दोनों में प्रस्तुत किया है। पर यह उल्लेखनीय है कि दोनों ही नाटकों में ये दिव्यास्त्र रंगमंच पर साक्षात् उपस्थित नहीं होते, अपितु नेपथ्य से उनकी वाणीमात्र सुनाई देती है।

अतिप्राकृत लोकविश्वास

दैव उत्तररामचरित में अनेक स्थलों पर दैव-सम्बन्धी विश्वास की अभिव्यक्ति हुई है। सीता की लोकनिन्दा व निर्वासन में दैव को ही प्रधान कारण माना गया है। राम कहते हैं--"सीता के परगृहनिवास का दूषण अग्निपरीक्षारूप अद्भुत उपाय द्वारा शांत कर दिया गया था, पर दैव-दुर्विपाक से आलर्क-विष के समान वह पुनः सभी ओर फैल गया है।"[1] उनके अनुसार इक्ष्वाकु वंश प्रजाओं का अभिमत है, किन्तु दैव के कारण निन्दा का बीज उत्पन्न हो गया है। सीता की विशुद्धि के समय जो अद्भुत कार्य हुआ वह अयोध्या से इतनी दूर सम्पन्न हुआ कि उसमें लोगों का विश्वास कैसे हो?[2] सीता की लोकनिन्दा ही नहीं, उसके परित्याग को भी भवितव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। महारानी कौसल्या को आश्वासन देती हुई अरुन्धती कहती है कि ऋष्यश्रृंग के आश्रम में आपके कुलगुरु ने जो बात कही थी क्या वह आपको स्मरण नहीं है? उन्होंने कहा था—'भवितव्यं तथा इति उपजातमेव। किन्तु कल्याणोदकं भविष्यतीति।'[3] अर्थात् यह होनहार था इसलिए ऐसा ही हुआ। पर अब इस का कल्याणमय परिणाम होगा। वसिष्ठ के कथन से स्पष्ट है कि न केवल सीता का निर्वासन ही दैव द्वारा पूर्वनियत है, अपितु राम और सीता के पुनर्मिलन के रूप में उस निर्वासन का मंगलमय अंत भी अवश्यभावी है। सप्तम अंक में पुत्री के दुःख से व्याकुल पृथ्वी को गंगा ने दैववादी व कर्मवादी विचारधारा के आधार पर ही सान्त्वना देने का प्रयास किया है—

> को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तु-
> द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे ॥ उ०रा०च०, ७४

---

1 हा हा धिक्परगृहवासदूषणं यद्
वैदेह्याः प्रशमितमद्भुतैरुपायैः
एतत्तत्पुनरपि दैवदुर्विपाका-
दालर्कं विषमिव सर्वतः प्रसक्तम् ॥ उ० रा० च०, 1 40

2 इक्ष्वाकुवंशोऽभिमतः प्रजानां
जातं च दैवाद्वचनीयबीजम्।
यच्चाद्भुतं कर्म विशुद्धिकाले
प्रत्येतु कस्तद्यदि दूरवृत्तम् ॥ वही, 1 44

3 वही, 4 पृ० 114

इसी प्रकार जब तृतीय अंक में सीता कहती है कि "मैं ऐसी मन्दभागिनी हूं कि न केवल आर्यपुत्र का ही अपितु पुत्रों का भी वियोग भोग रही हूं"[1] तब तमसा उसे समझाती है—'भवितव्यतेयमीदृशी'। इससे स्पष्ट है कि भवभूति कर्म, दैव या भवितव्यता के सिद्धान्त में गहरी निष्ठा रखते हैं तथा उसी को मानव-नियति का प्रधान सूत्रधार मानते हैं। मनुष्य पूर्वजन्म में जो कर्म करता है वही उसका दैव या भवितव्य बन कर उसके अगले जीवन में उसकी सुख व दुःख की दशाओं को निर्धारित करता है। सीता ने लंका में अग्नि-परीक्षा देकर अपनी पवित्रता का प्रमाण दिया, फिर भी अयोध्या के पुरवासियों ने उसकी सच्चरित्रता में सन्देह किया। राम को सीता का सब कुछ प्रिय है, अगर कुछ अप्रिय है तो उसका विरह ही।[2] उन्हें सीता के चरित्र में भी कोई सन्देह नहीं है,[3] फिर भी उन्होंने नृशंसतापूर्वक उसे त्याग दिया। नाटककार के मन में सीता की लोकनिन्दा के लिए न अयोध्या के पौरजानपद दोषी है और न उसके परित्याग के लिए राम को ही कोई दोष दिया जा सकता है। जो हुआ वह सब एक अपरिहार्य भवितव्यता थी। जब दैव परिपाक की ओर उन्मुख हो जाता है तो उसके द्वारों को कौन बंद कर सकता है?[4] अतः सीता की करुण परिस्थितियों के लिए अगर कोई उत्तरदायी है तो दैव या भवितव्य जो सम्भवतः सीता के ही प्राक्तन कर्मों का परिणाम है। इस प्रकार सीता की लोकनिन्दा व परित्याग का सारा दोष दैव या भाग्य पर डालकर नाटककार ने पौरजानपदों व राम को इन कार्यों के नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त कर दिया है। सम्भवतः यही कारण है कि नाटक में राम द्वारा सीता के परित्याग के नैतिक औचित्य या अनौचित्य के प्रश्न की लगभग उपेक्षा की गई है। केवल वासन्ती ने ही राम को इस कार्य के लिये आड़े हाथों लिया है।[5] अन्य सभी पात्र दैवकृत अपरिहार्य विधान के रूप में इस घटना को स्वीकार कर लेते हैं।

---

1 सीता—इदृश्यास्मि मन्दभागिनी यस्या न केवलमार्यपुत्रविरहः पुत्रविरहोऽपि।
वही, 3 प० 79

2 किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः। वही, 1 38

3 राम—शान्तं पापम् (समाश्वसवचनम)
उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः।
तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः॥ वही, 1 13

4 वही, 7 4

5 अयि कठोर यशः किल ते प्रियं
किमयशो ननु घोरमतः परम्।
किमभवद्विपिने हरिणीदृशः
कथय नाथ कथं बत मन्यसे॥ वही, 3 27

राजा के अपचार से प्रजाओं की अकाल मृत्यु दूसरे अंक के विष्कम्भक मे ब्राह्मण-पुत्र की अकाल मृत्यु के प्रसग मे यह विश्वास व्यक्त हुआ है कि राजा के दुष्कर्म (अपचार) के बिना प्रजाओं की अकाल मृत्यु नही होती ।[1] इस विश्वास को नाटककार ने रामायण[2] व रघुवंश[3] के आधार पर प्रस्तुत किया है । इसमे यह लोकविश्वास व्यक्त हुआ है कि राजा एक व्यक्ति ही नही है, समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि है । उसके जीवन व कर्म को राष्ट्र के जीवन व कर्म से पृथक् नहीं किया जा सकता । यदि वह स्वय कोई दुष्कर्म करता है या उसके राज्य मे कोई पापकर्म होता है तो उसका फल प्रजा को भी भोगना पडता है । इस प्रकार यहा राजा के आचरण व प्रजा के कल्याण के बीच एक रहस्यमय अतिप्राकृत सम्बन्ध स्वीकार किया गया है ।

अविलुप्तार्थ वाक् उत्तररामचरित मे एक अतिप्राकृत विश्वास यह भी प्रकट हुआ है कि ऋषियो के वचन कभी मिथ्या नही होते । अरुन्धती के शब्दो मे "जिन ब्राह्मणो मे आत्मज्ञानरूप ज्योति का आविर्भाव हो चुका है उनके वचनो मे सशय नही करना चाहिए । उनकी वाणी सदैव मगलमयी श्री से युक्त होती है । वे विप्लुतार्थ वाक् का प्रयोग कदापि नही करते ।"[4] राम के अनुसार "लौकिक साधुओ की वाणी अर्थ का अनुगमन करती है, किन्तु जहा तक आद्य ऋषियो का सम्बन्ध है, अर्थ उनकी वाणी का अनुगमन करता है ।"[5] आशय यह है कि वे जो कह देते हैं वह उसी रूप मे होकर रहता है । राघव भट्ट ने अपनी टीका मे लिखा है कि "तपस्वियो की उक्ति तप के प्रभाव से अनासन्न अर्थ को भी उत्पन्न कर देती है ।" अथवा 'ऋष् गतौ' धातु बुद्ध्यर्थक है इसलिए तीनो कालो मे विद्यमान वस्तुओ के

---

1 आत्रेयी—अन्नान्तरेण ब्राह्मणेन मृत पुत्रमुत्क्षिप्य राजद्वारे सोरस्ताडमब्रह्मण्यमुद्घोषितम् । ततो न राजापचारमन्तरेण प्रजानामकालमृत्यु वही, 2 पृ० 57

2 राजदोषैर्विपद्यन्ते प्रजा ह्यविधिपालिता ।
असद्वृत्ते हि नृपतावकाले म्रियते जन ॥
यद् वा पुरेष्वयुक्तानि जना जनपदेषु च ।
कुर्वते न च रक्षास्ति तदा कालकृत भयम ॥ उत्तरकाड, 73 वा सर्ग, 16-17

3 राजन्प्रजासु ते कश्चिदपचार प्रवर्तते ।
तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि तत कृती ॥ रघुवंश, 15 47

4 आविर्भूतज्योतिषा ब्राह्मणाना
ये व्याहारास्तेषु मा सशयोऽभूत् ।
भद्रा ह्येषा वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता
नैते वाच विप्लुतार्था वदन्ति ॥ उ० रा० च०, 4 18

5 लौकिकाना हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते ।
ऋषीणा पुनराद्याना वाचमर्थोऽनुधावति ॥ वही, 1 10

साक्षात्कार की शक्ति ऋषिपद का प्रवृत्तिनिमित्त है। अत ऋषिगण भावी अर्थ का दर्शन करके ही बोलते हैं। यही कारण है कि अपना उचित समय आने पर अर्थ उनकी वाणी का अनुसरण करता है।"[1] राम के कथनानुसार "ऋषि लोग धर्म का साक्षात्कार किये हुए होते हैं, उनके अमृतपूर्ण विशुद्ध प्रज्ञान कही भी व्याहत नही होते।"[2]

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

उत्तररामचरित करुणरस-प्रधान नाटक है। नाट्यशास्त्र की परम्परा के अनुसार शृगार या वीररस ही नाटक का अगीरस हो सकता है, पर भवभूति ने इस सर्वमान्य परपरा को तोडकर उत्तररामचरित मे करुण रस को अगी के रूप मे प्रतिष्ठित किया है। भवभूति के मत मे "एक मात्र करुण रस ही मूल रस है, अन्य सभी रस निमित्त भेद से उसके विवर्त मात्र है। जैसे आवर्त, बुद्बुद व तरग आदि भिन्न-भिन्न प्रतीत होते है पर तत्त्वत वे सब है जल ही।"[3] भवभूति की यह मान्यता विवाद का विषय हो सकती है पर इसमे सन्देह नही कि उन्होंने उत्तररामचरित मे मानव-हृदय की शोकानुभूति का जैसा हृदयस्पर्शी व मर्मवेधी चित्रण किया है वैसा संस्कृत साहित्य ही क्या, विश्व-साहित्य मे भी दुर्लभ है।

यहा यह शका उठती है कि उत्तररामचरित का मुख्य रस विप्रलभ या करुण विप्रलभ माना जाय अथवा करुण रस? शास्त्रीय दृष्टि से करुण का स्थायी भाव शोक है और विप्रलभ का रति। दोनो म एक मूल अन्तर यह भी है कि जहा विप्रलभ म पुनर्मिलन की आशा रहती है वहा करुण मे प्रियजन का नाश हो जाने से ऐसी आशा के लिए कोई अवकाश नही होता।[4] विश्वनाथ के अनुसार जहा प्रेमी युगल मे से एक के लोकान्तर म चले जाने पर भी पुनर्मिलन की आशा रहती है तथा दूसरा उसके लिए व्याकुलता का अनुभव करता है वहा करुण विप्रलभ रस होता

---

1 तपस्विनाम् क्रिहि तप प्रभावनानाम् मत्यतम् त्पादयनीति भाव। यद्वा 'ऋष गतौ' इत्यस्य बुद्ध्यर्थत्वात कालत्रयवर्तिवस्तुसाक्षात्कर्तृत्व ऋषिपदप्रवृत्तिनिमित्तम्। तथा च भाविनमर्थ दृष्टवा ते वदन्ति। तत स्वकाल प्राप्त सोऽर्थस्तामनुसरतीति भाव।

वही 1 10 पर राघव भट्ट की टीका

2 राम —गतत्त्वत भवति। साक्षात्कृतधर्माणो महर्षय। तेषाम् ऋतम्भराणि भगवता परोरजासि प्रज्ञानानि न क्वचिद् व्याहन्यन्ते इति न हि शकनीयानि। वही, 7 पृ० 164

3 वही, 3 47

4 करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो निरपेक्षभाव। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थ सापेक्षभावो विप्रलम्भकृत। ना० शा०, 6 पृ० 309

है।[1] अत लोकान्तरगमन या मृत्यु होने पर भी सगम की प्रत्याशा करुणविप्रलभ का मूल आधार है। यह प्रत्याशा प्राय किसी देवता द्वारा आकाशवाणी आदि के रूप मे जगायी जाती है। उत्तररामचरित मे सीता के परित्याग के बाद यद्यपि उसका नाश नही होता, पर राम व अन्य लोग यही समझते हैं कि सीता अब इस ससार मे जीवित नहीं है। राम ने अपनी इस धारणा को अनेक स्थानो पर प्रकट किया है—विशेष रूप से वासन्ती के प्रश्न के उत्तर मे।[2] अत उन्होने सीता के वियोग मे जो भावोद्गार प्रकट किये हैं उनमे शोक ही प्रधान है। राम सीता को मृत मानते हैं व उन्हें पुन समागम की कोई आशा नही है, इसी दृष्टि से उन्होंने सीता के 'प्रविलय' को 'निरवधि कहा है।[3] अत उत्तररामचरित मे करुण रस ही मानना उचित है, करुण-विप्रलभ नहीं। हमारी दृष्टि मे इस नाटक मे सीता परित्याग से लेकर अतिम अक मे पुनर्मिलन के पहले तक करुण रस ही मुख्य है। भवभूति ने करुण रस के सम्यक् परिपाक के लिए उसे समुचित आधार देने हेतु सीता के पातालप्रवास की कल्पना की है। इस कल्पना के कारण सीता एक दीर्घ अवधि (१२ वर्ष) के लिए लोकान्तर मे चली जाती है जिससे राम आदि के मन मे उसकी मृत्यु की धारणा दृढ हो जाती है। राम के शब्दो मे 'इस जगत् को सीता से शून्य हुए बारह वर्ष बीत गये, उका नाम भी नष्ट हो गया, फिर भी राम जीवित हैं।'[4] हम बता चुके हैं कि सीता के पाताल-गमन की कल्पना रामायण से प्रेरित होने पर भी भवभूति की एक स्वतत्र उद्भावना है जिसका प्रयोजन करुण रस की निष्पत्ति के लिए इष्टनाश-रूप आधार प्रदान करना है।

तृतीय अक मे अदृश्य सीता की कल्पना मे भी करुण रस को तीव्रता मिली है। सीता का अदृश्य स्पर्श पाकर राम को सीता की उपस्थिति का आभास होता है पर उसे साक्षात् न पाकर वे उस आभास को अपने मन का भ्रम ही समझते हैं जिससे उनका शोक और तीव्र हो जाता है।

सप्तम अक मे सीता के पातालगमन की घटना एक गर्भांक के रूप मे प्रस्तुत की गई है। यह गर्भांक जहा एक ओर अनेक अद्भुत तत्त्वों से पूर्ण है वहा दूसरी ओर करुण रस का भी व्यजक है। इसमे सीता के

---

1 यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तर पुनलभ्ये।
विमानायते यदेकस्तदा भवेत्करुणविप्रलभाख्य ॥ सा० द०, 2 पृ० 209

2 उ० रा० च० 3 28

3 कटुस्तूष्णी सह्या निरवधिरय तु प्रविलय । वही, 3 44

4 देव्या शून्यस्य जगतो द्वादश परिवत्सर ।
प्रणष्टमिव नामापि न च रामो न जीवति ॥ वही, 3 33

परित्याग के बाद की करुण अवस्था का हृदय-द्रावक दृश्य प्रस्तुत किया गया है। राम स्वय इस गर्भाक के दर्शको मे एक सहृदय सामाजिक के रूप मे सम्मिलित हैं। निजनवन मे श्वापदो से त्रस्त सीता की करुण पुकार, उसका गगा प्रवाह मे आत्म विसर्जन, लव और कुश का जन्म, गगा व पृथ्वी द्वारा सीता की रक्षा, पुत्री के परित्याग पर पृथ्वीमाता का शोक तथा उनके द्वारा राम की भर्त्सना तथा अत मे सीता का लोकान्तरगमन आदि प्रसग राम के हृदय को इतना शोकाकुल कर देते हैं कि वे मूर्च्छित हो जाते हैं। इस प्रकार यह सारा दृश्य अद्भुत-परिपुष्ट करुण रस का उदाहरण है।[1]

सप्तम अक मे सीता के भागीरथी व पृथ्वी के साथ गगा के जल से प्रकट होने का दृश्य अद्भुत रस का व्यजक है। इस दृश्य को स्वय नाटककार ने एक पवित्र आश्चर्य कहा है। यहा निवहरण सधि के अन्तर्गत नाटक के अत को चमत्कारशाली बनाने के लिए अद्भुत रस की योजना की गई है।

द्वितीय अक के विष्कम्भक मे आत्रेयी द्वारा वर्णित विभिन्न अतिप्राकृत प्रसग भी अद्भुत रस की सामग्री प्रस्तुत करते ह। पचम अक मे लव का पहले चन्द्रकेतु की सेना के साथ और बाद मे स्वय चन्द्रकेतु के साथ युद्ध अद्भुत-परिपुष्ट वीर रस का उत्तम उदाहरण है। दोनो पक्षो द्वारा प्रयुक्त दिव्यास्त्र तथा उनका लोकोत्तर प्रभाव अद्भुत रस के अभिव्यजक हैं।

निष्कर्ष

विगत पृष्ठो मे हमने भवभूति की नाटकत्रयी मे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का परिचय देते हुए उनके प्रयोगगत वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला। इस अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि भवभूति अतिप्राकृत तत्त्वो के प्रयोग की दृष्टि मे उत्तररामचरित में जितने सफल हुए उतने शेष दो कृतियो म नहीं। मालतीमाधव में इन तत्त्वो के समावेश से एक अयथार्थ वातावरण की सृष्टि हुई है जो प्रकरण की सामाजिक विषय वस्तु के अनुकूल नही है। पौराणिक या प्रख्यात कथा मे इन तत्त्वो की उपस्थिति जितनी सगत हो सकती है, उतनी सम-सामयिक या कल्पित कथानक मे नहीं। इसीलिए शूद्रक ने मृच्छकटिक मे इन तत्त्वो को—कम से कम घटना व पात्रो के रूप मे—बिल्कुल ग्रहण नही किया है। किन्तु भवभूति ने मालतीमाधव के वस्तुविकास की महत्त्वपूर्ण स्थितियो को अतिप्राकृत तत्त्वो से सम्बद्ध कर अपने पात्रो का उनका पूर्ण मुखापेक्षी बना दिया है। नायक-नायिका के प्रणय की सफल परिणति ही नहीं, उनका जीना-मरना तक उन्ही पर निर्भर हो गया है। इन तत्त्वो का नाटकीय कथा

---

1 राम —क्षुभिता कामपि दशा कुर्वन्ति मम सप्रति।
विस्मयानन्दसदर्भजर्जरा करुणोर्मय ॥ वही, 7 12

के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दिखाई देता, वे अधिकतर आकस्मिक संयोगों के रूप में प्रकट हुए हैं तथा कथा की गतिविधि व पात्रों की नियति के सूत्रधार बन गये हैं।

महावीरचरित में आये अधिकांश अतिप्राकृत प्रसंग व पात्र रामायण से गृहीत हैं, केवल उनके विनियोग की पद्धति में अन्तर है। भवभूति ने उन्हें राम-रावण-विरोध की संघर्षात्मक कथा का अंग बनाकर नाटकीय औचित्य प्रदान करने का प्रयत्न किया है। इस नाटक में परकायप्रवेश के रूप में एक विशिष्ट अतिप्राकृत तत्त्व का प्रयोग किया गया है, पर उसमें नाटककार को विशेष सफलता नहीं मिली है।

उत्तररामचरित में सीता की अदृश्यता के रूप में भवभूति ने एक विलक्षण अतिप्राकृत तत्त्व का विनियोग किया है, जिसका नाटक की मूल भावधारा व उद्देश्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। राम और सीता की पारस्परिक आस्था के पुनः स्थापन में इस तत्त्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका नितान्त स्पष्ट है। अदृश्य सीता कवि की भावना सृष्टि तो है ही, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी एक खरी कल्पना है। साथ ही उसकी वास्तव सत्ता में भी सन्देह नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वह कल्पना व सत्य या स्वप्न व यथार्थ का एक अद्भुत समन्वय है। उत्तररामचरित यदि भवभूति की सर्वश्रेष्ठ काव्य-कृति है तो अदृश्य सीता की कल्पना उनके भावप्रवण कवित्व की सर्वोत्तम सृष्टि।

सीता के पाताल-प्रवास की कल्पना मूलतः रामायण से गृहीत है, पर उनके प्रयोग में नाटककार की मौलिक दृष्टि व्यक्त हुई है। नाटक में करुण रस की समुचित परिपाक देन में उसका विशेष योगदान है। अंतिम अंक में गर्भांक का दृश्य तथा उसके बाद का पुनर्मिलन आद्यन्त अतिप्राकृत तत्त्वों से युक्त है। नाटककार ने यहाँ कथा को सुखान्त बनाने के लिए उसे यथार्थ के धरातल से उठाकर पौराणिक कल्पनाओं के अद्भुत लोक में पहुंचा दिया है।

उत्तररामचरित में भवभूति ने वस्तु-विकास में वनदेवता वासन्ती, नदीदेवता भागीरथी, तमसा, मुरला तथा पृथ्वी आदि दैवीकृत प्राकृतिक पात्रों की योजना करते हुए मनुष्य, प्रकृति और देवताओं के भाव-तादात्म्य का हृदयग्राही चित्रण किया है। पौराणिक कल्पनाओं के प्रयोग में इस नाटक का बहिरंग अनेक स्थलों पर अवास्तविक हो गया है पर उसका अन्तरंग वास्तविक और मानवीय ही है। अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व कवि की कला के माध्यम या साधन मात्र हैं जिनके द्वारा उसने मानव-हृदय के भावसत्यों में गहराई से पैठने का यत्न किया है। इस दृष्टि से उत्तररामचरित में अतिप्राकृत तत्त्वों का विन्यास नाटककार की परिपक्व कला-दृष्टि का परिचायक

है । कालिदास के समान भवभूति भी अन्तत मानवता के ही कवि है । अतिप्राकृत तत्त्व उनकी कृतियो के वाह्य आवरणमात्र हैं जिनके अन्तस्तल में उन्होंने मानव-चरित्र और उसके भाव-सत्यो का ही विधान किया है । इस दृष्टि से कालिदास व भवभूति एक ही धरातल पर स्थित दिखाई देते हैं ।

---

९ मुरारि व राजशेखर के नाटको में अतिप्राकृत तत्त्व

मुरारि व राजशेखर सस्कृत नाटक के ह्रासकाल के प्रतिनिधि नाटककार हैं। उनकी कृतियो मे ह्रासकाल की प्रवृत्तिया पूर्ण विकसित रूप मे प्रकट हुई हैं। स्थिति काल की दृष्टि मे भी इन दोनो मे बहुत अन्तर नही है, मुरारि राजशेखर के कुछ ही पूर्ववर्ती माने जाते हैं। मुरारि की एकमात्र कृति 'अनर्घराघव' रामकथा पर आधारित है और राजशेखर के सबसे महत्त्वपूर्ण नाटक 'बालरामायण' की विषयवस्तु भी वही है। दोनो नाटककारों पर भवभूति का गहरा प्रभाव पडा है, विशेष रूप से उनके महावीरचरित का, जिसके आदर्श पर उक्त दोनो नाटक लिखे गये हैं। इन्ही कारणो से हम मुरारि और राजशेखर के नाटको मे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वो का एक ही अध्याय के अन्तर्गत अध्ययन करें।।

भट्ट नारायण व भवभूति के नाटको मे जिन ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियो का सूत्रपात हुआ था मुरारि व राजशेखर की कृतियो मे वे पराकाष्ठा पर पहुच गई। श्रव्य व दृश्य काव्यो का अन्तर यहा लगभग लुप्त हो गया है। कथावस्तु मे मौलिकता तथा घटनाओ के चयन व सयोजन मे नाटकीय सोद्देश्यता का लगभग अभाव है। दोनो ही नाटककारो ने रामायण की विस्तृत कथा को प्राय समग्र रूप मे ले लिया है। उसे नाटक के रूप-शिल्प मे ढालने का कोई प्रयत्न नही किया गया। अधिकतर दृश्य वर्णनात्मक व सूचनात्मक हैं। कथावस्तु मे प्रवाह व गतिशीलता का प्राय अभाव है। रगमच पर बहुत कम कार्य होता है। अको का आकार बहुत बढ गया है तथा उनके कथासूत्रो को जोडने के लिए विस्तृत विष्कभको की योजना की गई है। अधिकतर घटनाए रगमच से दूर या नेपथ्य मे होती हैं, पात्रो का काय अपने सवादो द्वारा सामाजिक को उनकी सूचना मात्र देना रह गया है। सवाद भी अधिकतर पद्यात्मक हैं, गद्य का प्रयोग सीमित कर दिया गया है। उसका सूचनामात्र देने के लिए कहीं कही उपयोग किया गया है। रूढ व शिथिल चरित्र-चित्रण, अनाटकीय भावोद्गारो

का अनावश्यक विस्तार तथा श्लोको की अति विस्तृत सख्या—ये दोष मुरारि व राजशेखर दोनो के नाटको मे समान रूप से विद्यमान हैं। अनघराघव में ५६४ तथा बाल रामायण मे ७४१ पद्य मिलते हैं। यह सख्या कालिदास या भवभूति के किसी भी एक नाटक मे प्राप्त होने वाले पद्यो की सख्या से दुगुनी से भी अधिक है। ये पद्य नाटककार के शास्त्रीय पाडित्य, पौराणिक-कथाओ के ज्ञान तथा अलकृत अभिव्यक्ति व भाषा पर असाधारण अधिकार के परिचायक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन पद्यो की रचना मे इन नाटककारो ने अपनी सारी प्रतिभा व्यय कर दी है। इनमे सस्कृत व्याकरण व कोष पर उनका विलक्षण अधिकार तथा लयपूर्ण छदों व अनुप्रासात्मक पदो के प्रयोग की निपुणता पूर्ण मात्रा मे प्रकट हुई है। तथापि मुरारि व राजशेखर न नाटककार के रूप मे सफल कहे जा सकते हैं और न कवि के रूप मे ही। उनकी कृतियो मे नाटकीय गुणो का तो अभाव है ही, काव्य के रूप मे भी वे बहुत उच्च कोटि के व प्रशसनीय नही हैं।

मुरारि का अनघराघव

अनर्घराघव मुरारि की एकमात्र उपलब्ध कृति है। सुभाषित सग्रहो मे उनके नाम से उद्धृत श्लोको से प्रतीत होता है कि उनकी और भी रचनाए रही होगी, पर वे अब प्राप्त नही होती।

प्रस्तावना के अनुसार मुरारि मौद्गल्य गोत्र के भट्ट श्रीवर्धमान व तन्तुमती के पुत्र थे। उन पर भवभूति (७००–७२५ ई०) का प्रभाव असदिग्ध है तथा रत्नाकर (९वी शती ई० का उत्तरार्द्ध) ने हरविजय (३८ ६८) मे उनका उल्लेख किया है, अत मुरारि का स्थितिकाल भवभूति व रत्नाकर के मध्य (अष्टम शती ई० के अन्त या नवम के पूर्वार्द्ध) मे माना जा सकता है।[1]

अनघराघव मे यज्ञरक्षार्थ राम व लक्ष्मण को प्राप्त करने के लिए दशरथ के पास विश्वामित्र के आगमन से लेकर रावणवध व राम के राज्याभिषेक तक की रामायण की विस्तृत कथा सात अको मे प्रस्तुत की गयी है। कथा का मुख्य आधार

---

1 डा० एस० के० दे ने हरविजय मे मुरारि के उल्लेख को सदिग्ध माना है। दशरूपक (2 1 पर अवलोक) में उद्धृत अनघराघव के एक श्लोक (3 21) के आधार पर उन्होंने मुरारि का स्थितिकाल नवम शती ई० का अन्तिम या दशम का प्रारम्भिक भाग माना है। दे० हिस्ट्री ऑव् सस्कृत लिट्रेचर, पृ० 449

व प्रेरणा-स्रोत रामायण है[1] किन्तु कुछ प्रसंगों व कल्पनाओं के लिए मुरारि भवभूति के ऋणी प्रतीत होते हैं। चतुर्थ अंक में मयग के शरीर में सिद्ध श्रवणा के प्रवेश, राम व जामदग्न्य के संवाद, पंचम अंक में वालिवध तथा सप्तम अंक में राम की लंका से अयोध्या तक की विमान-यात्रा आदि प्रसंगों पर महावीरचरित का प्रभाव प्रतीत होता है। डा० भोलाशंकर व्यास का यह कथन ठीक है कि "विषय-निर्वाचन, कथावस्तु-संविधान तथा शैली सभी में मुरारि भवभूति से प्रभावित है। मुरारि का आदर्श भवभूति का महावीरचरित रहा है, ठीक वैसे ही जैसे माघ का आदर्श किरातार्जुनीय।"[2] संभवतः मुरारि का उद्देश्य भवभूति के ही मार्ग पर चलकर उनसे बाजी मार ले जाना था, पर उन्होंने अधिकतर भवभूति के दोषों को ही अपनाकर उन्हें अतिरंजित किया। डा० दे के विचार में मुरारि ने भवभूति का अनुकरण किया पर उन्होंने भवभूति की शक्ति व नाट्य-बोध (dramatic sense) का लाभ उठाने की अपेक्षा उनकी अतिप्रवृद्ध भावुकता को ही अधिक ग्रहण किया। उनमें अपने इस महान् पूर्ववर्ती की उच्चतर काव्य-प्रतिभा का भी अभाव था।[3]

अतिप्राकृत तत्त्व

रामायण की प्रख्यात कथा पर आधारित होने से इसमें वे अनेक अतिप्राकृत तत्त्व अनायास आ गये हैं जो परम्परा से रामकथा में सम्बद्ध रहे हैं। पात्रों के चित्रण में भी कवि ने पौराणिक कल्पनाओं का उपयोग किया है। चतुर्थ अंक में परकाय-प्रवेश के अभिप्राय के लिए मुरारि भवभूति के ऋणी हैं। अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग में नाटककार किसी नवीन दृष्टि का परिचय नहीं दे सका है, अधिकतर परम्परागत कथा के रूढ अंग के रूप में ही उनका विन्यास हुआ है। अतः कृति में नाटकीय प्रभाव की सृष्टि करने में इन तत्त्वों का योगदान नगण्य है।

मुरारि ने अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व रामायण से लिए हैं, जैसे राम के अलौकिक प्रभाव से पाषाणभूत अहल्या का मानुषीरूप में परिवर्तन, विश्वामित्र द्वारा

---

1 वीरागत्तगुणोत्तरो रघुपतिः काव्यार्थबीजं मुनि-
वल्मीकिः फलति स्म यस्य चरितस्तावाद दिव्या गिर ॥
अनर्घराघव 1 8 (निर्णयसागर प्रेस, पंचम संस्करण, बम्बई 1937)

— — —

रामचरित को लेकर नाटक लिखने का कारण स्पष्ट करते हुए मुरारि ने कहा है—
यदि क्षुण्णं पूर्वैरिति जहति रामस्य चरितं
गुणैरेतावद्भिर्जगति पुनरन्यो जयति कः ॥
स्वमात्मानं तत्तद्गुणगरिमगम्भीरमधुर-
स्फुरद्वाग्ब्रह्माणः कथमुपकरिष्यन्ति कवयः ॥ वही, 1 9

2. संस्कृत कवि-दर्शन, पृ० 418 419

3 हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ० 453

राम को दिव्यास्त्र-मन्त्रों की शिक्षा, विश्वामित्र के आश्रम पर ताडका, सुबाहु व मारीच आदि राक्षसों का आक्रमण तथा राम द्वारा ताडका व सुबाहु का वध (द्वितीय अंक), राम द्वारा शिव के धनुष का भंग (तृतीय अंक), सीता के हरण के लिए पंचवटी में राम के आश्रम में रावण का परिव्राजक के रूप में आगमन तथा बाद में उसके द्वारा अपने वास्तविक राक्षसी-रूप का प्रकटीकरण, राक्षस दनुकबन्ध के वध व शापमुक्ति के अनन्तर उसका दिव्य लोक में गमन, दुन्दुभिनामक राक्षस के पर्वताकार अस्थिसमूह का क्षेपण, वाली के वध के अनन्तर राम के बाण का उनके तूणीर में प्रत्यावर्तन (पंचम अंक), समुद्र पर पाषाण सेतु का निर्माण, सारण नामक रावण के गुप्तचर का वानर-रूप धारण कर राम की सेना में प्रवेश, इन्द्र द्वारा प्रेषित दिव्य रथ में बैठकर राम का रावण के साथ युद्ध, युद्ध में दोनों वीरों द्वारा दिव्यास्त्रों का प्रयोग तथा अंत में राम के ब्रह्मास्त्र से रावण का वध, सीता की अग्नि परीक्षा तथा पुष्पक विमान में बैठकर राम सीता आदि का अयोध्या में आगमन आदि। यह उल्लेखनीय है कि इनमें से अधिकतर तत्त्वों की सूचना मात्र दी गई है तथा नाटकीय दृष्टि से उनकी कोई सार्थकता नहीं है।

अनर्घराघव में कुछ अतिप्राकृतिक तत्त्व रामायण से भिन्न भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ, चतुर्थ अंक के विष्कम्भक में बताया गया है कि शूर्पणखा माल्यवान् की आज्ञा से मायामानुषी का रूप धारण कर मिथिला का वृत्तान्त जानने के लिए वहां गई थी।[1] इस उल्लेख में नाटककार ने राक्षसों की मायाशक्ति का संकेत दिया है जिनके द्वारा वे मनोवांछित रूप ग्रहण कर सकते हैं। इस अतिप्राकृत तत्त्व के प्रयोग की कोई नाटकीय सोद्देश्यता नहीं है। चतुर्थ अंक के विष्कम्भक में माल्यवान् यह सूचना देता है कि जाम्बवान् ने राम को वन में लाने के लिए एक कूट योजना क्रियान्वित की है। उसने योगिनी श्रवणा को कहा है कि वह अपना शरीर हनुमान् की सुरक्षा में छोड़कर परकायप्रवेश विद्या द्वारा मन्थरा के शरीर में प्रविष्ट हो जाए।[2] मन्थरा को कैकेयी ने भरत का कुशल समाचार लाने के लिए मिथिला भेजा है। वह मार्ग में थक जाने के कारण मिथिला के बाहर विश्राम कर रही है।[3] जाम्बवान् के निर्देश से सिद्धश्रवणा उसके शरीर में प्रविष्ट होकर मिथिला में दशरथ

---

1 शूर्पणखा (सहर्षम्) अम्मह सोन्दसुन्दरविग्गहनेपथ्यलक्ष्मीविच्छर्दितकान्तिप्राग्भाराणि रघुकुल कुमाराणां मुखपुण्डरीकाणि प्रेक्षमाणा जुगुप्सितेनापि मायामानुषीभावेन कृतार्थीकृतास्मि।
अनर्घराघव, 4 पृ० 183–184

2. अतस्त्वमप्यस्मदनुरोधेन हनूमत्यर्पितस्वशरीरा परपुरप्रवेशविद्यया मन्थराशरीरमधितिष्ठन्ती मिथिलामुपेत्य सविधानकमिदं दशरथगोचरीकरिष्यसि। वही, 4 पृ० 191

3 वही, 4 पृ० 190–191

के पास एक कपट-सदेश पहुचाती है । इस सन्देश मे कैकेयी ने दो वर मागे हैं—राम-लक्ष्मण व सीता को चौदह वर्ष का वनवास तथा भरत को अयोध्या का राज्य ।[1] राम इस सन्देश के अनुसार मिथिला से ही सीधे वन मे चले जाते है ।[2] तदनन्तर श्रवणा मन्थरा के शरीर को छोड हनुमान् की देख-रेख में रखे अपने शरीर मे पुन प्रविष्ट हो जाती है ।[3]

प्रथम अध्याय मे हम बता चुके हैं कि योगी को योगसाधना से जो विभूतिय प्राप्त होती हैं उनमे मे एक परकायप्रवेश की शक्ति भी है ।[4] श्रवणा एक सिद्ध योगिनी है, इसलिए उसमें इस प्रकार की शक्ति की कल्पना की गई है । रामायण मे इस प्रसग का कोई आधार प्राप्त नही होता । निश्चय ही कवि ने इसे महावीरचरित से लिया है जहा माल्यवान् की आज्ञा से शूर्पणखा वही कार्य करती है जो अनघराघव मे श्रवणा द्वारा जाम्बवान् ने कराया है । भवभूति के समान मुरारि ने भी राम को विवाह के बाद सीधे मिथिला मे ही वन मे भेज दिया है तथा कैकेयी के चरित्र को दोष-मुक्त करने का प्रयत्न किया है । किन्तु नाटक मे यह सारा प्रसग जिस रूप मे आया है उससे नाटककार की वस्तुविधान की अकुशलता ही व्यक्त होती है ।

षष्ठ अक मे राम व रावण के महायुद्ध का वर्णन रत्नचूड और हेमागद नामक दो विद्याधरो द्वारा कराया गया है जो कि सस्कृत नाटक की एतद्विषयक परम्परा के अनुसार है ।

सप्तम अक मे विमान-यात्रा का प्रसग रघुवश के १३वें सर्ग तथा महावीरचरित के सप्तम अक से प्रभावित है । यह सारा अक श्रव्यकाव्य की वर्णनात्मक शैली मे लिखा गया है तथा नाटकोचित गुणों से रहित है । इसमे कवि ने पृथ्वी के ही स्थानो का वर्णन नही किया है अपितु पुष्पक विमान को चन्द्रलोक के सान्निध्य मे पहुचा दिया है ।[5] मार्ग के अधिकतर स्थानो के वर्णन मे कवि ने तत्सम्बन्धी पौराणिक कथाओं या सदर्भों का उल्लेख कर अपने पाडित्य का प्रदर्शन किया है ।

अनघराघव के अधिकाश पात्र रामायण की पौराणिक कल्पनाओ से निर्मित हैं । राम शास्त्रीय दृष्टि से धीरोदात्त नायक हैं । उन्हे अनेक स्थलो पर ईश्वर का

---

1 वही 4 66

2 वही, 4 पृ० 225

3 श्रवणा—ततो मिथिलाया निष्क्रम्य मन्थराकलेवरमवकीर्य मारुतिप्रत्यवेक्षित स्वशरीरमधिष्ठाय गगाया शृगवेरपुर नाम निषादराजनगरमासाद्य शबरीमुपासे । वही 5 पृ 228

4 दे० प्रस्तुत प्रबन्ध, पृ० 31

5 विभीषण—(सीता प्रति) देवि ! चन्द्रलोकोपकण्ठमधिरूढो विमानराज । दृश्यता च भगवानयम् । वही 7 पृ० 347.

अवतार कहा गया है ।[1] नाटककार ने विभिन्न प्रसगो मे उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व का सकेत दिया है । नाटक की दृश्यकथा मे नायक होते हुए भी राम बहुत कम प्रसगो मे सामने आते हैं । उनकी बाललीला व पराक्रमों की सामाजिको को अधिकतर मौखिक सूचना दी गई है । अहल्योद्धार, ताडकावध, शिवधनुर्भग, खरदूषण, बाली व रावण आदि के वध के प्रसग जो राम की अलौकिकता के द्योतक हैं, रगमच पर प्रत्यक्ष घटित नही होते । सीता रामायण के आधार पर पृथ्वी की पुत्री तथा अयोनिजा कही गई है ।[2] नाटक मे वह केवल दो दृश्यो मे साक्षात् सामने आती है । रावण रामकथा का एक महत्त्वपूर्ण पात्र होते हुए भी सामाजिक के समक्ष एक बार भी नही आता । उसके व्यक्तित्व-वर्णन मे रामायण मे आई पौराणिक कथाओं का यथेष्ट उपयोग किया गया है । इसी प्रकार परशुराम, विश्वामित्र, वसिष्ठ, जनक, दशरथ आदि के व्यक्तित्व पौराणिक परिकल्पनाओं मे उपरक्त हैं । नाटक मे वर्णित उनके कार्य अलौकिक नही हैं, तथापि उनसे सम्बन्धित अलौकिक पौराणिक कथाओं का बार-बार उल्लेख किया गया है । अन्य पात्र मानव होते हुए भी अतिमानव बन गये हैं । शूर्पणखा व श्रवणा मे क्रमश रूप-परिवर्तन व परकाय प्रवेश की सामर्थ्य बताई गयी है । अधिकतर पात्रो के व्यक्तित्व पारम्परिक हैं । ये पौराणिक कल्पनाओं की निष्प्राण प्रतिमूर्तियां अधिक हैं, मानव कम ।

निष्कर्ष

मुरारि ने अधिकतर उन्ही अतिप्राकृतिक तत्त्वो का अपनी कृति म समावेश किया है जो परम्परा से रामकथा के अग बन गये थे । इन तत्त्वो के प्रयोग मे वे किसी प्रकार के नाटकीय बोध या कलात्मक दृष्टि का परिचय देने मे असमर्थ रहे हैं । मन्थरा के शरीर मे योगिनी श्रवणा के प्रवेश की कल्पना के लिए मुरारि भवभूति के ऋणी हैं, अत इसके लिए उन्हे कोई श्रेय नही दिया जा सकता । यह कल्पना सोद्देश्य होते हुए भी नाटकीय विनियोग की दृष्टि मे सफल नही कही जा सकती । कैकेयी के चरित्र को कलकमुक्त करने के प्रयास मे कथा को अस्वाभाविक बना दिया गया है ।

राजशेखर के नाटक

राजशेखर के नाटको की प्रस्तावनाओं से विदित होता है कि वे कान्यकुब्ज के राजा महेन्द्रपाल (८९०–९१० ई०) तथा उसके पुत्र महीपाल (९१०–९४० ई०) के आश्रित थे । अत उनका स्थितिकाल लगभग ८८० से ९२० ई० के बीच माना जा

---

1 वही, 1 7, 1 50, 3 20, 4 पृ0 181, 4 7, 5 1, 6 67.

2 राम —यत्र पवित्रमाश्चर्यमद्य जना कथयन्ति । सकलराजकुलावतंसेन्दुशेखर धनु, सागर मुधालिखितविश्वम्भरासूतिरगमसम्पदा मानुषी । वही, 2 पृ0 131

मनता है।[1] अपनी कृतियो मे उन्होने अपने वश, परिवार व विद्वत्ता आदि के बारे मे महत्त्वपूर्ण सूचनाएं दी है। बालरामायण मे उन्होने अपने पट् प्रबन्धो[2] का उल्लेख किया है परन्तु अब उनकी पाच कृतिया ही उपलब्ध होती हैं। इनमे से चार नाटक हैं और एक काव्यशास्त्र का ग्रन्थ। नाटको मे से कर्पूरमजरी व विद्धशालभंजिका क्रमश सट्टक और नाटिका हैं तथा बालरामायण व बालभारत ये दो नाटक। कोनो ने कर्पूरमजरी को राजशेखर का प्रथम नाटक माना है और उसके बाद क्रमश विद्धशालभजिका, बालरामायण व बालभारत का रचनाक्रम स्वीकार किया है।[3] बालभारत जिसका दूसरा नाम प्रचण्डपाडव भी है, सभवत राजशेखर की अन्तिम कृति है। इसमे दो ही अक प्राप्त होते है, नाटककार सभवत मृत्यु के कारण इसे पूरा नही कर सका।

राजशेखर बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार थे। वे अपने युग के एक प्रतिष्ठित कवि और नाटककार तो थे ही, काव्यशास्त्र के आचार्य के रूप मे भी उनका गौरवपूर्ण स्थान है। उनकी काव्यमीमासा अनेक दृष्टियो से काव्यशास्त्र का एक विशिष्ट ग्रथ है। एक कवि के रूप मे राजशेखर उस युग की देन हैं जब सस्कृत-साहित्य के प्राय सभी क्षेत्रो मे ह्रासोन्मुख प्रवृत्तिया प्रबल हो रही थी। राजशेखर के नाटक इन प्रवृत्तियो के ज्वलन्त उदाहरण हैं। उनके विशालकाय नाटक बालरामायण मे ह्रासकालीन प्रवृत्तिया पराकाष्ठा पर पहुच गयी हैं। राजशेखर कवि के रूप मे भी हमारी बुद्धि को ही अधिक चमत्कृत करते है। उनम चतुरस्र पाण्डित्य, विविध भाषाओ का नैपुण्य तथा सुन्दर श्लोको की रचना का कौशल आदि गुण तो पर्याप्त मात्रा मे है, पर हृदय का स्पर्श करने वाली कविता और मानव-व्यापारो व चरित्रो का प्रभावशाली व गतिशील चित्र अकित करने वाली नाट्यकला का उनकी कृतियो मे प्राय अभाव ही है।

राजशेखर के नाटको मे अतिप्राकृत तत्त्वो का सर्वाधिक प्रयोग बालरामायण मे मिलता है। बालभारत के केवल दो ही अक उपलब्ध हुए हैं जिनमे किसी उल्लेख्य अतिप्राकृतिक तत्त्व का समावेश नही मिलता। कर्पूरमजरी व विद्धशालभजिका दोनो ही अन्त पुर के प्रणय-प्रसगो पर आधारित है। इनमे से प्रथम मे कतिपय अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग मिलता है।

---

1 राजशेखर के स्थितिकाल के विषय में देखिए—दे व दासगुप्त हिस्ट्री आव सस्कृत लिटरेचर पृ० 455, कीथ सस्कृत ड्रामा पृ० 232, कोनो व लानमैन द्वारा सपादित कर्पूरमजरी पृ० 179 (हार्वर्ड ओरियन्टल सिरीज, स० 4 द्वितीय सस्करण मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 1963), इण्डियन ड्रामा, पृ० 134 135

2 1 12

3 राजशेखरज कर्पूरमजरी, पृ० 184-185

कर्पूरमंजरी शास्त्रीय दृष्टि से यह सट्टक कही गयी है। प्रस्तावना के अनुसार सट्टक नाटिका से मिलता-जुलता हुआ नाट्यभेद है।[1] दोनों में मुख्य अन्तर भाषा का है। सट्टक की रचना एकमात्र प्राकृत भाषा में की जाती है। नाटिका से इसका एक अन्तर यह भी है कि इसमें प्रवेशक व विष्कम्भक की योजना नहीं की जाती तथा इसके अंक 'जवनिका' कहे जाते हैं। विश्वनाथ ने सट्टक में अद्भुत रस की प्रचुरता मानी है तथा उसे उपरूपकों में गिना है। उनके अनुसार सट्टक में और सब बातें नाटिका के समान होती हैं।[2]

कर्पूरमंजरी में राजा चण्डपाल व कर्पूरमंजरी के प्रेम, राजा की ज्येष्ठ रानी विभ्रमलेखा द्वारा इस प्रेम-प्रसंग में विघ्नों की सृष्टि तथा अंत में रानी के दीक्षागुरु तांत्रिक भैरवानन्द की योजना से दोनों के विवाह की कथा नाटिका के परम्परागत संविधानक में प्रस्तुत की गयी है। इसमें नाटककार ने कुछ नयी कल्पनाओं[3] का भी समावेश किया है जिनके कारण कथावस्तु काफी रोचक हो गयी है।

कर्पूरमंजरी में अतिप्राकृत तत्त्व सीमित रूप में ही आये हैं। प्रथम अंक में भैरवानन्द नाम का एक तान्त्रिक राजा चण्डपाल के समक्ष लाया जाता है। उसे अद्भुत सिद्धियां प्राप्त हैं। वह कौल धर्म का अनुयायी व प्रशंसक है।[4] राजा उसे किसी भी प्रकार का कोई आश्चर्य दिखाने के लिए कहता है। भैरवानन्द सगर्व कहता है कि मैं पृथ्वी पर चन्द्रमा को उतार कर दिखा सकता हूं, सूर्य के रथ को आकाश में रोक सकता हूं, यक्ष, सुर व सिद्धगणों की स्त्रियों को ला सकता हूं। भूमंडल में कोई भी ऐसा कार्य नहीं जो मेरे लिए असाध्य हो।[5] राजा चण्डपाल किसी स्त्रीरत्न को देखने की इच्छा प्रकट करता है। तब विदूषक के सुझाव पर भैरवानन्द वैदर्भ नगर में स्थित कुन्तल देश की परमसुन्दरी राजकुमारी कर्पूरमंजरी

---

1. तत्सट्टकमिति भण्यते दूरं यो नाटिकामनुहरति।
   किं पुनरत्र प्रवेशकविष्कम्भकौ न केवलं भवतः ।। कर्पूर० 1 6
2. सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम् ।
   न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः ।।
   अंका जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यन्नाटिकासमम् ।। सा० द० 6, 267–277
3. नायिका कर्पूरमंजरी जो कि कुन्तलदेश की राजकुमारी है नायक के महल में योगबल से लायी जाती है। ईर्ष्यालु रानी के द्वारा बन्दी बनायी गयी कर्पूरमंजरी के साथ नायक का मिलन एक गुप्त सुरंग-मार्ग द्वारा होता है। इसी प्रकार नाटक के अन्त में नायिका एक अन्य सुरंग द्वारा विवाहार्थ प्रमदवन में चण्डिका के मन्दिर में पहुंचाई जाती है। रानी विभ्रमलेखा व कर्पूरमंजरी के बीच जो आंखमिचौनी होती है वह भी राजशेखर की ही उद्भावना है।
4. कर्पूर० 1 23–24
5. 1 25

को ध्यान लगाकर योग शक्ति से राजा चण्डपाल के समक्ष उपस्थित कर देता है।[1] इस अद्भुत घटना से सभी चकित रह जाते हैं।

उक्त प्रसंग से राजशेखर के युग में तांत्रिक साधना के व्यापक प्रचार-प्रसार व उसमें प्राप्त होने वाली अद्भुत सिद्धियों में तत्कालीन लोक-विश्वास का पता चलता है। वस्तुविकास की दृष्टि से भी यह प्रसंग महत्त्वपूर्ण है। इसे हम नाटक की प्रणयकथा का आरम्भ-बिन्दु कह सकते हैं। इसके द्वारा नाटककार ने प्रारम्भ में ही अद्भुत रस की सृष्टि करके भावी प्रणयकथा के प्रति प्रेक्षक व पाठक के कौतूहल को जाग्रत कर दिया है। प्रणयकथा के सूत्रपात व विकास के लिए नायक व नायिका के परस्पर दर्शन व सान्निध्य की आवश्यकता को नाटककार ने यहां एक नवीन व चामत्कारिक रीति से पूरा किया है।

द्वितीय अंक में कर्पूरमंजरी रानी विभ्रमलेखा के आदेश से कुरबक, तिलक व अशोक वृक्षों का दोहद सम्पन्न करती है। वह कुरबक का आलिंगन करती है, तिलक को वक्र दृष्टि से देखती है और अशोक पर पाद-प्रहार करती है। दोहद-पूर्ति के साथ ही तीनों वृक्षों में तत्काल राशि-राशि पुष्प खिल उठते हैं।[2] राजा चण्डपाल मरकतकुंज की ओट से इस दृश्य का अवलोकन करता है। जब वह उक्त दोहद का मर्म जानना चाहता है तो विदूषक उसे बताता है कि यौवनावस्था में सौन्दर्य अधिष्ठात्री देवता के रूप में स्त्रियों में निवास करता है।[3] उसी के प्रभाव से वृक्षों में फूल खिल उठते हैं।

उक्त प्रसंग में आलिंगन, दृष्टिपात व पादप्रहार द्वारा वृक्षों में पुष्पोद्गम एक रमणीय किन्तु अप्राकृतिक व्यापार है। इस प्रसंग के लिए राजशेखर कालिदास के मालविकाग्निमित्र के ऋणी हैं। किन्तु मालविकाग्निमित्र में इस कल्पना द्वारा जिस मनोवैज्ञानिक भावभूमि का निर्माण किया गया है उसका यहां अभाव है। वहां दोहद-प्रसंग नाटक की प्रणयकथा से जिस प्रकार अन्तर्ग्रथित है वैसा यहां नहीं है।

चतुर्थ अंक में नाटककार ने भविष्यवाणी के परम्परागत अभिप्राय का प्रयोग किया है। भैरवानन्द रानी विभ्रमलेखा को बताता है कि लाटदेश के राजा चण्डसेन की पुत्री घनसारमंजरी का विवाह जिस व्यक्ति के साथ होगा वह चक्रवर्तित्व प्राप्त करेगा, ऐसा दैवज्ञों ने कहा है।[4] रानी भैरवानन्द की बात में विश्वास कर अपने

---

1 1 26
2. वही, 2 44–47
3 वही, 2 48
4 अस्त्यत्र लाटदेशे चण्डसेनो नाम राजा। तस्य दुहिता घनसारमंजरी नाम। सा दैवज्ञैरादिष्टा एषा चक्रवर्तिगृहिणी भविष्यतीति। तन्नो महाराजस्य परिणेतव्या। तेन युष्माकं दत्ता भवति। भर्तापि चक्रवर्ती कृतो भवति। .... वही, 4 पृ0 99–100

पति के चक्रवर्तित्व के लिए उक्त प्रस्ताव को अपनी स्वीकृति दे देती है। भ्रुत भैरवानन्द घनसारमंजरी के नाम से कर्पूरमंजरी का राजा से विवाह करा देता है।

नायिका के विषय में यह भविष्यवाणी कि उसका विवाह जिस पुरुष के साथ होगा वह एक चक्रवर्ती शासक बनेगा, संस्कृत नाटिकाओं की एक मान्य कथानक रूढ़ि रही है। सर्वप्रथम हर्ष ने 'रत्नावली' में इस कथानक-रूढ़ि का प्रयोग किया था। बाद में प्रायः सभी नाटककारों ने अपनी नाटिकाओं में इस कथानक रूढ़ि का उपयोग किया। यद्यपि कर्पूरमंजरी शास्त्रीय दृष्टि से सट्टक कही गयी है, पर सट्टक और नाटिका में केवल भाषा का ही अन्तर है, रूप और चेतना की दृष्टि से उनमें कोई उल्लेखनीय भेद नहीं है। यही कारण है कि राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी व विद्धशालभञ्जिका दोनों में इस कथानक-रूढ़ि का समान रूप से समावेश किया है। ऋषि, योगी, सिद्ध पुरुष, दैवज्ञ आदि की भविष्यवाणियों में भारतीयों का सदा से विश्वास रहा है। ऐसा माना जाता है कि ये लोग अपनी आध्यात्मिक शक्ति या विशिष्ट सिद्धियों द्वारा किसी भी व्यक्ति के भूत, भविष्य आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं तथा उसके विषय में निश्चित रूप से बता सकते हैं। यहाँ राजशेखर ने इसी भारतीय लोक विश्वास की पृष्ठभूमि में घनसारमंजरी-विषयक भविष्यवाणी की योजना की है जिसका उद्देश्य नाटक की प्रणयकथा को सुसम्पन्न बनाना है। इस भविष्यवाणी की सत्यता में विश्वास के कारण ही रानी विभ्रमलेखा घनसारमंजरी (वस्तुतः कर्पूरमंजरी) के साथ राजा चण्डपाल के विवाह की बात स्वीकार करती है, जिससे नाटक की कथा दोनों प्रेमियों के स्थायी मिलन में परिणत होती है।

विद्धशालभंजिका चार अंकों की इस नाटिका में उज्जयिनी के राजा विद्याधरमल्ल व लाटदेश की राजकुमारी मृगांकावली के प्रेम व विवाह की कथा निबद्ध की गयी है। कर्पूरमंजरी के समान मृगांकावली के विषय में भी दैवज्ञ ने भविष्यवाणी की है कि वह किसी चक्रवर्ती राजा की पत्नी होगी।[1] इसी भविष्यवाणी के आधार पर मन्त्री भागुरायण विद्याधरमल्ल के साथ उसका विवाह कराने की कूट योजना कार्यान्वित करता है।[2] यहाँ भी नाटककार ने हर्ष की रत्नावली के आधार पर दैवज्ञों के भविष्यज्ञान व उनकी भविष्यवाणियों में तत्कालीन जनता के विश्वास को नाटक की प्रणयकथा का आधार बनाया है।

बालरामायण दस अंकों का यह महानाटक आकार की दृष्टि से संस्कृत का सबसे बड़ा नाटक कहा जा सकता है। इसकी प्रस्तावना अंक के समान विस्तृत

---

1 विद्धशालभञ्जिका, 4.16 (श्री भास्कर रामचन्द्र आर्ते द्वारा संपादित संस्करण, पूना, 1886)

2 भागुरायण। (स्वगतम्) फलितं नो नीतिपादपलतया प्रिया। वही, 4 पृ० 126

है और प्रत्येक अंक का आकार लगभग नाटिका के बराबर। इसमें सीता स्वयंवर से लेकर रावण-वध तथा राम के राज्याभिषेक तक की रामायण की विस्तृत कथा गुम्फित की गयी है। प्रत्येक अंक का विषय-वस्तु के आधार पर नामकरण किया गया है।[1] वस्तु योजना में नाटककार नितान्त असफल रहा है। नाटक का कथा-फलक इतना विस्तृत है कि नाटककार को अधिकतर घटनायें सूच्य रूप में निबद्ध करनी पड़ी हैं। वर्णनात्मक प्रसंगों का बाहुल्य है, युद्धवर्णन को लेखक ने लगभग ढाई अंकों तक खींचा है। अन्तिम अंक में लंका से अयोध्या तक की राम की विमानयात्रा का वर्णन श्रव्य काव्य की शैली में किया गया है।

नाटककार ने वस्तु-योजना में कुछ नयी कल्पनायें भी की हैं, पर वे पर्याप्त प्रभावशाली नहीं हो सकी हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण व नवीन कल्पना यह है कि इसमें रावण को प्रारम्भ से ही सीता के कामुक प्रेमी के रूप में उपस्थित किया गया है। द्वितीय अंक में परशुराम व रावण के बीच युद्ध, तृतीय में सीता स्वयंवर नामक गर्भांक का अभिनय, पंचम में सीता की सवाक् पुत्तलिका (यन्त्र जानकी) तथा रावण के विरहोन्माद का वर्णन, छठे में राक्षस मायामय व शूर्पणखा द्वारा दशरथ व कैकेयी का रूप धारण कर राम-लक्ष्मण व सीता का अयोध्या से निर्वासन आदि कतिपय प्रसंग नाटककार की उद्भावनायें हैं। किन्तु वे नितान्त मौलिक नहीं कही जा सकतीं, उनमें से अनेक पर कालिदास व भवभूति के नाटकों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है।

अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से बालरामायण में बहुत कम नवीनता है। इसमें प्रयुक्त अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व वही हैं जो परम्परा से रामकथा के अंग रहे हैं। रामायण के समान प्रस्तुत नाटक की कथा भी मानवीय व अतिमानवीय उभय तत्त्वों से ओतप्रोत है। वस्तुतः रामकथा में इन दोनों तत्त्वों के बीच भेद की रेखा खींचना अतीव दुष्कर है। उसमें अतिमानवीय तत्त्व बाहर से नहीं आते, वे उसी के आन्तरिक व स्वाभाविक अंग हैं। इन तत्त्वों के बिना रामकथा की कल्पना करना ही दुष्कर है, कम से कम राजशेखर के युग में ऐसी कल्पना सम्भव नहीं थी। अतः उसने रामकथा को उसके पारम्परिक पौराणिक रूप में ही ग्रहण किया है, उसे लौकिक व मानवीय बनाने का यत्न नहीं किया। यह भी उल्लेखनीय है कि अति-प्राकृतिक तत्त्वों के प्रयोग में लेखक अपनी कोई स्वतन्त्र कलात्मक दृष्टि प्रकट नहीं

---

1 ये नाम इस प्रकार हैं—प्रथम अंक का 'प्रतिज्ञापौलस्त्य', द्वितीय का 'परशुरामरावणीय', तृतीय का 'विलक्षलंकेश्वर', चतुर्थ का 'भार्गवभंग', पंचम का 'उन्मत्तदशानन', षष्ठ का 'निर्दोषदशरथ', सप्तम का 'असमपराक्रम', अष्टम का 'वीरविलास', नवम का 'रावणवध' तथा दशम का 'रामदानन्द'।

कर सका है। उनका प्रयोग अधिकतर परम्परा-निर्वाह के लिए किया गया है। एक दो स्थलो पर जहा नाटककार ने अपनी मौलिकता दिखाने का यत्न किया है वहा उसे असफलता ही हाथ लगी है।

कथावस्तु मे अतिप्राकृत तत्व

बालरामायण की कथावस्तु मे प्रयुक्त कतिपय अतिप्राकृत तत्त्व ये हैं—

प्रथम अक मे राक्षसराज रावण अपने मन्त्री प्रहस्त के साथ पुष्पक विमान पर आरूढ होकर मिथिला आता है। उसका उद्देश्य शिवजी का धनुष तोडकर सीता के साथ विवाह करना है। मार्ग मे देवता लोग अपने-अपने विमानो पर चढकर उसके दर्शनो के लिए आकाश मे एकत्र हो जाते हैं।[1]

द्वितीय अक मे रावण व परशुराम का तीव्र व कटु विवाद युद्ध की स्थिति मे पहुच जाता है। रावण युद्ध के लिए पुष्पक विमान को बुलाकर उस पर आरूढ हो जाता है[2], पर परशुराम पदाति ही युद्ध करते हैं। दोनो ओर से आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, पचाननास्त्र आदि दिव्य अस्त्र चलाये जाते हैं।[3] आग्नेयास्त्र से सभी ओर आग लग जाती है, वारुणास्त्र से सर्वत्र हाथी दिखाई देने लगते हैं और पचाननास्त्र से सभी ओर सिंह प्रकट होकर हाथियो पर झपट पडते हैं। सुरागनाए अपने विमानो पर चढकर इस भयकर युद्ध को देखती हैं।[4] किन्तु यह युद्ध अधिक समय तक नही चलता। भगवान् शिव के द्वारा प्रेषित पौलस्त्य, ऋचीक व भृगारिटि के हस्तक्षेप से युद्ध बीच मे ही रोक दिया जाता है।[5]

तृतीय अक मे बताया गया है कि भरतमुनि ने 'सीता-स्वयवर' नामक एक नाटक की रचना की है। पहले यह नाटक इन्द्र की आज्ञा से स्वर्ग मे खेला जाता है, अनन्तर भरतमुनि रावण के निमन्त्रण पर लका आकर अप्सराओ से उसका अभिनय कराते हैं।[6]

राजशेखर ने गर्भाक की यह कल्पना स्पष्टत विक्रमोर्वशीय से ली है जिसमे भरतमुनि द्वारा अप्सराओ की सहायता से इन्द्र आदि के समक्ष 'लक्ष्मी-स्वयवर' नामक नाटक प्रस्तुत किया गया है।

---

1 प्रहस्तक —(सवतोऽवलोक्य) कथ दशाननदेवदर्शनाकाक्षिवृन्दारकवृन्दविमानैः समप्रमपि गगनाभोग बिभर्ति। बालरामायण, 1 पृ० 28

(श्री जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सपादित, कलकत्ता 1884)

2 वही 2 पृ० 94
3 वही, 2.56, 58, 59
4 वही 2 56
5 वही, 2 60
6 वही, 3 पृ० 116

चतुर्थ अंक में इन्द्र के रथ पर आरूढ़ राजा दशरथ आकाश-पथ से मिथिला की ओर आते दिखाये गए हैं। दशरथ जो इन्द्र के मित्र हैं असुरों से युद्ध के लिए स्वर्ग गए थे, किन्तु इन्द्र को जब अपने गुप्तचरों से विदित हुआ कि परशुराम राम से युद्ध करने के लिए मिथिला जा रहे हैं तो इसका प्रतिकार करने के लिए उन्होंने दशरथ को तत्काल मिथिला की ओर रवाना कर दिया।[1]

असुरों से युद्ध के लिए दशरथ के स्वर्गगमन और इन्द्र के रथ में बैठकर पृथ्वी की ओर लौटने की कल्पना के लिए राजशेखर कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के ऋणी प्रतीत होते हैं।

परशुराम राम की शक्ति परखने के लिए उन्हें 'वैष्णव धनुष' देते हैं। लक्ष्मण राम से कहते हैं कि आप शिव का धनुष तोड चुके हैं, अत यह धनुष मुझे चढाने दीजिए। अनन्तर लक्ष्मण खेल ही खेल में वैष्णव धनुष को तोड देते हैं।[2] रामायण के अनुसार वैष्णव धनुष भी राम ने ही चढाया था, लक्ष्मण ने नहीं।[3]

पचम अक में एक महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृत तत्त्व आया है। शूर्पणखा के अपमान का बदला चुकाने तथा राम को वनवास दिलाने के लिए राक्षस लोग एक चाल चलते हैं। मायामय नामक राक्षस व शूर्पणखा क्रमश दशरथ व कैकेयी का रूप धारण कर अयोध्या जाते हैं।[4] शूर्पणखा की एक परिचारिका पहले से ही कैकेयी की सखी मन्थरा का रूप धारण किए हुए है।[5] वास्तविक दशरथ और कैकेयी उस समय इन्द्र के निमन्त्रण पर असुरों से युद्ध करने के लिए स्वर्ग गये हुए थे। उनकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर ये लोग अयोध्या में वास्तविक दशरथ व कैकेयी की तरह ही रहने लगते हैं। मन्थरा कैकेयी की ओर से दो वर मांगती है। माया दशरथ पहले तो रोने-धोने का अभिनय करता है पर फिर दोनों वर स्वीकार कर लेता है। राम पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर सीता व लक्ष्मण के

---

1 वही 3 पृ० 182–183

2 वही 3 पृ० 228–229

3 बालकाड, 76 21

4 मायामय —अथैकदा दयितसहमय्या तदा तमनुरानीकविजयाय पुरिसुहृद् मनोरथे दशरथे त्रिविष्टपनिलकभूत पुरुहूत प्रभावति समुपस्थितवति तद्रूपधारिणौ कुवलयदला मिराम राम मयदि छलयितुमरण्या शूर्पणखाऽह च प्राप्तवन्तौ ।
बा रा 6 पृ० 340

5 मायामय —तत्रच यावत् मायाकैकेयी शूर्पणखा मायादशरथो मायामयश्च यथास्थानमुपवि-ष्टौतावत्कैकेय्या प्रियसखी मन्थरा नाम तद्रूपधारिणी शूर्पणखापरिचारिकेव तदा मामुपेत्योक्तवती । वही, 6 पृ० 341–342

साथ वन चले जाते हैं। असली राम वहाँ देर कर राक्षस लोग वास्तविक दशरथ व कैकेयी के स्वर्ग से लौटने से पहले ही वहाँ से खिसक जाते हैं।

रूप-परिवर्तन की उक्त कल्पना के लिए राजशेखर भवभूति के ऋणी कहे जा सकते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है महावीरचरित में शूर्पणखा मन्थरा के शरीर में प्रविष्ट होकर राम लक्ष्मण व सीता को वनवास दिलाती है।[1] यहाँ राजशेखर ने परकाय-प्रवेश के अभिप्राय को रूप परिवर्तन में बदलकर उसे एक नया रूप देने का प्रयास किया है। भवभूति के समान उनका भी उद्देश्य कैकेयी व दशरथ को राम को वनवास देने के कलंक से मुक्त करना तथा राम के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करना है। यह स्पष्ट है कि भवभूति के समान राजशेखर भी इस कल्पना को असंगत व अविश्वसनीय होने से नहीं बचा सके हैं। आश्चर्य की बात यह है कि राम राक्षसों के छल को जानकर भी वन जाने का निश्चय नहीं त्यागते।

सप्तम अंक में राम के शरों से विद्ध समुद्रदेवता का आविर्भाव, नल के हाथ से छुए पाषाणों से सेतु का निर्माण आदि अतिप्राकृत तत्त्व रामायण पर आधारित हैं। इसी अंक में रावण एक दिव्य विमान में बैठकर राम के युद्ध-शिविर के पास दिखाई देता है[2], उसके साथ विमान में सीता भी बैठी हुई है। रावण अपने खड्ग से सीता का सिर काट डालता है। वह कटा हुआ सिर नीचे भूमि पर आकर गिरता है।[3] पहले तो राम, लक्ष्मण आदि उसे वास्तविक सीता का ही मस्तक समझते हैं, पर बाद में विदित होता है कि वह यन्त्र सीता का सिर था।

उक्त प्रसंग के लिए राजशेखर किसी सीमा तक रामायण के ऋणी हैं। युद्धकाण्ड में इन्द्रजित (मेघनाद) के द्वारा मायासीता के वध का प्रसंग आया है। सीता के वध की बात जानकर राम मूर्च्छित हो जाते हैं, अन्त में विभीषण यह रहस्य खोलता है कि इन्द्रजित ने मायामय सीता का ही शिरश्छेद किया था।[4]

मेघनाद व लक्ष्मण के युद्ध में मेघनाद अपने रथ को लेकर आकाश में उड़ जाता है।[5] लक्ष्मण के साथ हनुमान् भी आकाश में उड़कर उसका पीछा करते हैं।[6]

इस युद्ध में दोनों ओर से अनेक दिव्य अस्त्रों का प्रयोग किया जाता है जिनके नाम इस प्रकार हैं--आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, तामिस्रास्त्र, चान्द्रमसास्त्र, राहवीयास्त्र, वैष्णवास्त्र, पौष्पकेतनास्त्र तथा खाण्डपारशवास्त्र।

---

1 देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध, पृ० 302–303
2 बा० रा०, 7, पृ० 460
3 वही, 7 72
4 रामायण, युद्धकाण्ड, 81 29 32 83–10, 84 13
5 बा० रा०, 8 38
6 वही, 8 39

उक्त अस्त्रों के आश्चर्यपूर्ण प्रभावों का कवि ने विस्तृत व चित्रमय वर्णन किया है।[1]

नवम अंक में पुरन्दर दशरथ को आकाश में राम-रावण का युद्ध दिखाते हैं। इस युद्ध में दोनों पक्षों की ओर से दिव्य आयुधों का प्रयोग किया जाता है। राम विश्वामित्र द्वारा प्रदत्त मन्त्रात्मक दिव्य अस्त्रों का उपयोग करते हैं।[2] सर्व प्रथम वे आग्नेयास्त्र चलाते हैं,[3] जिसके उत्तर में रावण सामीरणास्त्र (वायव्यास्त्र) का प्रयोग करता है। समीरण के संयोग से आग्नेयास्त्र से लगी आग और अधिक भड़क उठती है।[4] राम इसे शान्त करने के लिए जलधरास्त्र का प्रयोग करते हैं।[5] रावण बदले में 'औदन्वत' नामक अस्त्र चलाता है जिसमें सभी ओर समुद्र उमड़ पड़ते हैं व तीनों लोकों को डुबाने लगते हैं।[6] तब राम आगस्त्यास्त्र का प्रयोग करते हैं जिसमें लाखों अगस्त्य ऋषि प्रकट होकर उन समुद्रों को पी जाते हैं।[7] तब राम अपने भाले से रावण का एक सिर काट डालते हैं, पर उसकी माया से उसकी जगह नया सिर निकल आता है।[8] इससे क्रुद्ध होकर राम भयंकर शरवर्षा करते हुए बार-बार रावण के मस्तकों को काट डालते हैं[9] पर रावण की माया से उसके स्थान पर नये-नये मस्तक निकल आते हैं।[10] राम निराश होकर अपने को धिक्कारने लगते हैं। रावण अपनी माया से सहस्रों शरीर धारण कर लेता है।[11] भूमि, आकाश, दिशा, दिक्कोण सर्वत्र रावण दिखाई देने लगते हैं। उधर राम भी देवों की आशीष से प्रत्येक रावण के मुख की धारणों में बाधकर उतने ही रूपों में आभासित होते हैं।[12] अनन्तर वे विश्वामित्र से उपलब्ध 'मायाहर' नामक अस्त्र का प्रयोग करते हैं जिससे रावण के समस्त मायारूप तिरोहित हो जाते हैं तथा एक

---

1 वही 8 पृ० 5८०-५५९
2 वही 9 पृ० 590
3 वही 9 पृ० 593-५९४
4 वही 9 पृ० 595
5 वही 9 पृ० ५97-598
6 वही 9 पृ० 600
7 वही 9 पृ० 601-602
8 रामबाणकृत [illegible] पाता न यावदवधार्यते।
क्रियते तावदुद्भेदो मूर्ध्नो रावणमायया ॥ वही 9 42
9 वही 9 पृ० 607
10 वही 9 42
11 वही, 9 पृ० 614
12 वही, 9 4

ही रथ पर एक ही रावण शेष रह जाता है ।[1] तब रावण भी क्रुद्ध होकर राम के रथ को धुराभाग से पकड कर भमरी की तरह घुमा देता है ।[2] इस पर राम क्षुरप्र नामक एक दीप्तिशाली अस्त्र द्वारा रावण के दसो मस्तको को उसके धड से अलग कर देते है । रावण की मृत्यु होते ही देवगण पुष्पवृष्टि व दुन्दुभि-वादन द्वारा राम का अभिनन्दन करते हुए अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हैं ।[3]

उक्त युद्ध-वर्णन मे राजशेखर ने रामायण का आधार ग्रहण करते हुए भी अपनी कवि-कल्पना से उसे अतिरजित कर दिया है । इस प्रसग मे उसने जिन अद्भुत अस्त्रो का वर्णन किया है उनमे से कुछ का रामायण मे भी उल्लेख नहीं मिलता । रावण के कटे हुए मस्तको के स्थान पर नए मस्तको के प्रकट होने की बात रामायण मे आयी है[4] किन्तु रावण द्वारा सहस्रो शरीर धारण किए जाने की बात वहा नही मिलती । वह सम्भवत राजशेखर की उद्भावना है । रामायण के अनुसार राम ने रावण का वध ब्रह्मास्त्र द्वारा किया था,[5] पर नाटक मे क्षुरप्र नामक अस्त्र को इसका श्रेय दिया गया है । दिव्यास्त्रो के प्रयोग व उनके आश्चर्यमय प्रभावो के वर्णन द्वारा नाटककार ने युद्ध प्रसग को लोमहर्षक व कौतूहल-जनक बनाने का प्रयत्न किया है ।

दशम अक के प्रारम्भ मे रावण की मृत्यु पर शोक मनाती हुई लका को अलका सान्त्वना देती है । नगरियो के मानवीकरण की इस कल्पना के लिए भी राजशेखर भवभूति के ऋणी है । अलका अपनी दिव्य दृष्टि[6] से सीता की अग्नि परीक्षा का अवलोकन व वर्णन करती है । अनन्तर राम व उनका दल पुष्पकविमान से अयोध्या के लिए प्रस्थान करता है । नाटककार ने मार्ग मे आये विभिन्न स्थानो—जैसे पर्वतो, नदियो, देशो, नगरो आदि का विस्तृत वर्णन किया है । इस वर्णन पर भवभूति के महावीरचरित और मुरारि के अनघराघव का प्रभाव नितान्त स्पष्ट है । अनघराघव के समान इसमे भी पुष्पकविमान लका से अयोध्या की यात्रा मे चन्द्रलोक के समीप तक पहुच जाता है ।[7]

---

1 मायाहरणरयासादेष नक्तञ्चरेश्वर ।
एक शेषशिरा सम्प्रत्येकशपा रथ स्थित ॥ वही, 9 50

2 वही, 9 पृ0 617

3 कुसुमवर्षपूर्वमनवच्छिन्नमास्फालिता देवताभिर्विजयदुन्दुभि । वही, 9 पृ0 621

4 युद्धकाड, 107 54-57

5 वही, 108 2-4

6 अलका—कुबेरप्रसादादिहस्थैव दिव्येन चक्षुषा पश्यामि । बा0 रा0 10, पृ0 631

7 राम —मन्ये चन्द्रलोकसमीप वर्तामहे । वही, 10, पृ0 659

अतिप्राकृत पात्र

बालरामायण के अधिकाश पात्र रामायण से गृहीत हैं। जिस प्रकार इस इस नाटक के वस्तुविधान मे प्रत्यक्षगोचरता की कमी है उसी प्रकार पात्रों के चित्रण मे भी। अधिकाश पात्रो की दूसरों द्वारा चर्चा की गई है, उनके चरित्र को प्रत्यक्ष व सजीव रूप मे प्रस्तुत नही किया गया। अत उनका व्यक्तित्व हमारे समक्ष स्पष्टतया नहीं उभर पाता और वे हमे प्रभावित नही करते।

रामायण के समान इस नाटक के पात्र भी लौकिक व अलौकिक तत्त्वों का सम्मिश्रण प्रस्तुत करते हैं। उनके व्यक्तित्व–निर्माण मे पौराणिक कल्पनाओ का उपयोग किया गया है, जिससे वे अयथार्थ हो गये हैं। राजशेखर का मानव-चरित्र का ज्ञान अतीव परिमित है अत उनके पात्र पौराणिक कल्पनाओ की निर्जीव छाया मूर्तिया प्रतीत होते हैं, सजीव व्यक्तित्व वाले प्राणी नही। चरित्र चित्रण मे सन्तुलित दृष्टि का भी अभाव है। नायक राम की अपेक्षा प्रतिनायक रावण को, चाहे या अनचाहे, अधिक महत्त्व दिया गया है। सीता का एक दो स्थानों पर उल्लेख मात्र किया गया है।

नायक राम को नाटककार ने मानव व दिव्य दोनो रूपों मे चित्रित किया ह। शास्त्रीय दृष्टि से वे दिव्यादिव्य धीरोदात्त नायक हैं। एक ओर वे पूर्ण मानव हैं तो दूसरी ओर ईश्वर के अवतार।[1] उनके लोकोत्तर चरित मे उनके ईश्वरत्व की झलक दिखाई देती है। ताडका, सुबाहु, कुम्भकर्ण, रावण आदि दुर्दान्त राक्षसों का वध, शिवधनुष का भजन, समुद्र का निग्रह आदि उनके लोकोत्तर कार्य उनके व्यक्तित्व को अतिमानवीय पीठिका पर स्थापित करने वाले हैं। राम के समान रावण के व्यक्तित्व को भी नाटककार ने दो रूपो में अकित किया है। एक ओर वह पौराणिक कल्पनाओ से परिवेष्टित है, जैसे उसके दस सिर और बीस भुजाए हैं[2], वह तीनो लोकों का अधिपति व विश्वविजयी है[3] सब देवता उसके अधीन हैं[4] व उसकी सेवा मे उपस्थित रहते हैं।[5] एक बार उसने शिव को प्रसन्न करने के लिए अपने बीसों मस्तक काटकर उन्हे अर्पित कर दिए थे[6] तथा खेल ही खेल मे कैलास पर्वत को उठा लिया था।[7] रावण माया-कुशल भी है, राम के साथ युद्ध मे वह

---

1 समुद्र—ययाह् मत्तमो वैकुण्ठावतार, वही 7 पृ0 430
2 वही, 1 पृ0 38
3 वही, 1 पृ0 41
4 वही, 1 45
5 वही 1 32
6 वही, 2 14, 8 1, 29, 75
7 वही, 1 44

माया का आश्रय लेकर सहस्रो रूप धारण कर लेता है। उसके कटे हुए मस्तको के स्थान पर नये मस्तक निकल आते है, दिव्य अस्त्रो के प्रयोग मे वह पूर्णतया निष्णात है। दूसरी ओर नाटककार ने रावण को एक दुर्बल-हृदय मानव का व्यक्तित्व भी प्रदान किया है। सीता के प्रति उसकी उत्कट आसक्ति नैतिक दृष्टि से अनुचित होते हुए भी उसके अन्तर्निहित मानवत्व को रेखांकित करती है। रावण के राक्षसी व्यक्तित्व के मानवीकरण का नाटककार का यह प्रयास सराहनीय होते हुए भी अनिरंजित हो गया है। दूसरे, रावण के व्यक्तित्व के उक्त दोनो रूपो मे नाटककार उचित सामञ्जस्य स्थापित करने मे भी असमर्थ रहा है। नाटक के अन्य राक्षस पात्रो मे मायामय व शूर्पणखा विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो रूप परिवर्तन या राक्षसी माया द्वारा राम के साथ प्रवचना करते हैं। परशुराम, विश्वामित्र, जनक, नारद, भृंगारिटि, दशरथ आदि पात्रो को नाटककार ने उनसे सम्बन्धित पौराणिक कथाओ की पृष्ठभूमि के साथ प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए दशरथ इन्द्र के मित्र बताये गये हैं जो शाकुन्तल के दुष्यन्त के समान असुरो से युद्ध करने के लिए इन्द्र के निमन्त्रण पर स्वर्ग जाते है। चतुर्थ अक मे उन्हे मातलि द्वारा सचालित इन्द्र के रथ पर आरूढ होकर स्वर्ग से पृथ्वी की ओर आते हुए दिखाया गया है। नवम अक मे राजशेखर ने पुरन्दर, दशरथ व एक चारण के मुख से रामरावण-युद्ध का वर्णन कराया है। तृतीय अक के विष्कम्भक म चित्रशिखण्डक व सुवेगा तथा षष्ठ अक मे रत्नशिखण्डक नामक गृद्ध पात्रो का तथा दशम अक मे अलका व लका नगरियो का मानवीकरण किया गया है। कुभकर्ण, मेघनाद, शूर्पणखा, ताडका, जटायु आदि पात्र नाटक की दृश्य कथा म अवतीर्ण नही होते, केवल उनके कार्यकलापो की सूचना दी गयी है। नाटक मे अधिकाश पात्रो का चरित्र-चित्रण रूढिग्रस्त, स्थूल एव अप्रत्यक्ष रूप मे हुआ है।

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

बाल रामायण मे प्रयुक्त अधिकाश अतिप्राकृत तत्त्व अद्भुत रस के व्यजक है। इस दृष्टि से द्वितीय अक मे रावण व परशुराम का दिव्यास्त्रो से युद्ध, षष्ठ अक म राक्षसो द्वारा रूप-परिवर्तन तथा अष्टम व नवम अको मे युद्ध-वर्णन के अन्तर्गत दिव्यास्त्रो के प्रयोग के स्थल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महावीरचरित के समान इस नाटक का भी प्रधान रस वीर है तथा अद्भुत रस का उसके अग के रूप म विधान किया गया है।

बालभारत इसका अन्य नाम 'प्रचण्डपाण्डव' है। इसके केवल दो ही अक उपलब्ध हुए हैं। प्रथम अक मे द्रौपदी के स्वयवर मे उपस्थित विभिन्न राजाओ का वर्णन तथा अर्जुन द्वारा राधावेध का तथा द्वितीय अक मे द्यूतक्रीडा मे युधिष्ठिर की पराजय

व कौरवों के हाथों द्रौपदी के अपमान का चित्रण किया गया है। राजशेखर का उद्देश्य सम्भवत महाभारत की सम्पूर्ण कथा को इसमें उपस्थित करना रहा होगा, जैसे कि रामायण की कथा को उन्होंने बालरामायण में निबद्ध किया है। यदि इस नाटक को राजशेखर पूरा कर पाते तो आकार की दृष्टि से यह बालरामायण के समान ही होता। इस नाटक के उपलब्ध दो अंकों में कोई उल्लेखनीय अतिप्राकृतिक तत्त्व नहीं मिलता।

निष्कर्ष

राजशेखर ने अपने नाटकों में जिन अतिप्राकृतिक तत्त्वों की योजना की है उनमें तान्त्रिक सिद्धि, दोहद द्वारा वृक्षों में पुष्पों का विकास, भविष्यज्ञान व भविष्यवाणी, विमानयात्रा, राक्षसों द्वारा रूप-परिवर्तन तथा लोकोत्तर दिव्य अस्त्रों का प्रयोग आदि प्रमुख हैं। इन तत्त्वों के विनियोग में नाटककार किसी नवीन दृष्टि का परिचय देने में असमर्थ रहा है। इनमें से कुछ तत्कालीन लोकविश्वासों की अभिव्यक्तियां हैं और कुछ में पौराणिक कल्पनाओं को अतिरंजित किया गया है। बालरामायण में प्रयुक्त सबसे महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृतिक तत्त्व मायामय व शूर्पणखा द्वारा दशरथ व कैकेयी का रूप ग्रहण करना है। यद्यपि रामायण में राक्षसों के सन्दर्भ में रूप-परिवर्तन के अनेक प्रसंग आये हैं, पर नाटक में राम-वनवास के प्रसंग में रूप-परिवर्तन की यह कल्पना नितान्त अनर्गल प्रतीत होती है। रामायण की मूल कथा में यह प्रसंग मानवचरित्र का प्रभावशाली दृश्य अंकित करता है, किन्तु नाटककार ने उसे जो नया रूप दिया है उसमें उक्त मानवीय पृष्ठभूमि विलुप्त हो गयी है। राक्षसों के छल के प्रति राम के सज्ञान आत्म-समर्पण का कोई औचित्य नहीं बताया गया है। परिणामत सारा ही प्रसंग एक अनगढ व असंगत कल्पना बन कर रह गया है। द्वितीय, अष्टम व नवम अंकों में वर्णित दिव्यास्त्रों के प्रयोग में भी नाटककार का उद्देश्य युद्धवर्णन को चमत्कारपूर्ण व कौतूहल-वर्धक बनाना है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि राजशेखर अपने नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग में किसी वैशिष्ट्य का आधान नहीं कर सके हैं। अधिकांश स्थलों पर उनका नाटकीय वृत्त व चरित्रों के साथ कोई सीधा व निकट का सम्बन्ध नहीं है।

———

१० | कतिपय अन्य नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्व

पिछले अध्यायो मे हमने अश्वघोष से लेकर राजशेखर तक प्रमुख नाटककारो की कृतियो मे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वो का अध्ययन किया। सस्कृत मे मौलिक व उत्कृष्ट नाटको की परम्परा वस्तुत भवभूति तक आकर समाप्तप्राय हो गई थी। वैसे तो भवभूति की कृतियो मे भी ह्रासकाल की कुछ प्रवृत्तिया प्रकट होने लगी थी पर उनकी महती काव्यप्रतिभा के समक्ष वे अभिभूत ही रही। किन्तु उनके पश्चात् मुरारि व राजशेखर की कृतियो मे सस्कृत नाटक की पूर्वोक्त महती परम्परा पूर्णतया ह्रासग्रस्त व विकृत हो गई। उनके नाटको को सही अर्थ मे नाटक कहना उचित नही है। वस्तुत वे दृश्यकाव्य की अपेक्षा श्रव्यकाव्य के अधिक निकट हैं। उन्हे नाटक कहा जाता है तो केवल इसीलिए कि उन्हे नाटक के बाह्य रूप-आकार मे प्रस्तुत किया गया है।

मुरारि व राजशेखर के पश्चात् भी सस्कृत मे नाटक लिखने की परम्परा जारी रही। लेकिन उसमे मौलिकता का प्राय अभाव है। नाटक की विषयवस्तु या उसके प्रस्तुतीकरण की पद्धति मे कुछ नवीनता हो सकती है, पर उन पर नाटक की पूर्व परम्परा की इतनी गहरी छाप है कि उन्हे मौलिकता का श्रेय नही दिया जा सकता। उनमे परम्परा का निर्वाह, अनुकरण, आवृत्ति या पिष्टपेषण ही अधिक है। इन कृतियो मे अतिप्राकृत तत्त्वो के प्रयोग मे भी यही बात देखने मे आती है। इनमे ये तत्त्व अधिकतर रूढिबद्ध रूप मे प्रयुक्त हुए हैं। कुछ नाटककारो ने नइ कल्पनाए की हैं, पर उनसे उनकी कृतियो का वास्तविक सौन्दर्य बढा हो, यह सन्दिग्ध ही है। प्रस्तुत अध्याय मे हम प्रमुख माने जाने वाले ऐसे कुछ नाटको में आये अतिप्राकृत तत्त्वो का सक्षेप मे विवेचन करेंगे।

आश्चर्यचूडामणि

रामायण की कथा पर आधारित सात अको का यह नाटक दक्षिणभारत मे

प्रणीत संस्कृत का सबसे प्राचीन नाटक कहा गया है,[1] किन्तु डा० पुसालकर के विचार में यह मान्यता ठीक नहीं है।[2] इसके रचयिता शक्तिभद्र के विषय में इतना ही विदित है कि वे दाक्षिणात्य थे। प्रस्तावना में यह नाटक दक्षिणापथ में रचित तथा अनेक बार अभिनीत बताया गया है जिससे इसकी लोकप्रियता सूचित होती है।[3] प्रस्तावना में ही शक्तिभद्र को 'उन्मादवासवदत्त' आदि अन्यान्य काव्यों का भी प्रणेता कहा गया है[4] पर आश्चर्यचूडामणि के अतिरिक्त उनकी कोई अन्य रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हुई। श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री ने भास के नाम से प्रसिद्ध 'अभिषेक' व 'प्रतिमा' नाटकों के शक्तिभद्र-रचित होने की कल्पना की है। उनका यह भी अनुमान है कि 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' संभवत शक्तिभद्र के 'उन्मादवासवदत्त' का ही अपर नाम है।[5] किन्तु श्री शास्त्री के ये अनुमान कल्पनायें मात्र हैं, वे किन्हीं दृढ प्रमाणों पर आधारित नहीं हैं। भास के नाटकों व आश्चर्यचूडामणि में कुछ समानताएं अवश्य है, पर इनमें से कुछ तो दक्षिण भारत में रचित संस्कृत नाटकों की सामान्य विशेषताएं हैं और कुछ संभवत भास के प्रभाव की देन हैं। शक्तिभद्र भास, कालिदास व भवभूति की नाट्यकृतियों से सुपरिचित प्रतीत होते हैं जिनकी प्रतिध्वनिया उनके नाटक में अनेक स्थलों पर सुनी जा सकती हैं। शक्तिभद्र का स्थितिकाल भवभूति (७०० ई०) तथा कुलशेखर वर्मा (१०वीं शती ई०) के मध्यवर्ती काल अर्थात् लगभग नवम शताब्दी में माना गया है। केरल में प्रचलित एक परम्परा के अनुसार शक्तिभद्र शंकराचार्य के शिष्य थे।[6] इस परम्परा से भी उनके पूर्वोक्त स्थितिकाल का समर्थन होता है।

आश्चर्यचूडामणि में रामायण के अरण्य-काण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक की कुछ चुनी हुई घटनाओं को नाटकीय रूप दिया गया है। प्रथम दो अंकों में राम व लक्ष्मण के प्रति शूर्पणखा की प्रणय-याचना व लक्ष्मण द्वारा उसका विरूपीकरण, तृतीय व चतुर्थ अंकों में रावण द्वारा राम का माया-रूप धारण कर सीता का हरण, पंचम अंक में अशोकवनिका में स्थित सीता के प्रति रावण का प्रणय निवेदन तथा सीता द्वारा उसका तिरस्कार, षष्ठ अंक में लंका में हनूमान् का दौत्य तथा सप्तम अंक में सीता की अग्निपरीक्षा आदि प्रसंग निबद्ध हैं। शूर्पणखा सम्बन्धी प्रारम्भिक

---

1. दे० आश्चर्यचूडामणि की श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री द्वारा लिखित भूमिका, पृ० 9
2. दे० 'भास ए स्टडी', पृ० 52-53
3. आर्ये दक्षिणपथादागतमाश्चर्यचूडामणि नाम नाटकमभिनयाश्रेडितसौभाग्यम्
   आ० चू०, 1 पृ० 4 (चौखम्बा विद्याभवन, 1966)
4. वही, पृ० 6
5. दे० पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० 20
6. वही, पृ० 8

वृत्त रामरावण-विद्वेष की पृष्ठभूमि के रूप में उपन्यस्त है, सीताहरण तथा परवर्ती घटनाक्रम उसी का क्रमिक विकास है। वस्तुयोजना में नाटककार का पर्याप्त प्रावीण्य प्रकट हुआ है। शूर्पणखा के अपमान की पृष्ठभूमि में सीताहरण की घटना को केन्द्र में रखते हुए नाटक के अन्त में राम व सीता का पुनर्मिलन कराया गया है। रामायण की पारम्परिक कथा का अनुगमन करते हुए भी लेखक ने अपनी ओर से कुछ नयी कल्पनाओं का समावेश किया है। इन नयी कल्पनाओं में प्रत्यभिज्ञान के साधन के रूप में आश्चर्यभूत चूडामणि व अंगुलीयक की योजना सबसे रोचक है। इसी विशिष्ट कल्पना के आधार पर लेखक ने नाटक का नामकरण किया है।

आश्चर्यचूडामणि अनर्घराघव व बालरामायण से भिन्न परंपरा का नाटक प्रतीत होता है। इसमें मुरारि व राजशेखर की नाट्यशैली की कृत्रिमताओं व क्लिष्ट कल्पनाओं का प्रायः अभाव है। इसके कथानक में गतिशीलता है, अधिकतर घटनाएं दृश्य रूप में उपस्थित की गयी हैं। नाटककार ने जो नयी कल्पनाएं की है उनसे कथानक में पर्याप्त रोचकता आई है। सीमित आकार व सरल शैली में प्रणीत होने के कारण यह अभिनय की दृष्टि से भी सफल कहा जा सकता है। इस तथ्य का प्रस्तावना से भी समर्थन होता है जिसमें कहा गया है कि इस नाटक का दक्षिणापथ में अनेक बार अभिनय किया गया था। नाटकीय कथा में अद्भुत अंगुलीयक व चूडामणि को जो महत्त्वपूर्ण भूमिका दी गयी है उससे प्रतीत होता है कि नाटककार इसमें प्रधानतया अद्भुत रस की व्यंजना करना चाहता है। उसने रामायण की मूल कथा में जो परिवर्तन किये हैं व इसी लक्ष्य को दृष्टि में रख कर किये गये हैं।

आश्चर्यचूडामणि में घटना और पात्र दोनों रूपों में अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग हुआ है। इन तत्त्वों की दृष्टि से तृतीय व चतुर्थ अंक अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अंतिम अंक में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व प्रायः रामायण पर आधारित है।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

राक्षसी माया प्रथम चार अंकों में नाटककार ने राक्षसी माया का प्रतिकौतूहलमय चित्रण किया है—विशेष रूप से तृतीय अंक में। नाटक के राक्षस पात्र रूप-परिवर्तन या माया में निष्णात हैं।

प्रथम अंक में राक्षसी शूर्पणखा व राम लक्ष्मण को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए ललित व सुकुमार ललना का रूप धारण कर उनके समक्ष उपस्थित होती है,[1] पर जब वे उसकी प्रणय-याचना को ठुकरा देते हैं तब वह क्षण भर में अपना

---

1 आश्चर्यचूडामणि, 1 6

क्रूर व भयावह राक्षसी रूप ग्रहण कर लेती है।[1] वह लक्ष्मण को मारने के लिए उसे बाहो मे लेकर आकाश मे उड जाती है [2] तथा क्षणभर मे राम व सीता की दृष्टि से ओझल हो जाती है।[3] लक्ष्मण आकाश मे ही अपने खड्ग से उसके नाक कान काट लेते हैं और वह चीत्कार करती हुई भूमि पर आकर गिरती है।

उक्त प्रसग मे शूर्पणखा के रूपपरिवर्तन की कल्पना तो रामायण[4] से ली गई है, पर लक्ष्मण को लेकर उसके आकाश मे उडने तथा अदृश्य होने की बात शक्तिभद्र की स्वतत्र उद्भावना है ।

तृतीय अ क मे नाटककार ने राक्षसी माया की कल्पना को पराकाष्ठा पर पहुचा दिया है। इसमे अनेक राक्षस पात्र रूपपरिवर्तन द्वारा सीता, राम व लक्ष्मण को प्रवचित करने मे सफल होते है। सारा अ क लेखक के वस्तु-रचना के चातुर्य का परिचायक है। इसमें कुछ समय के लिए वास्तव और भ्रम का भेद लुप्त-सा हो जाता है। वास्तविकता भ्रम बन कर प्रकट होती है और भ्रम वास्तविकता मे बदल जाता है।

प्रस्तुत अक मे मारीच का माया-मृग मे परिवर्तन तो रामायण पर आधारित है, पर रावण का राम के रूप मे, शूर्पणखा का सीता के रूप मे, सूत का लक्ष्मण के रूप मे तथा राम के शर से विद्ध मारीच का राम के ही रूप मे परिवतन नाटककार की अपनी सूझ प्रतीत होती है। रामायण मे भी रावण के रूप परिवतन की बात आई है, पर भिन्न प्रकार से । वहा रावण परिव्राजक का रूप धारण कर सीता के पास आता है और कुछ बातचीत के बाद अपना वास्तविक रूप दिखा कर उसका बलपूर्वक अपहरण करता है। किन्तु नाटक मे बलप्रयोग की आवश्यकता ही नही होती, रावण राम का तथा उसका सूत लक्ष्मण का रूप धारण कर भोली सीता को अनायास रथ मे बैठा कर ले जाते हैं।

यद्यपि राक्षसो की मायाविनी प्रवृत्ति व रूपपरिवर्तन का अभिप्राय लेखक ने रामायण[5] से लिया है, पर प्रस्तुत प्रसग मे इसे विकसित व अतिरजित करने का श्रेय उसी को है। इस विषय मे सभव है उसे भवभूति के महावीरचरित से

---

1 भीमदष्टमरुणोर्ध्वमूर्धज नीलवर्ष्म जलदोदरच्छवि ।
राक्षस्या द्रुतमस्ततोऽपि मे रूपमेतदवश भयावहम् ॥   वही, 2 5

2 तूणमुत्पतति सत्वं वामु वा राक्षसीभुजगृहीतलक्ष्मणा ॥   वही, 2 10

3 राक्षसी लक्ष्मण हृत्वा तिरोऽभून पश्यतो मम ॥   वही, 2 11

4 अरण्यकाड, 17 9-11, 18 23-24

5 रामायण में माया द्वारा रूपपरिवर्तन के कई प्रसग आये हैं, जैसे मारीच द्वारा मृग का तथा शुक-सारण द्वारा वानरों का रूप धारण किया गया है।

प्रेरणा मिली हो जिसमे शूर्पणखा मन्थरा का रूप धारण कर दशरथ व राम के साथ प्रवचना करती है।[1] इसमे सन्देह नही कि रूप-परिवर्तन की बहुविध चामत्कारिक कल्पनाओ से यह अक अतीव रोचक बन गया है। प्रेक्षक जसे एक मायालोक में पहुच जाता है जहा उसे एक साथ दो राम और दो सीताओ का दर्शन होता है। सारे अक में प्रत्यभिज्ञान का गभीर सकट छाया हुआ है। पात्रो को इस सर्वव्यापी प्रवचना से यदि कोई बचा सकता है तो आश्चर्यमय दो रत्न-अगूठी और चूडामणि जिन्हें ऋषियों ने ऐसे ही सकटकाल के लिए उन्हे प्रदान किया है।

अद्भुत अगुलीयक व चूडामणि राक्षसी माया का निरावरण—तृतीय अक के प्रारभ मे लक्ष्मण राम को ऋषियो द्वारा प्रदत्त तीन अद्भुत रत्न लाकर देते हैं। ये रत्न हैं—कवच, अगूठी और चूडामणि। ऋषियो के उपहार होने के कारण ये वस्तुए अद्भुत प्रभाव से युक्त हैं। इनमें से कवच लक्ष्मण के लिए है और अगुलीयक व चूडामणि क्रमश राम व सीता के लिए। अगुलीयक व चूडामणि की यह विशेषता है कि उन्हे धारण करने वाले के शरीर को छूते ही राक्षसो की माया तत्काल निवृत्त हो जाती है जिससे वे अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो जाते हैं।[2] राम चूडामणि को सीता के शिखापाश में बाधकर अगूठी को अपनी अगुलि मे पहन लेते हैं।

उक्त दोनो वस्तुओ का क्रियात्मक प्रभाव लेखक ने तृतीय व चतुर्थ अक मे दर्शाया है। राम सीतारूपधारिणी शूर्पणखा के आसू पोछने के लिए ज्योही उसे छूते हैं, उसका माया-रूप तिरोहित हो जाता है और वह अपने मूल राक्षसी रूप म प्रकट हो जाती है।[3] इसी प्रकार चतुर्थ अक मे कामुक रावण ज्योही सीता के केशो को छूता है उसका मायात्मक राम-रूप लुप्त हो जाता है और वह भी अपने वास्तविक रूप मे दिखाई देने लगता है।[4] यदि ये अगुलीयक व चूडामणि न होते तो जो अनर्थ होता उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

---

1 दे० चतुर्थ अक, पृ० 118 व 149-152

2 लक्ष्मण — अपि च तैदत्तमार्याभ्यामलकरणीयम्—

बहामि मायापिशुना रिपूणा
शरीरयोगे मनि क्षायमाणम्।
आश्चर्यभूत मणिमशुमाला-
गूढ मरत्न च करागुलीयम्॥ आ० चू० 3 8

मणिमशुकेसरितमगुलीयक
कलधौतमिद्धमपि धारयन्ति ये।
समवाप्य तामवशमाशु मायिन
प्रकृति व्रजन्ति सहसा क्षपाचरा॥ वही, 3 10

3 वही, 3 39

4 वही, 4 5

षष्ठ अंक में हनुमान् का दौत्य तथा राम व सीता के बीच अभिज्ञान के रूप में अंगूठी व चूडामणि का आदान-प्रदान रामायण[1] पर आधारित है। सप्तम अंक के अन्त में राम सीता को पुष्पक विमान में बैठाते समय इस प्रकार आश्वस्त करते हैं—"हे चन्द्रमुखि! मैं वास्तविक राम ही हूँ, मायारूपधारी रावण नहीं। मेरे रथ (विमान) में तुम्हें मेरा भ्राता (लक्ष्मण) ही बैठा रहा है, रावण का सूत नहीं। अधिक क्या कहूँ। कमलपत्र की कांति का हरण करने वाली उंगली में तुमने इस भास्वर अलंकार (अंगूठी) को धारण कर ही रखा है।'[2] इसी प्रसंग में सीता व राम के निम्न कथन प्रस्तुत नाटक में अद्भुत चूडामणि व अंगुलीयक की महत्त्वपूर्ण भूमिका का पुनः स्मरण कराते हैं—

(क) सीता—एषोऽञ्जलि आश्चर्यरत्नयो। अन्यथा कथमिदानीमार्यपुत्र राक्षसं च परमार्थतो जानामि (पृ० २६०)

(ख) सीता—इदानीमार्यपुत्रहस्तस्पर्शमुपलभ्य प्रमाणं भवत्यद्भुताङ्गुलीयकम्। राक्षसमायातो मोचितमात्मानमवगच्छामि। (पृ० २६४)

(ग) राम—पूर्वं राक्षसीमायाविप्रलब्धस्य मे देव्या प्रत्ययकारणमासीदाश्चर्यचूडामणि। (पृ० २६४)

अभिज्ञान के रूप में अंगूठी व चूडामणि का उल्लेख रामायण में भी आया है, यह हम ऊपर बता चुके हैं। कालिदास ने शाकुन्तल व विक्रमोर्वशीय में क्रमशः अंगूठी व मणि (संगमनीय मणि) को स्मरण, प्रत्यभिज्ञान व मूलरूपग्रहण के साधन के रूप में प्रयुक्त किया है। शक्तिभद्र ने संभवतः वाल्मीकि और कालिदास दोनों से प्रेरणा लेकर उक्त आश्चर्यरत्नों की योजना की है। यह स्पष्ट है कि वह इन्हें कथावस्तु का आन्तरिक अंग नहीं बना सका है। इनकी प्राप्ति आकस्मिक रूप से हुई है तथा नाटक की मुख्य कथा के विकास में भी इनकी भूमिका विशेष महत्त्व नहीं रखती। इसकी एकमात्र उपयोगिता प्रत्यभिज्ञान के साधन के रूप में है। इनके कारण केवल कौतूहल की सृष्टि होती है, नाटक को कोई कलात्मक उत्कर्ष प्राप्त नहीं होता।

अनसूया का वरदान—एक विशेष अवसर पर राम को चारित्रिक दोष से बचाने के लिए नाटककार ने अत्रि ऋषि की पत्नी अनसूया के एक विशेष वर की कल्पना की है। अनसूया ने सीता को अपने आश्रम से विदा करते समय यह वर

---

1. सुन्दरकाण्ड, 36 2–3, 38 66
2. अहं सत्यं रामः शशिमुखि! न मायी दशमुखो
   रथे भ्राता मे त्वां नयति न सूतो नृपसुते।
   इतः वाचा भूयस्सरसिजपलाशच्छविमुषा
   कराङ्गुल्या धत्से ननु सकिरणं भस्वरमयम्॥ आ० चू०, 7 32

दिया था कि तुम्हारे शरीर मे सलग्न प्रत्येक वस्तु स्वामी की दृष्टि मे अलकार हो जायगी।[1] इस वरदान के कारण सीता वन मे भी वैसी ही अलकृत दीखती थी जैसी अयोध्या मे।[2] राम को अनसूया के वरदान का पता नही था, इसलिए सीता का वन मे भी अलकारयुक्त रूप राम के लिए आश्चय का विषय था।

रामायण के अनुसार[3] अनसूया ने सीता को दिव्य आभूषण, वस्त्र व माल्य आदि उपहार दिये थे, न कि वरदान। नाटककार ने एक विशेष उद्देश्य से अनसूया के वरदान तथा उसके कारण सीता की अलकारयुक्त प्रतीति का उल्लेख किया है। यह उद्देश्य सप्तम अक मे तब स्पष्ट होता है जब रावण-वध के अनन्तर सीता राम के समक्ष लायी जाती है। रामायण के राम इस अवसर पर स्वभावत सीता के चरित्र मे सन्देह कर उसे ग्रहण करने से मना कर देते हैं।[4] राम के सन्देह का कारण है सीता का परगृहवास। वाल्मीकि ने यहा राम का मानवोचित चरित्र अकित किया है। किन्तु नाटककार सभवत यह उचित नही समझता कि राम केवल परगृहवास के कारण सीता के चरित्र पर सन्देह करें। अत उसने राम के मन मे सीता के प्रति सन्देह जाग्रत करने के लिए एक कारणान्तर की कल्पना की है। विरहिणी सीता को लका मे हरिचन्दन, कुसुम व अरुणवस्त्र से विभूषित[5] देखकर राम को भ्रम हो जाता है कि वह पातिव्रत से च्युत हो चुकी है।[6] लक्ष्मण, हनुमान व विभीषण जो भी सीता को उस रूप मे देखता है उसे यही सन्देह होता है।[7] अत सीता अपने पवित्र चरित्र को प्रमाणित करने के लिए स्वय ही अग्निपरीक्षा का प्रस्ताव रखती है[8] जिसे राम बिना आपत्ति के स्वीकार कर लेते हैं।

यहा लेखक ने सीता की अग्निपरीक्षा के बीज के रूप मे जो नूतन कल्पना की है वह बहुत सगत नही है। इस कल्पना के बावजूद राम तथाकथित दोष से मुक्त नही होते। वस्तुत इस अवसर पर राम का आचरण किसी चारित्रिक दोष का द्योतक नही है, अपितु परिस्थितिविशेष मे एक पुरुष की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। अत नाटककार की इस कल्पना की हम प्रशसा नहीं कर सकते।

---

1 सीता—(आत्मगतम्) किन्तु खलु न जानात्यार्यपुत्र ननु महर्षिपत्न्या अनसूयया आश्रम मा विसर्जयन्त्या मे दत्त वर तव भर्तुर्दर्शनपथे सर्व मण्डन भविष्यतीति। वही, 2 पृ0 45

2 वही, 2 4

3 अरण्यकाड, 118 18-19

4 युद्धकाड, 115 18–20,24

5 आ0 चू0 7 16

6 वही, 7 17

7 वही, 7 18

8 वही, 7 पृ0 241

सप्तम अंक मे निर्वहण सधि के अन्तर्गत नाटककार ने अनेक अद्भुत तत्त्वो का विनियोग किया है। सत्यक्रिया के लिए सीता का अग्निप्रवेश,[1] दीप्त चिता मे से सीता-सहित अग्निदेव का आविर्भाव,[2] दिव्य गन्धर्वों द्वारा राम की विष्णु रूप मे स्तुति,[3] देवताओ का सन्देश लेकर नारद मुनि का आकाश से अवतरण,[4] तथा देवो व पितरो का आगमन[5] आदि अनेक अतिप्राकृत तत्त्वो से यह अंक परिपूर्ण हैं। उक्त प्रसग मे देवो की अवतारणा सीता की चारित्रिक विशुद्धता के दैवी अनुमोदन की सूचक है। इस अंक मे नारद की उपस्थिति नाटककार की अपनी सूझ है जिसकी प्रेरणा उसे विक्रमोर्वशीय, बालचरित व अविमारक जैसे नाटको से मिली होगी जिनके अन्तिम दृश्यो मे नारद की अवतारणा हुई है। प्रस्तुत नाटक मे नारद की भूमिका उपसहर्ता मात्र की है, वह नाटक की कथा का सार्थक पात्र नही है। यह कहने की आवश्यकता नही कि रामायण से गृहीत अतिप्राकृत तत्त्वो के रूढ व अनाटकीय प्रयोग के कारण नाटक का यह अन्तिम भाग अपेक्षित प्रभाव नही डाल पाता।

अतिप्राकृत पात्र

आश्चर्यचूडामणि मे मानव व अतिमानव दोनो प्रकार के पात्र आये हैं। अतिमानव पात्रो मे अधिकतर राक्षस जाति के हैं। राम व सीता को लेखक ने मानवीय धरातल पर चित्रित करने का प्रयास किया है। कुछ स्थलो पर कतिपय पात्रो ने उनके ईश्वरत्व का स्पष्ट शब्दो मे कथन किया है[6] तथापि राम स्वय अपने किसी व्यवहार या कार्य से लोकोत्तर प्रतीत नही होते। शास्त्रीय दृष्टि से हम चाहें तो उन्हे दिव्यादिव्य कोटि म रख सक्ते है। अन्तिम अ क म सीता की अग्निपरीक्षा उसके दैवी रूप की ओर इ गित करती हैं, पर नाटककार का ध्येय उसे मानवचरित्र मे ही ढालना है। राम और सीता का राक्षसी माया से अभिभव उनके मानवत्व का स्पष्ट प्रमाण है।

रावण, शूर्पणखा, मारीच, सूत आदि पात्र मुख्यत मायादक्ष राक्षसो के रूप मे हमारे सामने आते हैं। माया का आवरण हटते ही इनकी राक्षसी प्रकृति अनावृत

---

1 वही, 7 पृ० 243
2 वही, 7 19
3 वही, 7 22
4 वही, 7 23
5 वही, 7 24–26
6 रामाभिधस्य परस्य पु स । 3 7
जगत् कारणमानुषो रावणान्तक । वही, 7 पृ० 248

हो जाती है। उनका यह राक्षसी रूप इतना विकृत व भयावह है कि एक बार तो राम भी उनसे भय का अनुभव करते हैं।[1] दम्भ, अहंकार, कामुकता, छल-छद्म आदि राक्षसी दुर्गुण इनके चरित्र के अभिन्न अंग हैं। रावण के दशशिरधारी पौराणिक व्यक्तित्व की ओर भी संकेत किया गया है।[2]

सप्तम अंक के विष्कम्भक में नाटककार ने विद्याधर व विद्याधरी के वार्तालाप द्वारा रावणवध की सूचना दी है। विद्याधरयुगल अपने दिव्य स्वभाव के अनुसार आकाश में उड़ता हुआ इन्द्र की सेवा में उपस्थित होने के लिए जा रहा है। विष्कम्भक में विद्याधर पात्रों की योजना का संकेत शक्तिभद्र ने सम्भवतः भास[3] व भवभूति[4] से प्राप्त किया होगा।

अग्नि, इन्द्र, रुद्र, वसु, अश्विनौ तथा राम के मृत पूर्वज आदि दिव्य पात्रों के आगमन व निर्गमन की सूचना मात्र दी गयी है। नाटकीय कथा में वाचिक या क्रियात्मक रूप में उनका कोई योगदान नहीं है। उनकी मूक उपस्थिति दैवी अनुमोदन व अनुग्रह की निःशब्द प्रतीक मात्र है। देवर्षि नारद देवों के संदेशवाहक की परम्परागत भूमिका में अवतीर्ण हुए हैं।[5] नाटक में उनकी योजना का एक उद्देश्य राम को अनसूया के वरदान के विषय में बताना है[6] जिसके कारण सीता सदैव अलंकारयुक्त दिखाई देती है। राम ने उन्हें 'सत्यवादी' और 'समाधिचक्षु' कहा है।[7]

नाटककार ने ऋषियों व ऋषिपत्नियों की तपोजन्य सिद्धियों का भी उल्लेख किया है। अनसूया का वर तथा ऋषियों द्वारा आश्चर्यमय रत्न उनकी अलौकिक सिद्धियों के द्योतक हैं।

अतिमानवीय पात्रों के सन्दर्भ में नाटककार ने आकाशोड्डयन[8] तथा विमान व रथ आदि के आकाशगमन[9] का उल्लेख किया है। आकाश में पुष्पवृष्टि, दिव्य

---

1 ताटका हत्वरं तनाऽपि मे [illegible] भयावहम्।   वही 2.5
2 वही 3.17
3 अभिषेक नाटक, षष्ठ अंक
4 उत्तररामचरित, षष्ठ अंक
5 राम —भगवन्! किमाज्ञापयन्ति देवाः महर्षयश्च।
नारद —महाराज [illegible] वनवासकाल। [illegible]
प्रशस्त्यन्ति।   आ० चू० 7 पृ० 2?4
6 वही, 7 पृ० 252 तथा 7.25
7 राम —कृत देवगमनेन! ननु भवान् सत्यवादी समाधिचक्षुश्च प्रमाणम्   वही, 7 पृ० 253
8 वही, 2.10
9 तृतीय अंक में रावण सीता को अपने रथ में बैठाकर आकाश मार्ग से ही लंका ले जाता है।

शंखो व पटहों का निनाद[1] आदि तत्त्व दैवी प्रसन्नता की सूचक परम्परागत काव्य रुढियां हैं। कुछ स्थलों पर विधि व शकुन से सम्बन्धित प्रचलित लोकविश्वास की भी प्रासंगिक चर्चा हुई है।[2]

अतिप्राकृतिक तत्त्व और रस

आश्चर्यचूडामणि में प्रयुक्त अधिकांश अतिप्राकृतिक तत्त्व अद्भुत रस के अभिव्यंजक हैं। राक्षसों का रूप-परिवर्तन, अंगुलीयक व चूड़ामणि के प्रभाव से उनकी निवृत्ति तथा सप्तम अंक में देवों व देवर्षि नारद का प्रादुर्भाव आदि वस्तु व्यापार विस्मय के उद्बोधक हैं। राक्षसों की भयंकर आकृतियों का दर्शन भयानक रस की सामग्री प्रस्तुत करता है।

निष्कर्ष

शक्तिभद्र ने मुख्यतः अद्भुत रस की सृष्टि के लिए इस नाटक की रचना की है। इसी दृष्टि से उन्होंने इसमें राक्षसों के रूप परिवर्तन या माया के अभिप्राय को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया है। साथ ही माया के निराकरण के लिए मुनियों द्वारा प्रदत्त अद्भुत अंगुलीयक और चूड़ामणि की भी विशिष्ट योजना की है। यद्यपि इनमें से कोई भी अभिप्राय शक्तिभद्र की अपनी उद्भावना नहीं है, तथापि उनका जिस नये रूप में विन्यास किया गया है उसका श्रेय शक्तिभद्र को ही जाता है। नाटककार का उद्देश्य कौतूहल, सम्भ्रम और विस्मय की सृष्टि करना है और उसमें उसे पर्याप्त सफलता मिली है। तथापि यह कहना उचित होगा कि अद्भुत अंगूठी व चूड़ामणि के अभिप्राय को नाटककार मुख्य कथा में भली भांति अन्तर्ग्रथित नहीं कर सका है। ये दोनों वस्तुएं नाटकीय वृत्त में बाह्य ही प्रतीत होती हैं, उनका उपयोग केवल प्रत्यभिज्ञान के साधन के रूप में किया गया है तथापि विक्रमोवर्शीय की संगमनीय मणि की तुलना में ये वस्तुएं नाटकीय कथा में अधिक आन्तरिक हैं, इसमें सन्देह नहीं।

सप्तम अंक में सीता की अग्निपरीक्षा का जो कारण बताया गया है वह राम के चरित्र को अधिक उज्ज्वल रूप देने के लिए की गई एक असंगत कल्पना ही कही जा सकती है। अग्निपरीक्षा के अनन्तर नारद, देवताओं व राम के पूर्वजों की उपस्थिति नाटकीय दृष्टि से अनावश्यक है। नाटककार ने सम्भवतः दैवी अनुमोदन व प्रसन्नता के सूचन के लिए ही इस प्रकार की कल्पना की है। संक्षेप में शक्तिभद्र का अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग में आंशिक रूप में ही सफल कह सकते हैं।

---

1 वही, 7 पृ० 243, 263

2 वही, 1 पृ० 21, 31, 3 5, 3 पृ० 95.

कुन्दमाला

दिङ्नाग[1] के कुन्दमाला नाटक में रामायण के उत्तरकाण्ड में वर्णित सीता-निर्वासन की कथा छह अंकों में निबद्ध है। इस पर भवभूति के उत्तररामचरित का प्रभाव नितान्त स्पष्ट है। दोनों का आधार रामायण के उत्तरकाण्ड की सीता-निर्वासन की कथा है। दोनों में ही रामायण की दुःखान्त कथा को सुखान्त रूप दिया गया है। अदृश्य सीता की कल्पना दोनों नाटकों में पर्याप्त समानता लिये हुए है। दोनों कृतियों में अनेक स्थलों पर प्रसंगों, भावों, विचारों व शब्दों तक का साम्य देखा जा सकता है। अतः कुन्दमाला का रचनाकाल भवभूति (लगभग ७०० ई०) के पश्चात् अर्थात् अष्टम शती के उत्तरार्ध या नवम शती ई० में माना जा सकता है।[2] अलंकारशास्त्र के लेखकों में सर्वप्रथम भोज (११वीं शती ई०) ने कुन्दमाला का एक पद्य उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि कुन्दमाला का रचनाकाल १०वीं शती ई० के बाद का नहीं माना जा सकता।

---

1. इस नाटक में मैसूर वाली पाण्डुलिपि की प्रस्तावना में रचयिता का नाम दिङ्नाग मिलता है, किन्तु तंजौर की पाण्डुलिपि की पुष्पिकाओं में उसका नाम 'धीरनाग' दिया गया है। रामचन्द्र व गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण (1 33 35 की वृत्ति) में 'वीरनाग' को इस नाटक का प्रणेता बताया है। इन तीनों नामों में से कुन्दमाला के रचयिता का वास्तविक नाम क्या था, इस विषय में विद्वानों में मतैक्य का अभाव है। कुछ विद्वानों ने पूर्वमेघ, 14 पर दक्षिणावर्तनाथ व मल्लिनाथ की टीकाओं के आधार पर कुन्दमाला के लेखक दिङ्नाग को इसी नाम वाले बौद्ध आचार्य से अभिन्न मानते हुए उसे कालिदास का समकालीन व प्रतिस्पर्धी बताया है। किन्तु अनेक कारणों से यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। कुन्दमाला में बौद्ध धर्म व दर्शन का कोई चिह्न नहीं मिलता। दूसरे दक्षिणावर्तनाथ व मल्लिनाथ ने दिङ्नाग व कालिदास की प्रतिस्पर्धा की जो बात कही है वह भी किसी पुरानी परम्परा पर आधारित प्रतीत नहीं होती। मेघदूत के सबसे पुराने टीकाकार वल्लभदेव (10वीं शती ई0) ने उक्त प्रतिस्पर्धा का कोई उल्लेख नहीं किया है।
2. इस विषय में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है। डा0 कालीकुमारदत्त आदि कुछ विद्वान कुन्दमाला का रचनाकाल लगभग 500 ई0 मानते हैं। (दे0 श्री दत्त का ग्रंथ 'कुन्दमाला ऑव् दिङ्नाग' तृतीय व चतुर्थ अध्याय) उनके विचार में भवभूति कुन्दमालाकार के ऋणी हैं, न कि कुन्दमालाकार भवभूति के। किन्तु श्री ए0 सी0 वूलनर, डा0 के0 ए0 सुब्रह्मण्य ऐयर, श्री आचार्य, फादर कामिल बुल्के आदि विद्वानों के विचार में कुन्दमाला भवभूति के बाद की रचना है तथा उस पर उत्तररामचरित की असन्दिग्ध छाप है। दे0 ए0 सी0 वूलनर 'दि डेट ऑव् कुन्दमाला' एनाल्स ऑव भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भाग 15 (1933–34) पृ0 236–239 डा0 के0 ए0 सुब्रह्मण्य ऐयर 'कुन्दमाला एण्ड दि उत्तर-रामचरित' सप्तम ओरिएण्टल कान्फ्रेन्स, बड़ौदा, 1933, सम्मेलन अनुमान, पृ0 91 श्री आचार्य ड्रामा इन संस्कृत लिट्रेचर, पृ0 193, फादर कामिल बुल्के रामकथा पृ0 207

कुन्दमाला मे राम द्वारा सीता के परित्याग, वाल्मीकि आश्रम मे लव-कुश के जन्म तथा अनेक वर्षो के बाद नैमिषारण्य मे राम द्वारा आयोजित अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर पुत्रसमेता सीता से उनके पुनर्मिलन की कथा प्रस्तुत की गई है।

अतिप्राकृत तत्त्व

कुन्दमाला मे अतिप्राकृतिक तत्त्व प्रथम, चतुर्थ, पचम व षष्ठ अको मे आये हैं। ये तत्त्व योगसाधना व तपस्या मे प्राप्त होने वाली अलौकिक शक्तियो तथा धार्मिक व पौराणिक कल्पनाओ मे नाटककार व उसके समकालीन समाज की आस्थाओ के द्योतक हैं।

प्रथम अक मे जब सीता सकोचवश अपने निर्वासन का कारण नही बताती तब महर्षि वाल्मीकि अपने योगचक्षु से जान लेते हैं कि राम ने लोकापवाद के भय से सीता का त्याग किया है। अत वे उसे निर्दोष समझकर अपने आश्रम मे आश्रय देते हैं।[1] चतुर्थ अक मे पुन महर्षि वाल्मीकि की एक अलौकिक सिद्धि का उल्लेख मिलता है। वे अपने आश्रम की स्त्रियो को यह शक्ति प्रदान करते हैं कि जब वे आश्रम की दीर्घिका पर जायेंगी तब कोई भी पुरुष उन्हे नही देख सकेगा। ऋषि द्वारा प्रदत्त इस शक्ति से सीता अपना सारा समय अदृश्य रूप मे दीर्घिका के तट पर ही व्यतीत करती है जिससे यज्ञ के लिए नैमिषारण्य मे आए राम उसे न देख सकें।[2] इस अक के घटनाक्रम का विवरण हम भवभूति के उत्तररामचरित के विवेचन मे दे चुके हैं,[3] इसलिए यहा केवल उसके नाटकीय महत्त्व का विचार किया जा रहा है।

चतुर्थ अक के मुख्य दृश्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य सीता की अदृश्यता की कल्पना पर आधारित है। यहा नाटककार ने सीता को राम के अत्यन्त निकट उपस्थित करने और उनकी विरह-व्यथा का साक्षात् ज्ञान कराने के लिए उसके अदृश्य रूप

---

1 वाल्मीकि —कथ लज्जते ? भवतु, योगचक्षुषाहमवलोकयामि। (ध्यानमभिनीय) वत्से! जनापवादभीरुणा रामेण केवल परित्यक्ता, न तु हृदयेन! निरपराधा त्वम्। अस्माभिरपरित्याज्यैव। एह्याश्रमपद गच्छाव। कुन्दमाला, 1, पृ० 20–21 (डा० कालीकुमारदत्त द्वारा सपादित 'कुन्दमाला आव दिङनाग, सस्कृत कालेज, कलकत्ता, 1964)

2 वेदवती— तदा भगवता वाल्मीकिना निध्याननिश्चलनयनेन मुहूर्त निध्याय भणितम्—एतस्या दीर्घिकाया वर्तमान स्त्रीजन पुरुषनयनानामगोचरो भविष्यतीति। तत प्रभृति सीता रामस्य दर्शनपथ परिहरन्ती दीर्घिकातीरे सकल दिवसमतिवाहयति। वही, 4 पृ० 49–50

3 द० प्रस्तुत प्रबंध, पृ० 320–321

की कल्पना की है । इसके माध्यम मे सीता अपनी आखो से राम की विरह-व्याकुल दशा को देखने और उनके प्रेमोद्गारो को सुनकर अपने सन्तप्त हृदय को सान्त्वना देने का अवसर प्राप्त करती हैं । साथ ही राम को भी सीता की जलगत छाया देखने, मूर्च्छित अवस्था मे उसका स्पर्श प्राप्त करने तथा उत्तरीयो के आदान-प्रदान से सीता की निकट उपस्थिति व अपनी भावी मनोरथ-सिद्धि का सकेत मिलना है । अन्तिम अक मे नाटककार को राम व सीता का पुनर्मिलन कराना है । इस पुनर्मिलन के लिए यह आवश्यक है कि वे एक-दूसरे के हार्दिक भावो से परिचित हो तथा बाह्य मिलन मे पूर्व उनके हृदयों का पुनर्मिलन हो । अदृश्य सीता की कल्पना द्वारा नाटककार ने नाटकीय वस्तु-विकास की इसी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास किया है ।

सीता की अदृश्यता की कल्पना के लिए नाटककार भवभूति के उत्तररामचरित का ऋणी प्रतीत होता है । किन्तु उत्तररामचरित मे इस कल्पना की जैसी सगति और सार्थकता है वैसी *कुन्दमाला मे नही । कुन्दमाला की सीता को लक्ष्मण* द्वारा दिये गये सन्देश से राम के मनोभाव व परित्याग के कारणो का पहले ही पता लग चुका है ।[1] राम के हृदयस्थ प्रेम के विषय मे सीता के मन मे कोई सन्देह नही है जैसा कि द्वितीय अक मे वेदवती के साथ उसके वार्तालाप से स्पष्ट है ।[2] इसके विपरीत उत्तररामचरित की सीता अपने परित्याग के कारण के विषय मे सर्वथा अन्धकार मे है तथा अपने प्रति राम के वास्तविक मनोभाव के बारे मे भी उसे कुछ भी पता नही है । राम के निष्ठुर व्यवहार को लेकर उसके मन मे खेद, रोष और मान भी है, अत वहा राम व सीता के पुनर्मिलन के लिए सीता को राम की करुण दशा व प्रीतिपूर्ण हृदय का दर्शन कराना नाटकीय दृष्टि से नितान्त अपेक्षित है । किन्तु कुन्दमाला मे इस अपेक्षा की पूर्ति राम के सन्देश मे ही हो चुकी है, अत अदृश्य सीता की कल्पना इसके वस्तुविधान का अपरिहार्य अग न होती तो भी चिरवियुक्त दम्पती का पुनर्मिलन असगत न लगता । किन्तु उत्तररामचरित मे तृतीय अक के बिना राम व सीता का मिलन न सभव लगता है और न सगत ही । इससे प्रतीत होता है कि कुन्दमालाकार ने केवल उत्तररामचरित के अनुकरण पर अपने नाटक मे सीता को अदृश्य रूप मे उपस्थित किया है ।

छठे अ क म सीता वाल्मीकि की आज्ञा से अपने चरित्र की विशुद्धता प्रमाणित

---

1 दे0 1 12

2 सीता—क्व स मम उपरि परित्यक्तानुराग यनातिप्रसिद्ध एव मामधयामुद्दिश्यार्यपुत्रेणानुभूत सेतुबन्धादिपरिश्रम । वही, प0 29

करने के लिए पृथ्वी देवी का आह्वान करती है।[1] भगवती पृथ्वी पाताल से प्रादुर्भूत होकर सीता के पवित्र पातिव्रत का सत्यापन करती है।[2] इस पर दिशाओं में देव-दुन्दुभियां बज उठती हैं और आकाश से पुष्प-वृष्टि होती है।[3] सीता के लोकापवाद से मुक्त हो जाने पर राम वाल्मीकि की आज्ञा से उसे पुत्रों-सहित ग्रहण करते हैं। तदनन्तर पृथ्वी देवी आशीर्वाद देती हुई अन्तर्हित हो जाती है। वाल्मीकि राम को बताते हैं कि देवता लोग मनुष्यों के सान्निध्य में अधिक समय नहीं ठहरते।[4]

पाताल से पृथ्वी के प्रादुर्भाव की कल्पना के लिए कुन्दमालाकार रामायण के ऋणी प्रतीत होते हैं। अन्तर इतना ही है कि रामायण की दुःखान्त कथा को नाटककार ने सुखान्त बना दिया है। इस परिवर्तन की प्रेरणा उसे उत्तररामचरित या पद्मपुराण से मिली होगी जिसमें इस कथा को पहले ही सुखान्त रूप दे दिया गया था। यहां नाटककार ने नाट्यशास्त्र की मान्य परम्परा के अनुसार नाटक का सुखान्त बनाते हुए निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस की प्रभावशाली योजना की है। इस योजना में उसने पृथ्वी-सम्बन्धी पौराणिक कल्पनाओं का नाटकीय उपयोग किया है।

पंचम अंक में अतिप्राकृतिक तत्त्व पर आधारित एक विशिष्ट लोक-विश्वास का उल्लेख मिलता है। विदूषक कौशिक बताता है कि उसने अयोध्या के वृद्ध जनों से यह सुना है कि यदि रघुकुल से असम्बद्ध कोई व्यक्ति इस वंश के सिंहासन पर बैठ जाता है तो उसका मस्तक शतधा विदीर्ण हो जाता है।[5] राम के आग्रह पर लव व कुश के सिंहासन पर बैठ जाने पर भी उनका कोई अनिष्ट नहीं होता।[6] प्रारम्भ में राम के मन में कुछ सन्देह रहता है,[7] पर बाद में अन्य प्रमाणों के मिलने पर उन्हें विश्वास हो जाता है कि लव व कुश सीता के ही पुत्र हैं।[8] यहां नाटककार ने सम्भवतः शाकुन्तल में आये रहस्यमय रक्षाकरण्डक के प्रसंग के सादृश्य पर प्रत्यभिज्ञान के साधन के रूप में उक्त विश्वास का नाटकीय विनियोग किया है।

कुन्दमाला के सभी प्रमुख पात्र मानव हैं। यद्यपि कुछ स्थलों पर राम के विष्णुरूप की ओर भी इंगित किया गया है,[9] पर नाटक में उनका व्यक्तित्व व चरित्र

1 वही, 6 पृ० 101
2 वही, 6 34, 35
3 वही 6 36
4. वही, 6 पृ० 107
5 वही 5 पृ० 82
6 वही,
7 वही 5 पृ० 83
8 वही, 5 पृ० 88
9 रामाऽवरस्य गृहिणी मधुसूदनस्य (1 21), त्वया सोऽस्मदनुरागतो वर्तमिदं रामाभिधानो हरिः (3 14), वाल्मीकिना मुनिवरेण महारथस्य, याऽसौ पुराणपुरुषस्य कथा निबद्धा (5 16)।

कहीं भी मानवीय धरातल का अतिक्रम नहीं करता। सीता पौराणिक कथाओं के आधार पर पृथ्वी की पुत्री[1] कही गयी है पर उसका व्यक्तित्व भी अतिमानवीय तत्त्वों से प्रायः मुक्त है, केवल अंतिम अंक में उसके पातिव्रत व सत्यवचन का लोकोत्तर प्रभाव चित्रित किया गया है। वाल्मीकि यौगिक सिद्धियों से सम्पन्न महर्षि हैं। उनके विषय में कहा गया है कि उन्होंने योग के प्रभाव से समस्त लोकों के रहस्य का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लिया है।[2] अन्तिम अंक में नाटककार ने पृथ्वी को एक देवी के रूप में उपस्थित कर नाटक की सुखद परिणति में उसे एक अनुग्रहशील दिव्य माध्यम की भूमिका प्रदान की है। चतुर्थ अंक में नाटककार ने रामायण-गान के लिए अप्सरा तिलोत्तमा के वाल्मीकि के आश्रम में आने तथा सीता का रूप ग्रहण कर राम के प्रेम की परीक्षा लेने की उसकी योजना का उल्लेख किया है।[3] यद्यपि एक विशेष कारण से यह योजना क्रियान्वित नहीं की जाती, पर अंक के अन्त में राम सोचते हैं कि तिलोत्तमा ने ही सीता का रूप धारण कर मुझे प्रवंचित किया है।[4] प्रस्तुत प्रसंग में नाटककार ने अप्सरा-संबंधी कतिपय पारम्परिक विश्वासों—मुख्यतः उनके स्वर्ग से पृथ्वीलोक में आने तथा उनकी रूप-परिवर्तन की शक्ति का उल्लेख किया है। नाटक में अप्सराओं के अतिरिक्त वनदेवता, नदीदेवता, भागीरथी, लोकपाल, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर आदि प्रकृति-देवों व दिव्य प्राणियों का भी उल्लेख मिलता है,[5] पर नाटकीय कथा में उन्हें कोई भूमिका नहीं दी गयी है। तथापि इससे हमें मानवेतर दिव्य शक्तियों के प्रति नाटककार की धार्मिक भावना का पता चलता है।

निष्कर्ष

अतिप्राकृतिक तत्त्वों के प्रयोग के कारण कुन्दमाला की मानवीय कथा कुछ स्थलों पर—विशेषतः चतुर्थ व षष्ठ अंकों में—वास्तविकता की भूमि से हटकर विशुद्ध कल्पना व पौराणिकता के लोक में पहुंच गई है। किन्तु वस्तु की प्रकृति को देखते हुए यह बात बहुत अखरती नहीं है। चतुर्थ अंक में अदृश्य सीता की कल्पना उत्तररामचरित से प्रभावित होते हुए भी उसके समान सार्थक व मर्मस्पर्शी नहीं है। इस अंक की तुलना में छठा अंक अधिक अवास्तविक और कृत्रिम लगता है, परन्तु रामायण की परम्परागत दुःखान्त कथा को सुखान्त बनाने के लिए नाटककार के पास सम्भवतः

---

1 वही, 6 पृ० 98

2 योगप्रभावप्रत्यक्षीकृतसमस्तलोकरहस्या वाल्मीकिविश्वामित्रवसिष्ठप्रमुखा महर्षयः।

वही, 6 पृ० 100

3 वही, 4 पृ० 48–49

4 वही, 4 पृ० 67

5 वही, पृ० 16, 100

अलौकिक तत्वों का सहारा लेने के सिवा कोई चारा नही था। पुराणों की अलौकिक कथाओ मे जनसामान्य की श्रद्धा ने नाटककार के लिए यह काय बहुत सरल कर दिया होगा। अपने उत्तररामचरित मे भवभूति पहले ही ऐसा कर चुके थे।

चण्डकौशिक

प्रस्तावना के अनुसार चण्डकौशिक के रचयिता आर्य क्षेमीश्वर महीपालदेव के आश्रित थे। विद्वानो ने इस महीपालदेव को राजशेखर के आश्रयदाता गुर्जरप्रति हारवशीय कान्यकुब्जनरेश महीपाल (६१०-६४० ई०) से अभिन्न माना है[1] अत क्षेमीश्वर को हम राजशेखर का कनिष्ठ समकालीन कह सकते हैं।

क्षेमीश्वर के दो नाटक उपलब्ध होते हैं—चण्डकौशिक और नैषधानन्द। प्रथम पाच अको का नाटक है जिसमे सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा निबद्ध है। नैषधानन्द मे नल व दमयन्ती का आख्यान सात अको मे प्रस्तुत किया गया है। यह नाटक अभी तक अप्रकाशित है।

राजा हरिश्चन्द्र की कथा वैदिक साहित्य[2] मे भी आयी है, पर नाटक के अध्ययन से विदित होता है कि लेखक ने इसमे कथा के पौराणिक रूप को ही अपनाया है। नाटकीय वस्तु का मुख्य स्रोत मार्कण्डेय पुराण है जिसमे धर्मपक्षियो से जैमिनि के चतुर्थ प्रश्न के उत्तर रूप मे हरिश्चन्द्र का आख्यान विस्तार से वर्णित है।[3] देवी भागवत[4] मे भी यह कथा आई है, पर उसके अनेक ब्योरे नाटकीय कथानक से मेल नही खाते।

राजा हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा सत्य के पालनार्थ सर्वस्व-त्याग व दारुण कष्ट-सहन का एक अविस्मरणीय दृष्टान्त है। इसमे सत्यवादिता की परीक्षा का निष्ठुरता की पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया गया है। हरिश्चन्द्र को जो दण्ड भोगना पडा है वह उसके अनजान म हुए अपराध के अनुपात मे इतना अधिक है कि उसमे हमारी न्याय-बुद्धि को ठेस लगे बिना नही रहती। शैव्या के शब्दो म हम भी एक बार कह उठते हैं—" आर्यपुत्रो यदि नाम इदमवस्थान्तरमनुभवति सर्वथा अकारणा धर्म, अरण्यरुदित सर्वम, अन्धकारनर्तित सर्व विज्ञानम् ।'[5]

---

1 द० स्टेन कोनो दि इण्डियन ड्रामा, पृ० 139 कीथ संस्कृत ड्रामा, पृ० 239, दासगुप्त व डे ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिट्रेचर, पृ० 470

2 ऐतरेय ब्राह्मण 7 14 2 शाखायन-श्रौत सूत्र 15 17

3 अध्याय 7-8

4 स्कन्ध 7, अध्याय 18-27

5 चण्डकौशिक, 5 पृ० 174 (चण्डकौशिकम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965)

सारी यातनाओं के बाद हरिश्चन्द्र को बताया जाता है कि जो कुछ हुआ वह उसकी सत्यनिष्ठा की परीक्षामात्र थी तथा इस परीक्षा में दैवी शक्तियों का भी हाथ था। अन्त में ये दैवी शक्तियां प्रसन्न होकर हरिश्चन्द्र को उसके सत्यपालन व धर्म-निष्ठा के लिए समुचित रूप में पुरस्कृत करती हैं।

वस्तुविधान में नाटककार ने अधिकतर पौराणिक कथा का ही अनुगमन किया है। प्रथम अंक में हरिश्चन्द्र के सुखी दाम्पत्य-जीवन का तथा चतुर्थ अंक में श्मशान में कापालिक के आश्चर्यमय कार्यकलापों का चित्रण नाटककार की अपनी उद्भावना है। कथा के विकास में दैवी शक्तियों का प्रच्छन्न हाथ बताया गया है। नाटक के अन्त में पात्रों की कारुणिक नियति का आकस्मिक परिवर्तन दैवी हस्तक्षेप का सीधा परिणाम है।

कथावस्तु में अतिप्राकृत तत्त्व

माया रूप प्रथम अंक के अन्त में राजा हरिश्चन्द्र को एक वनचर से सूचना मिलती है कि आखेट वन में एक असाधारण आकार-प्रकार वाला शूकर विचरण कर रहा है। यह शूकर वस्तुतः विघ्नराट् था[1] जिसने विश्वामित्र की साधना में विघ्न डालने के लिए यह माया रूप[2] धारण किया था। नाटककार ने यहां विघ्नराट् को दो रूपों में प्रस्तुत किया है—(१) गौर व उज्ज्वल आकृति वाले अतिमानवीय पात्र के रूप में (२) माया शूकर के रूप में। दोनों ही रूपों में वह एक प्रतीकात्मक पात्र है। उसका उद्देश्य हरिश्चन्द्र को आकृष्ट कर उस तपोवन में पहुंचाना है जहां विश्वामित्र सृष्टि-शक्ति, पालन-शक्ति व संहार-शक्तिरूप त्रिविध विद्याओं को वश में करने के लिए यत्न कर रहे थे।

यहां नाटककार ने मार्कण्डेय पुराण के सम्बन्धित प्रसंग को किंचित परिवर्तित किया है। पुराण के अनुसार राजा मृग का पीछा करता हुआ उस स्थान पर पहुंचता है जहां विश्वामित्र विद्याओं की प्राप्ति के लिए तप कर रहे थे। वहां पहुंचने पर विघ्नराट् राजा के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है[3] जिससे मुनि के प्रति उसका व्यवहार संयत नहीं रह पाता। किन्तु नाटक के अनुसार विघ्नराट् ही वराह का रूप धारण कर राजा को आकृष्ट करता हुआ उस आश्रम में ले जाता है तथा वहां पहुंचकर सहसा अदृश्य हो जाता है।

---

1 वही 2 3 4

2 विघ्न—(सुचा सहषम्) अये कथमायस्म एवाय तत् यावन्निता निगह्य तामेव मायामास्थाय दर्शयाम्यात्मनम्। वही, 2 पृ० 47

3 मार्कण्डेय पुराण, 7 11

शाप तृतीय अंक में विश्वामित्र द्वारा विश्वदेवों को दिये गये शाप की संक्षिप्त घटना आई है। इस शाप का नाटक की मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसकी योजना का उद्देश्य हरिश्चन्द्र को यह जताना है कि विश्वामित्र का रुष्ट करने का परिणाम कितना भयंकर हो सकता है। यह घटना हरिश्चन्द्र को जल्दी से जल्दी किसी के भी हाथों-चाहे वह चाण्डाल ही हो—आत्म-विक्रय के लिए विवश कर देती है।

श्मशानवासी सत्त्व चतुर्थ अंक में बताया गया है कि राजा हरिश्चन्द्र अपने स्वामी की आज्ञा से अंधेरी रात में जब दक्षिण श्मशान में पहरा दे रहे थे तब वहां उन्हें शवमांस-भक्षक पिशाचों के कुण्ड दिखाई दिये।[1] नाटककार ने उनकी बीभत्स आकृति, रुधिरपान मांसमांस-भक्षण तथा घृणित प्रणय-केलियों का विशद वर्णन किया है।[2] इस वर्णन के लिए उसे भवभूति के मालतीमाधव से प्रेरणा मिली होगी जिसके पंचम अंक में श्मशानवासी सत्त्वों की ऐसी ही बीभत्स चेष्टाओं व क्रीडाओं का चित्रण किया गया है। इस असाधारण दृश्य द्वारा नाटककार ने रात्रि-कालीन उस भयावह परिस्थिति का चित्र अंकित किया है जिसमें हरिश्चन्द्र अविचल भाव से अपने कर्तव्य का पालन कर रहे थे।

कापालिकों की सिद्धियां इसी अंक में धर्म हरिश्चन्द्र की स्वामिभक्ति व सत्य की परीक्षा के लिए एक कापालिक का रूप धारण कर श्मशान में उपस्थित होता है।[3] वह राजा से कहता है कि मैंने योग-दृष्टि से तुम्हारा वृत्तान्त जान लिया है। मुझे आशा है तुम इस स्थिति में भी मेरी सहायता करने में समर्थ हो? मैं वेताल-सिद्धि, वज्रसिद्धि, गुटिकासिद्धि, सिद्धाञ्जन-सिद्धि, पादलेप सिद्ध स्त्यागना-सिद्धि, रसायन-सिद्धि तथा धातुसिद्धि के लिए साधना कर रहा हूं। ये सिद्धियां मुझे मिलने ही वाली हैं, यदि तुम इन्हें तिरोहित करने वाले विघ्नों का निवारण कर दो।[4] कापालिक बताता है कि पास में ही सिद्धरसों का एक महानिधान है, हमारा यत्न उसी के लिए है। कापालिक का अनुरोध स्वीकार कर राजा विघ्नों को दूर रहने के लिए कहता है। विघ्न उसकी आज्ञा मान कर उसे समस्त विद्याओं व सिद्धियों का पात्र बनाना चाहते हैं।[5] कुछ देर बाद कापालिक अपनी साधना में सफल होकर दो वेतालों के

---

1 राजा—(सावष्टम्भ परिक्रम्य दृष्ट्वा) अहो। बीभत्सदर्शना कौणपनिकाया
च० कौ०, 4 पृ० 133

2 वही, 4 18–21

3 वही, 4 25

4 वही, 4 31

5 वही, 4 32.

क्यो पर सिद्धरस का महानिधान रख कर पुन राजा के पास आता है । उसके कथनानुसार इस सिद्धरस का सेवन करने वाले सिद्ध लोग मृत्यु का भी तिरस्कार कर सुमेरु पर्वत पर विहार करते है ।[1] कापालिक राजा से महानिधान को लेने की प्रार्थना करता है पर राजा अपने दास-धर्म पर दृढ रहते हुए उसे लेने से मना कर देता है ।

विमानस्थ विद्याओं का आगमन विश्वामित्र ने पहले जिन विद्याओ को वश मे करने के लिए तप किया था और वे असफल रहे थे वे विमान पर आरूढ होकर हरिश्चन्द्र के समक्ष उपस्थित होती हैं और स्वय को उसे अर्पित करती है ।[2] पर राजा उन्हे विश्वामित्र के पास जाने का आदेश देता है । यहा नाटककार ने विद्याओ का दैवीकरण करते हुए राजा की नि स्पृह वृत्ति का वर्णन किया है ।

दैवी हस्तक्षेप व अनुग्रह पचम अक मे राजा ज्योही अपने मृत पुत्र का कम्बल लेने के लिए हाथ बढाता है, त्योही आकाश से पुष्पो की वृष्टि होने लगती है[3] तथा उसके दान, शील, धैर्य क्षमा, सत्य व ज्ञान की प्रशसा के शब्द गूज उठते हैं ।[4] उसी समय धर्म सदेह प्रकट होकर हरिश्चन्द्र को ब्रह्मायुस्य से परिपूत दुर्लभ लोको का अधिवास प्रदान करता है ।[5] धर्म के हस्तक्षेप से सारी परिस्थिति क्षणभर मे बदल जाती है । मृत रोहिताश्व जीवित होकर स्वस्थ भाव से उठ बैठता है । धर्म राजा को दिव्य-दृष्टि प्रदान करता है जिससे कि वह विगत घटनाओं के वास्तविक रहस्य को स्वय जान सके ।[6] धर्म द्वारा मगाये गये एक विमान पर चढकर राजा ध्यान लगाकर अपनी दिव्य दृष्टि से देखते हैं कि विश्वामित्र ने विद्याओ की प्राप्ति से परितुष्ट होकर उसका राज्य उसके सचिवो को सौंप दिया है । वह यह भी देखता है कि शैव्या का क्रेता ब्राह्मण व उसकी पत्नी वस्तुत शिव और पार्वती थे तथा स्वय उसे खरीदने वाला चाडाल वास्तव मे धर्म था । इस गुह्यज्ञान से राजा के मन से यह सन्ताप निकल गया कि उसे चाण्डाल की सेवा करनी पडी ।[7] इसके बाद धर्म ने

---

1 वही, 4 34
2 वही, 4 33
3 राजा—कथमाकाशात् पुष्पवृष्टि वही 5 90 173
4 वही 5 20
5 वही, 5 21
6 क्रेता योऽस्या ब्राह्मणस्त्र सदारा
यश्चाण्डालो यत्र राज्यञ्च तत्र ते ।
राजन् गुह्य तत्त्वतो ज्ञातुमेतद्
दिव्य चक्षु साम्प्रत ते ददामि ॥ वही 5 23
7 वही, 5 24

वहीं अपने हाथों से रोहिताश्व का राज्याभिषेक सम्पन्न किया। विमान-चारिणी देवनाओं द्वारा इस महोत्सव का अभिनन्दन किया गया। नदियां तीर्थ जल के कलश लेकर सशरीर उपस्थित हुई। दिशाओं से दिव्य दुन्दुभियों का स्निग्ध स्वर गूंज उठा। अप्सरायें नृत्य करने लगीं। लोकपाल अपना-अपना अंश लेकर नवाभिषिक्त राजा की सेवा में उपस्थित हुए।[1] हरिश्चन्द्र ने ब्रह्मलोक में अकेले जाने में अनिच्छा प्रकट की।[2] उन्होंने अपनी प्रजा को भी साथ ले जाने का आग्रह किया।[3] अन्त में धर्म ने उनकी इस इच्छा को भी पूर्ण किया।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि नाटक का यह अन्त नितान्त कृत्रिम, आरोपित और निष्प्राण आदर्शवादी बन कर रह गया है। उसमें हमें प्रेरित व आह्लादित करने की शक्ति नहीं है। दुःखान्त व कारुणिक घटनाचक्र का यह आकस्मिक परिवर्तन हमारा विश्वास अर्जित नहीं कर पाता। अन्त में किये गये रहस्योद्घाटन कहानी की मानवीय गरिमा को प्रभावहीन बना देते हैं। दैवी हस्तक्षेप से नाटक का आदर्शवादी उपसंहार एक पूर्व निर्धारित आयोजन-सा प्रतीत होता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत नाटककार अपने धार्मिक व नीतिवादी आग्रहों के कारण कृति की कलात्मक अपेक्षाओं से किस सीमा तक उदासीन हो सकता है? पौराणिक कथाओं में अलौकिक शक्तियों की भूमिका तो ठीक है, पर मानव-नियति की सारी बागडोर उनके हाथ में सौंप कर मनुष्य को मात्र कठपुतली बना देना कहां तक उचित है? भारतीय परम्परा नाटक के दुःखान्त का निषेध करती है, पर उसे सुखान्त बनाने के लिए उस पर अस्वाभाविकताओं को लादा जाय तो आवश्यक नहीं है।

अतिप्राकृत पात्र

चण्डकौशिक में कुछ अतिप्राकृतिक पात्र भी आये हैं जिनमें विश्वामित्र, धर्म, विघ्नराट्, विद्याएं, भृगु आदि उल्लेख्य हैं। विश्वामित्र के अतिमानवीय पौराणिक व्यक्तित्व की ओर संकेत किया गया है[4], पर नाटक में वे एक क्रोधी, अहंकारी व अत्याचारी व्यक्ति के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। उनका व्यक्तित्व और व्यवहार हमारी अश्रद्धा ही अर्जित करता है। यह उल्लेखनीय है कि नाटककार ने इस अत्याचारी ऋषि के हृदय में अपने क्रूर व्यवहार के लिए खेद या ग्लानि की एक रेखा भी

1 वही, 5 26
2 वही, 5 27
3 वही, 5 28
4 वही, 2 24

चित्रित नहीं की है। अन्तिम अंक में केवल यह बताया गया है कि विद्याओं के प्राप्त होने पर विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र का राज्य उनके सचिवों को लौटा दिया।[1] यह भी कहा गया है कि मुनि का उद्देश्य हरिश्चन्द्र का राज्य हथियाना न था, अपितु उनके सत्य की परीक्षा करना था।[2] विश्वामित्र की शाप-शक्ति उनके व्यक्तित्व की सर्वोपरि क्रूरता का ही भयावह अंग है।

चित्ररथ, विद्याएं, वाराणसी का पाप-पुरुष व धर्म प्रतीकात्मक पात्र हैं। इनमें से धर्म को छोड़कर अन्य सब की भूमिकाएं महत्त्वहीन हैं। धर्म चाण्डाल का रूप[3] धारण कर राजा का क्रय करता है, कापालिक के रूप में उसकी स्वामिभक्ति की परीक्षा लेता है[4] तथा अन्त में दैवी रूप में साक्षात् प्रकट होकर कारुणिक घटना-चक्र को सुखान्त में परिवर्तित कर देता है। प्रस्तुत नाटक में धर्म की भूमिका एक सर्वनियामक किन्तु अनुग्रहशील व मांगलिक दैवी शक्ति की है। नाटकीय दृष्टि से उसे हम नायक का दिव्य आश्रय कह सकते हैं।

नायक हरिश्चन्द्र मानव होते हुए भी अपनी सात्त्विकता, सहिष्णुता, तितिक्षा व महासत्त्वता के कारण नाटक के अन्त तक पहुंचते-पहुंचते एक दैवी गरिमा से मण्डित हो गया है। उसकी ब्रह्मसायुज्य-प्राप्ति को हम उसके इस दैवीभाव का प्रतीक मान सकते हैं।

तृतीय अंक में शिव के पार्श्वचर भृंगी का संक्षिप्त प्रवेश केवल यह सूचना देने के लिए है कि शिव व पार्वती हरिश्चन्द्र के देशान्तरगमन से चिन्तित हैं तथा उसके त्यागमय आचरण को प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं।[5] पंचम अंक में हरिश्चन्द्र दिव्य-दृष्टि से देखते हैं कि शैव्या को खरीदने वाले ब्राह्मण-दम्पती वास्तव में शिव व पार्वती थे।[6] किन्तु नाटक में यह देवयुगल अपने दैवी रूप में साक्षात् उपस्थित नहीं होता।

चतुर्थ अंक में श्मशान में दृष्टिगत पिशाच, प्रेत, बेताल आदि तत्कालीन लोक-विश्वासों की साकार प्रतिमाएं हैं। मुख्य कथा से बाह्य होते हुए भी वे वातावरण-सृष्टि के महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं।

---

1 राजा— विद्योपस्थानसन्निर्वर्तितमनस्केन कौशिकेन सचिवेभ्यः ॥ राज्यं प्रतिमुक्तम्।
वही 5 पृ० 177

2 धर्म—राजन्! भवत्सत्यजिज्ञासुर्विश्वामित्रो मुनिस्तथा कृतवान् न तु राज्यलिप्सया
वही 5 पृ० 179

3 वही, 3 32

4 वही, 4 28

5 वही, 3 3

6 वही, 5 24

अतिप्राकृत लोकविश्वास

चण्डकौशिक मे कुछ ऐसे लोकविश्वासो का भी चित्रण हुआ है जो मानव नियति को अदृश्य रूप मे सचालित करने वाली शक्तियों के सकेत कहे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रथम अक मे कतिपय प्राकृतिक उत्पातो—जैसे पूर्णिमा के बिना ही चन्द्रग्रहण, दिशाओ मे दाह, भूकम्प, उल्कापात आदि—को हरिश्चन्द्र की आसन्न विपत्ति का सूचक माना गया है तथा उनके अनिष्ट फल के निवारण के लिए स्वस्त्ययन आदि धार्मिक विधियो का विधान किया गया है।[1] इस सदभ मे मन्त्रपूत शान्त्युदक का भी उल्लेख मिलता है जिनमे अनिष्टो को दूर करने की निगूढ शक्ति मानी गई है।[2] भावी शुभ या अशुभ के सूचक के रूप मे नेत्रस्फुरण तथा बाहुस्फुरण जैसे पारम्परिक शकुनो का भी उल्लेख हुआ है।[3] इसी प्रकार नायक व नायिका दोनो के मुख से विपत्ति के विभिन्न अवसरो पर दैव, भाग्य या कर्मविपाक सम्बन्धी परम्परागत विचार भी प्रकट हुए हैं।[4] ये विचार भारतीय कर्मवाद व भाग्यवाद में जुड़े हुए हैं तथा औसत भारतीय का, विशेषत विपत्ति की दशा मे, सनातन जीवन-दर्शन रहे हैं।

अतिप्राकृत तत्त्व और रस

नाटक मे प्रयुक्त कुछ अतिप्राकृतिक तत्त्व जैसे विघ्नराज का शूकर मे तथा धम का चाण्डाल व कापालिक के रूप मे परिवर्तन केवल कौतूहलजनक है। अतिम अक मे मृतरोहित का पुनर्जीवन, दिव्य दृष्टि की सहायता से हरिश्चन्द्र को अनेक रहस्यो का ज्ञान तथा उसे प्रजासहित ब्रह्मसायुज्य की स्वीकृति आदि बातें शास्त्रीय दृष्टि से अद्भुत रस की सामग्री प्रस्तुत करती हैं। किन्तु विश्वामित्र का शाप भयानक रस का तथा श्मशान दृश्य मे भूत, प्रेत, वेताल, पिशाच आदि के जुगुप्सित व्यापार वीभत्स रस के व्यजक हैं।

निष्कर्ष

क्षेमीश्वर म न वस्तु व पात्रो की मौलिक योजना की सामर्थ्य है

---

1 वही 1 23-24

2 वही, 1 25

3 स्पन्दते वामनयन वाहु स्फुरति दक्षिण ।
व्यसनाभ्युदयौ प्राप्ताविव कथयतीव म ॥ वही, 5 6

4 नर वामारम्भ कमिव न विधाना प्रहरति (3 22), यद् यद् दैव शाम्नि तत्तद् विधेयम् (3 26), न कस्यचिन्नाम दुरतिक्रमा दैवपरिपाटि (4 पृ0 128), तत्रापि व्यसनत्रियेण विधिना वत्ता तथा दारुणम् (5 2), यत मन्य दुर्विनम्या भवति परिणति कर्मणा प्राकृतानाम् (3 2), कर्मणा विपाक सन्न परिदेविनेन (5 पृ0 172), सर्वथा सवत्र निष्करुणता हतविधे (5 पृ0 156), अकरुणस्यापि तस्य विधेरमी मृदु भवा व्यवहारा (5, पृ0 157)

और न अतिप्राकृतिक तत्त्वों के प्रभावशाली विनियोग की। अतिप्राकृतिक तत्त्वों के प्रयोग के विषय में उन्होंने प्राय पौराणिक कथा का अनुगमन किया है। वस्तु के विकास व उपसहार मे दैवी शक्तियों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है जिससे कथा के मानवीय पक्ष को क्षति पहुची है। आदर्शवाद के प्रति अनिग्राग्रह के कारण नाटक का अन्त प्रभावहीन होकर रह गया है। हरिश्चन्द्र की परीक्षा के लिए धर्म का कभी चाण्डाल के रूप मे और कभी कापालिक के रूप मे प्रकटीकरण हास्यास्पद है। इतना ही हास्यास्पद यह सकेत है कि शैव्या को खरीदने वाले ब्राह्मणदम्पती वस्तुत शिव व पार्वती थे। पौराणिक नीतिवाद के प्रतिपादन की दृष्टि से चाहे यह नाटक सफल माना जाय, पर कला की कसौटी पर इसकी उपलब्धियां नगण्य ही कही जा सकती हैं।

तपतीसवरण व सुभद्राधनजय

ये दोनो केरल-नरेश कुलशेखर वर्मा के नाटक हैं। श्री गणपति शास्त्री ने कुलशेखर का स्थितिकाल ई० १०वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से १२वी शताब्दी के प्रारम्भिक भाग के बीच माना है।[1]

तपतीसवरण यह छह अको का नाटक है जिसमे महाभारत आदिपर्व (अध्याय १७१-१७३) के आधार पर सूर्यपुत्री तपती व मर्त्य राजा सवरण के प्रणय व परिणय की कथा प्रस्तुत की गयी है। वस्तु योजना मे नाटककार ने अधिकतर महाभारत का ही अनुसरण किया है पर अनेक प्रसगो व कल्पनाओं के लिए वह कालिदास के विक्रमोर्वशीय व शाकुन्तल का भी ऋणी प्रतीत होता है। नाटक की नायिका तपती तो दिव्य स्त्री है ही, राजा सवरण के व्यक्तित्व का भी एक पक्ष लोकोत्तरता लिये हुए है। कालिदास के पुरूरवा व दुष्यन्त के समान वह भी असुरो से युद्ध करने के लिए समय-समय पर स्वर्ग बुलाया जाता है।[2] ऐसे पौराणिक पात्रो से सम्बद्ध कथा मे अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रचुरता से प्रयोग हो यह स्वाभाविक ही है। ये तत्त्व नाटकीय कथा में बाहर से आरोपित किये हुए नही लगते अपितु पात्रो के दिव्य उद्भव व व्यक्तित्व एव कथा के पौराणिक पर्यावरण के ही सहज अग प्रतीत होते हैं।

नाटक की नायिका तपती सूर्य देवता की पुत्री है जो यह सकल्प कर चुके हैं कि तपती का विवाह राजा सवरण के साथ होगा।[3] पिता के इस सकल्प के अनुसार

---

1 दे० श्री शास्त्री द्वारा सम्पादित 'तपतीसवरण' का आमुख, पृ० 5, (त्रिवेन्द्रम सस्कृत सिरीज, त्रिवेन्द्रम, 1911)

2 तद् देवगुरुविमदपरिचिताम्बरगमनस्य वयस्यस्य सकाशात् सकल शिक्ष्ये इति। तप० स0 1, पृ० 14

3 वही, 2 पृ० 42-43

प्रथम अंक में प्रभासतीर्थ में स्थित धनंजय अलम्बुस नामक राक्षस द्वारा अपहृत सुभद्रा की रक्षा करता है। कृष्णवर्ण दैत्याकार अलम्बुस सुभद्रा को अंक में लेकर आकाशमार्ग से जा रहा है।[1] धनंजय ज्योंही उस पर बाण चलाने के लिए उद्यत होता है वह भयभीत होकर सुभद्रा को आकाश में ही छोड़कर भाग जाता है। धनंजय आकाश से गिरती हुई सुभद्रा को अपने हाथों पर ले लेता है।[2] किन्तु सुभद्रा अकस्मात् अदृश्य हो जाती है। आगे द्वितीय अंक में काञ्चुकीय के कथन से ज्ञात होता है कि सुभद्रा को वस्तुतः गरुड़ जी अदृश्य रूप में उठाकर द्वारका में उसके कन्यापुर में सुरक्षित पहुँचा गये थे।[3] वहीं यह भी बताया गया है कि अलम्बुस ने दुर्योधन के आदेश से सुभद्रा का अपहरण किया था। दुर्योधन सुभद्रा से विवाह का इच्छुक था। इस विषय में बलरामजी भी कुछ कुछ सहमत थे, पर वासुदेव इसके विरुद्ध थे। इसीलिए दुर्योधन ने राक्षस द्वारा सुभद्रा का हरण कराकर अपनी इच्छापूर्ति का प्रयत्न किया।

उक्त प्रसंग का संकेत नाटककार को कालिदास के विक्रमोर्वशीय से मिला होगा जिसके प्रथम अंक में पुरूरवा द्वारा असुर-अपहृत उर्वशी का परित्राण किया गया है। वहाँ यह घटना पुरूरवा व उर्वशी के प्रणय की पृष्ठभूमि के रूप में अंकित है। किन्तु प्रस्तुत नाटक में सुभद्रा व धनंजय पहले से ही परस्पर अनुरक्त बताये गये हैं। इस घटना द्वारा नाटककार ने उनके प्रणय को तीव्र करने के साथ-साथ नाटकीय कथा में जटिलता की भी सृष्टि की है। धनंजय राक्षस-संकट से मुक्त सुन्दरी को सुभद्रा से भिन्न स्त्री समझता है। इसी प्रकार सुभद्रा भी धनंजय को कोई अन्य ही पुरुष समझती है। तथापि दोनों एक दूसरे के प्रति आकर्षण व अनुराग का अनुभव करते हैं। सुन्दरी की गात्रिका में अपने नाम को अंकित देखकर धनंजय को विश्वास हो जाता है कि वह मुझ में अनुरक्त है। वह अनुमान करता है कि वह अदृश्य रूप में द्वारका ले जायी गयी होगी। अतः धनंजय यति के वेश में द्वारका जाकर अपनी दोनों प्रेमिकाओं (वस्तुतः एक सुभद्रा ही) को प्राप्त करने का निश्चय करता है। सुभद्रा धनंजय को यति के रूप में भी नहीं पहचान पाती और उसके प्रति भी प्रगाढ़ अनुराग का अनुभव करती है। अन्ततः उसे अपने बहुपुरुषविषयक अनुराग से हार्दिक अनुताप होता है और वह आत्महत्या का प्रयास करती है, किन्तु धनंजय उसे बचा

---

1. सखे! नायं तडिल्वानम्बुधरः। अयं हि धूमधूसरधूम्रः प्रमदां कामपि कन्यकां प्रसह्यापकर्षति।
   सुभद्राधनंजय, 1 पृ० 18–19 (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, स० 13, त्रिवेन्द्रम, 1912)
2. अहो अत्याहितम्! सैषा प्रमथकरमुक्ता प्रायशिछन्नपात पतति। तदवलम्बे तावदेनाम्। (प्रसारितकरस्तिष्ठति) वही, 1 पृ० 21
3. वही, 2 पृ० 42 43

लेता है। वह उसे वास्तविक स्थिति से परिचित कराकर उसका अनुताप दूर करता है।

तृतीय अक मे धनजय व सुभद्रा के ध्यान करते ही देवराज महेन्द्र अपने परिजनो सहित स्वर्ग से द्वारका आते हैं। पहले एक आलोकमय देवपुरुष आकाश से उतर कर उनके आगमन की सूचना देता है।[1] महेन्द्र अपने पुत्र धनजय के लिए वासुदेव से सुभद्रा की याचना करते हैं। अनन्तर वासुदेव की सहमति से अन्त पुर मे गुप्त रूप से धनजय व सुभद्रा का विवाह सम्पन्न होता है। इन्द्र के साथ आगत अप्सराओ द्वारा नववधू का शृगार किया जाता है। इस प्रसग द्वारा नाटककार ने धनजय के दिव्य उद्भव व सम्बन्ध की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर उक्त विवाह को दैवी अनुमोदन प्रदान कराया है।

पचम अक मे दुर्योधन की प्रेरणा से राक्षस अनम्बुस पुन सुभद्रा का हरण कर लेता है। इस बार भगवती कात्यायिनी (दुर्गा) उसकी रक्षा करती है। इस प्रसग मे नाटककार ने रूप-परिवर्तन की पारम्परिक कथानक रूढि का भी उपयोग किया है। कात्यायिनी सुभद्रा को अर्जुन को सौपने के लिए द्रौपदी के रूप मे उनके पास आती है।[2] कुछ देर बाद वास्तविक द्रौपदी भी वहा आ जाती है। तब कात्यायनी को अपना वास्तविक दैवी रूप प्रकट करना पडता है।[3] वह धनजय को सुभद्रा के हरण का रहस्य बता कर आशीर्वाद देती हुई चली जाती है। यहा नाटककार ने नाटक के अतिम भाग (निर्वहण सधि) को चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए कात्यायनी को नाटक के दिव्य सहाय के रूप मे प्रस्तुत किया है। किन्तु वह इस कल्पना को उचित सगति प्रदान नहीं कर सका है। साथ ही अपहरण के अभिप्राय की आवृत्ति नाटककार के कल्पना-दारिद्रय को ही प्रकट करती है।

उक्त विवरण व विवेचन से स्पष्ट है कि कुलशेखर अपने नाटको मे अतिप्राकृत तत्त्वो का नूतन व मौलिक विनियोग करने मे असफल रहे हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त इन तत्त्वो मे अधिकतर परम्परा की ही प्रतिध्वनिया सुनाई देती हैं।

---

1 वही, 3 10

2 कात्यायिनी—अहो नु खल्वचिन्तनीयोऽयमनुभावस्य प्रभाव यदमुष्य सरम्भा समति प्रभावयति हृदय, यन्मयाहह गृहीतयानमनोज्ञया प्राप्तवता। वही 5 ५८ [illegible]

3 कात्यायिनी—(द्रौपदीवेषमपनयन्ती) वत्स।
कि रोदिति। मा स्म कुप्यस्व महता मत्कर्मनिर्मम।
कार्यमिहमाप्ता दानुमेना त [illegible] मन्त्रणाम॥
वही, 5 9

प्रबोधचन्द्रोदय

कृष्ण मिश्र का यह नाटक संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ प्रतीकात्मक नाटक है। इसका रचनाकाल ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना गया है। यह एक दार्शनिक रूपक है जिसमें प्रतीकात्मक पात्रों के द्वारा मानव के आध्यात्मिक संघर्ष का अतीव रोचक व सजीव चित्र अंकित किया गया है। इसमें दार्शनिक-धरातल पर अद्वैत वेदान्त व वैष्णव भक्ति का समन्वय करते हुए मानव के आध्यात्मिक श्रेय का मार्ग निरूपित किया गया है। इस नाटक में अतिप्राकृत तत्त्वों का दार्शनिक पक्ष उद्घाटित हुआ है। नाटक के अन्त में जीव को प्रबोध की प्राप्ति होती है[1] जिसके आधार पर इस नाटक को प्रबोधचन्द्रोदय कहा गया है। वैसे इस नाटक के पात्र मानव मन की विभिन्न सद्-असद् वृत्तियों के प्रतीक हैं तथा उन्हें नाटककार ने मानव चरित्र में ढालने का प्रयास किया है। प्रबोधचन्द्रोदय के पश्चात् इसी के अनुकरण पर वेंकटनाथ ने 'संकल्पसूर्योदय', कर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय', आनन्दरायमखी ने 'जीवानन्दन' व 'विद्यापरिणयन' तथा गोकुलनाथ ने 'अमृतोदय' आदि नाटक लिखे, किन्तु ये दार्शनिक सिद्धान्तों के संवादमात्र बन सके हैं, नाटक नहीं।

प्रसन्नराघव

जयदेव (लगभग १२०० ई०) का प्रसन्नराघव कथा व नाट्यपद्धति की दृष्टि से अनर्घराघव व बालरामायण की परम्परा का नाटक है।[2] इसमें सीता-स्वयंवर से लेकर रावणवध तथा राम के राज्याभिषेक तक की रामायण की कथा सात अंकों में प्रस्तुत की गयी है। वस्तुविधान में नाटककार ने कुछ नवीन उद्भावनाओं का भी समावेश किया है, जैसे प्रथम अंक में सीता स्वयंवर के अवसर पर रावण व बाणासुर की परस्पर प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उपस्थिति, द्वितीय अंक में चण्डिका मंदिर के उद्यान में राम व सीता के प्रथम मिलन व पूर्वराग का वर्णन, पंचम अंक में यमुना, गंगा, सरयू आदि नदियों तथा सागर का मानवीकरण तथा षष्ठ अंक में विद्याधर द्वारा प्रयुक्त इन्द्रजाल से राम को लंका में स्थित सीता के वृत्तान्त का ज्ञान आदि। लेकिन इन उद्भावनाओं के कारण मूल रामकथा में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होता।

अनर्घराघव व बालरामायण के समान इसमें भी वस्तुयोजना रूढ़िग्रस्त व शिथिल है। कथा फलक इतना विस्तृत है कि अधिकतर घटनाओं व प्रसंगों को सूच्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। पंचम व षष्ठ अंक की पूर्वोक्त उद्भावनाएं

---

1. प्रबोधचन्द्रोदय, 6 29,30,31
2. जयदेव के स्थितिकाल के लिए देखिए—कीथ संस्कृत ड्रामा, पृ० 244, कोनो दि इंडियन ड्रामा, पृ० 140-141, दे व दासगुप्त हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृ० 462

इसी उद्देश्य से प्रेरित हैं। नाटक में क्रियाशीलता की कमी है, वर्णनात्मक व सूचनात्मक स्थलों के आधिक्य के कारण नाटक का अधिकांश भाग श्रव्य काव्य में परिणत हो गया है। चरित्र-चित्रण में मौलिक दृष्टि का अभाव है, राम, रावण, सीता, परशुराम, विश्वामित्र आदि पात्र पारम्परिक साँचा में ढले हुए हैं। यह बात जरूर है कि जयदेव अनुप्रासात्मक, ललित व नादसौन्दर्यपूर्ण श्लोकों की रचना में सिद्धहस्त हैं, इस दृष्टि से वे मुरारि के समकक्ष नहीं तो उनसे कुछ ही घट कर हैं। किन्तु सुन्दर व प्रौढ़ श्लोकों की रचना-चातुरी ही नाटक नहीं है।

अतिप्राकृतिक तत्त्वों की दृष्टि से प्रसन्नराघव के एक-दो स्थल ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अन्य स्थलों में मिलने वाले अतिप्राकृतिक तत्त्वों में कोई नवीनता नहीं है, रामकथा के पारम्परिक अंग के रूप में ही उनका विन्यास हुआ है।

प्रथम अंक के विष्कम्भक में याज्ञवल्क्य का शिष्य दाल्भ्यायन अपने योगीश्वर गुरु की प्रसादमहिमा से दो भ्रमरों—कलालाप व मधुरप्रिय—का वार्तालाप समझ लेता है।[1] इस वार्तालाप से सूचना मिलती है कि असुरराज बाण और राक्षसराज रावण दोनों ही सीता को प्राप्त करने के लिए उसके स्वयंवर में मिथिला आ रहे हैं।[2]

उक्त प्रसंग में भ्रमरों का मनुष्यों के समान वार्तालाप तथा योगशक्ति से उसका अवगमन ये दोनों ही अतिप्राकृतिक तत्त्व हैं। भारतीय विचारधारा सभी जीवों में एक ही आत्मा की सत्ता स्वीकार करती है इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से मनुष्य व अन्यान्य जीवों में कोई अन्तर नहीं है। विभिन्न शरीर और रूप तो पूर्वजन्म के कर्मों के परिणाम हैं। हमारे महाकाव्यों, पुराणों व लोककथा साहित्य में ऐसी अनेक कथाएं आई हैं जिनमें मनुष्य व अन्य जीव बुद्धि व चेतना के एक ही धरातल पर परस्पर व्यवहार करते दिखाए गए हैं। इसी प्रकार यौगिक सिद्धियों में भी भारतीयों की चिरकाल से आस्था रही है। अतः परम्परागत भारतीय विश्वास की दृष्टि से दाल्भ्यायन द्वारा भ्रमरों की बातचीत का आशय समझना कोई असंगत बात नहीं है।

सम्बद्ध प्रसंग में नाटककार का उद्देश्य आगामी दृश्य में दो असाधारण व्यक्तियों—बाण व रावण की उपस्थिति की पूर्व सूचना देना है। भ्रमरों की बातचीत व योगशक्ति से उसका ज्ञान इसी उद्देश्य के लिए नाटककार द्वारा प्रयुक्त एक

---

1 नन्वयं गगनतलावलम्बिनो मधुकरयोरेव ध्वनिराकर्ण्यते।
(पुनः कर्णं दत्त्वा, सहर्षविस्मयम्) अहो। भगवतो योगीश्वरस्य प्रसादमहिमा, येनाहमेवंविधानामपि वचनावबोधमधुरां सिद्धिमासादितवानस्मि। तदाकर्णयामि किमेतावालपतः ?
प्रसन्नराघव, 1 पृ० 35 (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1963)

2 वही, पृ० 35 37

चामत्कारिक युक्ति मात्र है। तथापि नाटकीय दृष्टि से इस विशिष्ट कल्पना की कोई सगति या सार्थकता सिद्ध नही होती।

पंचम अंक में यमुना, गंगा, सरयू, गोदावरी, तुंगभद्रा व सागर का मानवीकरण नाटककार की एक रमणीय कल्पना है जिसके लिए वह भवभूति का ऋणी प्रतीत होता है। भवभूति ने उत्तररामचरित में भागीरथी, तमसा, मुरला आदि नदी देवताओं को पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया है। भारतीय अध्यात्म-भावना प्रकृति को भी मनुष्य के समान चेतन और सवेदनशील मानती है। उसकी दृष्टि में प्रकृति की सत्ता जीव-सृष्टि से पृथक् व तटस्थ नही, अपितु विराट् विश्वजीवन का ही एक अविभाज्य अंग है। इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण भारतीय कवि सदा से प्रकृति में मानव भावों का ही नहीं, देवत्व व ईश्वरत्व तक का आरोपण करता आया है। प्रसन्नराघव का यह दृश्य भारतीय संस्कृति की इसी विशिष्ट विचारधारा पर आधारित है। किन्तु नाटकीय दृष्टि से इस दृश्य का भी विशेष महत्त्व नहीं है। नाटककार का एकमात्र उद्देश्य कतिपय घटनाओं की, जिन्हें वह दृश्य रूप में प्रस्तुत करना नही चाहता, सूचना देकर कथावस्तु को आगे बढाना है। इस एक ही अंक में नदियों व सागर के वार्तालाप के माध्यम से रामवनगमन से लेकर हनूमान् के समुद्र-लंघन तक का विस्तृत वृत्तान्त सक्षेप में सूचित कर दिया गया है। इस प्रकार यह समग्र अंक सूचनात्मक है तथा कार्य की दृष्टि से विष्कम्भक सा प्रतीत होता है। यह अवश्य है कि नाटककार की रमणीय कल्पना ने इस सूचनापरक अंक को भी विशेष आकर्षक बना दिया है। पर इसकी सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि नाटकीय कथा के साथ इसका कोई स्पष्ट सबध नहीं है। नाटक के बीच यह समग्र अंक मुख्य कथा से असम्बद्ध व अप्रासंगिक सा लगता है। नाटक की अन्तश्चेतना व वातावरण के साथ भी इस अंक की सगति नही बैठती। नाटककार ने मात्र वस्तुयोजना की एक युक्ति के रूप में इसका सन्निवेश किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि यह प्रसंग मुख्यत प्राकृतिक पदार्थों के मानवीकरण का उदाहरण है, अतिप्राकृतिक तत्त्वों के प्रयोग का नहीं।

षष्ठ अंक में एक महत्त्वपूर्ण अतिप्राकृतिक तत्त्व की योजना मिलती है। राम किष्किंधा पर्वत पर प्रकृति के सान्निध्य में सीता के वियोग से अतीव व्यथित हैं। तभी उन्हें व लक्ष्मण को दो विद्याधरों—रत्नशेखर व चम्पकापीड—का वार्तालाप सुनाई देता है। रत्नशेखर ने मन्दोदरी के भाई चित्ररूप नामक दानव से इन्द्रजाल विद्या की नियमित शिक्षा प्राप्त की है।[1] चम्पकापीड के आग्रह पर वह उसे अपनी विद्या का

1 (पुनर्नेपथ्ये) वयस्य चम्पकापीड! एवमेतत्। मया ह्यत्र दानवमखिलमायानिधेमयनाम्नो दानवस्य पुत्रो निजसहोदरीं मन्दोदरीमनुवर्तितु लङ्कायां कृतालयाच्चित्ररूपनाम्नो दानवात्सकलामिन्द्रजालकलामाददानेन स्थितम्। वही, 6 पृ० 312

चमत्कार दिखाता है। वह उसके समक्ष लंका में स्थित वियोगिनी सीता का दृश्य साक्षात् उपस्थित कर देता है। चन्द्रापीड के साथ साथ राम व लक्ष्मण भी इस सारे दृश्य को देखते हैं और अनुभव करते हैं कि घटनाएं जैसे उनके सामने ही हो रही हैं। रावण की प्रणय-याचना और धमकियों के सामने सीता के अविचल प्रेम और पातिव्रत की दृढ़ निष्ठा का साक्षात् दर्शन कर राम भावविह्वल हो जाते हैं। उन्हें बार-बार यह याद दिलाना आवश्यक हो जाता है कि वे जो कुछ देख रहे हैं वह ऐन्द्रजालिक दृश्य है, वास्तविकता नहीं।[1]

उक्त प्रसंग वस्तुयोजना व भाव-चित्रण दोनों दृष्टियों से सार्थक है। इसके द्वारा एक ओर लंका में सीता के वृत्तान्त की प्रत्यक्षवत् सूचना दी गई है और दूसरी ओर सीता व राम के पारस्परिक भावबन्ध का प्रभावशाली चित्र अंकित किया गया है। किन्तु इन्द्रजाल का अभिप्राय नाटक की कथा में जिस प्रकार निविष्ट किया गया है वह नाटककार की अकुशलता का ही सूचक है। वह नाटक की कथा से उद्भूत नहीं होता, उस पर बाहर से आरोपित किया गया है। नाटकीय दृष्टि से साभिप्राय होते हुए भी वह कथावस्तु के साथ अनुस्यूत नहीं हो सका है।

यहां रत्नावली में वर्णित इन्द्रजाल के दृश्य की प्रस्तुत दृश्य के साथ तुलना करना लाभप्रद होगा। रत्नावली में इन्द्रजाल दिखाने वाला व्यक्ति एक मानव पात्र है, जबकि इस नाटक में वह एक विद्याधर है जिसने किसी दानव से यह विद्या सीखी है। दूसरे, रत्नावली में इन्द्रजाल का दृश्य वास्तविक प्रतीत होते हुए भी मिथ्या है। राजप्रासाद में आग लगने से किसी भी व्यक्ति या वस्तु को हानि नहीं पहुंचती। आग कुछ देर में अपने आप शान्त हो जाती है। दूसरी ओर प्रसन्नराघव में सीता-सम्बन्धी दृश्य सर्वथा मिथ्या नहीं है, वह लंका में घटित वास्तविक वृत्तान्त का विद्या द्वारा कराया गया सुदूर-दर्शन है जिसकी तुलना आधुनिक दूरदर्शन (Television) से की जा सकती है। यह दृश्य मिथ्या है तो इसी दृष्टि से कि वह राम के समक्ष किष्किंधा में घटित वृत्तान्त नहीं है, अपितु वहां से बहुत दूर लंका में सम्पन्न हो रही घटना है। विद्याधर की विद्या इसी में है कि वह लंका में हो रहे कार्यकलाप का दर्शन सुदूर किष्किंधा पर्वत पर स्थित व्यक्तियों के लिए सुलभ बना देता है।

षष्ठ अंक के उक्त ऐन्द्रजालिक दृश्य में ही त्रिजटा सीता की आज्ञा से खेचरी[2] (आकाशचारिणी) बनकर हनुमान् द्वारा किये गये लंकादहन व समुद्रलंघन की सूचना

---

1 अलमिह सम्भ्रमेण, विद्याधरोपनीतमिन्द्रजालकं खल्वेतत्। (6, पृ० 317), आर्य! किमिदमैन्द्र-जालिकविलोकनादलीकमेव सम्भ्रम्यते (6, पृ० 334), आर्य! किमिदं लंकावृत्तान्तानुसारिणि विद्याधरप्रणीते महेन्द्रजाले पुनः सम्भ्रम्यते। (6, पृ० 355)

2 सीता—हला त्रिजटे! खेचरी भूत्वा प्रेक्षस्व तावदस्य वृत्तान्तम्।
त्रिजटा तथा (इति निष्क्रान्ता) वही, 6 पृ० 352.

देती है ।[1] इस अतिप्राकृतिक तत्त्व द्वारा नाटकीय कथा को अनावश्यक विस्तार मे बचाने का प्रयत्न किया गया है जो सराहनीय है ।

सप्तम अक म नाटककार ने राम-रावण युद्ध का वर्णन एक विद्याधर-युगल द्वारा कराया है ।[2] भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार युद्ध-दृश्य का मचीय प्रदशन वर्जित है, अत नाटककार को उसे वर्णनात्मक रूप मे उपस्थित करना पडा है । युद्ध-वर्णन के लिए दिव्य पात्रो–विशेषकर विद्याधर पात्रो की योजना की परम्परा भास के समय से चली आ रही थी, यह हम पहले बता चुके हैं । प्रसन्नराघवकार ने सप्तम अक मे राम-रावण युद्ध के प्रसग मे इसी प्राचीन व मान्य परम्परा का अनुसरण किया है । युद्ध समाप्त होने तथा अग्निपरीक्षा मे सीता के सफल होने पर विद्याधर युगल पुलोमजा को उसकी सूचना देने के लिए स्वर्ग चला जाता है ।[3]

यह उल्लेखनीय है कि अनेक पूववर्ती राम नाटको के सामन जयदेव ने यहा अग्निदेवता के आविर्भाव का वर्णन नही किया । इसका कारण सभवत नाटक को अनावश्यक विस्तार से बचाने की नाटककार की तीव्र इच्छा है । विस्तार-परिहार की यह प्रवृत्ति नाटक मे अनेक स्थलो पर प्रकट हुई है । रामनाटको की अनेक असगत कल्पनाओ मे भी नाटककार ने अपनी कृति को बचान का पूरा प्रयास किया है । उदाहरणार्थ, महावीरचरित, अनर्घराघव व बालरामायण मे राम के वनगमन की पृष्ठभूमि के रूप मे भवभूति, मुरारि व राजशेखर ने परकाय प्रवेश व रूपपरिवर्तन की जो भोंडी कल्पनाए की है उन्हे जयदेव ने नही दोहराया है ।

अन्त मे निष्कर्ष के रूप मे कह सकते हैं कि जयदेव अतिप्राकृतिक तत्त्वो के विनियोग मे किसी मौलिक दृष्टि का परिचय नही दे सके है । उनका प्रयोग अधिकतर उन घटनाओ की सूचना देने के लिए किया गया है जिन्हे रगमच पर दृश्य रूप मे उपस्थित करना नाटककार को इष्ट नही है । षष्ठ अक मे इद्रजाल की कल्पना नाटकीय दृष्टि से साधक होते हुए भी कथावस्तु मे बाहर से ठूसी हुई-सी लगती है । इससे स्पष्ट है कि जयदव ने रामकथा मे एक नये अतिप्राकृतिक तत्त्व की कल्पना की, पर वस्तुयोजना के पर्याप्त कौशल के अभाव मे वे उसे नाटकीय कथा का सहज व स्वाभाविक अग नही बना सके ।

कतिपय प्राचीन लुप्त राम-नाटक

राम कथा पर आधारित कतिपय प्राचीन नाटक दुर्भाग्य से अब प्राप्त नही

---

1 वही, 6 49–50

2 वही, 7 पृ० 384–410

3 विद्याधर —तर्हि । वर्धामृत पुलोमजायै निवेदयाव । वही, 7 पृ० 410

होते। किन्तु नाट्यशास्त्र व अलकारशास्त्र के ग्रथो मे उनके जो उद्धरण या सन्दर्भ दिये गये हैं उनसे उनकी विषयवस्तु तथा अन्य विशेषताओ का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। डा० वी० राघवन ने अपनी पुस्तक 'सम् लॉस्ट राम प्लेज'[1] मे ऐसे कुछ नाटको का विवरण प्रस्तुत किया है। इन नाटको मे नाटककार की मौलिकता मुख्यत दो दिशाओ मे व्यक्त हुई है। एक तो कुछ ऐसे पात्रो के चरित्र का परिष्कार करने का प्रयत्न किया गया है जिनका आचरण मूल कथा मे विवाद या आलोचना का विषय था। दूसरे, इनमें रूपपरिवर्तन, जादू, वचना, छल आदि राक्षसी माया के विभिन्न रूपो का प्रयोग किया गया है।[2] यद्यपि राक्षसी माया के ऐसे कुछ प्रसग रामायण मे भी आये हैं पर नाटककार ने उन्हे अपनी सर्जनात्मक कल्पना द्वारा और भी विकसित कर लिया है। डा० राघवन द्वारा वर्णित ऐसे कुछ नाटको मे अतिप्राकृतिक तत्त्वो का भी प्रयोग हुआ था। विभिन्न स्रोतो से ज्ञात इन्ही तत्त्वो का यहा सक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है।

रामाभ्युदय भवभूति और वाक्पतिराज के आश्रयदाता राजा यशोवर्मा (८वी शती ई० का प्रारम्भिक भाग) द्वारा रचित इस नाटक मे शूर्पणखा के विरूपीकरण से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की रामायण की कथा छह अको मे अकित थी। यशोवर्मा मूल रामकथा मे मनमाने परिवर्तन किये जाने के विरुद्ध थे। 'कथामार्गे न चातिक्रम' उनका आदर्श था, जैसा कि इस नाटक की प्रस्तावना से उद्धृत एक श्लोक से विदित होता है।[3] यही कारण है कि इसमे रामायण के विरुद्ध किसी नये अतिप्राकृतिक तत्त्व का प्रयोग नही किया गया। पचम अक म रावण द्वारा मायासीता का निर्माण व शिरश्छेद[4] तथा षष्ठ अक मे अग्नि मे प्रविष्ट सीता को लेकर अग्निदेवता का प्रादुर्भाव[5]—ये दोनो ही अतिप्राकृतिक तत्त्व रामायण पर आधारित हैं। डा० राघवन का अनुमान है कि इस नाटक मे राम-रावण युद्ध का वर्णन विद्याधर पात्रो द्वारा कराया गया था।

---

1 अन्नमलाई यूनिवर्सिटी, अन्नमलाई नगर 1961

2 द्र सम लॉस्ट राम प्लेज, पृ० 10–11

3 शृ गारप्रकाश, भाग 2, पृ० 411 पर उद्धृत।

4 नाट्यदर्पणकारो ने इस स्थल मे सीता के वधरूप विघ्न से उत्पन्न विमर्शसधि मानी है। 'अत्र रावणेन यन्मायामयसीताव्यापादन तद्रूपेण व्यसनेन सीताप्राप्तिविघ्नजो विमर्श'।

1 39 47 का विवृति

5 यहा नाट्यदर्पणकारो ने निर्वहण सधि का उपगूहन नामक अग माना है—
"तत प्रविशति पटाक्षेपेण सीतामादाय वह्नि। सर्वे दृष्ट्वा ससभ्रममुत्थाय आश्चर्यम्। नमो भगवते हुताशनाय इति प्रणमन्ति। अत्राग्निप्रविष्टसीताप्रत्युज्जीवनाद् अद्भुतप्राप्ति।

वही, 1 64 113 की विवृति।

सत्यहरिश्चन्द्र नाटक

रामचन्द्र (१२वी शती ई० उत्तरार्द्ध) द्वारा प्रणीत इस नाटक मे सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की कथा कुछ सामान्य परिवर्तनो के साथ प्रस्तुत की गई है। एक दैवी योजना के अनुसार हरिश्चन्द्र को अपना राज्य खोकर दण्ड का द्रव्य चुकाने के लिए पुत्र व पत्नी सहित स्वय को बेचना पडता है। अपने महान् त्याग और सत्त्व के कारण वह सत्य की परीक्षा मे पूर्ण सफल होता है तथा दैवी शक्तियो–चन्द्रचूड व कुमुदप्रभ द्वारा अन्त मे उसका अभिनदन किया जाता है। इसके वस्तु विन्यास मे नाटककार ने शाप द्वारा रूपपरिवर्तन,[1] मन्त्र-शक्ति द्वारा दूरस्थ व्यक्ति का आकर्षण,[2] औषधि द्वारा व्रणो का तात्कालिक उपचार[3] आदि अतिप्राकृत तत्त्वो का प्रयोग किया है।

वीणावासवदत्त

भास-नाटको की अनेक विशेषताओ से युक्त इस नाटक के अभी तक आठ ही अक प्राप्त हुए हैं। श्री के० वी० शर्मा के मतानुसार इसमे कम से कम दो अक और रहे होगे।[4] उनके अनुसार इसकी रचना भामह (६०० ई०) व वल्लभदेव (१५वी शती) के बीच के काल मे कभी हुई।[5]

नाटक की प्रस्तावना मे सूत्रधार के एक कथन से विदित होता है कि उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने शिवजी के अभिप्रेत व्यक्ति के साथ अपनी पुत्री वासवदत्ता के विवाह का निश्चय किया है।[6] प्रथम अक के अनुसार एक दिन भगवान् शकर राजा प्रद्योत को स्वप्न मे दिखाई दिये तथा वासवदत्ता के भावी पति के गुणों का वर्णन कर अन्तर्हित हो गये।[7] ये गुण एक मात्र उदयन मे ही विद्यमान थे अतएव उसे वश मे करने की योजना बनाई गई। उक्त प्रसग मे स्वप्न को एक दैवी निर्देश के रूप मे ग्रहण किया गया है।

---

1 हरिश्चन्द्र का परिचारक कुतल अगारमुख के शाप से शृगाल बन जाता है।
दे० सत्यहरिश्चन्द्र नाटक, 2 पृ० 19 (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1921)

2 दे० वही, 4 पृ० 38

3 दे० वही, 5 पृ० 53

4 दे० श्री के० वी० द्वारा सपादित 'वीणावासवदत्त' की भूमिका (श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मद्रास, 1962)

5 वही, भूमिका, पृ० 16

6 वही, 1 3

7 राजा–तत स भगवान् सजलजलदस्तनितगम्भीरेण मनःप्रतिप्रह्लादिना स्वरेणैक श्लोकमुक्त्वा अन्तर्हित । अहमपि तेनध्वनिना प्रबुद्ध । वही, 1 पृ० 6

तृतीय अक के अनुसार यौगन्धरायण विद्या द्वारा लोगों की दृष्टि बाधकर प्रज्वलित चिता मे प्रविष्ट हो जाता है।[1] लोग समझते हैं कि वह चिता मे जलकर भस्म हो गया, पर वास्तव मे वह एक भ्रमात्मक दृश्य था। वस्तुत यौगन्धरायण चिता को लाघकर तथा अधकार मे विलीन होकर एक पागल के रूप मे उज्जयिनी पहुच जाता है।

कुवलयावली या रत्नपाचालिका

यह रसार्णवसुधाकर के लेखक शिंग भूपाल (१४वी शती ई०) द्वारा रचित चार अको की नाटिका है। नाट्यशास्त्र के एक प्रतिष्ठित आचार्य की कृति होने के कारण यह नाटिका विशेष महत्त्व रखती है। इसके कुछ पात्र जैसे-कृष्ण, नारद, रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पौराणिक हैं, लेकिन कहानी पौराणिक लगते हुए भी पूरी तरह काल्पनिक है।

कथा मे कुछ अतिप्राकृतिक तत्त्वो का प्रयोग हुआ है। ब्रह्मा की प्रेरणा से भूमि एक सुन्दरी कन्या कुवलयावली का रूप धारण कर लेती है[2] जिसे नारद धर्म-पिता के रूप मे रुक्मिणी के पास न्यास के रूप मे छोडकर उसका वर ढूढने के बहाने चले जाते हैं। वे जाते समय पुत्री को एक अद्भुत अगूठी देते हैं जिसके पहिनने से वह पुरुषो की दृष्टि मे रत्नो से निर्मित पुतली दिखाई देने लगती है, किन्तु स्त्रियो की दृष्टि मे स्त्री ही रहती है।[3] इस नाटिका का वैकल्पिक नाम 'रत्नपाचालिका' (रत्नों की पुतली) इसी अद्भुत घटना पर आधारित है। एक बार वह अपनी सखी चन्द्र-लेखा के साथ राजोद्यान मे घूमने जाती है। वहा कृष्ण होते हैं जो इस बात मे आश्चर्य मे पड जाते हैं कि चन्द्रलेखा एक पुतली मे कैसे बात कर रही है ? उन्हे सन्देह होता है।[4] इसी बीच वह चामत्कारिक अगूठी कुवलयावली के हाथ से गिर जाती है तब वह कृष्ण को एक सुन्दरी कन्या के रूप मे दिखाई देती है। वह अपना भेद

---

1 यौगन्धरायण (आत्मगतम्) बद्धमिदानी विद्यया जनाना चक्षु । वही, 3 पृ० 53

2 नारद —जनान्तिकम्।

जानासि लक्ष्मि! भगवच्चरणारविन्द-

सेवामखी वसुमती भगिनी पुरा ते।

सैवाधुना त्वमिव देवहिताय धात्रा

सम्प्रार्थितकुवलयावलिराविरासीत्॥

कुवलयावली, 1 10 (त्रिवेन्द्रम सस्कृत सिरीज, त्रावनकोर 1941)

3 कालिन्दी-देवि! किं मैषा दारिका या स्त्रीदृष्ट्या स्त्री प्रतिभाति पुरुषदृष्ट्यापि रत्नपाचालिकेति श्रूयते। वही, 1 पृ० 5

4 रत्नपाचालिकैवेयमिति गृह्णामि चक्षुषा।
लीनयाप्यनुमानेन नेति जानेमि किन्विदम्॥ वही, 1 9,10

खुल जाने के कारण चन्द्रलेखा को लेकर राजप्रासाद में चली जाती है। कृष्ण को भूमि पर पड़ी वह अद्भुत अंगूठी मिल जाती है तथा वे उसके रहस्य को समझ जाते हैं। कुवलयावली को अंगूठी का ध्यान आता है तो वह पुनः उद्यान में लौटती है जहाँ कृष्ण से उसकी भेंट होती है। इस भेंट से दोनों के हृदय में परस्पर अनुराग जाग्रत होता है। बाद में प्रासाद में अनेक बार उनका गुप्त मिलन होता है। एक बार सत्यभामा उसे कृष्ण के साथ देखकर सशंक हो जाती है और रुक्मिणी को इसकी सूचना दे देती है। क्रुद्ध रुक्मिणी कुवलयावली को अपने महल में बन्द करा देती है, परन्तु एक राक्षस उसे वहाँ से उड़ा ले जाता है।[1] तब रुक्मिणी की प्रार्थना पर कृष्ण उसे छुड़ाने जाते हैं। इसी बीच नारद रुक्मिणी के पास आकर कुवलयावली की वास्तविक कथा बताते हैं। रुक्मिणी नारद के परामर्श से कुवलयावली का कृष्ण से विवाह करा देती है।

नाटिका की उक्त कथावस्तु में भूमि द्वारा सुन्दरी कन्या का रूप धारण करना तथा अद्भुत अंगूठी के प्रभाव से कुवलयावली का पुरुष मात्र की दृष्टि में रत्नपाञ्चालिका दिखाई देना अतिप्राकृतिक तत्त्व हैं। इसकी नायिका कुवलयावली एक अर्धदिव्य पात्र है तथा नारद व दानव को भी हम अतिप्राकृतिक पात्रों की श्रेणी में गिन सकते हैं। नाटक का मुख्य रस शृंगार है जिसका विप्रलंभ पक्ष अधिक उभरा है तथा अद्भुत रस का उसके अंग के रूप में विधान किया गया है।

जानकीपरिणय

१७वीं सदी ई० के मध्यभाग में रामभद्र दीक्षित[2] द्वारा रचित इस नाटक को कोनो ने राम सम्बन्धी सर्वाधिक लोकप्रिय नाटकों में से एक माना है।[3] इसमें सीता के परिणय से लेकर रावण-वध व अयोध्या में राम के राज्याभिषेक तक की कथा सात अंकों में निबद्ध है। मोटे रूप में रामायण की कथा का अनुगमन करते हुए भी नाटककार ने इसके वस्तु-विधान में अनेक नूतन व चामत्कारिक कल्पनाओं का समावेश किया है। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अनेक राक्षस पात्रों द्वारा मायामय रूप ग्रहण किया गया है। रूपपरिवर्तन के इस

---

1 मुग्धिका-भट्टारक ! मत्प्रच्छन्नपापान्निति कुवलयावली
वैनाप्यनाशिनेन गहाणि व्याकुला देवी। वही, 4 60

2 नाटक की प्रस्तावना के अनुसार ये यज्ञराम दीक्षित के पुत्र तथा बहुवृत्त नल्लदीक्षित के पौत्र थे। इन्होंने स्वयं को कौण्डिन्य गोत्र का बताया है। ये नीलकण्ठ मखी, गोरक्षनाथ तथा बाल कृष्ण के शिष्य थे तथा अद्भुतदर्पण के रचयिता महादेव के समकालीन माने गये हैं।

3 के० इण्डियन ड्रामा, पृ० 157

अभिप्राय (Motif) का लेखक ने इस सीमा तक प्रयोग किया है कि रूप बदलने वाले राक्षस लोग स्वयं ही उसके कारण उद्भ्रान्त (Confused) हो जाते हैं।

प्रथम अंक में रावण के मंत्री सारण के परामर्श से यह तय किया जाता है कि सीता की प्राप्ति के लिए रावण राम का, सारण लक्ष्मण का व विद्युज्जिह्व कौशिक का रूप धारण कर विश्वामित्र के आश्रम में जायेंगे जहाँ जनक राम के साथ सीता का विवाह करने के लिए आये हुए हैं। स्वयं विश्वामित्र उस समय राम को लाने के लिए अयोध्या गये हुए हैं। रावण सारण व विद्युज्जिह्व तिरस्करिणी विद्या से अदृश्य होकर विश्वामित्र के आश्रम में जाते हैं।[1] दूसरे अंक में बताया गया है कि विश्वामित्र ने अयोध्या जाने से पूर्व सीता के हाथों में 'राक्षसाभिकरण' नामक मणि से जड़े दो कटक (कंगन) पहनाये थे, जिनके कारण वह राक्षसों की दृष्टि से अदृश्य रहती है।[2] राक्षस लोग इन कटकों को छल से प्राप्त कर लेते हैं जिससे सीता अदृश्य से दृश्य हो जाती है। तृतीय अंक में राक्षस मारीच अपनी माँ ताड़का व भाई सुबाहु के वध का बदला लेने के लिए राम को जीवित ही चिता में प्रविष्ट कराने की योजना[3] को व्यावहारिक रूप देता है। इस योजना के अनुसार वह स्वयं विश्वामित्र के शिष्य काश्यप का तथा कराल नामक राक्षस राम के सखा पिंगल का रूप धारण कर लेते हैं। इसी बीच वास्तविक पिंगल व काश्यप भी घटनास्थल पर आ जाते हैं, किन्तु राम उन्हें राक्षस और मायारूपधारी राक्षसों को पिंगल व काश्यप समझते हैं। तभी नेपथ्य में मायामय सीता का आर्तनाद सुनाई देता है, वह अपने पिता की मृत्यु के शोक में अग्नि-चिता में प्रवेश कर जाती है। राम भी उसका अनुगमन करना चाहते हैं, पर मारीच की मूर्खता से सारा रहस्य खुल जाता है। तभी राम के पाद-स्पर्श से पत्थर शिला अहल्या बन जाती है, वह राक्षसों की माया का भेद खोल देती है। भयभीत राक्षस मृग का रूप धारण कर भाग निकलते हैं। चतुर्थ अंक में पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार रावण राम का, सारण लक्ष्मण का तथा विद्युज्जिह्व विश्वामित्र का रूप धारण कर आश्रम में स्थित जनक से भेंट करते हैं। तभी इन्द्र

---

1 दशानन—अहो विद्याप्रभाव । न केवलमस्मान् न जनो न पश्यतीति, न शृणोति वचनानि च ।
जानकी परिणय, 1 पृ० 32 (श्री गणेशशास्त्री लेले द्वारा संपादित बम्बई 18[illegible]6)

2 शीलवती—सुचरिते, त्वां भणामि, प्रियसख्या करकौशलमुत्प्रेक्ष्य तातेनमहताम्ना हस्ते कटक युगलमासादितम् । यत तातकौशिकेन राक्षसाभिकरमणिघटित जानकीहस्त आमुञ्चेति तव हस्ते समर्पितमासीत् । यस्मिन् राक्षसाभिकरणा मणि ।

वही, 2 पृ० 62 (?)

3 कराल—ईदृक्करमेवैतदिदानीमावयो—
विप्रियश्रवणात्सद्य पतन्ती हव्यवाहने ।
मायासीतामनुपतेद् रामस्तद्विप्रयोगवान् ॥ वही 3 13

का गुप्तचर एक गन्धर्व नेपथ्य से सूचना देता है कि राक्षस लोग राम, लक्ष्मण व विश्वामित्र का रूप धारण कर आश्रम की ओर आ रहे हैं। अनन्तर वास्तविक राम, लक्ष्मण व विश्वामित्र आश्रम मे आते हैं पर जनक उन्हीं को मायारूपधारी राक्षस मानते हैं। अपने सन्देह के निवारण के लिए जनक प्रतिज्ञा करते हैं कि शिव का धनुष चढ़ा देने वाले व्यक्ति के साथ ही जानकी का परिणय होगा। इस बीच माया राम, लक्ष्मण व कौशिक दृश्य रूप मे वहा से खिसक जाते है किन्तु तिरस्करिणी विद्या द्वारा अदृश्य होकर निकट ही उपस्थित रहते हैं। उधर वास्तविक राम शिव धनुष को चढाकर सीता के साथ विवाह करते है।

पचम अक मे राम पर आसक्त शूर्पणखा सीता का[1] और सीता पर आसक्त विराध राम का[2] माया रूप धारण करते हैं, पर एक दूसरे को ही वास्तविक राम व सीता समझने की भूल कर बैठते हैं।[3] विराध सीतारूपधारिणी शूर्पणखा को लेकर आकाश मे उड जाता है पर जटायु उनके मार्ग को रोक लेता है। तब वे भूमि पर उतर आते हैं तथा एक-दूसरे का वास्तविक रूप पहचान कर बडे लज्जित होते हैं।

षष्ठ अक मे उषनस्-प्रणीत एक प्रेक्षणक अप्सराओ द्वारा रावण के समक्ष अभिनीत किया जाता है। लका मे बन्दिनी सीता भी विभीषण की पुत्री अनला से प्राप्त राक्षसान्वकरमणि मे जडे कटक को पहन कर अदृश्य रूप मे उस प्रेक्षणक का देखती है। सप्तम अक मे शूर्पणखा 'पर्णादिनी' नामक एक तापसी का माया रूप धारण कर अयोध्या पहुच जाती है और भरत व शत्रुघ्न को राम, सीता, सुग्रीव, हनूमान् आदि की मृत्यु की झूठी खबर देकर भ्रान्त कर देती है। वे शोकविह्वल होकर चिता म प्रवेश करने ही वाले हैं कि हनूमान् यथासमय वहा पहुच कर उन्हे राम आदि के आगमन की सूचना देते हैं जिनम उक्त दु खद स्थिति टल जाती है।

उक्त विवरण मे स्पष्ट है कि रामभद्र दीक्षित ने प्रस्तुत नाटक मे माया द्वारा रूप परिवर्तन तथा तिरस्करिणी विद्या व अद्भुत मणि के प्रभाव से अदृश्यता-इन दो अतिप्राकृतिक तत्वो का विशेष रूप से प्रयोग किया है।

---

1 शूर्पणखा— इदानीं जानकीरूपमवलम्ब्य दूरतो राममेकाकिनं निर्गत गृहीत्वा हेमकूटशैलप्रदेश एतेन यथामनोरथं विहरिष्ये। वही, 5 पृ० 266

2 विराध— जेतु क्षय विमयमद्भुतवाहुसार
सौमित्रिरेव मम दारहरो यथा वा।
तज्जानकी रघुशिशोरवलम्ब्य रूप
दर्शे दवीयसि हरविहरे यथेष्टम ॥ वही, 5 4

3 लक्ष्मण—आर्या सीता विदन्नेव रामस्य वक्ति राघनीम।
आर्यवृद्धपादम्प्येषा प्रतिवक्ति यदविद्वान् ॥ वही 5 35

अद्भुतदर्पण

जानकी परिणय के समान यह नाटक भी अनेक प्रकार के अद्भुत तत्त्वों से युक्त है। इसके रचयिता महादेव रामभद्र दीक्षित के समकालीन थे। दस अंकों के इस नाटक मे अंगद-दौत्य से लेकर रावण-वध तथा राम के राज्याभिषेक तक की कथा अंकित है। इसमे अद्भुत दर्पण नामक एक मणि के अभिप्राय का प्रयोग किया गया है जो इसके नामकरण का आधार है। यह मणि मय दानव द्वारा अपने जामाता रावण को भेंट मे दी गयी थी। इसकी यह विशेषता है कि तीन योजन दूर तक की समस्त वस्तुए तथा क्रियाए इसमे प्रतिबिम्बित होती हैं।[1] यह मणि सयोग से राम के हाथो मे पड जाता है। इसके द्वारा राम व लक्ष्मण लका मे स्थित रावण के कार्य-कलाप तथा सीता के वृत्तान्त का प्रत्यक्षवत् देखते है।

डा० एम० के० दे० के विचार मे महादेव ने अद्भुत दर्पण की कल्पना प्रसन्नराघव के छठे अंक के अनुकरण पर की है।[2] जैसाकि पहले कहा जा चुका है[3] प्रसन्नराघव के इस अंक मे विद्याधर रत्नशेखर द्वारा अपने मित्र चम्पकापीड को एक ऐन्द्रजालिक दृश्य दिखाया गया है। रत्नशेखर ने मय दानव के पुत्र चित्ररूप से यह विद्या सीखी है। इसके द्वारा वह किष्किन्धा पर्वत पर बैठे-बैठे ही लका मे स्थित सीता का वृत्तान्त अपने मित्र को दिखा देता है। समीप मे स्थित राम व लक्ष्मण भी सयोगवश इस दृश्य को देख लेते हैं। अद्भुतदर्पण मे 'इन्द्रजाल' का स्थान मणि ने ले लिया है, किन्तु दोनो का कार्य—सुदूर वस्तुओं व व्यापारो का दर्शन समान है।

अद्भुत प्रभाव से सम्पन्न अंगूठी मणि आदि वस्तुओं का प्रत्यभिज्ञान, अदर्शन, मूल रूप की प्राप्ति आदि के साधन के रूप मे सस्कृत नाटक मे बहुत पहले से ही प्रयोग होता रहा है। शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, अविमारक, आश्चर्यचूडामणि आदि मे हम विभिन्न उद्देश्यो के लिए इनका उपयोग देख चुके हैं। अद्भुत दर्पण मे नाटक-कार ने 'मणि' के परम्परागत अभिप्राय का एक नये रूप मे प्रयोग किया है।

प्रस्तुत नाटक मे राक्षसो के रूप-परिवर्तन तथा अन्य मायामय व्यापारो का भी समावेश मिलता है। प्रथम अंक मे राम को विभीषण का यह सन्देश मिलता है

---

1 शम्बर— अथवा अस्ति महाराजलंकेश्वरस्य श्वशुरेण मयेन दर्शनोपदीकृतो महामणिरद्भुतदर्पणो नाम।
प्रतिफलन्ति यत्र सर्व वस्तु यदा योजनत्रितयात।
तत्तत्क्रियाश्च सर्वा विना पुन मानसी वृत्तिम॥
(अद्भुतदर्पण, 1 23 (निर्णयसागर प्रेस, बबई, द्वितीय सस्करण, 1939)

2 दे० हिस्ट्री आव सस्कृत लिट्रेचर, पृ० 461

3 दे० प्रस्तुत प्रबन्ध, पृ० 386–387

कि राक्षस लोग मायाप्रधान युद्ध की तैयारी कर रहे हैं तथा इस कार्य के लिए शम्बर, मय, विद्युज्जिह्व आदि को नियुक्त किया गया है, अतः हमारे पक्ष के लोगों को सावधान रहना चाहिए।[1] इसी अंक में शम्बर नामक असुर दधिमुख वानर का रूप धारण कर राम व लक्ष्मण को अंगद के राक्षस-पक्ष में सम्मिलित हो जाने की मिथ्या सूचना देता है। उसके व्यवहार से जाम्बवान् को सन्देह होता है और वह पकड़ लिया जाता है। किन्तु मार्ग में ही वास्तविक दधिमुख को आता देख कर वह तिरोहित हो जाता है।[2] द्वितीय अंक में शम्बर पुनः दधिमुख के रूप में और तृतीय में तारकेय (अंगद) के रूप में राम व लक्ष्मण के पास आता है किन्तु जाम्बवान् द्वारा पुनः पकड़ लिया जाता है एवं बन्दी बनाकर किष्किन्धा की गुहा में भेज दिया जाता है। नाटक में विभिन्न अवसरों पर राक्षस लोग सुग्रीव, राम व सीता के मायामय कटे मस्तकों को दिखाकर अपने प्रतिपक्षियों को भ्रान्त करने का प्रयत्न करते हैं। पंचम अंक के एक ऐसे ही प्रसंग में विद्युज्जिह्व की योजनानुसार शूर्पणखा सीता को माया राम का कटा हुआ सिर दिखाती है[3] जिससे वह (सीता) मूर्च्छित हो जाती है। तब त्रिजटा, सरमा आदि सीता की परिचारिका राक्षसियाँ उसे आश्वस्त करने के लिए अपनी माया द्वारा एक नाटिका प्रस्तुत करती हैं। इस माया नाटिका में पहले राम व लक्ष्मण क्रमशः कुम्भकर्ण और मेघनाद से युद्ध करते हैं और फिर रावण के साथ।[4] नाटककार ने विकृत (माया) राम, विकृतलक्ष्मण व विकृतरावण को इनके पात्रों के रूप में उपस्थित किया है। इस नाटिका को अशोकवन में स्थित सीता व रावण तो देखते ही हैं, राम और लक्ष्मण भी अद्भुत दर्पण के द्वारा लंका के बाहर से ही उसे देख लेते हैं।

युद्ध-वर्णन में अनेक प्रकार के अलौकिक तत्त्वों का उल्लेख मिलता है। मेघनाद माया द्वारा आकाश में अदृश्य होकर युद्ध करता है।[5] उसके द्वारा प्रयुक्त मन्त्रात्मक नागास्त्र से सर्वत्र अन्धकार छा जाता है।[6] राम के साथ युद्ध में रावण असंख्य रूप धारण कर लेता है और उसका प्रतीकार करने के लिए राम भी ऐसा

---

1. अनन्तरं मायाप्रायं युद्धमस्मिति तदर्थं च मयशम्बरविद्युज्जिह्वप्रमुखमानीयन्ते परत्रादिमाया विकुलम्। वही, पृ० 12
2. शम्बर (सहर्षोद्वेगम्) स्थितया खलु दाशरथिप्रहितं कार्यलम्बमसमुक्तमन्यागिराताय हन्ता प्यामवहिनेन चेतसा यावदनुधावयति तावन्यदृष्टामनिरन्तिम सुग्रीवपरिचारकं दधिमुखमेव झटिति गोचरीकृत्य मया वञ्चितोऽयं जरन्मल्लूक। वही, 2 पृ० 17 18
3. वही, 5 पृ० 58
4. दे० सप्तम व अष्टम अंक।
5. वही, 4 9,10,12,15
6. वही, 4 10,16

ही करते हैं ।[1] रावण के कटे हुए मस्तकों के स्थान पर नये मस्तकों का आविर्भाव[2], सीता का अग्नि प्रवेश तथा अग्निदेवता का प्रादुर्भाव[3], पुष्पक विमान द्वारा राम, सीता आदि का अयोध्या में आगमन[4] आदि बातें रामायण के अनुसार ही हैं ।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि यह सारा ही नाटक अनेक प्रकार के अतिप्राकृतिक तत्त्वों से परिपूर्ण है । नाटककार का उद्देश्य इन तत्त्वों के प्रयोग द्वारा अद्भुत रस की निष्पत्ति कराना है जो इस नाटक का प्रधान रस है । प्राय सभी अद्भुत तत्त्व राक्षसी माया के विभिन्न रूप हैं । रामायण, महाभारत व पौराणिक कथाओं में वर्णित राक्षसों की मायाविनी प्रकृति के आधार पर नाटककार ने इन तत्त्वों की योजना की है । भवभूति, मुरारि, शक्तिभद्र, राजशेखर आदि नाटककार अपनी कृतियों में परकाय-प्रवेश, रूप-परिवर्तन आदि राक्षसी माया का पहले ही चित्रण कर चुके थे, जिनसे प्रस्तुत नाटककार को भी प्रेरणा मिली होगी । सच तो यह है कि उसने अपना सारा ध्यान अद्भुत तत्त्वों की योजना में ही लगा दिया है जिससे नाटक के अन्य पक्षों के साथ अन्याय हुआ है । यही बात आश्चर्य-चूडामणि के विषय में भी कही जा सकती है । वस्तुत अद्भुत तत्त्वों की अभिनव योजना ही इन नाटकों की एकमात्र विशेषता है । यही कारण है कि ये केवल कौतूहल और आश्चर्य की सृष्टि करते हैं हमारे हृदय को नहीं छूते । अद्भुत तत्त्वों की योजना की प्रक्रिया में मूलकथा और पात्र दोनों को इनमें इतना विकृत कर दिया गया है कि उनमें अस्वाभाविकता ही पैदा होता है । अत नाटकत्व की कसौटी पर इनका कोई बहुत ऊंचा मूल्य नहीं आंका जा सकता ।

अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग की परवर्ती परम्परा कुछ सन्दर्भ

प्रस्तुत अध्याय में यहां तक हमने कुछ ऐसे नाटकों का अतिप्राकृतिक तत्त्वों की दृष्टि से परिचय दिया जो संस्कृत नाटक की परवर्ती परम्परा में अधिक चर्चित रहे हैं या जिनका अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से हमें अधिक महत्त्व प्रतीत हुआ ।

अतिप्राकृत तत्त्वों का न्यूनाधिक प्रयोग परवर्ती काल के अन्यान्य कितने ही नाटकों में होता रहा है और यह परम्परा आधुनिक युग तक चली आयी है । हमारा उद्देश्य संस्कृत के केवल प्रमुख नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों का विवेचन करना रहा है, अत अपेक्षाकृत अल्पप्रमुख या अप्रमुख नाटकों का अध्ययन हमारे विषय

---

1 वही, 9 3 4

2 वही, 9 पृ० 130

3 वही, 10 10–11

4 वही 10 पृ० 142–11-

क्षेत्र में नहीं आता तथापि अतिप्राकृत तत्त्वों के स्वरूप व प्रयोग की परवर्ती परम्परा के स्पष्टीकरण के लिए हम उनमें से कुछ का संक्षिप्त विवरण देंगे।

रामकथा पर आधारित सुभट (१३वी सदी का पूर्वार्ध) के 'दूतांगद' में राम के दूत अंगद की उपस्थिति में राक्षसी माया की सृष्टि मायामैथिली रावण की गोद में आकर बैठ जाती है[1] किन्तु शीघ्र ही उसका रहस्य खुल जाता है। इस नाटक में चित्रांगद व हेमांगद नामक गन्धर्वों द्वारा रावण-वध व पुष्पक विमान द्वारा राम के अयोध्या-गमन की सूचना दी गयी है।

सोमेश्वर (१३वी सदी का पूर्वार्ध) के 'उल्लाघराघव'[2] में सीता विवाह से लेकर राम के अयोध्या लौटने तक की राम-कथा आठ अंकों में वर्णित है। इसके अन्तिम अंक में लवणासुर का प्रणिधि कार्पटिक मुनि के वेष (रूप) में अयोध्या जाकर रावण के हाथों राम, सीता व लक्ष्मण की मृत्यु का मिथ्या समाचार देता है। इससे कौशल्या, सुमित्रा आदि अग्नि में प्रवेश के लिए तत्पर हो जाती हैं, किन्तु तभी राम का विमान अयोध्या पहुंच जाता है और कार्पटिक का भेद खुल जाता है। रूप-परिवर्तन व प्रवंचना के इस प्रसंग पर 'वेणीसंहार' के अन्तिम अंक का प्रभाव नितांत स्पष्ट है। यहां भी नाटककार का लक्ष्य एक कृत्रिम परिस्थिति उत्पन्न कर करुण रस के चित्रण में अपना नैपुण्य प्रदर्शित करना है किन्तु आरोपित व अनुकरणमूलक होने से यह प्रसंग अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाता।

चतुर्थ अंक में कुमुदांगद व कनकचूड नामक दो गन्धर्व आकाश में उड़ते हुए अपने वार्तालाप में दशरथ की मृत्यु से लेकर विराध के वध तक अनेक घटनाओं की सूचना देते हैं।

'महानाटक' व 'हनुमन्नाटक' अनियमित नाटकों की श्रेणी में गिने गये हैं।[3] इनकी मौलिकता, प्राचीनता व प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों को सन्देह है। ये दोनों एक ही नाटक के दो पृथक् किन्तु अनेक अंशों में परस्पर समान संस्करण माने जाते हैं, जिनके वर्तमान रूप का संपादन संभवतः १२वीं शताब्दी में हुआ।[4] इनमें अधिकतर श्लोकों में रामकथा का परम्परागत रूप प्रस्तुत किया गया है। अतिप्राकृत

---

1 दे० दूतांगद, पृ० 35 (चौखंबा संस्कृत सिरीज, बनारस, 1950)

2 सम्पा०—मुनि पुण्यराज तथा भोगीलाल जयचन्द भाई सांडेसरा ओरियण्टल इंस्टीट्यूट बड़ौदा, 1961

3 दे० कीथ संस्कृत ड्रामा, पृ० 270

4 इनमें से महानाटक में दस और हनुमन्नाटक में चौदह अंक हैं। प्रथम के संकलनकर्ता मधुसूदन मिश्र तथा द्वितीय के दामोदर मिश्र माने जाते हैं। एक किंवदन्ती के अनुसार हनुमन्नाटक मूलतः हनुमान् की कृति है।

तत्त्वों की दृष्टि से इसमें कोई नई विशेषता नहीं है तथा नाटकीय दृष्टि से भी उनका मूल्य नगण्य है।

भास्कराचार्य (१४वीं शती ई०) के 'उन्मत्तराघव' नामक प्रेक्षणक में सीता दुर्वासा के तपोवन में पुष्प-चयन के लिए प्रविष्ट होने पर ऋषि के शाप के अनुसार हरिणी में परिवर्तित हो जाती है। राम उसके विरह में उन्मत्त होकर प्रलाप करते हैं। अन्त में अगस्त्य ऋषि के अनुग्रह से उसे अपना वास्तविक रूप की प्राप्ति होती है।[1] एक अंक का यह नाटक कालिदास के विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक से अतीव प्रभावित है।

रामपाणिवाद (१८वीं सदी का पूर्वार्ध) के 'सीताराघव'[2] में रामायण में प्राप्त अतिप्राकृतिक तत्त्वों के अतिरिक्त मुख्य रूप से रूप परिवर्तन की दो घटनाएं आई हैं जिन पर पूर्ववर्ती राम नाटकों का स्पष्ट प्रभाव है। रूप-परिवर्तन की पहली घटना दूसरे अंक में आई है जहां ताडका और सुबाहु के वध का राम से बदला लेने के लिए मायावसु व करम्बक नामक दो असुर क्रमश दशरथ व सुमन्त्र का रूप धारण कर जनक की राजसभा में उपस्थित होते हैं। उनका लक्ष्य राम को शिवधनुष चढ़ाने और सीता के साथ विवाह करने से रोकना है। लेकिन उनकी योजना सफल नहीं होती। वास्तविक दशरथ व उनके दल के जनकपुरी में आने की बात सुनकर वे वहां से चुपचाप खिसक जाते हैं। राक्षसी माया की दूसरी घटना चतुर्थ अंक में आयी है जहां शूर्पणखा की सखी अयोमुखी मन्थरा का रूप धारण कर कैकेयी को दशरथ से दो वर मांगने के लिए प्रेरित करती है। नाटक के अनुसार शूर्पणखा राम पर आसक्त थी, इसलिये वह चाहती थी कि राम वन में आ जायें और उसे उनका सान्निध्य प्राप्त हो।

राम-कथा के समान कृष्ण कथा भी परवर्ती संस्कृत नाटककारों का प्रिय विषय रही है। रविवर्मभूप (१३वीं शती उत्तरार्ध) का 'प्रद्युम्नाभ्युदय' नाटक[3] हरिवंश पुराण में वर्णित[4] प्रद्युम्न व प्रभावती के प्रणयाख्यान पर आधारित है। इसके तृतीय अंक में नायक प्रद्युम्न तिरस्करिणी विद्या से प्रच्छन्न होकर नायिका प्रभावती से मिलने के लिए बाह्योद्यान में जाता है। चतुर्थ अंक में नारद व कृष्ण

---

1 वयस्य—अहमेकाकिनीमस्मदाश्रमे तिष्ठन्तीमितस्तत प्लवमानामदृष्टपूर्वां हरिणीं समाविना जानकीं निश्चित्य तत्क्षणमेव शापामोचयित्वा भवदन्तिकमनैषम्। उ० रा०, पृ० 16

2. सम्पा० शूरनाट् कुञ्जन पिल्ल, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज स० 192, त्रिवेन्द्रम 1958

3 सम्पा० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम सिरीज स० 8, त्रिवेन्द्रम, 1910

4 विष्णुपर्व, 91–97

आकाश मे उडते हुए प्रद्युम्न व वज्रनाभ के युद्ध का वर्णन करते हैं जिसमे दोनों पक्षो की आग से अलौकिक प्रभाव वाले अस्त्रो का प्रयोग किया जाता है। इस नाटक मे कृष्ण ईश्वर के अवतार के रूप मे वर्णित है। भद्रनट के विषय मे कहा गया है कि मुनियो द्वारा दिये गए वरदान के प्रभाव मे वह सवत्र अप्रतिहत रूप से आ जा सकता है तथा उसमे आकाशगमन की भी शक्ति है।[1]

उक्त कथावस्तु पर आधारित हरिहर के (१६वी–१७वी शताब्दी ई० 'प्रभावतीपरिणय' मे प्रद्युम्न मायामधुकर का रूप धारण कर पुष्पो के साथ प्रभावती के अन्त पुर मे पहुच जाता है।[2] इसी अक मे वह तिरस्करिणी से प्रच्छन्न होकर पुन वही कार्य करता है।[3] गद व साम्ब भी प्रद्युम्न मे तिरस्करिणी विद्या सीखकर[4] सुनाभ की पुत्रियो के अन्त पुर मे प्रविष्ट हो जाते हैं।

रूप गोस्वामी (१६वी शती) के 'विदग्ध-माधव'[5] (७ अक, व ललित माधव'[6] (१० अक) नाटको मे कृष्ण, राधा व गोपियो की प्रेम कथा को चैतन्य सप्रदाय के भक्ति सिद्धान्त के आलोक मे नया रूप दिया गया है। ये नाटक वैष्णव रस-शास्त्र की मान्यताओ को मूत रूप देने के लिए रचे गये लगते हैं। इन दोनो की विषय-वस्तु लगभग एक ही है, केवल 'ललितमाधव' मे उसे अधिक विस्तार दिया गया है। इनमे चन्द्रावली व राधिका विन्ध्यगिरि की पुत्रियाँ कही गई हैं। इसके द्वितीय अक मे श्रीकृष्ण द्वारा शखचूड नामक असुर का वध वर्णित है। तृतीय अक मे बताया गया है कि विरहोन्मत्त राधिका यमुना मे कूद पडती है और विलीन हो जाती है किन्तु एक आकाशवाणी द्वारा सूचना दी जाती है कि वह सूयमडल को पार कर अपर लोक मे पहुच गई है। षष्ठ अक मे सत्यभामा व श्रीकृष्ण के विवाह की भागवत मे वर्णित कथा को नया रूप देने का प्रयास किया गया है। इसके अनुसार सत्यभामा राधिका का ही अन्य रूप थी, उसे सूयदेवता ने स्यमन्तक मणि सहित राजा सत्राजित् को दिया था।

---

1 कृष्ण —वितत किल तातस्याग्निसदस्यमध्ये नाट्यप्रयोगनैपुण्यपरितोषितमहर्षिसघन्तविवितवर लब्धवैभवो भद्रनामा नट । स पुन प्रसिद्धाकाशगमन सवत्राप्रतिहतप्रवेशश्च। तत्सुतनैव सव साधनीयम। प्रद्युम्नाभ्युदय, 1 पृ० 7

2 मायामाधुकरी तनु कृतवता किनाम यन्नार्जितम् ॥
प्रभावतीपरिणय, 4 18 (चौखम्बा सस्कृत सिरीज बनारस 1969)

3 वही 5 पृ० 127

4 वही 5 पृ० 128

5 सम्पा० प० रमाकान्त झा, चौखम्बा सस्कृत सिरीज वाराणसी, 1970

5 सपा० प्रो० बाबूलाल शुक्ल, चौखम्बा सस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1969

रूपगोस्वामी के नाटक कवित्व की दृष्टि से उत्कृष्ट होने पर भी नाटकत्व की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। उनमें क्रिया-तत्त्व बहुत कम है। कृष्ण, राधा व गोपियों का प्रेम रहस्यवादी-भावना से ओतप्रोत है।

शेषकृष्ण (१८वीं शती का प्रारम्भिक भाग) के 'कंसवध'[1] में भागवत के आधार पर कृष्ण-जन्म से लेकर कंसवध तक की कथा सात अंकों में वर्णित है। इसमें कोई नये अतिप्राकृत तत्त्व नहीं मिलते। कृष्ण का व्यक्तित्व लोकोत्तर गुणों से युक्त बताया गया है। पहले वे गोकुल में अनेक असुरों का संहार करते हैं और आगे चलकर मथुरा में कंस का।

वामन भट्ट बाण (लगभग १४०० ई०) के 'पार्वती परिणय'[2] में कुमारसम्भव के आधार पर पार्वती की तपस्या व शिव के साथ उसके परिणय की कथा निबद्ध की गई है। इसके सभी पात्र दिव्य हैं अतः इसमें प्राकृत व अतिप्राकृत का विभाजन सम्भव नहीं है। प्रथम अंक में आकाशमार्ग से नारद का पृथ्वी पर अवतरण व प्रणिधान द्वारा भविष्य का ज्ञान, द्वितीय में वनदेवता वासन्तिका का आकाश मार्ग से नन्दन वन में गमन, तृतीय अंक में नारद का तिरस्करिणी विद्या से अदृश्य होकर कामदेव का अनुगमन तथा शिव द्वारा कामदेव का दहन व रति को आश्वासन देने हेतु आकाशवाणी इत्यादि रूढ़िगत अतिप्राकृत तत्त्व इसमें भी आये हैं पर वे नाटक के सर्वांगीण दिव्य परिवेश के ही अंग हैं।

हरिहर के 'भर्तृहरिनिर्वेद'[3] नामक पांच अंकों के नाटक में योगी गौरक्षनाथ भर्तृहरि की मृत पत्नी भानुमती को पुनर्जीवित कर देता है[4] किन्तु भर्तृहरि संसार से विरक्त होकर उसे त्याग देता है।

रामचन्द्र (१२वीं शती का अन्तिम भाग) के 'कौमुदीमित्रानन्द' नामक प्रकरण में लोक कथाओं से गृहीत अनेक अतिप्राकृत तत्त्व आये हैं, जैसे—देवता से मंत्र की प्राप्ति, शव में प्राण संचार, अदृश्यता आदि। इन तत्त्वों द्वारा नाटककार ने कथा को रोचक व विस्मयकारी बनाने का यत्न किया है।[5] उद्दंडी (१७वीं शताब्दी) का 'मल्लिकामारुत' प्रकरण विषयवस्तु व पात्रों की दृष्टि से भवभूति के मालतीमाधव की छाया प्रतीत होता है। जहां मालतीमाधव में नायिका का हरण कापालिक द्वारा

---

1 निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1894

2 वही, चतुर्थ संस्करण, 1923

3 सपा० दुर्गाप्रसाद, नि० सा० प्रे० बंबई, 1892

4 गोरक्ष —राजन् एहि वैराग्यबीजभूता ते प्रेयसी योगबलेन जीवयित्वा रक्षसि यथा त्वां संगमय्य तवापनयामि निर्वेदम्। भर्तृहरिनिर्वेद, 4 पृ० 21

5 दे० कीथ संस्कृत ड्रामा, पृ० 258–59

किया गया है वहा इसमे राक्षस द्वारा। मालतीमाधव के समान इसके पाँचवें अक मे नायक मारुत श्मशान मे प्रेतसिद्धि का प्रयत्न करता है।[1]

रुद्रदेव या प्रतापरुद्रदेव (१४वी शती का प्रारम्भिक भाग) द्वारा रचित 'ययातिचरित' मे महाभारत के आधार पर राजा ययाति व शर्मिष्ठा की प्रणयकथा सात अको मे निबद्ध है। इसमे केवल एक ही अतिप्राकृत तत्त्व–शुक्राचार्य के शाप से ययाति को वृद्धावस्था की प्राप्ति का उल्लेख मिलता है जो मूल कथा से गृहीत है। नाटक के अनुसार स्वय शुक्राचार्य ही ययाति को शाप से मुक्त करते हैं।[2]

काचनाचार्य (१२वी शताब्दी) के 'धनजयविजय'[3] नामक व्यायोग मे विराट की गायो का कौरवो द्वारा हरण करने पर उनका धनजय (अर्जुन) के साथ युद्ध होता है जिसका वर्णन इन्द्र व विद्याधर के वार्तालाप द्वारा किया गया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार रगमच पर युद्ध का प्रदर्शन वर्जित है, इसीलिए सस्कृत नाटककारो ने प्राय आकाशचारी दिव्य पात्रो द्वारा युद्ध-वर्णन कराया है।

प्रह्लादनदेव (१२वी शती उत्तरार्ध) के 'पार्थपराक्रम'[4] नामक व्यायोग मे भी पूर्वोक्त कथा वर्णित है। इसके अत मे वासव अप्सराओ सहित विमान से आकर अर्जुन को उसकी विजय पर बधाई व आशीर्वाद देता है।

हरिहर (१३वी सदी पूर्वार्ध) का 'शखपराभवव्यायोग'[5] एक ऐतिहासिक नाटक है जिसमे लाट देश के राजा सिंधुराज के पुत्र शख व गुजरात के राजा वीरधवल के मत्री वस्तुपाल का युद्ध वर्णित है। इस युद्ध मे वस्तुपाल विजयी होता है। विजय के पश्चात् देवी की स्तुति की जाती है। तब आकाश से देवी के शब्द सुनाई देते है कि मैं प्रसन्न हू व आपकी कोई अन्य अभिलाषा हो तो उसे भी पूर्ण कर दू।[6] इस पर देवी से पुन प्रार्थना की जाती है और आकाश से उसके 'एवमस्तु' शब्द सुनाई देते हैं।[7]

विश्वनाथ (१४वी सदी ई०) द्वारा रचित 'सौगन्धिकाहरण'[8] नामक

---

1 वही, पृ० 258
2 ययातिचरित, 7 पृ० 74 (श्री सी० आर० देवधर द्वारा सपादित, भडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, 1965)
3 सपा० शिवदत्त, निर्णयसागर प्रेस, बबई, 1911
4 गायकवाड ओरियण्टल सिरीज स० 4 बडौदा 1917
5 सपा० भोगीलाल जयचन्द भाई साडेसरा गायकवाड ओरियन्टल सिरीज स० 148 बडौदा 1965
6 शखपराभव-व्यायोग, पृ० 80,
7 वही, पृ० 23
8 सपा० व व्याख्याकार पं० कपिलगिरि, चौखबा संस्कृत सीरीज, 1963

व्यायोग का कथानक महाभारत वनपर्व के एक प्रसङ्ग पर आधारित है। द्रौपदी के आग्रह पर कुबेर के सरोवर से दिव्य पुष्प लाने के लिए जाते समय भीमसेन की गन्धमादन पर्वत पर अपने ज्येष्ठ भ्राता हनुमान से भेंट होती है, पर वे एक दूसरे को पहचान नहीं पाते। दोनों के बीच द्वन्द्व-युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर हनुमान् भीम को पहचान लेते हैं तथा उसे दिव्य विद्या का उपदेश देते हैं। तत्पश्चात् भीमसेन कुबेर के दिव्य सरोवर में जाता है जहाँ उसका यक्षों से युद्ध होता है। इस बीच कुबेर स्वयं आकर मध्यस्थता करता है व भीमसेन को दिव्य पुष्प प्रदान करता है। इस प्रकार नाटकीय कथा के पात्र व वातावरण दोनों अलौकिकता लिये हुए हैं।

बिल्हण (१०८०–९० ई०) की 'कर्णसुन्दरी'[1] नाटिका की नायिका कर्णसुन्दरी विद्याधरराज की पुत्री है, अतः वह दिव्य स्त्री है। प्रस्तुत नाटिका में चालुक्यराज के साथ उसके प्रेम व परिणय का वृत्त परम्परागत सुविधानक में वर्णित है। मदन (१३वीं शती) की 'विजयश्री' या 'पारिजातमञ्जरी'[2] नामक नाटिका में जिसके दो ही अङ्क मिले हैं नायक अर्जुनवर्मा के वक्षःस्थल पर गिरी हुई एक माला सुन्दरी युवती में परिवर्तित हो जाती है। इस युवती के साथ राजा का प्रेम ही नाटिका की विषय-वस्तु है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ (१४वीं शती का उत्तरार्द्ध) की 'चन्द्र-कला' नाटिका में राजा चित्ररथदेव के मन्त्री सुबुद्धि को एक दिव्यवाणी सुनायी देती है जिसमें कहा गया है कि नायिका चन्द्रकला का जिसके साथ विवाह होगा उसे स्वयं महालक्ष्मी प्रकट होकर अभीष्ट वर देगी।[3] अन्ततोगत्वा ऐसा ही होता है। चित्र-रथदेव व चन्द्रकला का विवाह होने पर महालक्ष्मी साक्षात् प्रकट होकर नायक को वर देती है।[4] विमलदेव के पुत्र विश्वनाथ (१८वीं शताब्दी) की 'मृगाङ्कलेखा' नाटिका में कलिङ्ग के राजा कर्पूरतिलक व मृगाङ्कलेखा का प्रणय वर्णित है। इसमें शङ्खपाल नामक एक राक्षस नायिका का हरण कर उसे काली के मन्दिर में ले जाता है। नायक इस राक्षस का वध कर नायिका की रक्षा करता है। बाद में शङ्खपाल का भाई एक मत्त हाथी के रूप में प्रतिशोध लेने आता है किन्तु राजा उसका भी वध कर देता है।[5]

---

1 निर्णयसागर प्रेस बम्बई 1895

2 ए० कीथ संस्कृत ड्रामा पृ० 236

3 यस्तु मुनिनिष्ठितो पाणिमस्या ग्रहीष्यति ।
लक्ष्मी स्वयमुपेत्य वरमस्मै प्रदास्यति ॥
चन्द्रकला, 1 6 (सम्पा० बाबूलाल शुक्ल चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी 1967)

4 लक्ष्मी —उत्तिष्ठ वत्स चन्द्रकलापरिणयेन प्रसन्नाहमिह ते साक्षात्कारं ददामि। तदभिमतम-स्मत्तो वरं वृणीष्व। वही 4 पृ० 80

5 दे० एच० एच० विल्सन, थियेटर ऑव् दी हिन्दूज

कैलास पर्वत पर उतरते हैं। किसी अज्ञात शाप के कारण रावण का पुष्पक विमान अचल हो जाता है। रावण अपने हाथों पर कैलास को उठा लेता है पर शिव अपने पदतल से कैलास को इतना दबाते हैं कि रावण की भुजा पर्वत के भार में कुचल भी जाती है। तब एक आकाशवाणी रावण को शिव की स्तुति करने के लिए प्रेरित करती है। अनन्तर रावण के प्रार्थना करने पर प्रसन्न शिव उसके समक्ष प्रकट होकर उसे आशीष व वरदान देते हैं। तब एक आकाशवाणी होती है कि रावण का पुष्पक विमान तभी हिलेगा जब शिवजी विजया को शाप-मुक्त करेंगे। इस पर शिव विजया का शाप समाप्त कर देते हैं।[1]

कालिपद तर्काचार्य के 'नलदमयन्तीय' में नायक नल में अदृश्यता की शक्ति बताई गई है जो मूलकथा के अनुसार है। इसमें कलि के द्वारा दमयन्ती को यह शाप दिया गया है कि वह अपने पति के साहचर्य सुख से वंचित होगी। इस शाप के प्रभाव से ही नल दमयन्ती को पूरी तरह भूल जाता है।[2] नाटककार की इस कल्पना पर शाकुन्तल का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है।

पं० छज्जूराम शास्त्री के 'दुर्गाभ्युदय' नाटक में भगवती दुर्गा द्वारा विभिन्न असुरों के वध की पौराणिक कथा सात अंकों में निबद्ध है। इसका समग्र कथाजगत् अतिप्राकृतिक है जिसमें भगवती दुर्गा, ब्रह्मा, विष्णु, नारद, इन्द्र आदि विभिन्न देवी पात्रों के अतिमानवीय कार्य वर्णित हैं।[3] काव्यशैली के स्तर पर यह नाटक एक उत्कृष्ट कृति माना गया है, किन्तु नाटकीय गुणों की दृष्टि से उतना सराहनीय नहीं है।

डॉ० वी० राघवन के 'लक्ष्मीस्वयंवर' 'रासलीला' तथा 'कामशुद्धि' नामक एकांकी नाटकों की कथाएं पौराणिक हैं, अतः उनका वातावरण, घटनाएं व पात्र अनेक अतिप्राकृत तत्त्वों से युक्त हैं जो प्रायः मूल स्रोतों पर आधारित हैं।[4]

प्रस्तुत अध्याय में हमने संस्कृत नाटक के ह्रासयुग के कतिपय प्रसिद्ध, बहुचर्चित अथवा प्रकाशन के कारण सुलभ नाटकों का अतिप्राकृत तत्त्वों की दृष्टि से कहीं विस्तारपूर्वक और कहीं संक्षेप में परिचय दिया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हमने ह्रासकाल के जितने नाटकों को लिया है उनसे कितने ही गुना अधिक नाटक इस सर्वेक्षण में अनुल्लिखित रह गए हैं। किन्तु हमारा उद्देश्य संस्कृत के प्रमुख

1 द० उदात्तदशाननम् पृ० 5, 10, 43, 47–50, 59, 64–65 (साहित्यचन्द्रशाला, तिरुवालङ्गाडु, 1958)
2 संस्कृत ड्रामाज ऑव् ट्वंटिएथ सेंचरी, पृ० 284
3 वही, पृ० 273–276
4 दे० डा० वीरबाला शर्मा संस्कृत में एकांकी रूपक, पृ० 350–353

नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों के परिशिष्ट के रूप में ही उनके प्रयोग की परवर्ती परम्परा का दिङ्निर्देश मात्र करना था, उनका सर्वांगीण अध्ययन व विवेचन नहीं।

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि संस्कृत नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग उसकी समग्र परम्परा में अविच्छिन्न रूप में होता रहा है, यहां तक कि आधुनिक काल में भी पौराणिक कथाओं व रामायण, महाभारत की कथाओं को लेकर जो नाट्य-कृतियां प्रस्तुत की गई हैं, उनमें ये तत्त्व प्राचीन नाटकों के समान ही प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि मध्यकालीन व आधुनिक नाटकों में प्रयुक्त अधिकांश अतिप्राकृत तत्त्व प्राय वही हैं जिनका पुरातन नाटककारों ने अपनी कृतियों में प्रयोग किया था। इससे प्रतीत होता है कि संस्कृत नाटक के क्षेत्र में अन्य नाटकीय तत्त्वों के समान अतिप्राकृत तत्त्व भी बहुत कुछ रूढिबद्ध हो गए थे। अधिकतर नाटककारों ने नये विषयों व पात्रों को ग्रहण करने की अपेक्षा रामायण, महाभारत व पुराण ग्रंथों में प्रसिद्ध व पूर्वनाटककारों द्वारा बहुश प्रयुक्त कथाओं को ही लेकर नाटकों की रचना की। बहुत कम नाटककारों ने आधुनिक काल से पूर्व अपनी समसामयिक विषयवस्तु पर लेखनी चलाई। संस्कृत नाटक के क्षेत्र में दिखाई देने वाली व्यापक रूढिवादिता इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। परवर्ती नाटककारों की उक्त रूढिवादी प्रवृत्ति ही यह सूचित करती है कि उनमें मौलिकता की कमी है। यही कारण है कि अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग में ये नाटककार किसी प्रकार की अभिनवता या वैशिष्ट्य प्रदर्शित नहीं कर सके। कुछ नाटककारों ने तो जानबूझ कर कालिदास, भवभूति जैसे विश्रुत नाटककारों का अनुकरण किया जिसका उल्लेख हम पूर्व पृष्ठों में यथा स्थान कर चुके हैं।

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कि अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग-मात्र किसी नाट्यकृति को सौन्दर्य प्रदान नहीं करता जब तक कि वे उसकी वस्तु-संरचना, चरित्र संरचना, चरित्र-सृष्टि एवं रस-निष्पत्ति के आन्तरिक व अविभाज्य तत्त्व नहीं बनाये जाते। इस कार्य में कवि प्रतिभा की आवश्यकता होती है जो विरले ही लोगों में पाई जाती है। भास, कालिदास, भवभूति आदि ऐसे ही नाटककार थे। परवर्ती काल में अनेक कारणों से संस्कृत नाटक की मौलिक व महान् परम्परा रूढिबद्ध व जड हो गई और बाद के नाटककारों ने अपने लब्धप्रतिष्ठ पूर्ववर्तियों के अनुकरण या पिष्टपेषण में ही अपने कर्तृत्व की सफलता मानी। यही कारण है कि भवभूति के बाद की सुदीर्घ नाट्य-परम्परा में जो आज तक अबाधित रूप से चली आ रही है बहुत कम ऐसी कृतियां हैं जो प्रथम कोटि में रखी जा सकें।

उपसंहार

विगत अध्यायो मे हमने अतिप्राकृत तत्त्वो के सामान्य स्वरूप, सैद्धांतिक आधार तथा नाट्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए संस्कृत के प्रमुख नाटको मे उनके प्रयोग के वैशिष्ट्य का अध्ययन व आकलन किया। अब यहां हम अपने अध्ययन के सार व निष्कर्षों को संक्षेप मे प्रस्तुत कर रहे है।

मानव चिन्तन के इतिहास पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि सृष्टि व उसकी शक्तियो तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध के विषय मे मनुष्य के प्रारम्भ से ही मुख्यत दो प्रकार के दृष्टिकोण रहे हैं। एक दृष्टिकोण से सृष्टि की उत्पत्ति व व्याख्या अतिप्राकृत तत्त्वो के सन्दर्भ मे की तथा दूसरे ने प्राकृतिक शक्तियो के माध्यम से। प्रथम दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति धर्म, दर्शन, पुराकथा व लोककथा आदि के माध्यम से हुई और दूसरे की वस्तुवादी चिन्तन, वैज्ञानिक विकास एवं तर्क-प्रधान बुद्धिवाद के रूप मे। प्राच्य व पाश्चात्य उभय परम्पराओ के ऐतिहासिक अनुशीलन से विदित होता है कि आधुनिक युग मे वैज्ञानिक चिन्तन के आविर्भाव से पहले तक मनुष्य की विचारधारा मे अतिप्राकृतवादी मान्यताओ का ही प्राधान्य था। अत उसने सृष्टि को समझने व उसकी शक्तियो के साथ अपने सम्बन्ध की अवधारणा मे प्राय अतिप्राकृत कल्पनाओ का ही आश्रय लिया। भारतीय धर्म, दर्शन, पौराणिक कथाए एव जन सामान्य मे प्रचलित लोककथाए इस कथन की साक्षी है। हमारा प्राचीन साहित्य इन सभी स्रोतो से गृहीत अतिप्राकृत तत्त्वो से ओतप्रोत है। इसमे प्राकृत व अतिप्राकृत दोनो एक ही विश्व के परस्पर सहयोगी व पूरक अंगों के रूप मे अन्तर्भूत हैं। संस्कृत नाटक मे भी प्राकृत व अतिप्राकृत तत्त्वों के सम्बन्ध के विषय मे प्राय यही धारणा व्यक्त हुई है। उनमे ये तत्त्व इस प्रकार एक दूसरे से ओतप्रोत हैं कि उनमे विभाजक रेखा खींचना अतीव कठिन है।

संस्कृत नाटक की उपलब्ध परम्परा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसमे आरम्भ से ही अतिप्राकृत तत्त्वो का सन्निवेश रहा है। नाट्यशास्त्र मे वर्णित नाट्यों

त्पत्ति की कथा तथा स्वर्ग में अभिनीत प्रारम्भिक नाटकों के विवरण धन व पौराणिक कथाओं के साथ संस्कृत नाटक के चिरन्तन संबंध के साक्षी हैं। अश्वघोष, भास, कालिदास व भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन व प्रधान नाटककारों की कृतियां भी धार्मिक व पौराणिक आस्थाओं व कल्पनाओं के साथ नाटक के निकट संबंध की परिचायक हैं। आधुनिक विद्वानों ने भी संस्कृत नाटक के उद्भव में विविध धार्मिक उपासनाओं इतिहास व पुराण की कथाओं तथा उनकी धार्मिक व नैतिक चेतना के प्रभाव को स्वीकार किया है। इससे सिद्ध है कि संस्कृत में साहित्यिक नाटकों के उद्भव व विकास में धार्मिक-पौराणिक पृष्ठभूमि का अत्यधिक योगदान रहा। संस्कृत के अधिकांश नाटकों की विषयवस्तु रामायण, महाभारत व पुराणों की कथाओं से ली गई है जिससे पूर्वोक्त कथन का समर्थन होता है। अतः हमारे विचार में संस्कृत नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग उनकी धार्मिक, दार्शनिक व पौराणिक पृष्ठभूमि का सीधा परिणाम है। कुछ ऐसे भी नाटक हैं जिनमें लोक-कथाओं की परम्परा से ये तत्त्व आये हैं। धार्मिक व पौराणिक कथाओं के समान लोक कथाओं में भी अतिप्राकृत तत्त्वों का सदा से ही समावेश रहा है। अतः इस दिशा से प्रभावित संस्कृत नाटकों में भी अतिप्राकृत तत्त्वों का सहज रूप से प्रयोग मिलता है। कुछ अतिप्राकृत तत्त्व जन-सामान्य में प्रचलित ऐसे विश्वास हैं जो अति प्राकृत शक्तियों या तत्त्वों के स्पष्ट या अस्पष्ट संकेत माने जा सकते हैं, जैसे—शकुन, दैव, कर्म आदि। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व सामान्यतः उक्त सभी प्रभावों व योगदानों के सामूहिक फल हैं।

संस्कृत का समग्र उपलब्ध नाटक साहित्य नाट्यशास्त्र के वर्तमान रूप या उसके किसी प्राचीनतर रूप का परवर्ती कहा जा सकता है। अश्वघोष के नाटक जिनका रूप शिल्प नाट्यशास्त्र की मर्यादाओं में ढल चुका है इस शास्त्र के पूर्व अस्तित्व की ओर इंगित करते हैं। भास के नाटक कुछ अंशों में नाट्यशास्त्र के प्रतीपगामी होते हुए भी अधिकांश में उसके अनुवर्ती ही हैं। कालिदास व अन्य नाटककार नाट्यशास्त्र के परवर्ती हैं, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि संस्कृत नाटक अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग के विषय में तद्विषय नाट्यशास्त्रीय निर्देशों का अनुगमन करें। यह अनुगमन अनेक क्षेत्रों में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए रूपक के भेदों में निर्दिष्ट अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग में तथा नाटक में नायक के दिव्य माहात्म्य व निर्वहण संधि में अद्भुत रस की योजना में, विमर्शसंधि में शाप जैसी दैवी विपत्तियों के चित्रण में तथा अनेक प्रकार के अभिमानवीय पात्रों व विभिन्न रसों की योजना में नाटककारों ने नाट्यशास्त्रीय निर्देशों का अनुगमन किया है।

संस्कृत के सबसे पुराने नाटककार अश्वघोष की कृतियाँ इतने खंडित रूप में मिली हैं कि उनमें प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी उनके एकाध स्थलों से यह सिद्ध है कि उनमें बुद्ध के व्यक्तित्व को अलौकिक स्तर पर चित्रित किया गया है जिस पर महायान बौद्ध धर्म की मान्यताओं का प्रभाव प्रतीत होता है।

संस्कृत नाटककारों में भास ही वे प्रथम नाटककार हैं जिनकी कृतियों में अतिप्राकृत तत्त्वों का व्यापक प्रयोग हुआ है। इस क्षेत्र में प्रथम होते हुए भी उनकी निपुणता सराहनीय है। 'अभिषेक' 'बालचरित' व 'दूतवाक्य' में उन्होंने राम व कृष्ण के ईश्वरत्व के प्रतिपादन के लिए अनेकविध अतिप्राकृत तत्त्वों की योजना की है। इनमें से कुछ तत्त्व रामायण व पौराणिक कथाओं से गृहीत हैं और कुछ नाटककार की मौलिक उद्भावनाएं। ये सभी तत्त्व उनकी उत्कट धार्मिक भावना की अभिव्यक्तियां मानी जा सकती हैं। 'प्रतिमा' में चरित्रों का परिष्कार करने के लिए तथा 'मध्यमव्यायोग' में कथावस्तु को रोचक बनाने के लिए इन तत्त्वों का प्रयोग किया गया है। भास के लोक [illegible] नाटकों में सबसे अधिक अतिप्राकृत तत्त्व 'अविमारक' में आए हैं जिनका मूल स्रोत लोककथाएं ही प्रतीत होती हैं।

अतिप्राकृत तत्त्वों का सबसे सार्थक व कलात्मक प्रयोग कालिदास के नाटकों में उपलब्ध होता है—विशेष रूप से 'विक्रमोर्वशीय' व 'शाकुन्तल' में। इनमें से प्रथम में नाटककार ने एक ऐसी पौराणिक कथा प्रस्तुत की है जिसमें प्राकृत व अतिप्राकृत तत्त्व एक दूसरे से घुल मिल गए हैं। इसकी नायिका उर्वशी तो दिव्य स्त्री है ही, नायक पुरूरवा का व्यक्तित्व भी अलौकिकता से मंडित है। इनमें प्रयुक्त अन्य अतिप्राकृत तत्त्व इन पात्रों के अतिमानवीय व्यक्तित्व के अंग हैं या उनका सम्बन्ध किन्हीं ज्ञात अज्ञात दैवी शक्तियों से है जो मानव-नायकों में रुचि ही नहीं लेतीं, उचित अवसर पर उनमें हस्तक्षेप भी करती है या अपने दैवी अनुग्रह व माहात्म्य से उन्हें उपकृत करती है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में नाटकीय कथा पूर्वोक्त नाटक की अपेक्षा अधिक लौकिक व मानवीय है किन्तु इस मानवीय कथा के बीच-बीच में अलौकिक व अतिमानवीय तत्त्वों का भी निवेश किया गया है। इसमें आए अतिप्राकृत तत्त्वों में से अनेक कालिदास के युग में प्रचलित पौराणिक कल्पनाओं पर आधारित हैं तथा कुछ पात्रों के अतिमानवीय उद्भव व अलौकिक व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं। कुछ में कालिदास ने प्रकृति व मानव के आन्तरिक भावैक्य का दर्शन कराया है। कुछ का प्रयोग प्रणयकथा को अभीष्ट दिशा में परिवर्तित या विकसित करने के लिए किया गया है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व दुर्वासा का शाप है जिस पर समस्त नाटकीय घटनाचक्र केन्द्रित है। इसके द्वारा कालिदास ने अपने प्रे

दर्शन की भी गम्भीर मीमासा की है। इस प्रकार कालिदास के नाटको मे अति-प्राकृतिक तत्त्वो का प्रयोग चरमोत्कर्ष पर पहुच गया है। वस्तु नेता और रस नाटक के तीनो ही तत्त्वो को इनसे सौन्दर्य प्राप्त हुआ है।

कालिदास के अनन्तर सामाजिक रूपको की परम्परा मे मूर्धन्य माने जाने वाले मृच्छकटिक व मुद्राराक्षस मे अतिप्राकृत तत्त्वो का प्राय अभाव है, केवल कुछ सामान्य लोकविश्वासो के रूप मे इनका विनियोग हुआ है।

हर्ष के नाटको मे मुख्यत निर्वहण सधि मे अद्भुत रस की सृष्टि करने एव उन्हे सुखान्त बनाने के लिए इन तत्त्वो का विशिष्ट प्रयोग किया गया है। इस दृष्टि से नागानन्द विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भट्टनारायण के 'वेणीसहार' मे सस्कृत नाटक के ह्रासयुग की प्रवृत्तियो का सूत्रपात देखा जा सकता है। उनके एकमात्र उपलब्ध नाटक मे अतिप्राकृत तत्त्व एकाध अपवादो को छोडकर नाटक की सरचना के साधक अग नही बन सके है।

भवभूति के महावीरचरित मे प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व अधिकतर मूलकथा से गृहीत हैं, केवल उनकी नाटकीय योजना मे कुछ परिष्कार किया गया है। मालती-माधव मे इन तत्त्वो के प्रयोग से प्रकरण के सामाजिक वातावरण मे अवास्तविकता का समावेश हुआ है एव वस्तुविकास निरर्थक जटिलताओ मे फसकर आकस्मिक दैव-योग पर निर्भर हो गया है। उत्तररामचरित मे कुछ अतिप्राकृत कल्पनाए भवभूति की उत्कृष्ट नाट्य-निपुणता व भाव-गम्भीर कवित्व की परिचायक है। इनमे अदृश्य सीता की कल्पना एक अप्रतिम उद्भावना है। इस नाटक मे कवि हम वास्तविक जगत से हटाकर पौराणिकता के अतिमानवीय लोक म पहुचा देता है जहा कालिदास के नाटको के समान ही प्राकृत व अतिप्राकृत की सीमाए एक दूसरे मे विलीन हो जाती हैं।

भवभूति के साथ सस्कृत नाटक की मौलिक व प्रातिभ परम्परा पूर्ण परिपाक पर पहुच कर ह्रास की दिशा मे उन्मुख हो जाती है। मुरारि व राजशेखर के नाटक सस्कृत नाटक के पूर्ण ह्रास का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन नाटको मे अन्य तत्त्वो के समान ही अतिप्राकृत तत्त्वो का विनियोग भी कलात्मकता से सर्वथा शून्य है। इनमे अतिप्राकृत तत्त्व वस्तु-विकास या चरित्र-चित्रण मे कोई साधक भूमिका नहीं निभाते, वे केवल कौतूहल या कौतुक की सृष्टि करते हैं। साथ ही इन नाटक-कारो मे अनुकरण की प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है। कुछ अतिप्राकृत तत्त्व जिनकी रूढिबद्धता भवभूति के नाटको मे ही स्पष्ट होने लगी थी इन नाटककारों की कृतियो मे लगभग पूर्णतया गतानुगतिकता मे बदल गई है। परवर्ती सस्कृत नाटको मे,

कुछेक अपवादों को छोड़कर, यही प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती हुई एक स्थायी वृत्ति बन गई है। यही कारण है कि उत्तर के नाटकों में पूर्ववर्ती नाटकों के अतिप्राकृत तत्वों की कहीं स्पष्ट और कहीं अस्फुट प्रतिध्वनियाँ सुनाई देती हैं। ये परवर्ती नाटक जिस तरह अन्य तत्वों की दृष्टि से रूढ़िग्रस्त व परम्परानुगामिक हो गये उसी प्रकार अतिप्राकृत तत्वों के प्रयोग में भी। इन्होंने अधिकतर इन तत्वों के परम्परागत रूप को ही अपनाया तथा कुछ स्थितियों में इन्हें हास्यास्पद अतिरेक पर पहुंचा दिया। इस विषय में राक्षसी माया या रूप-परिवर्तन के अतिप्राकृत अभिप्राय का उल्लेख किया जा सकता है। रामकथा पर आधारित परवर्ती नाटकों में इस अभिप्राय को अतीव अस्वाभाविक परिस्थिति पर पहुंचा दिया गया है। यों तो अतिप्राकृत पौराणिक कथाओं को लेकर बाद में भी नाटक लिखे जाते रहे पर जैसे कालिदास व भवभूति की कृतियों में पौराणिक कल्पनाएँ जिस प्रकार जीवित तत्व व लोक-विश्वासों की भरी रही हैं वैसी परवर्ती नाटकों में नहीं। इनमें ये कल्पनाएँ भी प्रायः रूढ़िग्रस्त हो गई हैं।

संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्वों में निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—शाप और वरदान, रूपपरिवर्तन या रूप परकायप्रवेश अशरीरिणी या दिव्य वाणी, देवता का नियम, पुनर्जीवन, तिरस्करिणी, शिखाबन्धिनी जनन्मिनी, दिव्यास्त्र व तन्त्र-मन्त्र आदि विद्याओं के अलौकिक चमत्कार, अदृश्य आकाशगमन व लोक-लोकान्तरों की यात्रा, ईश्वरत्व को सिद्ध करने वाली चामत्कारिक घटनाएँ, मानव कार्यों में दैवी शक्तियों का हस्तक्षेप, अनुग्रह या साहाय्य, स्वप्न में दैवी निर्देश, योग साधना तपस्या आदि से उपलब्ध अलौकिक शक्तियाँ जैसे भूत-भविष्य का ज्ञान, दूरस्थ विषयों व घटनाओं का ज्ञान व सिद्धियाँ आदि अलौकिक रूपविद्या या स्थापन, दैवी अनुमोदन व प्रसन्नता की सूचक घटनाएँ (पुष्पवृष्टि, दुन्दुभिवादन आदि), लोकोत्तर प्रभाव से सम्पन्न अस्त्र अद्भुत वस्तुएँ जैसे अंगुलीयक, मणि, दर्पण आदि; दिव्य लोक व आश्रम आदि। इनके अतिरिक्त संस्कृत नाटकों में अनेक प्रकार के अतिप्राकृत पात्रों की भी विस्तृत योजना मिलती है। इन पात्रों में अवतारी पुरुष, देवता, देवदूत, अवरदेवता—गन्धर्व अप्सरा विद्याधर आदि, अशुभ शक्तियाँ—असुर, राक्षस, भूत-प्रेत पिशाच आदि दिव्य ऋषि, लोकातीत शक्ति से सम्पन्न मानव पात्र, आध्यात्मिक सिद्धियों से युक्त मानव महर्षि, प्राकृतिक देवता (नदी-देवता, वन देवता आदि) व प्रतीकात्मक अलौकिक पात्र आदि प्रमुख हैं। कुछ अतिप्राकृत तत्वों का लोकविश्वासों के द्वारा भी संकेत दिया गया है। इनमें शकुन, भाग्य या दैव, कर्मविपाक, सिद्धादेश, दोहद आदि से सम्बन्धित विश्वास उल्लेख्य हैं। संस्कृत नाटकों में इन विभिन्न तत्वों का विविध उद्देश्यों के लिए तथा विविध पद्ध-

तियो से प्रयोग किया गया है । ये तत्त्व प्राय नाटक मे गृहीत पारम्परिक व प्रख्यात कथा के रूढ अंगो के रूप मे प्रयुक्त हुए है । इनके प्रयोग द्वारा नाटककार ने कथा के परपरागत रूप को अविकल रखने का यत्न किया है । कालिदास व भवभूति जैसे प्रतिभाशाली नाटककारो ने कथा के पारम्परिक रूप को ग्रहण करते हुए भी उन्हे अपने विशिष्ट नाटकीय प्रयोजनो के अनुसार नूतन रूप मे ढालने का सराहनीय प्रयत्न किया है । इस उद्देश्य के लिए उन्होने या तो मूलकथा के अतिप्राकृत तत्त्वों का ही नूतन रूप मे सयोजन किया है या सर्वथा नये तत्त्वो की योजना की है। उनकी प्रतिभा के स्पर्श से परपरागत अतिप्राकृत तत्त्व भी प्रभाव अर्थ मे युक्त होकर मौलिक उद्भावनाओ मे बदल गये हैं किंतु मुरारि, राजशेखर आदि अनेक परवर्ती नाटककारो ने केवल कथा के रूढ अग के रूप मे ही उनका विन्यास किया है । इन नाटककारो ने जहा अतिप्राकृत तत्त्वो की नूतन कल्पना की है, वहा वे उन्हे नाटकीय सरचना का अभिन्न अग नही बना सके है । उनका उद्देश्य केवल कथा-प्रवाह को कौतूहलपूर्ण व विस्मयजनक बनाना है ।

संस्कृत नाटककारो ने परपरागत कथाओ को अपने नाटकीय ध्येयो के अनुरूप परिवर्तित करने, उनके नाटकीय विनियोग की सिद्धि, अप्रस्तुतो को सोद्देश्य बनाने एव विशेष रूप से उनके अन्तिम भाग (निर्वहण सधि) का अद्भुत रस की सृष्टि द्वारा चमत्कारपूर्ण रूप देने के लिए इन तत्त्वो का प्रयोग किया है । अनेक नाटकों मे ये तत्त्व कथा मे जटिलताओ की सृष्टि करके मानव के आकस्मिक भाग्य-विपर्यय व जीवन के कष्टक्लेश व सघर्षमय पक्षो के चित्रण मे सहायक होते हैं और साथ ही उन जटिलताओ को सुलझाने, कष्ट-क्लेशो का निवारण करने व नाटकीय कथा के दुःखोन्मुख घटनाचक्र को सुखान्त परिणति पर पहुचाने मे भी इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है । संस्कृत नाटकों मे प्रारम्भ से ही सुखान्तता की सर्वमान्य परपरा रही है जिसके मूल मे एक आदर्शवादी नैतिक आग्रह के साथ साथ मानवीय शुभ सकल्पो व सत्प्रयासो की अन्तिम सफलता, दैवी व्यवस्था की न्यायशीलता, कर्म सिद्धान्त मे दृढ आस्था तथा काव्य के उद्देश्य के विषय मे आनन्दवादी दृष्टिकोण निहित है । इस सुखान्तता को व्यावहारिक रूप देने के लिए संस्कृत नाटककारो ने प्राय अतिप्राकृत तत्त्वो का आश्रय लिया है । ये तत्त्व कभी तो नाटकीय घटनाचक्र से स्वभावत निःसृत होते हैं और कभी उनका बाहर से आरोपण किया जाता है, जो कुछ स्थितियो मे नाटक की कथा से बहिर्भूत या दूरत सम्बद्ध दैवी शक्तियो के आकस्मिक व अकल्पित हस्तक्षेप व अनुग्रह आदि के रूप मे होता है । इस दूसरी स्थिति मे प्राय नाटक का अन्त कृत्रिम व आरोपित हो जाता है तथा वह अभीष्ट नाटकीय प्रभाव की सृष्टि नहीं करता । भास के अविमारक, हर्ष के नागानन्द व

क्षेमीश्वर के चण्डकौशिक का इसके उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। कुछ अतिप्राकृत तत्त्वों का प्रयोग मात्र सूचना देने के लिए किया जाता है। रंगमंच पर जिन घटनाओं को साक्षात् प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, फिर भी नाट्यवस्तु के विभिन्न भागों को शृंखलित करने के लिए जिनका ज्ञान आवश्यक है उनकी सूचना के लिए नाटककारों ने या तो विद्याधर, गन्धर्व आदि दिव्य पात्रों के वार्तालाप की योजना की है या इन्द्रजाल, दर्पण, आदि अद्भुत उपायों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार पात्रों के प्रत्यभिज्ञान, विस्मृत घटनाओं की पुनः स्मृति, मूलरूप की प्राप्ति, नाटकीय कथा के गतिरोध की समाप्ति, दूरवर्ती घटनाओं व विषयों का साक्षात् ज्ञान आदि उद्देश्यों के लिए अद्भुत प्रभाव से युक्त अगूठी मणि दर्पण आदि का नाटककारों ने आश्रय लिया है जिनका विवरण हम विभिन्न नाटकों के प्रसंग में हम दे चुके हैं।

अतिप्राकृत तत्त्वों की योजना का एक उद्देश्य नाटक के दिव्य या अतिमानवीय पात्रों को पौराणिक विश्वासों के अनुरूप ढालने के लिए उसमें लोकोत्तर विशेषताओं का आधान करना है। दिव्य पात्रों के सदर्भ में प्रायः उनकी अदृश्यता विद्याओं के ज्ञान, प्रणिधान-शक्ति, आकाश-गमन, विमानों द्वारा लोकलोकान्तरों की यात्रा, आलोकमय व्यक्तित्व, भूत-भविष्य का ज्ञान, शाप, वरदान व अनुग्रह की शक्ति आदि का निर्देश किया गया है। कालिदास व भवभूति जैसे प्रवीण नाटककारों ने दिव्य पात्रों की इन विशेषताओं व शक्तियों का नाटक में कलात्मक प्रभावों की सृष्टि के लिए बड़ी सफलता के साथ विनियोग किया है।

पात्रों के चारित्रिक परिष्कार या अनुचित आचरण के समाधान के लिए भी इन अलौकिक तत्त्वों का सहारा लिया गया है। भास के 'अविमारक', कालिदास के 'शाकुन्तल', भट्ट नारायण के 'वेणीसंहार', भवभूति के 'महावीरचरित' एवं मुरारि व राजशेखर के नाटकों में प्रयुक्त शाप, परकाय-प्रवेश आदि तत्त्वों में यह उद्देश्य देखा जा सकता है। पात्रों के विशिष्ट मनोभावों को पृष्ठभूमि देने, उनके खंडित भावात्मक ऐक्य को पुनः स्थापित करने एवं प्रणय की पवित्र व आदर्शात्मक स्थिति का दर्शन कराने के लिए भी अतिप्राकृत तत्त्वों का अनेक रूपों में प्रयोग किया गया है। 'विक्रमोर्वशीय' में उर्वशी का कार्तिकेय के नियम से लतारूप में परिवर्तन, 'शाकुन्तल' में दुर्वासा का शाप तथा 'उत्तररामचरित' में सीता की अदृश्यता आदि तत्त्वों को इस कोटि में गिना जा सकता है। अनेक नाटकों में रस-वैचित्र्य की निष्पत्ति के लिए या चरम स्थिति पर पहुंचे हुए भावविशेष को विश्रान्ति देने के लिए व पात्रों की विशेष मनःस्थिति को दिशान्तर देने के लिए भी अतिप्राकृत तत्त्वों की योजना की गई है। इसके उदाहरण के रूप में शाकुन्तल में 'स्त्री-संस्थान ज्योति' द्वारा शकुन्तला के अपनयन तथा उसी के षष्ठ अंक में मातलि द्वारा किया गया कौतुककर्म उक्त उद्देश्यों से प्रेरित कहे जा सकते हैं।

शकुन आदि लोक-विश्वास भावी शुभ या अशुभ की सूचना देकर पात्रों व प्रेक्षकों के मन में उनके लिए पूर्व प्रत्याशा जागृत करते हैं जिससे शुभ या अशुभ घटना सर्वथा आकस्मिक व अप्रत्याशित नहीं रहती। जो शारीरिक विकार या प्राकृतिक परिवर्तन शकुन मान गए हैं वे स्वयं तो प्राकृतिक ही हैं पर उनमें भावी शुभ या अशुभ का संकेत देने की जो योग्यता मानी गई है वह अतिप्राकृत कल्पना है। मानव जीवन में आने वाली विपत्तियों, दुःखद स्थितियों व अप्रत्याशित घटनाओं की व्याख्या या समाधान के लिए दैव, कर्म, नियति, भवितव्यता आदि से सम्बन्धित लोक-विश्वासों का नाटकों में स्थान स्थान पर उल्लेख किया गया है। कालिदास व भवभूति ने प्रकृति व मनुष्य के स्नेहपूर्ण आत्मीय सम्बन्ध या उनके अन्तर्निहित भाव-समवाद का दर्शन कराने के लिए भी कतिपय अतिप्राकृत तत्त्वों का चित्रण किया है। इनमें उर्वशी का लतारूप में परिवर्तन, कण्वाश्रम के वनदेवताओं द्वारा शकुन्तला को वस्त्र व आभूषणों का उपहार, आकाश में गुंजित उनके आशीर्वचन, तथा उत्तररामचरित में वनदेवियों व नदीदेवताओं की मानव-व्यापारों में स्नेह व अनुग्रह से पूर्ण भूमिका आदि इसी प्रकार के तत्त्व हैं।

संस्कृत नाटककारों ने अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग के लिए अनेक प्रकार की पद्धतियाँ अपनाई हैं। कभी ये तत्त्व स्थूल व प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं और कभी उनकी सूचना मात्र दी जाती है। पौराणिक कथाओं पर आधारित नाटकों में इन तत्त्वों का प्रायः स्थूल रूप में विनियोग हुआ है, जैसे कालिदास के नाटकों में दिव्य पात्रों के सन्दर्भ में आकाशगमन, अदृश्यता, लोकलोकान्तरों की यात्रा आदि तत्त्वों को स्थूल रूप में उपस्थित किया गया है। दिव्य पात्र साक्षात् रूप में मानव-जगत् में अवतीर्ण होकर उनके कार्यों में सम्मिलित होते हैं या कठिनाई के समय प्रत्यक्ष सहायता देकर उन पर अनुग्रह दिखाते हैं। कुछ नाटकों में दिव्य पात्र स्वयं प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित नहीं होते, वे अपने दूत या संदेश-वाहक के द्वारा नाटकीय घटनाचक्र को प्रभावित करते हैं। विक्रमोर्वशीय व शाकुन्तल में देवराज महेन्द्र की भूमिका इसी प्रकार की है। कुछ अतिप्राकृत तत्त्व अलक्ष्य व रहस्यमय रूप में नाटकीय व्यापार को निर्देशित करते हैं, जैसे—कालिदास के नाटकों में भरत व दुर्वासा के शाप व कार्तिकेय का नियम। कुछ अद्भुत वस्तुएँ जैसे—अंगूठी, मणि, रक्षासूत्र, आदि इसी श्रेणी में आते हैं। उनकी अलौकिक प्रभावशीलता में ऋषि-मुनियों की आध्यात्मिक सिद्धियों की अदृश्य भूमिका का संकेत दिया गया है।

नाटकीय कथा में अतिप्राकृत तत्त्वों का विनिवेश दो रूपों में प्राप्त होता है। कभी ये नाटकीय संरचना के अविभाज्य अंग होते हैं तथा उनके प्रकटीकरण में आकस्मिकता का तत्त्व होने पर भी उनकी उचित पृष्ठभूमि का पूर्व निर्देश किया

जाता है। किन्तु कभी ये तत्त्व नाट्यवस्तु में सर्वथा असम्बद्ध होते हैं एवं बाहर से आरोपित किये जाकर नाटकीय घटनाचक्र को असम्भाव्य व अस्वाभाविक दिशा में परिवर्तित कर देते हैं। अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग की यह पद्धति नाटककार के अकौशल को ही सूचित करती है।

हम इंगित कर चुके हैं कि संस्कृत नाटकों में बहुत-सी अतिप्राकृत घटनाओं की सूचनामात्र दी जाती है, उन्हें मंच पर प्रत्यक्ष उपस्थित नहीं किया जाता। मालविकाग्निमित्र में अशोक वृक्ष में दोहद द्वारा पुष्पागम, विक्रमोर्वशीय में भरत का शाप, उर्वशी का रूप-परिवर्तन तथा शाकुन्तल में राक्षस-विघ्न, अशरीरिणी वाणी वनदेवताओं का उपहार तथा स्त्रीसंस्थानज्योति आदि तत्त्व कथा-विकास में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी केवल सूच्य रूप में निर्दिष्ट हैं। इस पद्धति के प्रयोग के कई कारण सम्भव हैं। इनमें से प्रमुख कारण यह है कि नाटकीय कथा में इन तत्त्वों की सहायक व गौण भूमिका है। ये तत्त्व या तो कथावस्तु की पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं या उसके महत्त्वपूर्ण अंशों को एकसूत्रता प्रदान करते हैं अथवा उसके विकास को विशिष्ट दिशा निर्देशित करते हैं। अतः यह उचित ही है कि नाटककार उन्हें पृष्ठभूमि में रखते हुए उनकी केवल सूचना देता है। दूसरा कारण नाट्यशास्त्रीय विधानों तथा रंगमंच की सीमाओं से सम्बन्धित है। नाट्यशास्त्र में कुछ अद्भुत व दिव्य घटनाओं को रंगमंच पर प्रस्तुत करने का निषेध किया गया है। कुछ अतिप्राकृत तत्त्व स्वभावतः ऐसे हैं जिनका मंचीय प्रदर्शन सम्भव प्रतीत नहीं होता। तीसरा कारण यह हो सकता है कि नाटककार इन तत्त्वों को अप्रत्यक्ष रखकर ही सामाजिकों में कौतूहल व रहस्य की भावना को तीव्रता देना चाहता है। ऐसे तत्त्वों के मंचीय प्रदर्शन में कभी-कभी यह खतरा रहता है कि उनकी प्रत्यक्ष योजना सहृदय सामाजिकों के अविश्वास का कारण न बन जाए। कुछ अतिप्राकृत तत्त्व जैसे पाप, कर्मविपाक, भाग्य या दैव आदि स्वभावतः अमूर्त शक्तियाँ हैं, जो मानव व्यापारों को प्रभावित व निर्देशित करते हुए भी स्वयं अगोचर रहती हैं। यह स्पष्ट है कि इन परिस्थितियों की अप्रत्यक्षता के कारण कुछ संस्कृत नाटकों में संघर्ष का तत्त्व पूरी तरह नहीं उभर पाता। पर यह स्मरणीय है कि संघर्ष का चित्रण संस्कृत नाटक का अन्तिम ध्येय नहीं है अपितु जीवन के द्वन्द्व, दुःख व दुर्भाग्य को मानवता आनन्दमय व प्रशान्तिपूर्ण परिणति पर पहुँचना है।

संस्कृत नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्वों के चित्रण की प्रतीकात्मक पद्धति भी यदा-कदा अपनायी गई है। नाम ने शाप व उसकी भयावह मछली को प्रेम के आसन्न विनाश के प्रतीक के रूप में अंकित किया है। शाकुन्तल में दुर्वासा का शाप शकुन्तला के प्रतिकूल दैव या कर्मविपाक का प्रतीक कहा जा सकता है। वनदेवता

नदीदेवता आदि पात्र सम्बन्धित प्राकृतिक तत्त्वों व उनके साथ मानवीय सौहार्द के प्रतीक हैं। इसी प्रकार विभिन्न अवसरों पर आकाश में पुष्प-वृष्टि व दुन्दुभिवादन आदि व्यापार दैवी प्रसन्नता व अभिनन्दन के प्रतीक हैं। इससे सिद्ध है कि संस्कृत नाटककारों ने अतिप्राकृत तत्त्वों का किसी सीमा तक प्रतीकात्मक प्रयोग भी किया है। प्रबोधचन्द्रोदय आदि प्रतीकात्मक नाटकों में मानव मन की निम्न व उदात्त वृत्तियों का संघर्ष चित्रित करते हुए भौतिकता पर आध्यात्मिकता की विजय दिखायी गई है। इन नाटकों के पात्र मानव की विभिन्न सद् व असद् वृत्तियों के प्रतीक हैं।

संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्व अद्भुत, करुण, बीभत्स, भयानक आदि विभिन्न रसों व तत्सम्बन्धी भावों के अभिव्यंजक हैं तथा नाटक की आन्तरिक भावधारा के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इस दृष्टि से उनके विनियोग का एक मनोवैज्ञानिक पक्ष भी है। *भारतीय परम्परा में रस काव्य का चरम साध्य माना गया है,* अतः अतिप्राकृत तत्त्वों के मनोवैज्ञानिक पक्ष का संस्कृत नाटक में विशिष्ट महत्त्व है।

संस्कृत नाटकों में कुछ अतिप्राकृत तत्त्व रूढिबद्ध हो गये हैं। कुछ विशेष कथाओं व प्रसंगों में तथा विशिष्ट प्रयोजनों से ये तत्त्व प्रायः दोहराये जाते हैं। इनमें निम्नलिखित तत्त्व विशेषतः उल्लेखनीय हैं, जैसे—शाप, वरदान, रूपपरिवर्तन, राक्षसी-माया, परकाय प्रवेश, दिव्य प्राणियों का मर्त्यलोक में आगमन, असुरों से युद्ध के लिए मानव राजा की स्वर्ग यात्रा, दिव्य पात्रों का ज्योतिर्मय व्यक्तित्व, आकाश-गमन, अदृश्यता, दिव्यास्त्रों का अलौकिक प्रभाव, आकाशवाणी या दिव्यवाणी, मानव कार्यों में दैवी हस्तक्षेप या अनुग्रह, दिव्य पात्रों की विमान यात्रा, विशेष अवसरों पर देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि व दुन्दुभिवादन, अद्भुत वस्तुओं—जैसे अंगूठी, मणि आदि द्वारा प्रत्यभिज्ञान, सुदूर वस्तुओं का ज्ञान या मूल रूप की प्राप्ति, नाटक के अन्तिम भाग (निर्वहण संधि) में अतिप्राकृत तत्त्वों पर आधारित अद्भुत रस की योजना, दिव्य पात्रों के वार्तालाप द्वारा युद्ध का वर्णन, पात्रविशेष के चरित्र के परिमार्जन के लिए अतिप्राकृत तत्त्वों की कल्पना, सिद्धादेश, नेत्र स्फुरण, बाहु-स्फुरण आदि की शुभाशुभ सूचकता, श्मशान-वर्णन के प्रसंग में भूत-प्रेत, पिशाच आदि अतिप्राकृत तत्त्वों का बीभत्स व रौद्र चित्रण, दोहद द्वारा पुष्पोद्गम आदि।

उक्त तत्त्वों के रूढिबद्ध होने के दो कारण प्रतीत होते हैं। प्रथम कारण यह है कि अधिकांश संस्कृत नाटक महाकाव्यों, पुराणों व लोककथाओं के प्रख्यात इति-वृत्तों पर आधारित हैं। अतिप्राकृत तत्त्व किसी न किसी रूप में इन मूल इतिवृत्तों के अंग रहे हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उन पर आधारित नाटकों में भी ये ग्रहण किये जाएं। उदाहरण के लिए रामायण पर आधारित नाटकों में अहल्योद्धार, ताड़का वध, शिव धनुष-भंग, सेतुबंध आदि कितने ही अतिप्राकृत प्रसंग

मूलकथा में लिये गए हैं। यदि इन तत्त्वों को ग्रहण न किया जाता तो मूलकथा के परंपरागत स्वरूप की क्षति होती। इसलिए नाटककारों ने जहां तक संभव हुआ है, मूल कथाओं के प्रमुख प्रसंगों में बहुत कम परिवर्तन किये हैं।

दूसरा कारण संस्कृत नाटक की धार्मिक, दार्शनिक व पौराणिक पृष्ठभूमि है। प्राचीन साहित्य की प्रधान प्रेरणा धार्मिक व दार्शनिक विश्वास तथा पौराणिक कल्पनाएं थीं। संस्कृत के अधिकांश नाटक इन्हीं विश्वासों व कल्पनाओं के प्रभाव में लिखे गए। अतः इनमें भी अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि से ये तत्त्व अधिकांश नाटककारों द्वारा ग्रहण किये गए जिससे इनके प्रयोग में रूढ़िबद्धता आ गई।

तीसरा कारण संस्कृत नाटक की नाट्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि है जिसका विस्तृत विवरण दूसरे अध्याय में दिया जा चुका है। रूपक के कतिपय प्रकारों में दिव्य पात्रों की योजना, निर्वहण संधि में अद्भुत तत्त्वों का समावेश, युद्ध के मर्यादित प्रदर्शन का निषेध, नाटक की सुखान्तता आदि से सम्बन्धित नाट्यशास्त्रीय विधानों ने भी संस्कृत नाटकों में कतिपय अतिप्राकृत तत्त्वों के रूढ़िग्रस्त होने में योग दिया है।

चौथा कारण संस्कृत के परवर्ती नाटककारों द्वारा पूर्ववर्ती नाटकों के अनुकरण की प्रवृत्ति है। हम बता चुके हैं कि भवभूति के पश्चात् संस्कृत नाटक के सभी क्षेत्रों में ह्रास की प्रवृत्तियां चरम स्थिति पर पहुंच गई थीं और अनुकरण की प्रवृत्ति उसी का एक प्रमुख लक्षण है। जहां पूर्व नाटककारों ने अपनी कृतियों में अतिप्राकृत तत्त्वों का नाटकीय दृष्टि से सार्थक व कलात्मक प्रयोग किया था वहां परवर्ती नाटककारों ने अधिकतर अनुकरण के रूप में ही इन तत्त्वों को ग्रहण किया, वे इन्हें वैसी सार्थकता व कलात्मकता प्रदान नहीं कर सके।

पांचवां कारण नाटकों पर संस्कृत काव्य की अन्यान्य विधाओं का प्रभाव माना जा सकता है। अतिप्राकृत तत्त्व सदा से ही भारतीय साहित्य में परंपरया प्रयुक्त होते रहे हैं तथा उनमें से अनेक साहित्य की विभिन्न विधाओं में रूढ़िबद्ध हो चुके थे। अतः नाटकों में भी उनका यह रूढ़िबद्ध रूप गृहीत हुआ।

आधुनिक विद्वानों द्वारा प्रायः यह यह आरोप लगाया जाता है कि संस्कृत नाटक में अतिप्राकृत तत्त्वों के बहुल प्रयोग से उसमें एक कल्पित व अवास्तविक वातावरण की सृष्टि हुई है तथा जीवन का यथार्थ चित्रण उपेक्षित रहा है। पहली बात तो यह है कि यह आरोप सभी नाटकों पर लागू नहीं होता। संस्कृत में मृच्छकटिक व मुद्राराक्षस जैसे नाटक भी हैं जिनमें कथा, पात्र व परिवेश सभी पूर्णतया लौकिक व मानवीय हैं। उक्त आक्षेप केवल प्रख्यात व पौराणिक कथाओं पर आधारित नाटकों के विषय में किया जा सकता है। आधुनिक दृष्टि से यह आरोप

किसी सीमा तक सत्य प्रतीत होता है किन्तु यह दृष्टि प्राचीन साहित्य की वास्तविक चेतना को हृदयंगम करने में हमारी विशेष सहायता नहीं करती। इसके लिए हम उन धार्मिक, दार्शनिक व पौराणिक विश्वासों को समझना होगा जिनके परिप्रेक्ष्य में संस्कृत के अधिकांश नाटकों की रचना हुई थी। हम पहले बता चुके हैं कि प्राचीन मनुष्य प्राकृत व अतिप्राकृत को दो पृथक् कोटियाँ नहीं मानता था। उसकी दृष्टि में ये दोनों एक ही विश्व में साथ-साथ रहने वाले, परस्पर सौहार्द, सहयोग व आदान-प्रदान के नाना संबंधों में बंधे तथा एक-दूसरे को पद-पद पर प्रभावित करने वाले तत्त्व थे। सृष्टि के प्राकृतिक कार्य कलापों में भी उसे अतिप्राकृत शक्तियों की अनुभूति होती थी और जिन तत्त्वों को आज हम अतिप्राकृत कहते हैं उन्हें वह अपने प्राकृत व लौकिक जीवन का ही सहज व स्वाभाविक अंग मानता था। इस जीवन दृष्टि के आलोक में विचार करने पर आधुनिक विद्वानों का पूर्वोक्त आरोप यदि निराधार नहीं तो एकांगी अवश्य कहा जा सकता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संस्कृत नाटकों में अतिप्राकृत तत्त्वों का बाहुल्य होने पर भी उनका प्रमुख प्रतिपाद्य मानव ही है। नाट्यशास्त्र व स्वयं नाटकों का साक्ष्य इस बात की पुष्टि करते हैं। भरत व अभिनवगुप्त ने रूपक के प्रधान भेद नाटक में दिव्य नायक का निषेध किया है तथा केवल आश्रय के रूप में उसका विधान किया है। इससे स्पष्ट है कि नाटक में दैवी पात्र व तत्सम्बन्धी अतिप्राकृत तत्त्वों की भूमिका केवल सहायक की होती है। इससे यह सिद्ध है कि उसमें मानव व्यापार व चरित्र ही प्रधान हैं। हम देखते हैं कि दैवी अनुग्रह हस्तक्षेप आदि अतिप्राकृत व्यापार नायक की लौकिक फल-प्राप्ति में सहायता मात्र करते हैं। जैसा कि हम बता चुके हैं शाप, रूप परिवर्तन परकाय प्रवेश, आदि अति-प्राकृत तत्त्वों का प्रयोग भी प्रायः मानव-चरित्र के सौंदर्योद्घाटन, उन्नयन व परिष्कार के लिए किया गया है।

इसके अतिरिक्त नाटकों में अतिप्राकृत पात्र यद्यपि अतिमानवीय विशेषताओं से युक्त होने पर भी स्वभाव व शील की दृष्टि से मानवचरित्र का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। वे केवल बाह्य व्यक्तित्व की दृष्टि से अतिप्राकृत हैं, यदि उनके इस परिच्छद को हटा दिया जाए तो उनमें व नाटक के मानव पात्रों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। अतः कुछ विद्वानों का यह आक्षेप कि अतिप्राकृत पात्रों व अन्य तत्त्वों के प्राचुर्य के कारण संस्कृत नाटक में मानवीय अभिरुचि की सामग्री का अभाव है तथा उसमें हमें प्रेरणा देने की शक्ति भी नहीं है, ठीक नहीं कहा जा सकता।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में हमने संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों की वैचारिक व नाट्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि के आलोक में उनके स्वरूप व नाटकीय विनियोग

की दिशाओं का विस्तृत विवेचन किया। जहाँ तक सम्भव हुआ, हमने अपने विषय के सभी सम्बन्धित पक्षों को अपने अध्ययन में सम्मिलित किया है। फिर भी अतिप्राकृत तत्त्वों के कुछ ऐसे पक्ष हैं जिनका हमारे अध्येय विषय से प्रत्यक्ष व घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है, जैसे—(क) संस्कृत नाटकों में या सामान्यतः संस्कृत साहित्य में प्राप्त अतिप्राकृत तत्त्वों का समाजशास्त्रीय नृतत्त्वशास्त्रीय धार्मिक मनोवैज्ञानिक आदि दृष्टियों से अध्ययन, (ख) पाश्चात्य व संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अतिप्राकृत तत्त्वों के स्वरूप व विनियोग का तुलनात्मक अध्ययन एवं (ग) संस्कृत साहित्य की नाटकेतर विधाओं में प्राप्त अतिप्राकृत तत्त्वों का अनुसंधान व अनुशीलन। इन पक्षों का जहाँ तक हमारे अध्येय विषय से सम्बन्ध था हमने यथास्थान उनकी न्यूनाधिक चर्चा की है पर अपने विषय की सीमाओं को देखते हुए इनके विस्तार में जाना हमें अपेक्षित नहीं रहा है। इन अतिप्राकृत तत्त्वों के उक्त पक्ष भावी शोधकर्ताओं के लिए अनुसंधान व अध्ययन का क्षेत्र प्रस्तुत करते हैं।

प्रमुख सहायक ग्रन्थ

(क) संस्कृत ग्रन्थ

अथर्ववेद

अद्भुतदर्पण — महादेव, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३८

अनर्घराघव — मुरारि, निर्णयसागर प्रेस, पंचम संस्करण, १९३७

" — संपा० व व्याख्या० रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा, वाराणसी, १९६०

अभिज्ञानशाकुन्तल — कालिदास, संपा० एम० आर० काले मोतीलाल बनारसीदास, दशम संस्करण, दिल्ली, १९६९

" — संपा० *नारायण राम आचार्य, निर्णयसागर प्रेस*, एकादश संस्करण, बम्बई, १९४७

" — संपा० एस० के० बेल्वलकर, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, १९६५

" — संपा० सी० आर० देवधर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६

अलंकारसर्वस्व — रुय्यक, संपा० गिरिजाप्रसाद द्विवेदी निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३९

" — संजीवनी सहित, संपा० व अनु० डा० रामचन्द्र द्विवेदी, *मोतीलाल बनारसीदास*, १९६५

अष्टाध्यायी — पाणिनि, वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई, सं० १९५४

आश्चर्यचूडामणि — शक्तिभद्र, एस० कुप्पुस्वामिशास्त्री की भूमिका सहित, मद्रास, १९२६

उत्तररामचरित — भवभूति, (सपा० वी० वी० काणे) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८२

„ — भवभूति, (सपा० टी० आर० रत्नम् ऐयर एवं वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर) पंचम संस्करण निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९१५

उन्मत्तराघव — भास्कर कवि, तृतीय संस्करण निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२५

उपनिषद्-भाष्य — शंकराचार्य, भाग १-४, गीताप्रेस, गोरखपुर

उल्लाघराघव नाटक — सोमेश्वर देव, (सपा० मुनिपुण्यराज व भोगीलाल जयचन्द भाई) ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९६१

ऋग्वेद

कथासरित्सागर — सोमदेव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०

„ — १-२ खंड, सपा० व अनु० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९६०, १९६१

कर्णसुन्दरी — बिल्हण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १८८८

कर्पूरमंजरी व बालभारत — राजशेखर, (सपा० दुर्गाप्रसाद व काशीनाथ पाण्डुरंग परब) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ,१९००

कर्पूरमंजरी — राजशेखर (सपा० एम० कोनो० व सी० आर० लानमैन) हावर्ड ओरियंटल सीरीज, सं० ४ मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३

„ — सपा० रामकुमार आचार्य, चौखम्बा, वाराणसी, १९७०

कालिदास-साहित्य — डा० आद्याप्रसाद मिश्र, कामेश्वर सिंह संस्कृत पुस्तकालय, दरभंगा, १९६२ ई०

काव्यप्रकाश — मम्मट, बालबोधिनी सहित (सपा० रघुनाथ दामोदर करमारकर), भंडारकर ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, सप्तम संस्करण, १९६५

काव्यादर्श — दण्डी, (सपा० एस० के० बेल्वलकर) दि ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९२४

काव्यानुशासन — हेमचन्द्र, (सपा० रसिकलालपारिख), श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९३८

काव्यालकार — भामह, (सपा० व अनु० देवेन्द्र नाथ शर्मा), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६२

काव्यालकारसूत्रवृत्ति — वामन, (सपा० आशुतोष विद्या भूषण व नित्यबोध विद्यारत्न) कलकत्ता, १९२२

कुन्दमाला — दिङ्नाग, (सपा० डा० कालीकुमार दत्त) सस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९६४

कुमारसभव — कालिदास, सजीवनी टीका सहित

कुवलयावली अथवा रत्नपाचालिका — शिंग भूपाल, (सपा० एल० ए० रविवर्मा), त्रिवेन्द्रम, सस्कृत सिरीज स० १४५, त्रिवेन्द्रम, १९४१

कसवध — शेष कृष्ण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९४

चण्डकौशिक — क्षेमीश्वर, (व्याख्या० जगदीश मिश्र) चौखम्बा, वाराणसी, १९६५

चन्द्रकला — विश्वनाथ कविराज,(स० प्रा० बाबूलाल शुक्ल) चौखबा, वाराणसी, १९६७

चन्द्रलेखा (सट्टक) — रुद्रदास, (सपा० डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये) भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९६७

जानकीपरिणय — रामभद्र दीक्षित, (सपा० गणेशशास्त्री लेले) दक्षिण प्रेस कमेटी, बम्बई द्वितीय सस्करण, १८९६

दशरूपक (सावलोक) — धनजय, (व्याख्या० डा० भोलाशकर व्यास) चौखम्बा वाराणसी, १९७५

दूताङ्गद — सुभट, (सपा० व व्याख्या० अनन्तराम शास्त्री) चौखम्बा बनारस, १९५०

धनजयविजय — काचानचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९११

ध्वन्यालोक — आनन्दवर्धन, लोचन व बालप्रिया सहित, चौखम्बा, वाराणसी, १९४०

नागानन्दनाटक — हर्ष, (व्याख्या० बलदेव उपाध्याय) चौखम्बा वाराणसी, १९५६

नाटकचन्द्रिका — रूप गोस्वामी, (व्याख्या० प्रा० बाबूलाल शुक्ल शास्त्री) चौखम्बा, वाराणसी, १९६४

नाटकलक्षणरत्नकोश — सागर नदी, (व्याख्या० प्रो० बाबूलाल शुक्ल) चौखम्बा, वाराणसी, १९७२

नाट्यदर्पण (प्रथम भाग) रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र, संपा० गजानन कुशव श्रीगोंडेकर एवं लालचन्द्र भगवान् गांधी, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९२९

नाट्यशास्त्र भरतमुनि, अभिनवभारती-सहित, भाग १–४ संपा० एम० रामकृष्ण कवि, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज सं० ३६, ६८, १२४ व १४५, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा क्रमश १९२६, १९३४, १९५४, व १९६४

निघण्टु व निरुक्त लक्ष्मण स्वरूप, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७

नैषधीयचरित श्री हर्ष, नारायण-कृत टीका सहित, संपा० शिवदत्त, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९५२

न्यायभाष्य (न्यायसूत्र सहित) वात्स्यायन, गुजराती मुद्रणयन्त्रालय, बम्बई, १९२२

पद्मपुराण आनन्दाश्रम ग्रंथमाला, पूना

पातञ्जलयोगदर्शन पतञ्जलि, गीता प्रेस, गोरखपुर सं० २०२८

पार्थपराक्रम प्रह्लादनदेव, गायकवाड ओरियण्टल सिरीज सं० ४, बड़ौदा, १९१७

पार्वतीपरिणय (वामन) भट्ट बाण, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९२३

प्रद्युम्नाभ्युदय रविवर्मभूप, संपा० टी० गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, नं० ८, त्रिवेन्द्रम, १९१०।

प्रबोधचन्द्रोदय कृष्णमिश्र, व्याख्या० रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा, वाराणसी, १९५५

प्रभावतीपरिणय हरिहर, संपा० आचार्यरामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा, वाराणसी, १९६६

प्रसन्नराघव जयदेव, व्याख्या० नेपराज शर्मा रेग्मी चौखम्बा, वाराणसी, १९६३

प्रियदर्शिका हर्ष चौखम्बा, वाराणसी, १९५५

बृहत्कथामंजरी क्षेमेन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०१

बृहद्देवता शौनक, भाग १–२, संपा० ए० ए० मैक्डानल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६५

भक्तसुदर्शननाटक मथुराप्रसाद दीक्षित, काशी, १९५४

भगवद्गीता	शाङ्कर भाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर, स० २०२४
भर्तृहरिनिर्वेद	हरिहरोपाध्याय निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९२
भागवतपुराण	१–२ खण्ड, गीता प्रेस, गोरखपुर, स० २०२१
भावप्रकाशन	शारदातनय, गायकवाड ओरियण्टल सिरीज़, स० ४५, बड़ौदा, १९३०
भासनाटकचक्र	भाग १–२, सपा० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा वाराणसी
"	सपा० सी० आर० देवधर, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९६२
मुमारोद्धरण	मथुराप्रसाद दीक्षित, वाराणसेय संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी, स० २०१६
मत्स्यपुराण	आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला, पूना
मन्दारमरन्द चम्पू	कृष्ण कवि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९२४
महानाटक	मधुसूदन मिश्र, व्याख्या० जीवानन्द विद्यासागर, तृतीय सस्करण, कलकत्ता, १९३९
महाभारत	१ से ४ भाग (मूल मात्र) गीता प्रेस गोरखपुर, स० २०१५
महावीरचरित	भवभूति, सपा० व व्याख्या० श्री रामचन्द्र मिश्र चौखम्बा, वाराणसी, १९६८
"	वीरराघव की टीका सहित, सपा० टी० आर० रत्नम् ऐयर, चतुर्थ सस्करण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२६
"	सपा० जीवानन्द विद्यासागर गोवर्धन प्रेस, तृतीय सस्करण, कलकत्ता, १९०६
मार्कण्डेयपुराण	आनन्दाश्रम ग्रंथमाला, पूना
मालतीमाधव	भवभूति, सपा० मगेश रामकृष्ण तेलग, निर्णयसागर प्रेस, १९२६
मालविकाग्निमित्र	कालिदास, सपा० सी० आर० देवधर, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९६६
"	सपा० एम० आर० काले, पचम सस्करण, ए० आर० शेठ एड कम्पनी, बम्बई, १९६४

मुद्राराक्षस — विशाखादत्त, सपा० देवधर व बेडेकर केशव भीकाजी धावले, बम्बई, १९४८

„ — सपा० व व्याख्या० डा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा, वाराणसी, १९६१

मृच्छकटिक — शूद्रक निर्णयसागर प्रेस, अष्टम संस्करण, बम्बई, १९५०

मेघदूत — कालिदास, सजीवनी सहित, सपा० एम० आर० काले०, गोपाल नारायण एव कम्पनी, बम्बई, १९४७

ययातिचरित — रुद्रदेव, सपा० सी० आर० देवधर भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९६५

रघुवंश — कालिदास, चौखम्बा सस्कृत सिरीज, वाराणसी, १९५६

रत्नावली — हर्ष, सपा० रामचन्द्र मिश्र चौखम्बा, वाराणसी, स० २०१०

रसगंगाधर — पंडितराज जगन्नाथ, निर्णयसागर प्रेस, षष्ठ संस्करण, बम्बई, १९४७

रसार्णवसुधाकर — शिंगभूपाल, सागरिका वर्ष ८, अंक १–२ में प्रकाशित, सागरिका समिति, सागर विश्वविद्यालय, सागर

रामायण — वाल्मीकि गीता प्रेस गोरखपुर स० २०२०

रुक्मिणी परिणय — श्रीराम वर्मा निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२७

ललितमाधव — रूप गोस्वामी, सपा० प्रो० बाबूलाल शुक्ल, चौखम्बा वाराणसी, १९६६

वक्रोक्तिजीवित — कुन्तक, सपा० सुशील कुमार दे, कलकत्ता ओरियण्टल सिरीज स० ८, कलकत्ता, १९२३

वायुपुराण — आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला, पूना

विक्रमोर्वशीय — कालिदास, सपा० प्रो० एच० डी० वेलकर साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, १९६१

„ — सपा० व व्याख्या० रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा, वाराणसी, १९६३

विदग्धमाधव — रूप गोस्वामी, सपा० प० रमाकान्त झा, चौखम्बा, वाराणसी, १९७०

विद्धशालभञ्जिका — राजशेखर, व्याख्या पं० रामनाथ शास्त्री, चौखम्बा वाराणसी, १९६५

" — सम्पा० भास्कर रामचन्द्र आर्ते 'आर्यभूषण प्रेस पूना, १८८६

विष्णुपुराण — गीता प्रेस गोरखपुर, पंचम संस्करण सं० १९१८

वीणावासवदत्त — सम्पा० के० वी० शर्मा, कुप्पुस्वामी शास्त्री रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मद्रास, १९६२

वेणीसंहार — भट्ट नारायण, निर्णयसागर प्रेस नवम संस्करण बम्बई १९४०

व्यक्तिविवेक — महिमभट्ट, मधुसूदन विवृति सहित चौखम्बा वाराणसी १९३६

व्याकरणमहाभाष्य — पतञ्जलि, प्रदीपोद्योत सहित मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६७

सत्यहरिश्चन्द्रनाटक — रामचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९२[illegible]

सामवत — अम्बिकादत्त व्यास प्रकाशक—श्री कृष्ण कुमार व्यास, द्वितीय संस्करण, काशी, १९४७

साहित्यदर्पण — विश्वनाथ कविराज, षष्ठ संस्करण निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३६

सिद्धान्तकौमुदी (तत्त्वबोधिनी सहित) — भट्टोजिदीक्षित, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई सं० १९३६

सीताराघव — राम पाणिवाद सम्पा० शूरनाडकुञ्जन, पिल्लै त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, त्रिवेन्द्रम १९५८

सौगन्धिकाहरण — विश्वनाथ, व्याख्या० कपिलदेव गिरि चौखम्बा, वाराणसी, १९६३

सांख्यकारिका (तत्त्वकौमुदी सहित) — ईश्वर कृष्ण काशी संस्कृत सिरीज, सं० १२० चौखम्बा, वाराणसी, १९६३

स्वप्नवासवदत्त — भास, सम्पा० टी० गणपति शास्त्री श्रीधर पावर प्रेस, त्रिवेन्द्रम, १९२४

" — निर्णयसागर मुद्रणालय, द्वितीय संस्करण, बम्बई, १९४८

शतपथ ब्राह्मण — सपा० डा० अल्बेर्त वेबर, चौखम्बा, वाराणसी, १९६४

शंखपराभवव्यायोग — हरिहर, सपा० भोगीलाल जयचन्द भाई साडेसरा गायकवाड ओरियण्टल सिरीज स० १४८, बडौदा, १९६५

हनुमन्नाटक — दामोदर मिश्र, चौखम्बा, वाराणसी, १९६७

हरिवंश पुराण — चित्रशाला प्रेस, पूना, १९३६

(ख) हिन्दी ग्रन्थ

अग्रवाल वासुदेवशरण — प्राचीन भारतीय लोकधर्म, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६४

" — , हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५३

उपाध्याय बलदेव — धर्म और दर्शन, शारदा मन्दिर, काशी, १९६१

" — संस्कृत सुकवि समीक्षा, चौखम्बा, वाराणसी, १९६३

उपाध्याय, रामजी — मध्यकालीन संस्कृत नाटक, संस्कृत परिषद् सागर विश्व-विद्यालय, सागर, १९७४

कविराज, गोपीनाथ — भारतीय संस्कृति और साधना, १–२ खण्ड, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, १९६३

कीथ ए० बी० — संस्कृत नाटक, अनु० डा० उदयभानु सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

" — संस्कृत साहित्य का इतिहास, अनु० डा० मंगलदेवशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, १९६७

कौसल्यायन भदन्तआनन्द — जातक, १–६, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००८

गुप्त, शशिभूषणदास — उपमा कालिदासस्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

चट्टोपाध्याय, सतीशचन्द्र एवं दत्त धीरेन्द्रमोहन — भारतीय दर्शन, अनु० श्री हरिमोहन झा व श्रीनित्यानन्द मिश्र, पुस्तक भंडार, पटना, १९६०

जोशी, उमाशंकर — श्री और सौरभ, अनु० सोमेश्वर पुरोहित, भारतीय ज्ञान-पीठ, वाराणसी, १९६८

जोशी, लक्ष्मणशास्त्री — हिन्दू धर्म की समीक्षा, अनु० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय, बम्बई १९४८

तिवारी, रमाशंकर — महाकवि कालिदास, चौखम्बा, वाराणसी, १९६१

त्रिपाठी, रामानन्द	सत्य शिव सुन्दरम्, प्रथम भाग, भारती मन्दिर, भरतपुर, १९६३
दीक्षित, सुरेन्द्रनाथ	भरत और भारतीय नाट्यकला, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७०
द्विवेदी, रामचन्द्र	अलंकार-मीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६५
द्विवेदी, हजारीप्रसाद	हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९५४
नगेन्द्र	अरस्तू का काव्यशास्त्र, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सं० २०१४
"	सम्पा० हिन्दी नाट्यदर्पण, व्याख्या० आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६१
पाठक, रघुनाथ	षड्दर्शनरहस्य, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५८
पाठक, सर्वानन्द	चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, चौखम्बा, १९६५
बुल्के, फादर कामिल	रामकथा, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९६२
मिश्र, उमेश	भारतीय दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, १९६४
मुकर्जी, राधाकमल	भारत की संस्कृति और कला, अनु० रमेश वर्मा, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
मैक्समूलर, एफ०	धर्म की उत्पत्ति और विकास, अनु० ब्रह्मदत्त दीक्षित, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद, १९६८
राय, द्विजेन्द्रलाल	कालिदास और भवभूति, अनु० पं० रूपनारायण पाण्डेय, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, १९५६
व्यास, भोलाशंकर	संस्कृत कवि दर्शन, चौखम्बा, वाराणसी, १९६१
"	हिन्दी दशरूपक, चौखम्बा, वाराणसी, १९५५
शर्मा, वीरबाला	संस्कृत में एकांकी रूपक, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७२
शास्त्री, नेमिचन्द्र	महाकवि भास, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७२
शुक्ल, हीरालाल	आधुनिक संस्कृत साहित्य, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७१

सत्येन्द्र लोकसाहित्यविज्ञान, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, १६६२

मिश्रा, यदुनाथ भारतीय दर्शन, अनु० डा० गोवर्धन प्रसाद भट्ट, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १६६०

सम्पूर्णानन्द योगदर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, १६६५

साकृत्यायन, राहुल दर्शन दिग्दर्शन, किताब महल, इलाहाबाद, १६४७

सिंह अयोध्याप्रसाद भवभूति और उनकी नाट्य-कला, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १६६६

हिरियन्ना, एम० भारतीय दर्शन की रूपरेखा, अनु० डा० गोवर्धन भट्ट आदि, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली १६६५

(ग) अंग्रेजी ग्रन्थ

Adwal Niti **The Story of King Udayana** Varanasi Chowkhamba Publications 1971

Aurobindo Shri **The Life Divine** New York The Sri Aurobindo Library 1949

Kalidasa (Second Series) Pondicherry Sri Aurobindo Ashram 1954

Ayyar A S P **Bhasa** Indian Men of Letters Series 2nd ed revised Madras-1 V Ramaswamy Sastrulu & Sons 1957

Belvalkar S K (ed) **Rama's Later History or Uttararamacharita** Pt I Introduction and Translation Harvard Oriental Series No 21 Harvard Harvard University Press, 1915

Benson Purnell Handy **Religion in Contemporary Culture** New York Harper Brothers 1960

Bhat V M **Yogic Powers and God Realisation** 2nd ed revised Bombay Bharatiya Vidya Bhawan 1964

Bose Bela **The Dramas of Shri Harsha** Translated into English Allahabad Ketabistan, 1948

Brill, A A **Basic Writings of Sigmund Freud** Random House Inc 1938

Butcher S H **Aristotle s Theory of Poetry and Fine-Art** 2nd ed Translation with Criticalnotes Ludhiana Lyall Book Depot 1968

Chaitanya Krishna **A New History of Sanskrit Literature** Bombay Asia Publishing House, 1962

Sanskrit Poetics A Critical and Comparative Study Bombay Asia Publishing House 1965

Chatterjee, Asoke **Padma-Purana A Study** Calcutta Sanskrit College Research Series No LVIII Calcutta Sanskrit College 1967

Dalal Minakshi **Conflict in Sanskrit Drama** Bombay Somaiya Publications Pvt Ltd 1973

Dandekar R N **Some Aspects of the History of Hinduism** Poona University of Poona 1967

Dange S A **Legends in the Mahabharata** Delhi Motilal Banarsidass 1969

Dasgupta S N and De S K **A History of Sanskrit Literature Classical Period** Vol I 2nd ed Calcutta Uni 1962

Devadnar C R **Works of Kalidasa Dramas** Vol I Delhi Motilal Banarsidass 1966

Dikshit Ratnamayidevi **Women in Sanskrit Dramas** Delhi Meharchand Lachhamanadas 1964,

Durkheim Emile **The Elementary Forms of the Religious Life** Translated by Joseph Ward Swei 5th ed New York The French Press 1968

Dwivedi R C (ed) **Principles of Literary Criticism in Sanskrit** Delhi Motilal Banarsidass 1969

Eddington Asthur **The Nature of Physical World** London J M Dent & Sons Ltd 1955

Frazer, James George **The Golden Bougn** New York The Macmillan Co 1960

Galloway George **The Philosophy of Religion** Reprinted Edinburgh T & T Clerk 1951

Gnosh Juthika **Epic Sources of Sanskrit Literature** Calcutta Calcutta Sanskrit College Series No 22 1963

Chosh Manmohan **Contribution to the History of The Hindu Drama** Calcutta Firma K L Mukhopadhyaya 1958

Haas, George C O **The Das arupa** Columbia University Indo-Iranian Series Vol VII Delhi Motilal Banarsidass 1962

Hackel Ernest **The Riddle of the Universe** 5th ed London The Thinkers Library No 3 1946

Hiriyana M **Indian Philosophical Studies** Mysore Kavyalaya Publishers 1957

Sanskrit Studies 1st ed Mysore Kavyalaya Publishers, 1954

Hocking William, Ernest **Types of Philosophy** revised New York Charles Scribner s Sons 1939

Hoebel E Adamson **Man in the Primitive World** 2nd ed International Student Edition Tokyo

Hopkins E Washburn **Epic Mythology** Delhi Indological Book House 1968

The Religions of India 2nd ed New Delhi Munshiram Manoharlal 1970

Ions Veronica **Indian Mythology** 2nd ed London and New York Paul Hamlyn 1968

Jevons H B **Introduction to the History of Religions** London H B Jevons 1896

Jhala T C **Kalidasa** Bombay Popular Book Depot 1949

Joad, C E M **Guide to Modern Thought** London Faber & Faber Ltd 1948

Jung C G **Psychology and Religion** New Haven Yale University Press 1938

Kane P V **History of Dharma sastra** Vol V Pt II Govt Oriental Series Class B No 6 Poona Bhandarkar Oriental Research Institute 1962

History of Sanskrit Poetics 3rd ed revised Delhi Motilal Banarsidass, 1961

Karmarkar R D **Bhavabhuti** Dharwar Karnatak University, 1963

Keith, A B **The Sanskrit Drama In its Origin, Development Theory and Practice** revised ed London Oxford University Press 1970

Konow Sten **The Indian Drama** 1st ed Translated by S N Ghosal Calcutta General Printers and Publishers 1969

Krappe Alexander H **The Science of Folklore** Reprinted London Methuen & Co Ltd 1965

Krishnamachariar M **History of Classical Sanskrit Literature** 1st reprint Delhi Motilal Banarsidass 1970

Krishnamoorthy K **Essays in Sanskrit Criticism** Dharwar Karnatak University Dharwar 1964

Kunbae Bak **Bhasa s Two Plays Avimaraka and Balcharita** Delhi 6 Meharchand Lachhmandass 1968

Law Bimala Churn **Asvaghosa** Calcutta The Royal Asiatic Society of Bengal 1946

Macdonell Arthur A **A History of Sanskrit Literature** New Delhi Motilal Banarsidass 1962

Vedic Mythology Varanasi Indological Book House 1963

Mainkar T G **Studies in Sanskrit Dramatic Criticism** 1st ed New Delhi Motilal Banarasidass 1971

The Theory of the Samdhis and the Samdhyangas Poona Joshi and Lokhande Publication 1960

Majumdar, R C (ed) **The Age of Imperial Unity** 2nd ed Bombay Bhartiya Vidya Bhawan 1953

The Classical Age 3rd ed Bombay Bhartiya Vidya Bhawan 1970

Malefijt Annemarie de Waal **Religion and Culture** New York The Macmillan Company 1968

Malinowski Bronislaw **Freedom and Civilization** London George Allen & Unwin Ltd 1947

Mankad D R **The Types of Sanskrit Drama** Karanchi Urmi Prakashan Mandir, 1936

Mansingh Mayadhar **Kalidasa and Shakespeare** Delhi Motilal Banarsidass 1969

Masson J L and Kosambi D D **Avimaraka Love s Enchanted World** 1st ed Delhi Motilal Banarsidass 1970

MaxMuller F **Lectures on the Origin and Development of Religion** Varanasi Indological Book House 1964

Natural Religion, The Gifford Lectures Delivered Before The University of Glasgow in 1888 London 1889

Physical Religion New York 1891

Mirashi Vasudeva Vishnu and Navlekar Narayan Raghunath **Kalidasa** 1st ed Bombay Popular Prakashan 1969

Mishra H R **The Theory of Rasa in Sanskrit Drama with a Comparative Study of General Dramatic Literature** Chhatarpur (M P) Vindhyachal Prakashan 1964

Mookerjee Syama Prasad **Obscure Religious Cults** Calcutta 12 Firma K L Mukhopadhyaya 1962

Nicoll Allardyce **The Theory of Drama** Indian Reprint Delhi Doaba House 1969

Parab B A **The Miraculous and Mysterious in Vedic Literature** Bombay-7 The Popular Book Depot 1952

Penzer N M (ed) **The Ocean of Stories** Being C M Tawney s Translation of Somadevas Katha-Sarit-Sagara in 10 Volumes Vol I Indian Reprint Delhi Motilal Banarasidass 1968

Pusalkar A D **Bhasa A Study** 2nd revised ed Nai Sarak Delhi-6 Munshiram Manoharlal 1968

Studies in the Epics and Puranas Bombay Bhartiya Vidya Bhawan 1955

Radhakrishnan S **An Idealist View of Life** The Hibbert Lectures for 1929 4th ed London George Allen & Unwin Ltd 1951

The Hindu view of Life London Unwin Books 1960

Raghavan V Bhoja s Srngara Prakasa Madras-14 The Author (Punarvasu 7 Sri Krishanapuram Street) 1963

Some Old Lost Plays Annamalainagar Annamalai University 1961

The Social Play in Sanskrit Banglore The Indian Institute of Culture 1952

The Number of Rasas Adyar The Adyar Library 1940

The Ram Krishna Mission Institute of Culture The Cultural Heritage of India Vol I 2nd ed of Calcutta The Ram-Krishan Mission Institute of Culture 1962

The Cultural Heritage of India Vol IV 2nd ed Calcutta The Mission 1956

Rangacharya Adya (Formerly Jagirdar R V) Drama in Sanskrit Literature 2nd ed Bombay Popular Prakashan 1967

Introduction to Bharata s Natya Sastra 1st ed Bombay Popular Prakashan 1966

Rhine J B A Brief Introduction to Parapsychology Duke University Parapsychology Laboratory

Riepe Dale The Naturalistic Tradition in Indian Thought 2nd ed Delhi Motilal Banarsidass 1964

Rose H J A Hand Book of Greek Mythology University Paperback London Methuen 1965

Ruben Walter Kalidasa The Human Meaning of his works. Berlin Academic verlag 1957

Oldenberg H Ancient India Its Language and Religions 2nd ed Calcutta-4 Punthi Pustak 1962

Sabnis S A Kalidasa His Style and Times Bombay N M Tripathi Private Ltd 1966

Sastri K S Ramaswami Kalidasa His Period Personality and Poetry *Shrirangam Shri Vani Vilas Press 1933*

Sharma Dimbeswar An Interpretative Study of Kalidasa Calcutta The Author 1968

Shastri Surendra Nath The Laws and Practice of Sanskrit Drama Vol I 1st ed Varanasi-1 . The Chowkhamba Sanskrit Series Office 1961

Satyavart Usha Sanskrit Dramas of Twentieth Century Delhi The Author (Sole Distributors Meharchand Lachhmandas Delhi), 1971

Shekhar I Sanskrit Drama Its Origin and Decline Leiden E J Brill 1960

Shrikrisna E R (ed) Rupaka Samiksa Venkatesh vara University, 1964

Spence Lewis The Outlines of Mythology London Watts & Co 1944

Stace W T A Critical History of Greek Philosophy London St Martins Street Macmillan & Co Ltd 1950

Sukhthankar V S Analecta Poona 4 V S Sukthankar Memorial Edition Committee 1945

Thomas P Epics Myths and Legends of India Bombay D B Taraporevala Sons & Co Pvt Ltd 1961

Taylor E B Primitive Culture 2 Volumes 2nd ed London John Murray 1873

Upadhyaya B S India in Kalidasa 2nd ed Delhi S Chand & Co 1968

Van Buitenan J A B Two Plays of Ancient India 1st ed Delhi Motilal Banarasidass 1971

Wells Henry W Sansrkit Plays From Epic Sources Baroda M S University of Baroda 1968

——— Six Sanskrit Plays Bombay Asia Publishing House, 1964

——— The Classical Drama of India Bombay Asia Publishing House 1963

Wilson, H H Dramas 2nd ed Varanasi Choukhamba Sanskrit Series Office 1962

Wilson H H & Others The Theatre of the Hindus Calcutta 12 Susil Gupta (India) Limited 1955

Winternitz M History of Indian Literature Vol I Pt II Translated by S Ketkar, Calcutta University of Calcutta 1963

——— History of Indian Literature Vol III Pt I Translated by Subhadra Jha Delhi Motilal Banarasidass 1963

Woolner, A C and Sarup Lakshman Trivandrum Plays Thirteen Trivandrum Plays Attributed to Bhasa Vols 1–2 Translated into English London Oxford University Press 1931

Yinger J Milton Religion, Society and Individual New York The Macmillan Campany 1960

(घ) कोश एव पत्र–पत्रिकाए

नामलिंगानुशासन (अमरकोश), व्याख्यासुधा व रामाश्रमी सहित, निर्णयसागर प्रेस, १६१५

महाभारत की नामानुक्रमणिका, गीता प्रेस, गोरखपुर, स० २०१६

वाचस्पत्य, १–६ भाग, सपा० तारानाथ तर्कवाचस्पति, चौखम्बा, वाराणसी, १६६२

विश्वभारती पत्रिका, खड ८, अक २

शब्दकल्पद्रुम, १–५ भाग, सपा० राधाकान्तदेव, चौखम्बा, १६६१

म स्कृत-हिन्दी कोश, मपा० वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, १९६६
हिन्दी साहित्यकोश, सपा० धीरेन्द्रवर्मा ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी स० २०१५,

Benedict Ruth Folklore **Encyclopaedia of Social Sciences** 1948 ed reprinted

Myth **Encyclopaedia of Social Sciences** 1948 ed Reprinted Vol XI–XII

Gardner E A Mythology **Encyclopaedia of Religion and Ethics** 1959 ed 4th impression Vol IX

Folklore **Encyclopaedia Britanica** 1947 ed Reprint Vol IX

Forklore **Chambers Encyclopaedia** 1959 ed Vol V

Iyer K A Subramania Kundamala and the Uttararamacharita Proceedings of the Seventh Oriental Conference (Sanskrit Section) Baroda 1933

Malinowski B Culture **Encyclopaedia of Social Sciences** 1948 ed Reprinted Vol IV

Messon J A Note on the Sources of Avimaraka M S University of Baroda **Journal of Oriental Institute** Vol XIX No 1–2 1969

Myth and Ritual Encyclopaedia Britanica Vol XVI

Mythology The Encyclopaedia Americana 1961 ed Vol XIX

Niven D Naturalism **Encyclopaedia of Religion and Ethics** 1959 ed 4th Impression Vol IX

Supernatural Story **Cassell's Encyclopaedia of Literature** 1953 Vol II

Tucker Pat Parapsychology Ancient Mystery, New Science **Span** Vol XIII No 11 (November 1972)

Woolner A C The Date of Kundmala **Annals of Bhandarkara Oriental Institute** Vol XV (1933 34)

Dowson **Hindu Classical Dictionary** Trubner s Oriental Series Kegan Pual Trenchit Trubner & Co Ltd

Schuyler Jr Montgomery **Bibliography of the Sanskrit Drama** Indo-Iranian Series Vol III New York The Columbia University Press 1906

Shipley Joseph T (ed) **Dictionary of World Literary Terms** London George Allen & Unwin Ltd 1955

Gand c Merriam Co **Websters New International Dictionary of the English Language** Spring Field Mass G & C Merriam Company Publishers 1961

Williams M Monier **Sanskrit English Dictionary** Delhi Motilal Banarsidass, 1963

अनुक्रमणिका

(क) नाटक एव नाटककार

(ख) अतिप्राकृत तत्त्व

———